आचार्य वसुबन्धु कृत

अभिधर्म कोश

आचार्य नरेन्द्रदेव

हिंदुस्तानी एकेडेमी उत्तर प्रदेश इलाहाबाद

आचार्य वसुबन्धु कृत

अभिधर्मकोष

अनुवादक
आचार्य नरेन्द्र देव

१९५८
हिन्दुस्तानी एकेडेमी
उत्तर प्रदेश, इलाहाबाद

प्रकाशक

हिन्दुस्तानी एकेडेमी, उत्तर प्रदेश, इलाहाबाद

प्रथमवृत्ति : २०००

मूल्य : ५०·०० रु०

मुद्रक

सम्मेलन मुद्रणालय, प्रयाग

प्रकाशकीय

अनेक वर्षों के व्यवधान के पश्चात् स्वर्गीय आचार्य नरेन्द्र देव जी द्वारा अनूदित एवं संपादित आचार्य वसुबन्धु कृत "अभिधर्मकोश" का प्रकाशन संभव हो सका है। कोश का प्रकाशन आचार्य जी की ही देखरेख में प्रारंभ हुआ था, यहाँ तक कि वे स्वयं ही उसका प्रूफ भी देखते थे। रुग्ण शरीर रखते हुए भी उनकी कर्मशीलता असाधारण थी। किन्तु दैववश जिस मनोयोग से उस मनीषी ने कोश का संपादन किया था उसका प्रकाशित रूप वे न देख सके।

आचार्य जी व्यक्ति नहीं संस्था थे। भारतीय राजनीति, भारतीय शिक्षा एवं भारतीय दर्शन-शास्त्र के वे निष्णात पंडित थे। उन्हीं की अंतिम इच्छानुसार डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल जी द्वारा कोश की भूमिका तैयार कराई गई है। यदि वे आज जीवित होते तो संभव था कि प्रस्तुत कोश का रूप कुछ अधिक गौरवशाली होता। हमारा विश्वास है कि इस महत्वपूर्ण ग्रंथ का विद्वानों के बीच उचित समादर होगा।

प्रस्तुत भाग में तीन कोशस्थान हैं। शेष पाँच कोशस्थानों के प्रकाशन के लिए एकेडेमी यत्नशील है।

हिंदुस्तानी एकेडेमी
उत्तर प्रदेश, इलाहाबाद

धीरेन्द्र वर्मा
मंत्री तथा कोषाध्यक्ष

विषय-सूची

आचार्य वसुबन्धुकृत अभिधर्मकोश

भूमिका

श्री आचार्य नरेन्द्रदेव १९४२ के राष्ट्रीय आन्दोलन के समय अहमदनगर के किले में नजरबन्द रहे थे। वहाँ रहते हुए उन्होंने वसुबन्धु के अभिधर्मकोश नामक ग्रन्थ का फ्रेंच से भाषानुवाद किया। अभिधर्मकोश में आठ कोशस्थान या अध्याय हैं जिनमें से तीन यहाँ प्रकाशित किये जा रहे हैं। शेष पांच कोशस्थानों का अनुवाद भी आचार्य जी समाप्त कर गये हैं। आशा है वह भी यथासमय प्रकाशित होगा।

आचार्य जी ने अपने दूसरे ग्रन्थ बौद्ध-धर्म-दर्शन में वसुबन्धु और उनके ग्रन्थों के विषय में जो लिखा है, वह उन्हीं के शब्दों में यहाँ उद्धृत करने योग्य है—

"असंग तीन भाई थे। असंग ही सबसे बड़े थे। इनका जन्म पुरुषपुर (पेशावर) में ब्राह्मणकुल में हुआ था। इनका गोत्र कौशिक था। इनसे छोटे वसुबन्धु थे। बौद्धसाहित्य में उनका ऊँचा स्थान है। आरम्भ में दोनों भाई सर्वास्तिवाद के अनुयायी थे। अभिधर्मकोश के देखने से मालूम होता है कि वसुबन्धु स्वतंत्र विचारक थे किन्तु उनका झुकाव सौत्रान्तिक मतवाद की ओर था। पीछे से असंग ने महायान-धर्म स्वीकार कर लिया और उनकी प्रेरणा से वसुबन्धु भी महायान के माननेवाले हो गये।

ताकाकूसू के अनुसार वसुबन्धु का काल ४२० ई० और ५०० ई० के बीच है। वोगिहारा वसुबन्धु का समय ३९० ई० और ४७० ई० के बीच तथा असंग का समय ३७५ ई० और ४५० ई० के बीच निर्धारित करते हैं। सिलवाँ लेवी के अनुसार असंग का काल ५वीं शताब्दी का पूर्वार्ध भाग है; किन्तु एन० पेरी ने यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि वसुबन्धु का जन्म ३५० ई० के लगभग हुआ। इससे विन्तरनित्स दोनों भाइयों का समय चौथी शताब्दी मानते हैं।

परमार्थ ने वसुबन्धु की जीवनी लिखी थी। परमार्थ का समय ४९९-५६९ ई० है। ताकाकूसू ने चीनी से इसका अनुवाद किया है।[1] तारानाथ के इतिहास में भी वसुबन्धु की जीवनी मिलती है, किन्तु यह प्रामाणिक नहीं है। वसुबन्धु का सबसे प्रसिद्ध ग्रन्थ अभिधर्मकोश है। इसके चीनी और तिब्बती अनुवाद उपलब्ध हैं। लुई द ला वाले पूसें[2] ने चीनी से फ्रेंच में अनुवाद

---

१. थुङ्पाओ, भाग ५, १९०४, पृ० २६९-२९६; BEFEO, भाग ४, १९०४, पृ० ४०-४७।

२. बौद्धसाहित्य और दर्शन के अति प्रसिद्ध बेल्जिअन विद्वान्—Louis de la Vallee Poussin.

किया। राहुल सांकृत्यायन तिब्बत से मूल संस्कृत-ग्रन्थ का फोटो लाये थे। जायसवाल-अनुशीलन संस्था, पटना की ओर से मूल ग्रन्थ के प्रकाशित करने की व्यवस्था की जा रही है। चीनी भाषा में इस ग्रन्थ के दो अनुवाद हैं—एक परमार्थ का, दूसरा शुआन-च्वाङ् का। परमार्थ का अनुवाद ५६३ ई० का है। इस ग्रन्थ में ६०० कारिकाएँ हैं और वसुबन्धु ने इसका स्वयं भाष्य लिखा है। इस ग्रन्थ का बौद्ध-जगत् पर बड़ा व्यापक प्रभाव पड़ा। सब निकायों में तथा सर्वत्र इसका आदर हुआ। इसने बहुत शीघ्र अन्य प्राचीन ग्रन्थों का स्थान ले लिया। यह बड़े महत्व का ग्रन्थ है। मेरा विचार है कि इसका अध्ययन किये बिना बौद्ध-दर्शन के क्रमिक विकास का अच्छा ज्ञान नहीं होता। वसुबन्धु के अनुसार अभिधर्मकोश में वैभाषिक सिद्धान्त का निरूपण काश्मीर-नय से किया गया है। कोश के प्रकाशित होने पर सर्वास्तिवाद के प्राचीन ग्रंथों (अभिधर्म और विभाषा) का महत्व घट गया। कोश में वैभाषिक-सौत्रान्तिक का विवाद भी दिया गया है। अन्त में ग्रंथकार अपना मत भी देते हैं। कोश में अन्य ग्रंथों से उद्धरण दिये गये हैं। इस प्रकार प्राचीन साहित्य के अध्ययन के लिये भी कोश का बड़ा महत्त्व है।

अभिधर्मकोश पर कई टीकायें लिखी गयी थीं, किन्तु केवल यशोमित्र की 'स्फुटार्था' व्याख्या पायी जाती है। इसका संपादन वोगिहारा ने जापान से किया है। कलकत्ते से देवनागरी अक्षरों में यह ग्रन्थ प्रकाशित हो रहा है।[1] दिङ्नाग, स्थिरमति, गुणमति, आदि ने भी कोश पर टीकायें लिखी हैं—मर्मप्रदीप, तत्त्वार्थ टीका, लक्षणानुसार आदि। चीनी भाषा में भी कोश पर कई टीकायें हैं।

संघभद्र ने न्यायानुसार नाम का अभिधर्मशास्त्र वसुबन्धु के मत का खण्डन करने तथा यह बताने के लिये लिखा है कि कहाँ वसुबन्धु शास्त्र से व्यावृत्त करते हैं; न्यायानुसार अभिधर्म कोश की आलोचनात्मक टीका है।[2] जहाँ-जहाँ वसुबन्धु का भाष्य वैभाषिक मत का विरोध करता है, वहाँ-वहाँ न्यायानुसार उसका खण्डन करता है।

वृद्धावस्था में वसुबन्धु ने असंग के प्रभाव से महायान धर्म स्वीकार किया और विंशतिका और त्रिंशिका नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ रचे। ये विज्ञानवाद के ग्रन्थ हैं। विंशतिका पर वसुबन्धु ने अपनी वृत्ति लिखी। त्रिंशिका पर १० टीकायें थीं। इनमें से केवल स्थिरमति की टीका उपलब्ध है। शुआन-च्वाङ ने त्रिंशिका पर विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि नामक ग्रन्थ चीनी भाषा में लिखा।

---

१. १६४६ में यह ग्रन्थ प्रकाशित हो गया। श्री नरेन्द्रनाथ लाहा द्वारा सम्पादित यशोमित्र कृत अभिधर्म कोश व्याख्या, कोशस्थान प्रथम, द्वितीय, तृतीय; कलकत्ता ओरियंटल सिरीज, संख्या ३१। इसका चौथा कोष-स्थान भी इस वर्ष छप गया है।

२. शुआन-च्वाङ् का जीवनी-लेखक हुई-लि सूचित करता है कि काश्मीरी संघभद्र ने २५ सहस्र श्लोकों में शकारिकाशास्त्र लिखा था। वह वसुबन्धु से मिलना चाहता था, पर पहले ही गत हो गया। वसुबन्धु को जब संघभद्र के ग्रन्थ का पता चला तो उन्होंने उसकी बहुत प्रशंसा की और उसे अधिकांश में अपने मत के अनुकूल जानकर उसे न्यायानुसारशास्त्र नाम दिया।

पूसें ने इस ग्रन्थ का फ्रेंच में अनुवाद प्रकाशित किया है।[१] यह ग्रन्थ बड़े महत्त्व का है क्योंकि इसमें त्रिंशिका से सब टीकाकारों के मत का निरूपण है और धर्मपाल की टीका भी सन्निविष्ट है।

वसुबन्धु ने अन्य भी ग्रन्थ लिखे थे, जो अप्राप्त हैं। विश्वभारती से त्रिस्वभाव-निर्देश नाम का ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है। इसके रचयिता वसुबन्धु बताये जाते हैं। वसुबन्धु के कुछ अन्य ग्रन्थ ये हैं—पंचस्कन्ध प्रकरण, व्याख्या-युक्ति और कर्मसिद्धिप्रकरण। वसुबन्धु की मृत्यु ८० वर्ष की अवस्था में अयोध्या में हुई।"[२]

वसुबन्धु के काल के विषय में विद्वानों में पिछले पचास वर्षों से मतभेद रहा है। इधर रोम के श्री फ्राउवालनर[३] ने वसुबन्धु के समय पर विस्तृत विचार करते हुए प्रतिपादित किया है कि वसुबन्धु नाम के दो आचार्य हुए थे—एक स्थविर वसुबन्धु जो असंग के भाई थे और जिनका समय ३२०-३८० ई० है एवं दूसरे आचार्य वसुबन्धु जिनका समय लगभग ४०० ई० से ४८० ई० तक है। पहले स्थविर वसुबन्धु ने हीनयान के सर्वास्तिवाद दर्शन पर कई ग्रन्थ लिखे और बाद में अपने ज्येष्ठ भ्राता असंग के प्रभाव से महायान पर कई ग्रन्थों की रचना की। दूसरे वसुबन्धु सौत्रान्तिक-नय के अनुयायी थे और इन्होंने ही अभिधर्म कोष की रचना की। यद्यपि इस मत का प्रतिपादन पाण्डित्यपूर्ण ढंग से हुआ है, किन्तु इस मत के अन्तिम रूप से मान्य होने में बाधाएँ हैं। भारत और चीन की प्राचीन बहुसम्मत साक्षी के अनुसार अभिधर्मकोश के रचयिता वसुबन्धु ही विंशिका-त्रिंशिका एवं कर्मसिद्धिप्रकरण के भी कर्त्ता थे और वे बुद्ध-निर्वाण के ९०० वर्ष बाद हुए थे। अतएव चौथी शती ही वसुबन्धु का बहुसम्मत समय है। परमार्थ ने लिखा है कि विक्रमादित्य उपाधिधारी एक गुप्त सम्राट वसुबन्धु के भक्त थे और उन्होंने उन्हें अयोध्या में आमंत्रित करके अपने राजकुमार बालादित्य का गुरु नियत किया। फ्राउवालनर गुप्त राजा को स्कन्दगुप्त मानते हैं, किन्तु ये चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य थे, ऐसी अधिक सम्भावना है। इस सम्बन्ध में एक नये प्रमाण की ओर ध्यान आकर्षित करना आवश्यक है। यह सुविदित है कि बाण ने हर्षचरित में दिवाकरमित्र बौद्ध संन्यासी के आश्रम का वर्णन करते हुए लिखा है कि परम उपासक एवं शाक्य शासन में धुरीण विद्वान् अभिधर्मकोश का उपदेश देते थे—(हर्षचरित, अष्टम उच्छ्वास पृ० २३७)। तृतीय उच्छ्वास (पृ० ९१) में भी श्लेष से कोश नामक ग्रन्थ का उल्लेख आया है जो अभिधर्मकोश के लिए ही है। किन्तु छठे उच्छ्वास में अभिधर्मकोश का उल्लेख, जो

---

१. वसुबन्धु की निजी टीका के साथ मूल विंशतिका और स्थिरमति की टीका के साथ मूल त्रिंशतिका सिलवाँ लेवी को प्राप्त हुई थीं। उन्होंने १९२५ में उनका संपादन-प्रकाशन किया था। पूसें ने विंशतिका के तिब्बती अनुवाद के आधार पर फ्रेंच अनुवाद १९१२ में प्रकाशित किया। शुआन-च्वाङ ने त्रिंशिका की सब टीकाओं पर एक समुदित ग्रन्थ विज्ञप्ति-मात्रतासिद्धि चीनी भाषा में लिखा था। पूसें ने १९२८ में उसी का फ्रेंच अनुवाद प्रकाशित किया—(वितरनित्स, भारतीय साहित्य का इतिहास, २।३६०)।

२. आचार्य नरेन्द्रदेव, बौद्धधर्म-दर्शन, पटना, १९५६, पृ० १६८-१७०।

३. ई० फ्राउवालनर, आन दी डेट ऑफ दी बुधिस्ट मास्टर ऑफ दी लॉ वसुबन्धु, रोम, १९५१।

अभी तक अज्ञात रहा है, ऐतिहासिक दृष्टि से सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। राज्यवर्धन के वीररस का वर्णन करते हुए बाण ने लिखा है—

दर्पात परामृशन् नखकिरणसलिलनिर्झरैः समरभारसंभावनाभिषेकमिव चकार दिङ्नागकूंभकूटविकटस्य बाहुशिखरकोशस्य वामः पाणिपल्लवः (हर्षचरित, पृ० १८३)।

इस श्लेषात्मक वाक्य के तीन अर्थ हैं; पहला कोश या तलवार की म्यान के पक्ष में, दूसरा कोश या दिव्य परीक्षा के पक्ष में, और तीसरा कोष अर्थात् अभिधर्मकोश ग्रन्थ के पक्ष में। बाण का प्रत्येक शब्द तीनों अर्थों में सर्वथा गतार्थ है, जैसा कि विस्तार से हमने अपने "हर्षचरित एक सांस्कृतिक अध्ययन" ग्रन्थ में दिखाया है—(पृ० १२०-१२२)। यहाँ तीसरे अभिधर्मकोश सम्बन्धी अर्थ पर विशेष ध्यान देना उचित है। इस वाक्य में **'दिङ्नागकूंभकूट विक्टस्य, बाहु शिखरकोशस्य'** ये दो पद गूढ़ अर्थों के अभिव्यंजक हैं। यह निश्चय है कि यहाँ बाण दिङ्नाग द्वारा वसुबन्धुकृत अभिधर्मकोश के सम्बन्ध में उनके शास्त्रार्थों का सांकेतिक उल्लेख कर रहे हैं। 'कोश' का अर्थ है अभिधर्म कोश। दिङ्नाग वसुबन्धु के समर्थक थे। उनका समय ३५० से ५०० के बीच माना जाता है। तारानाथ के अनुसार दिङ्नाग वसुबन्धु के शिष्य ही थे जो उनके शिष्यसंप्रदाय में सबसे बड़े विद्वान् और स्वतंत्र विचारक हुए। दिङ्नाग ने अपने महान् पाण्डित्य का बल वसुबन्धुकृत अभिधर्मकोश के मंडन में लगाया, जबकि वसुबन्धु के ही समकालीन दूसरे महान् तार्किक संघभद्र ने जो वैभाषिक दर्शन के अनुयायी थे, अभिधर्मकोश की आलोचना के लिये २६००० श्लोकों में अभिधर्मन्यायानुसार शास्त्र लिखा और फिर स्वयं ही अपने विशाल ग्रन्थ को संक्षिप्त करके १३००० श्लोकों में उसे संक्षिप्त करके रचा। ये दोनों ग्रन्थ चीनी त्रिपिटक में उपलब्ध हैं—(नन्जिओ सूची सं० १२६५-१२६६)। संघभद्र की दृष्टि में वसुबन्धु ने अपने ग्रन्थ में वैभाषिक-नय का प्रतिपादन करने में स्वतंत्रता से काम लिया था, अतएव उन स्थलों को उन्होंने अपना आलोच्य विषय बनाया। किन्तु दिङ्नाग ने वसुबन्धु के समर्थन में सार्वजनिक शास्त्रार्थों की धूम मचा दी। उसी की ओर बाण ने यहाँ संकेत किया है। बौद्ध साहित्य में एक ग्रन्थ हस्तवलप्रकरण या मुष्टिप्रकरण है। इसके कर्ता आर्यदेव थे। छह कारिकाओं के इस ग्रन्थ पर दिङ्नाग ने टीका लिखी थी जिससे उस ग्रन्थ का वास्तविक स्वरूप मंडित हुआ। इसीलिये शीघ्र यह प्रसिद्धि हो गई कि दिङ्नाग ही हस्तवलप्रकरण या मुष्टिवलप्रकरण के रचयिता थे।[1] इसी ग्रन्थ के कारण हाथ फटकार कर विपक्षियों से शास्त्रार्थ करने की किवदन्ती दिङ्नाग के विषय में प्रचलित हुई। इस पृष्ठभूमि में ही बाण के वाक्य का अर्थ समझा जा सकता है—

"दिङ्नाग के मस्तक की कूट कल्पनाओं से विकट बना हुआ जो वसुबन्धु का अभिधर्म कोश था (दिङ्नागकुम्भकूटविकट), उसे आचार्य दिङ्नाग शास्त्रार्थों में अपने दाहिने हाथ में लेकर (बाहुशिखरकोश), बाएँ हाथ से अभिमानपूर्वक जब उसकी ओर संकेत करते थे (दर्पात् परामृशन् वामः पाणिपल्लवः), तब उनके बाएँ हाथ की नखकिरणें की सलिल-धार मानों

---

१. इस ग्रन्थ के दो अनुवाद चीनी भाषा में हुए, परमार्थ और इचिङ्ग द्वारा (नन्जिओसूची सं० १२५५-१२५६)। तिब्बतीभाषा में भी इसका अनुवाद हुआ। उन्हींकेआधार पर एफ० डब्लू० टामस ने इसका पुनरुद्धार करने का यत्न किया--(जे० आर० ए० एस० १९१८, पृ० २६७ आदि)।

वसुबन्धु के कोश ग्रन्थ का भावनामय (चिन्तामयी, श्रुतिमयी, भावनामयी इन तीन प्रकार की प्रज्ञाओं में भावनामयी प्रज्ञा द्वारा) ऐसा स्नान कराती थी, जिससे शास्त्रार्थ-समर की रसहीनता (समर + भा + अरसम् भावनाभिषेकम्), उत्पन्न हो जाती थी, अथवा जिससे युद्धों के गुरुतर भार की संभावना उत्पन्न हो जाती थी, अथवा शास्त्रार्थ रूपी युद्ध में प्रतिभा प्रदर्शन-द्वारा जल-विरहित केवल भावनामय अभिषेक किया जाता था।[1]''

इसमें कोई सन्देह नहीं रह जाता कि सातवीं शती के आरंभ में लिखने वाले महाकवि बाण वसुबन्धु के कोश और दिङ्नाग द्वारा उसके प्रौढ़ शास्त्रार्थयुक्त मंडन की किंवदन्ती से परिचित थे और उनके पाठक भी उनके उस अर्थ का स्वारस्य अनुभव कर सकते थे। इस उल्लेख का ऐतिहासिक महत्त्व जिस दूसरे कारण से हो जाता है वह कालिदास द्वारा मेघदूत में दिङ्नाग के स्थूल हस्तावलेपों का ऐसा ही संकेत है। हम सब इस पुराने साक्ष्य से परिचित हैं—

२. दिङ्नागानां पथि परिहरन् स्थूलहस्तावलेपान्।—(मेघदूत १।१४)
दिङ्नागाचार्यस्य हस्तावलेपान् हस्तविन्यासपूर्वकाणि दूषणानि परिहरन्। (मल्लिनाथ)

अर्थात् दिङ्नाग आचार्य हस्तविन्यासपूर्वक शास्त्रार्थ में हाथ फटकार कर जो अवलेप अर्थात् घमंड का अपराध या दूषण करते हैं, उसे दूर करते हुए जाना। कालिदास का स्थूल हस्तावलेप और बाण का दर्पात् परामृशन्...बाहुशिखरकोशस्य वामः पाणिपल्लवः एक ही किंवदन्ती की ओर संकेत कर रहे हैं। इसका अभिप्राय यह है कि वसुबन्धु और उसके शिष्य दिङ्नाग की ऐतिहासिक स्थिति का समय कालिदास के युग से सम्बन्धित हो जाता है। यह अनुश्रुति अत्यन्त पुष्ट है कि कालिदास चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के समकालीन थे। जैसा फ्राउवालनर ने लिखा है—'भारतीय आधार पर आश्रित अनुश्रुति को हम बिना भारी कारण के अमान्य नहीं ठहरा सकते; अन्यथा ऐतिहासिक अनुसंधान के तलवों के नीचे की सारी मिट्टी ही खिसक जायगी। मेरी सम्मति में यहाँ प्रत्येक अनुश्रुति जब तक भीतरी साक्षी से असम्भाव्य सिद्ध न हो और उसके विरुद्ध गुरुतर तर्क या प्रमाण उपस्थित न हो, हमारे ऊहापोह में आधाररूप से मान्य होनी चाहिए।'' (ऑन दी डेट आफ वसुबन्धु, पृ० ३६-३७)। यद्यपि फ्राउवालनर के दो वसुबन्धुओं का मत हमें स्वीकार्य नहीं है, तथापि असंग जिनके ज्येष्ठ भ्राता थे, उन स्थविर वसुबन्धु का जो समय उन्होंने निश्चित किया है, अर्थात् चौथी शती में ३२०-४०० ई० तक वह हमारे ऊपर के प्रमाण से संगत बैठ जाता है, अर्थात् चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के राज्यकाल में ही वह वसुबन्धु हुए जिन्होंने अभिधर्मकोश की रचना की, और जिनके शिष्य दिङ्नाग अपने गुरु के महाग्रन्थ के मंडन के लिये शास्त्रार्थों की धूम मचाये रहते थे, जिसकी सूचना कालिदास और बाण दोनों को थी।

वसुबन्धु का एक अन्य ग्रन्थ कर्मसिद्धिप्रकरण है। मूल संस्कृत में यह अनुपलब्ध है, पर

---

१. समरभारसंभावनाभिषेक का पदच्छेद कई प्रकार से सम्भव है—(१) समर (शास्त्रार्थ रूपी युद्ध) + भा (प्रतिभा) + अरसम् (नीरस) + भावना (विचार, भावनामयी प्रज्ञा) + अभिषेकम् (२) समर + भार + संभावना + अभिषेकम् (वास्तविक मार-पीट से रक्त द्वारा अभिषेक की सम्भावना उत्पन्न हो जाती थी; (३) अथवा दिङ्नाग समर (शास्त्रार्थ युद्ध) में अपनी प्रतिभा द्वारा (भा) विनाजल का (अरस) भावनामय अभिषेक वसुबन्धु के कोश को कराते थे।

इसके चीनी और तिब्बती अनुवाद प्राप्त हैं। प्रो० ई० लामोत ने तिब्बती अनुवाद और उसका फ्रेंच अनुवाद प्रकाशित किया था—(ब्रशल्स, १६३६)। जापान के प्रो० सुसूमु यामागुची ने उसका एक विशद व्याख्यामय अध्ययन क्योतो से १६५१ में प्रकाशित किया।[१] इस ग्रन्थ से यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि वसुबन्धु का निजी दार्शनिक अभिमत क्या था। कभी तो उन्हें हीनयान से सम्बन्धित माना जाता है और कभी महायान से। फाउवालनर ने प्रथम वसुबन्धु को आरम्भ में सर्वास्तिवादी और बाद में असंग के प्रभाव से महायान में दीक्षित माना है, एवं दूसरे वसुबन्धु (४००-४८०) को सर्वास्तिवादी सौत्रान्तिक मानते हुए अभिधर्मकोश का रचयिता कल्पित किया है। वस्तुतः यामागुची के कर्मसिद्धि प्रकरण पर किये हुए अध्ययन से यह प्रश्न पुनः उठ जाता है कि अभिधर्मकोश एवं विंशतिका, त्रिंशिका आदि ग्रन्थों के रचयिता वसुबन्धु एक ही थे अथवा विभिन्न जैसा परमार्थ के जीवन-चरित से विदित होता है। अभिधर्मकोश की रचना के बाद वसु-बन्धु महायान दर्शन के पूर्ण प्रभाव में आ गये और तब उन्होंने विंशतिका त्रिंशिका शास्त्र की रचना की। इन दोनों के बीच की कड़ी कर्मसिद्धिप्रकरण है। दार्शनिक वसुबन्धु का दिग्गज मस्तिष्क स्वतन्त्र-चिन्तन में सक्षम था, वे प्रगतिशील बने रहे, विचारों का एक चौखटा उन्हें सदा के लिये जकड़कर नहीं रख सका। वे आरम्भ में सौत्रान्तिक थे। उसी नय के अनुसार अभिधर्म कोश की रचना हुई। वैभाषिक मत से उनका जहाँ-जहाँ मतभेद हुआ उसे संघभद्र ने अपने अभिधर्म-न्यायानुसार शास्त्र में प्रदर्शित किया है। वसुबन्धु के ज्येष्ठ भ्राता असंग योगाचार दर्शन के प्रति-पादक थे। या तो उन्होंने स्वयं उस नय की स्थापना की, या जैसा अब अधिकांश विद्वान् मानते हैं, उनके गुरु मैत्रेयनाथ योगाचार-दर्शन के प्रादुर्भावकर्ता थे। योगाचार सिद्धान्त सर्वास्तिवाद दर्शन के द्रव्यसत् दृष्टिकोण का निराकरण करके विज्ञानवाद का समर्थन करता है, अर्थात् विश्व के भूत भौतिक पदार्थ या पंचस्कन्ध की स्वतन्त्र आलम्बन पर आश्रित सत्ता नहीं है, वह केवल विज्ञान या विज्ञप्तिमात्र है। योगाचार के इस दृष्टिकोण को कादम्बरी में 'निरालम्बना बौद्ध-बुद्धि' अर्थात् सब प्रकार के सत्तामूलक आलम्बनों से समतिक्रान्त धर्मवाली दृष्टि कहा गया है। असंग के इस दृष्टिकोण ने वसुबन्धु पर भी प्रभाव डाला। उनका विकासशील मानस प्रवर्धमान चिन्तन का अभ्यासी था। वे अकुण्ठित भाव से नये विचारों की समीक्षा और स्वागत करते थे। जैसा ऊपर किंवदन्ती में उल्लेख है, अपनें प्रतिपक्षी आलोचक संघभद्र के प्रति भी उन्होंने हृदय की उदारता का परिचय दिया और सौत्रान्तिक नय की आलोचना करने वाले संघभद्रीय शास्त्र को न्यायानुसारशास्त्र की सम्मानपूर्ण आख्या प्रदान की। इस प्रकार की विचारसरणि, उदारता

---

१. **ई० लामोत** (E. Lamnotte, Le Traite de l' Arte de Vasubandhu (**वसुबन्धुकृत कर्मसिद्धिप्रकरण**), Melanges Chinois et Bouddhiques; iv, 1935-36 Bruxelles, 1936. Susumu Yamaguchi, The Karmasiddhi-prakarana of Vasubandhu, Illustration of the original text based on Sumatisila's Commentary, **प्रो० लामोत की भूमिका सहित, क्योतो, १६५१, देखिए ईस्ट ऐंड वेस्ट पत्रिका, अप्रैल १६५५, पृ० ३१-३३, ग्वीसेप मोरचीनी का लेख, दी स्प्रिचुएल स्ट्रगिल आव वसुबन्धु ऐंड हिज कर्मसिद्धिप्रकरण।**

और प्रतिभा से समन्वित वसुबन्धु ने पहले तो अभिधर्मकोशकारिका और उस पर महान् भाष्य की रचना की जो प्रधानतः हीनयानीय सर्वास्तिवाद की सौत्रान्तिक दृष्टि से अभिधर्म का प्रतिपादन है; पुनः उन्होंने कर्मसिद्धिप्रकरण ग्रन्थ लिखा जिसमें सौत्रान्तिक दृष्टि होते हुए भी महायान का प्रभाव लक्षित होता है, मानों वे हीनयान से महायान में परिवर्तन की संक्रमण रेखा पार करते हुए विज्ञानवादी योगाचार दृष्टिकोण का समर्थन कर रहे थे।

उनके विकास की अन्तिम अवस्था विंशतिका और त्रिंशिका नामक ग्रन्थों से परिलक्षित होती है जिनमें महायान दृष्टि पूर्णतः प्रस्फुटित हुई है। जैसा त्रिंशिका पर लिखे हुए शुआन-च्वाङ के विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि ग्रंथ से सूचित होता है, वसुबन्धु के विज्ञप्तिमात्रता या आलय-विज्ञान सिद्धान्त में महायान का पर्यवसान हुआ। यह दृष्टि सब प्रकार के आलम्बनों से परिशुद्ध होने के कारण 'सम्प्रख्यान' कही जाती है। इसे ही असम्मोष कहते हैं अर्थात् जो सब प्रकार की वाह्य सत्ता से अपरामृष्ट या अछूती हो। विज्ञान ही एकमात्र आलय या मूलाधार है। उसी से मन की उत्पत्ति होती है (मनो ह्यालयसम्मतम्, लंकावतार सूत्र ३७४।२) और आलय से ही तरंग के समान सब चित्तों का जन्म होता है—(आलयात् सर्वचित्तानि प्रवर्तन्ति तरंगवत्, लंकावतार ३७४।४)। वस्तुतः आलयविज्ञान को चित्त ही समझना चाहिए। आलय-विज्ञान महासमुद्र है। उसके आधार पर नाना प्रवृत्तिमूलक पवन के झंकोरों से जिन्हें प्रवृत्ति विज्ञान कहते हैं, नाना भाँति के मन या चित्त-चैत्त उत्पन्न-विलीन होते रहते हैं। मूलभूत आलयविज्ञान ही एकमात्र अद्वय तत्त्व है।

रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान, ये पाँच स्कन्ध हैं जो वस्तु, इन्द्रिय और विज्ञान इस त्रिक के सन्निपात या सम्मिलन रूप प्रत्यय से उत्पन्न होते हैं। वौद्ध दर्शन की मूल भित्ति ये पंच स्कन्ध और प्रतीत्यसमुत्पाद (कार्य-कारण) का नियम है। रूप दो प्रकार का है, एक भूतरूप और दूसरा उपादाय रूप। पृथ्वी, जल, तेज और वायु ये चार भूत हैं। इन चार महाभूतों से जो नाना रूप बनते हैं, वे उपादाय रूप हैं। चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, काम, पाँच इन्द्रियाँ और इनके रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्पर्श पंच विषय मुख्य उपादायरूप हैं। चित्त या मन ही विज्ञान है। बीच के तीन वेदना, संज्ञा, संस्कार भी स्थूल-सूक्ष्म के तारतम्य से उसी चित्त के विषय हैं। पचास संस्कार एक वेदना, एक संज्ञा ये ५२ भेद चैतसिक कहे जाते हैं। इस प्रकार रूप, चैतसिक (वेदना-संज्ञा-संस्कार) और विज्ञान या चित्त, ये तीन ही 'सर्वास्ति', 'सब कुछ' की व्याख्या है। इनमें रूप स्थूल और चित्त-चैतसिक सूक्ष्म हैं। ये पाँच स्कन्ध क्षणिक और नित्य परिवर्तनशील हैं। इनमें नित्य और कूटस्थ कोई नहीं है। प्रतीत्य समुत्पाद के नियम के अनुसार ये जन्म लेते और बिखरते तथा पुनः अपनी भव-शक्ति से जन्म लेते रहते हैं। पाँचों स्कन्ध ही आत्मा हैं, किन्तु ये जड़ हैं। इनके अतिरिक्त चेतन सत्ता वाला नित्य कूटस्थ कोई आत्मा नहीं है। इन्हीं पाँच जड़ उपादानों का एकत्र संघटन शरीर रूप में प्रकट होता है, जैसा माघ ने संकेत किया है—

सर्वकार्यशरीरेषु मुक्त्वाङ्गस्कन्धपञ्चकम्।
सौगतानामिवात्मान्यो नास्ति मन्त्रो महीभृताम्॥—शिशुपालवध, २।२८)

इस विषय में वसुबन्धु का स्पष्ट कथन है —

नात्मास्ति स्कन्धमात्रं तु क्लेश कर्माभिसंस्कृतम् ।
अन्तराभवसन्तन्या कुक्षिमेति प्रदीपवत् ॥ कोश ३।१८

इस पर उनके भाष्य के निम्नलिखित शब्दों में बौद्ध दर्शन का निचोड़ ही आ गया है— "आत्मा का अस्तित्व नहीं है । 'जिस आत्मा में आप प्रतिपन्न हैं, जिसे आप एक द्रव्य मानते हैं, जो एक भव के स्कन्धों का परित्याग कर अन्य भव के स्कन्धों का ग्रहण करता है, जो अन्तरात्मा, पुरुष है, उस आत्मा का अस्तित्व नहीं है । भगवत् ने वास्तव में कहा है कि 'कर्म है, फल है, किन्तु कोई कारक नहीं है जो धर्मों के संकेत अर्थात् हेतुफल सम्बन्ध-व्यवस्था से पृथक् इन स्कन्धों का परित्याग और उन स्कन्धों का ग्रहण करता है । यह संकेत क्या है ? अर्थात् इसके होने पर वह होता है; इसकी उत्पत्ति से उसकी उत्पत्ति होती है; प्रतीत्य समुत्पाद ।' इस पर प्रतिपक्षी प्रश्न करता है कि क्या ऐसा कोई आत्मा है जिसका प्रतिवेध आप नहीं करते ? इसके उत्तर में कहते हैं कि हाँ, प्रज्ञप्तिसत् आत्मा का जो स्कन्धों की संज्ञा मात्र है, हम निषेध नहीं करते । किन्तु यह विचार हमसे कोसों दूर है कि स्कन्ध परलोक में गमन करते हैं । पंचस्कन्धात्मक आत्मा क्षणिक है, यह संसरण में असमर्थ है । हमारा यह भी कहना है कि किसी आत्मा के अभाव में, किसी नित्य द्रव्य के अभाव में क्लेश और कर्म से अभिसंस्कृत स्कन्धों का सन्तान (प्रवाह) माता की कुक्षि में प्रवेश करता है, और वही स्कन्ध संतान मरण-भव से उपपत्तिभव पर्यन्त विस्तृत होता है और इसका स्थान अन्तराभव-संतति लेती है।"

पंच स्कन्धों के साथ प्रतीत्यसमुत्पाद का नियम अविनाभूत है । यह नियम बौद्ध दर्शन की मूल भित्ति है। प्रतीत्यसमुत्पाद क्या है ? इसकी महती व्याख्या है । संक्षेप में कार्यकारण के सिद्धान्त को ही प्रतीत्यसमुत्पाद कहते हैं । जैसा आचार्य जी ने लिखा है—"यह हेतु प्रत्ययता का वाद है । इसके होने पर, इस हेतु, इस प्रत्यय से, वह होता है । इसके उत्पाद से, उसका उत्पाद होता है । इसके न होने पर, वह नहीं होता; इसके निरोध से वह निरुद्ध होता है, यह हेतु फल-परम्परा है । इसको प्रत्ययाकार (पच्चयाकार) निदान भी कहते हैं । इस वाद का संबन्ध अनित्यता और अनात्मता के सिद्धान्त से भी है । कोई वस्तु शाश्वत नहीं है, सब धर्म क्षणिक हैं और हेतु-प्रत्यय जनित हैं । कर्मवाद के साथ प्रतीत्यसमुत्पाद का घनिष्ठ संबन्ध है । पुण्य-अपुण्य के विपाक के संबन्ध में कर्महेतु से फल-व्यवस्था अभिप्रेत है । यह हेतु-प्रत्ययवाद देशकाल और विषय के प्रति सामान्य है। असंख्य लोकधातुओं को, देवलोकों को और नरकों को यह हेतुफल-संबन्ध-व्यवस्था लागू है । यह सर्व संस्कृत धर्मों पर भी लागू है, अतः भवचक्र अनादि है—(बौद्ध-धर्म-दर्शन, पृ० २२४) । ऐसा कोई आदि नहीं है जिसका हेतु उसके पूर्व न हो । हेतु और उसका फल अविनाभूत हैं । फल दूसरे फल की उत्पत्ति के लिए बन जाता है । कोई प्रवाह अहेतुक नहीं है । कर्म-क्लेश-प्रत्ययवश उत्पत्ति, उत्पत्तिवश कर्म-क्लेश, पुनः अन्य कर्म-क्लेश-प्रत्ययवश उत्पत्ति, इस प्रकार भव-चक्र का अनादित्य सिद्ध होता है । इस भव-चक्र के तीन अध्व या मार्ग हैं जिनमें यह पुनः-पुनः घूमता है, एक अतीत या पूर्व-भव, दूसरा अनागत या अपर-भव और इन दोनों के बीच में तीसरा वर्तमान या प्रत्युत्पन्न-भव । प्रतीत्य-समुत्पाद के बारह अंग हैं, अतः यह द्वादशार चक्र भी कहा जाता है । 'पंच स्कन्ध-संतति-तीन भवों में वृद्धि को प्राप्त होती है । यह प्रतीत्य-समुत्पाद है, जिसके बारह अंग और तीन काण्ड हैं । पूर्व काण्ड के दो, अपरांत के

दो और मध्य के आठ अंग हैं। बारह अंग ये हैं—१ अविद्या, २ संस्कार, ३ विज्ञान, ४ नामरूप, ५ षडायतन, ६ स्पर्श, ७ वेदना, ८ तृष्णा, ९ उपादान, १० भव, ११ जाति, १२ जरामरण—(बौद्धधर्म-दर्शन, पृ० २२५)। तृतीय कोशस्थान की कारिका २०-२४ और उनके भाष्य में द्वादशांग प्रतीत्य-समुत्पाद का स्पष्ट विवेचन पाया जाता है—

स प्रतीत्य समुत्पादो द्वादशांगस्त्रिकाण्डकः।
पूर्वापरान्तयोर्द्वे द्वे मध्येऽष्टौ परिपूरिणः॥ (३।२०)

यदि पाँच स्कन्धों को हम एक इकाई मान लें तो उनके सन्तान या प्रवाह या पुनः-पुनः प्रवर्तन में अविद्या और संस्कार ये दो अंग पूर्व जन्म से, जाति और जरा-मरण ये दो अनागत जीवन या अपरान्त भव से, और शेष आठ वर्तमान सांसारिक जीवन से सम्बन्ध रखते हैं। अविद्या और संस्कार गर्भस्थापन से पूर्व की अवस्थाएँ हैं। उनके बाद पाँचों स्कन्ध गर्भ में आते हैं। वह कुक्षिगत या योनिगत अनुपजात दशा विज्ञान है। उसके बाद जन्म लेने तक दो अवस्थाएँ होती हैं जिन्हें नाम-रूप (रूप,वेदना, संज्ञा, संस्कार ये नामरूप हैं) और षडायतन (मनः षष्ठानि इन्द्रियाणि) हैं। जब षडायतन के रूप में यह संघातमय शरीर जन्म ले लेता है, तो उसके बाद स्पर्श, वेदना, तृष्णा, उपादान और भव ये पाँच अवस्थाएँ होती हैं। कर्म की वह शक्ति भव है जो कृत और उपचित कार्यों के फलस्वरूप पुनर्भव का कारण बनती है। शरीर के रूप में संगठित पंच स्कन्ध जब बिखर जाते हैं तो अनागत जीवन में जाति और जरामरण ये दो अवस्थाएँ होती हैं। वर्तमान जीवन का विज्ञान (अर्थात् योनिगत पंच स्कन्ध) अगले जीवन या पुनर्भव के लिए जाति के रूप में विद्यमान रहता है और वर्तमान जीवन के नामरूप, षडायतन, स्पर्श और वेदना ये अगले जीवन को उत्पन्न करने के लिए जरा-मरण के रूप में रहते हैं। इन बारह अंगों का विवरण इस प्रकार समझना चाहिए—

१. अविद्या—इस जीवन में जितने क्लेश हैं, वे जन्म से पूर्व अविद्या की अवस्था में रहते हैं। अविद्या पूर्वजन्म की क्लेश दशा है। जितने क्लेश या दुःख हैं सब अविद्या के सहचारी हैं। अविद्या, बीज की तरह उनको इस जन्म में अपने साथ ले आती है, जैसे राजा के साथ उसके अनुयायी स्वतः आ जाते हैं। पंच स्कन्धों की पूर्वजन्म सन्तति अविद्या है।

२. संस्कार—जीवन के पुण्यापुण्य कर्मों की पूर्वदशा या पूर्व जन्म में अस्तित्व संस्कार कहलाता है। संस्कार पूर्वजन्म की कर्मावस्था है। अविद्या और संस्कार की पूँजी से या उनके धरातल पर पंच स्कन्ध शरीर रूप में जन्म के लिए गर्भ में आते हैं। विश्व में जितने प्राणी हैं सब गर्भजनित सृष्टि है। अविद्या और संस्कार वर्तमान जीवन के लिए आलम्बन या प्रतिष्ठा का कार्य करते हैं। दोनों में एक के अभाव में भी वर्तमान भव नहीं हो सकता।

३. विज्ञान—इस जन्म के लिए रूप-वेदना-संज्ञा-संस्कार-विज्ञान का जो बीजारोपण है, वही विज्ञान है। यह पंच स्कन्धों की योनिगत पूर्वावस्था है। यह अवस्था विज्ञान या मनःरूप है जो सूक्ष्म होते हुए स्थूल को अपने में अन्तर्लीन रखती है।

४. नामरूप—जन्म से पूर्व जो गर्भित दशा में पंच स्कन्धों की संवृद्धि है, वह नाम-रूप अवस्था है। विज्ञान क्षण से लेकर षडायतन या स्थूल देह की उत्पत्ति के क्षण की अवस्था

नामरूप है। पंच स्कन्धों में रूप स्कन्ध रूप और शेष वेदना संज्ञा संस्कार विज्ञान नाम की कोटि में आते हैं।

५. षडायतन—मन और पाँच इन्द्रियों वाला स्थूल शरीर षडायतन है। इनमें मन आयतन तो ठीक है, किन्तु इन्द्रियों को पाँच न कहकर चक्षु, श्रोत्र, घ्राण और रसना इन चार की गिनती होती है और शेष स्थूल तत्त्व को काय आयतन के रूप में कहा जाता है। वैदिक साहित्य में मन, प्राण, वाक्, चक्षु, श्रोत्र, इन्हें पञ्चेन्द्रिय माना जाता था जिनकी कालान्तर में एकादश इन्द्रियों के रूप में व्याख्या हुई। जिस तत्त्व को भी जन्म का मूल बीज माना जाय, उसकी स्थूल अभिव्यक्ति इन्द्रियों के रूप में होती है।

६. स्पर्श—सुख-दुःखात्मक अनुभव रूप जो वेदना होती है उसकी पूर्वावस्था। जब तक बालक सुख-दुःखादि को समझने में समर्थ नहीं होता तब तक की अवस्था स्पर्श कहलाती है। वस्तुतः वेदना के स्थूल अनुभव से पूर्व की जो अव्यक्तावस्था या वेदनानुभव की सक्षमता है वह स्पर्श है। मन सहित ज्ञानेन्द्रियाँ, उनके विषय और विषयों से इन्द्रिय द्वारा उत्पन्न ज्ञान—इन तीनों के एकत्र होने पर स्पर्श उत्पन्न होता है—(शान्तिभिक्षु, महायान, पृ० २६)।

७. वेदना—सुख-दुःख की अनुभूति का नाम वेदना है। यावत् मैथुन-राग का समुदाचार नहीं होता, तब तक की अवस्था वेदना है—(कोश ३।२३)।

८. तृष्णा—रूपादि कामगुण और मैथुन के प्रति राग और भोग की कामना तृष्णा है।

९. उत्पादान—भागों की सम्प्राप्ति के लिये पुद्‌गल का सक्रिय प्रयत्न उपादान है। उस अवस्था को उपादान कहते हैं जिसमें चतुर्विध क्लेशों का समुदाचार होता है।

१०. भव—इस प्रकार प्रभावित होकर वह कर्म करता है, जिनका फल अनागत-भव है। इस कर्म को भव कहते हैं, क्योंकि उसके कारण भव होता है (भवत्यनेन)। स्कन्धों के बिखर जाने पर फिर समूहन होने की शक्ति भव है। गर्भावस्था से पहले पाँच स्कन्धों की जिस अवस्था को अविद्या और संस्कार कहा गया है, सांसारिक वर्तमान जन्म में जिसे तृष्णा और उपादान कहा जाता है, अनागत या आने वाले जीवन में वही भव है। ये तीनों अवस्थाएँ काल-भेद से भिन्न हैं, पर तीनों का धर्म एक ही है—(शान्तिभिक्षु, महायान, पृ० २७)।

११. जाति—मरण के अनन्तर प्रतिसन्धिकाल में पाँचों स्कन्धों की जो अवस्था होती है उसे जाति कहा जाता है। गर्भ के आरम्भ में जो विज्ञान है, वही अनागत अवस्था में जाति है।

१२.जरा-मरण— वर्तमान भव के चार अंग—नामरूप, षडायतन, स्पर्श और वेदना—अनागत-भव के सम्बन्ध में जरा-मरण कहलाते हैं।

यह द्वादशांग प्रतीत्यसमुत्पाद बौद्ध अभिधर्म शास्त्र की नींव है। नाना बौद्ध नयों में इसकी सूक्ष्मातिसूक्ष्म व्याख्याएँ पायी जाती हैं और इसमें अवान्तर भेदपूर्ण दृष्टिकोण भी हैं। किन्तु इसमें सब सहमत हैं कि इस द्वादशांग सूत्र की देशना स्वयं भगवान् बुद्ध ने की थी और वे ही अभिधर्म के मूल उपदेष्टा थे।

जैसा वसुबन्धु ने कहा है बुद्ध का सद्धर्म दो भागों में विभक्त है—आगम और अधिगम (कोश ८।३९)। त्रिपिटक आगम है। सूत्र, विनय, और अभिधर्म उसके तीन विभाग हैं। अधिगम उन धर्मों की संज्ञा है जिनके आचार में परिगृहीत करने और साक्षात्कार से बोधि की

प्राप्ति होती है। आगम तो शास्त्रज्ञों के रूप में, एवं अधिगम आचारवान् धर्म के साक्षात्कर्ता बुद्धों के रूप में लोक में सुरक्षित रहता है। इनमें अधिगम धर्म का विशेष महत्त्व है। उसी के अन्तर्गत धर्म विचय का अंग है जिसके द्वारा जीवन में बोधि पाक्षिक धर्मों का आग्रह धारण करके सर्व क्लेशों की उपशान्ति का अभ्युपाय किया जाता है—(कोश १।३)।

प्राचीन समय में अभिधर्म का विशाल साहित्य था। यशोमित्र ने लिखा है कि अभिधर्म शास्त्र के कर्ता इस प्रकार कहे जाते थे—ज्ञान प्रस्थान के आर्यकात्यायनी पुत्र, प्रकरणपाद के स्थविर वसुमित्र, विज्ञानकाय के स्थविर देवशर्मा, धर्मस्कन्ध के आर्यशारिपुत्र, प्रज्ञप्ति शास्त्र का आर्यमौद्गल्यायन, धातुकाय के पूरण, संगीतिपर्याय के महाकौष्ठिल (स्फुटार्थी, पृ० १२)। किसी का मत था कि ज्ञानप्रस्थान शास्त्र की मूल था, शेष छह उसी के अंग थे। इन सातों के चीनी अनुवाद उपलब्ध हैं। ज्ञानप्रस्थान सूत्र का आंशिक अध्ययन श्री पूसें ने प्रकाशित किया है।[1] परम ज्ञान या अनुत्तर ज्ञान का प्रतिपादक यही शास्त्र अभिधर्म कहलाया। कालान्तर में इन्हीं सातों में महायान का आलयविज्ञान प्रतिपादक आठवाँ शास्त्र भी जुड़ गया।

वसुबन्धु ने अपने से पूर्ववर्ती सर्वास्तिवादी परम्परा के समस्त अभिधर्म शास्त्र का मंथन करके कोश के रूप में अपने नये शास्त्र की रचना की। मूलग्रन्थ में प्रतिपाद्य विषय ६०० कारिकाओं में उपनिबद्ध किया गया। उसी पर बृहत् भाष्य स्वयं उन्होंने ही रचा। इस ग्रन्थ में आठ कोशस्थान हैं जिनके विषय इस प्रकार हैं—

१ धातु, २ इन्द्रिय, ३ लोकधातु, ४ कर्म, ५ अनुशय, ६ आर्यपुद्गल, ७ ज्ञान, ८ ध्यान।

बुद्धघोष-कृत विशुद्धिमग्ग के पञ्ञा विभाग में भी अभिधर्म सम्बन्धी लगभग ये ही विषय कुछ क्रमभेद से समाविष्ट थे। आचार्य भदन्त घोषक ने अभिधर्मामृत शास्त्र नामक एतद्विषयक ग्रन्थ की रचना की थी। उसका विषय विभाग भी वसुबन्धु कोश से कुछ क्रमभेद के साथ मिलता है। श्री शान्तिभिक्षु ने चीनी अनुवाद से पुनः उसका संस्कृत में उद्धार किया है। वसुबन्धु का महान् अभिधर्मकोशशास्त्र भी मूल संस्कृत में नष्ट हो गया था। उसके दो चीनी अनुवाद (परमार्थ कृत और शुआन-च्वाङ् कृत) एवं एक तिब्बती अनुवाद सुरक्षित है। शुआन च्वाङ् चीनी के अनुवाद का ही पूसें ने फ्रेंच में अनुवाद किया। उसी का आचार्य जी ने हिन्दी में उल्था किया।[2] पूसें ने तिब्बती अनुवाद के आधार पर कारिकाओं का संस्कृत में उद्धार किया था। पीछे जब यशोमित्रकृत स्फुटार्था व्याख्या प्राप्त हुई तो तुलना करने से विदित हुआ कि उन्हें कितनी सफलता मिली थी और वसुबन्धुकृत रूप उनसे कितना श्रेष्ठ था। इधर सौभाग्य से श्री राहुल सांकृत्यायन तिब्बत से जो ग्रन्थराशि लाये थे उसमें अभिधर्मकोशकारिका और अभिधर्मकोशभाष्य की मूल संस्कृत प्रतियाँ मिल जाना सबसे अधिक आनन्द की बात है।

---

१. BEFEO, भाग ३० (१९३०) तथा मलाँज चिनुआ ए बुधीक, भाग १, पृ० ७३-७४।

२. बौधधर्म दर्शन पृ० ३१२ की पाद-टिप्पणी में आचार्य जी ने लिखा है कि अंग्रेजी अनुवाद भी उन्होंने किया था।

अभिधर्मकोशकारिका का सम्पादन श्री गोखले ने कर दिया है।[१] मूल अभिधर्मकोश का सम्पादन श्री प्रह्लाद प्रधान जायसवाल शोध संस्थान की ओर से कर रहे हैं। इसका प्रकाशन बौद्ध दर्शन के इतिहास में महत्त्वपूर्ण घटना होगी। अभिधर्म का विषय अत्यन्त क्लिष्ट और अपनी निजी परिभाषाओं से भरा हुआ है। फ्रेंच भाषा से अनुवाद करने पर भी आचार्य जी ने स्फुटार्था व्याख्या एवं मूल कारिकाओं की सहायता से संस्कृत शब्दावली का बड़ा सटीक उद्धार किया है। आभिधार्मिक दर्शन को समझने के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा परिनिष्ठित संस्कृत से विभिन्न अर्थों को प्रकट करने वाली शब्दावली है। जब आठों कोश स्थान मुद्रित हो जायंगे तब ग्रंथान्त में इन परिभाषाओं का एक कोशात्मक संकलन देना समीचीन होगा।

आचार्य श्री नरेन्द्रदेव जी अपने अस्वास्थ्य के कारण इस ग्रन्थ के प्रूफादि देखने और मुद्रण कराने का कार्य मुझे सौंप गये थे। खेद है कि १९ फरवरी १९५६ को उनकी ऐहलौकिक लीला समाप्त हो गई। अब यह अनुवाद उनके साहित्यिक कार्य के अमर कीर्तिस्तम्भ के रूप में प्रकाशित हो रहा है। वे जीवित होते तो अभिधर्म के गूढ़ मर्म का प्रतिपादन करने वाली विशद भूमिका इसके साथ जोड़ते। अपने बौद्ध-धर्म-दर्शन ग्रन्थ में उन्होंने वसुबन्धु के आभिधर्मिक दर्शन पर (१५वाँ अध्याय) और उनके विज्ञानवादी दर्शन पर भी (१८वाँ अध्याय) मार्मिक रूप से लिखा है। धातुनिर्देश नामक प्रथम कोशस्थान के विषय का विवेचन बौद्ध-धर्म-दर्शन के पृ० ३१४-३२१ तक आया है। दूसरे कोशस्थान के अन्तर्गत जो कई विषय हैं उनमें इन्द्रियों का विवेचन पृ० ३२८-३३३, परमाणुवाद का पृ० ३२२-३२६, चित्त-चैत्त का पृ० ३३३-३४४, चित्त-विप्रयुक्तधर्मों का पृ० ३४४-३५४ और हेतु-फल-प्रत्ययतावाद का पृ० ३५४-३६७ पर हुआ है। लोकधातुसंज्ञक तीसरा कोशस्थान बौद्धधर्म की विश्व-संस्थान-रचना (कास्मालाजी) से सम्बन्धित है। वसुबन्धु ने विस्तार से विभिन्न लोकों का वर्णन किया है। उसका संक्षिप्त परिचय बौद्ध धर्म-दर्शन में पृ० ३६८-३६९ पर दिया गया है। यह विषय पाठकों को अनुवादक के उसी ग्रन्थ से अवलोकन करना चाहिए। हमारा विचार है कि सम्पूर्ण ग्रन्थ मुद्रित हो जाने के बाद कोश के विषयों का परिचय भूमिका रूप में निबद्ध किया जाय। तब तक सम्भव है मूल संस्कृत कोश भी मुद्रित रूप में उपलब्ध हो जाय।

काशी विश्वविद्यालय

९-९-१९५८ वासुदेवशरण अग्रवाल

---

१. बम्बई राजकीय प्राच्य पत्रिका (JBBRAS), भाग २२, १९४१।

इसी पत्रिका के भाग २३ में श्री गोखले ने राहुल जी द्वारा लाये हुए मूल अभिधर्म समुच्चय का भी संपादन कर दिया है। वह प्रति खंडित थी। उसकी पूर्ति श्री प्रह्लाद प्रधान ने चीनी आधार पर करके उसे विश्वभारती से प्रकाशित किया है।

प्रथम कोशस्थान

धातुनिर्देश

यः सर्वथा सर्वहतान्धकारः
संसारपंकाज्जगदुज्जहार ।
तस्मै नमस्कृत्य यथार्थशास्त्रे
शास्त्रं प्रवक्ष्याम्यभिधर्मकोशम् ॥१॥

[१] १. जिन्होंने सर्व अन्धकार का सर्वथा विनाश किया है, जिन्होंने संसार-पंक से जगत् का उद्धार किया है, उन यथार्थ शास्ता को मैं अभिधर्मकोश नामक शास्त्र के प्रवचन के पूर्व, नमस्कार करता हूँ।[1]

शास्त्र-प्रणयन की इच्छा से अपने शास्ता के माहात्म्य को विज्ञापित करने के लिए आचार्य गुणाख्यान-पूर्वक उनके प्रति नमस्कारारम्भ करते हैं।

"उन्होंने सर्व अन्धकार का विनाश किया है" अर्थात् उनके द्वारा या उनका, सर्व अर्थों के विषय में, सर्व ज्ञेयों के विषय में, अन्धकार हत हुआ है।

"अन्धकार" अर्थात् अज्ञान, क्योंकि अज्ञान भूतार्थ-दर्शन में प्रतिबन्ध है।

"सर्वथा" अर्थात् इस प्रकार जिसमें उसका पुनरनुत्पत्तिधर्मत्व हो जाए।

बुद्ध भगवत्[2] को अधिकृत कर "यः" शब्द प्रयुक्त है,

[२] क्योंकि उन्होंने ही अज्ञान-प्रतिपक्ष (५.६०) के लाभ से सर्व अज्ञान का सर्वथा अत्यन्त विनाश किया है।

---

[1] यः सर्वथा सर्वहतान्धकारः संसारपंकाज्जगदुज्जहार।
तस्मै नमस्कृत्य यथार्थशास्त्रे शास्त्रं प्रवक्ष्याम्यभिधर्मकोशम्॥ [व्याख्या १.१९]

[2] विनयविभाषाकार चार कोटि बताते हैं: (१) एक बुद्ध हैं जो भगवान् नहीं हैं अर्थात् प्रत्येक-बुद्ध। यह बुद्ध हैं क्योंकि यह स्वयंभू हैं अर्थात् इन्होंने स्वयं बोधि का लाभ किया है। यह भगवान् नहीं हैं क्योंकि इनका दानादि (दान-पारमिता आदि) (७.३४) संभार अपरिपूर्ण है। (२) एक भगवान् हैं जो बुद्ध नहीं हैं अर्थात् चरमभविक बोधिसत्त्व। (३) एक बुद्ध और भगवान् दोनों ही हैं। (४) ऐसे भी पुद्गल (प्राणी) हैं जो न बुद्ध हैं और न भगवान्। [व्याख्या ३.१२]—यह भी कह सकते हैं कि श्रावक बुद्ध हैं (आर्य-देव, शतक, २७०) क्योंकि वे बोधि का लाभ करते हैं (६.६७)।

प्रत्येकबुद्ध और श्रावकों ने भी सर्व अन्धकार को हत किया है क्योंकि क्लिष्ट सम्मोह का उनमें अत्यन्त विगम हुआ है। किन्तु उन्होंने अन्धकार का सर्वथा विनाश नहीं किया है क्योंकि अक्लिष्ट सम्मोह का उनमें समुदाचार होता है[१] : वह बुद्ध-धर्मों को (७.२८),[२] अति विप्रकृष्ट देश और अति विप्रकृष्ट काल के अर्थों को (७.५५)[३] और अर्थों के अनन्त प्रभेदों को[४] नहीं जानते।

आत्महित-प्रतिपादक संपत्ति (आत्महित-प्रतिपत्ति-सम्पत्) की दृष्टि से भगवत् का इस प्रकार गुणाख्यान कर आचार्य परहित-प्रतिपत्तिसम्पत् की दृष्टि से उनका स्तवन करते हैं: "उन्होंने संसार-पंक से जगत् का उद्धार किया है।" संसार पंक है क्योंकि जगत् का वह आसंग-स्थान है, क्योंकि उसका उत्तरण दुस्तर है। भगवत् ने इस पंक में जगत् को अत्राण अवमग्न देख, उन पर अनुकम्पा कर, उनको सद्धर्मदेशना[५] का हस्त प्रदान कर, यथाभव्य[६] उनका पंक से उद्धार किया।

[३] "इस यथार्थशास्ता को"[१] यथार्थ के शास्ता को, क्योंकि यह अविपरीत भाव से यथाभूत का उपदेश देते हैं, मैं शिर से प्रणाम कर नमस्कार करता हूँ। भगवत् को इस प्रकार

---

[१] वास्तव में प्रत्येकबुद्ध और श्रावकों ने अक्लिष्ट अज्ञान का प्रहाण किया है जैसे उन्होंने छन्दराग के प्रहाण से चक्षुरादि इन्द्रिय का प्रहाण किया है। किन्तु यह अक्लिष्ट अज्ञान चक्षुरादिवत् प्रहीण होने पर ही उनमें समुदाचार करता है। बुद्ध में ऐसा नहीं होता। इसीलिए आचार्य कहते हैं कि उन्होंने अन्धकार को इस प्रकार हत किया है कि उसका पुनरनुत्पत्तिधर्मत्व सिद्ध होता है। [व्याख्या ४.१९]

[२] शारिपुत्र तथागत के (शीलादि) पंच स्कन्ध को नहीं जानते। [व्याख्या ४.३३]

[३] मौद्गल्यायन नहीं जानते कि मरीचि-("मारीची"—व्याख्या ५.७) लोकधातु में उनकी माता पुनरुत्पन्न हुई हैं। [व्याख्या ५.७]
शारिपुत्र प्रव्रज्यापेक्ष पुरुष (७.३० देखिए) के कुशल-मूल नहीं देख पाए, किन्तु बुद्ध ने कहा—

मोक्षबीजमहं ह्यस्य सुसूक्ष्ममुपलक्षये।
धातुपाषाणविवरे निलीनमिव कांचनम्॥

ह्युबर, सूत्रालंकार, पृ. २८६ से तुलना कीजिए।

[४] जैसा गाथा में कहा है—

सर्वाकारं कारणमेकस्य मयूरचन्द्रकस्यापि।
नासर्वज्ञैर्ज्ञेयं सर्वज्ञज्ञानबलं हि तत्॥ [व्याख्या ५.१६]

[व्याख्या में चतुर्थ चरण का पाठ 'सर्वज्ञबलं हि तज्ज्ञानम्' है। ५.१७]

[५] व्याख्या ६.५ में 'सद्धर्म-देशना-हस्त-प्रतानैः' पढ़िए।
[व्याख्या ६.५ में प्रतानैः के स्थान में प्रदानैः पाठ है।) उत्तारणीय पुद्गल अनेक हैं। इस लिए बहुवचन का प्रयोग है।

[६] यथाभव्य—'यथासंभव'। बिना कहे ही यह गमित होता है। यथा जब लोक में कहते हैं "उसने ब्राह्मणों को भोजन कराया" तो इसका यह अर्थ नहीं होता कि उसने सकल लोक के ब्राह्मणों को भोजन कराया।

[१] आर्यदेव, शतक, २६५ में यह पद है।

विशेषित कर आचार्य भगवत् के परहित-प्रतिपादन (प्रतिपत्ति) के उपाय को आविष्कृत करते हैं। भगवत् शास्ता ने, यथार्थ अनुशासनी से, न कि ऋद्धि-प्रभाव से या वर-प्रदान से,[२] संसार-पंक से उद्धार किया है।

इस यथार्थशास्ता को नमस्कार कर आचार्य क्या करेंगे ?

"मैं शास्त्र का प्रवचन करूँगा।" जो शिष्य का शासन करता है और उनको शिक्षा देता है वह 'शास्त्र' कहलाता है। किस शास्त्र का ? अभिधर्मकोश का।

प्रज्ञाऽमला सानुचराऽभिधर्म
स्तत्प्राप्तये यापि च यच्च शास्त्रम्।
तस्यार्थतोऽस्मिन् समनुप्रवेशात्
स वाश्रयोऽस्येत्यभिधर्मकोशः ॥२॥

यह अभिधर्म क्या है ?

२. ए. अपने अनुचर के साथ अमला प्रज्ञा अभिधर्म है।[३] प्रज्ञा जिसका व्याख्यान नीचे (२.२४, ७.१) करेंगे धर्मों का प्रविचय है।[४]

अमला प्रज्ञा अनास्रव प्रज्ञा है।[५]

जिसे प्रज्ञा का 'अनुचर' कहते हैं वह उसका परिवार अर्थात् प्रज्ञा के सहभू-धर्म अनास्रव पंचस्कंधक (१.७ ए) हैं।[६]

---

२ न त्वर्द्धिवरप्रदानप्रभावेन। [व्याख्या ७.२५] प्रथम विवेचन : ऋद्धि के प्रभाव से, (७.४८) यथा विष्णु; वर-प्रदान के प्रभाव से, यथा महेश्वर। द्वितीय निरूपण—ऋद्धि से, वर-प्रदान से, अपने प्रभाव से (७.३४)।
यह ठीक है कि बुद्ध कभी विनेय जन के आवर्जन मात्र के लिए ऋद्धि-प्रातिहार्य दिखाते हैं किन्तु अनुशासनी-प्रातिहार्य से वह क्लेशों का क्षय कर (७.४७ ए-बी) जगत् की रक्षा करते हैं। [व्याख्या ७.३०]

३ प्रज्ञामला सानुचराभिधर्मः। [व्याख्या ८.११]

४ धर्माणां प्रविचयः—धर्म पुष्पों के समान व्यवकीर्ण हैं। उन्हें चुनते हैं (प्रविचीयन्ते, उच्चीयन्ते) और स्तवकों में रखते हैं: यह अनास्रव हैं, यह सास्रव हैं इत्यादि।
धर्म-प्रविचय-काल में एक चित्त-संप्रयुक्त (चैत्त, चैतसिक) (२.२३) धर्म-विशेष का, जिसे प्रज्ञा कहते हैं, प्राधान्य होता है। अतः प्रज्ञा का लक्षण 'धर्म-प्रविचय' है।

५ 'मल' आस्रव का पर्याय है। हम 'अनास्रव' के लिए 'प्योर' शब्द का व्यवहार करेंगे। आस्रवों का लक्षण ५.३५ में दिया है। नीचे १.४ देखिए।

६ अभिधर्म शब्द से केवल अनास्रव प्रज्ञा ही न समझना चाहिए जो वस्तु-स्वभाव का प्रविचय करती है किन्तु चित्त-सन्तान के उस क्षण के सब अनास्रव स्कन्धों को भी समझना चाहिए जिस क्षण में यह प्रज्ञा उत्पन्न होती है : वेदनादि (१.१४ सी)। इस कलाप में एक रूप-स्कन्ध है। इसे 'अनास्रव-संवर' (४.१३ सी) कहते हैं।

[४] यह पारमार्थिक[१] अभिधर्म है।

२ बी. अमला प्रज्ञा की प्राप्ति के लिए जिस प्रज्ञा और जिस शास्त्र की आवश्यकता है वह भी अभिधर्म है।[२]

व्यवहार में अभिधर्म शब्द से वह प्रज्ञा भी ज्ञापित होती है जिससे पारमार्थिक अभिधर्म का लाभ होता है: सास्रवा प्रज्ञा जो उपपत्तिप्रतिलम्भिका (सहजा) या प्रयोगजा अर्थात् श्रुतमयी, चिन्तामयी, भावनामयी प्रज्ञा (२.७१ सी) है अपने अनुचर के साथ सांकेतिक अभिधर्म कहलाती है।[३]

शास्त्र[४] भी पारम्पर्येण अभिधर्म कहलाता है क्योंकि शास्त्र भी अनास्रव-प्रज्ञा का प्रापक है। इसलिए यह पारमार्थिक अभिधर्म में हेतु है।

धर्म वह है "जो स्वलक्षण धारण (मध्यमक वृत्ति, ४५७; सिद्धि ४,५६८ देखिए) करता है।"

अभिधर्म को 'अभि-धर्म' इसलिए कहते हैं, क्योंकि यह उस धर्म के अभिमुख है जो परम ज्ञान का अर्थ है अथवा यह सब धर्मों में अग्र या परमार्थ निर्वाण के अभिमुख है अथवा यह धर्मों के स्वलक्षण और सामान्य लक्षणों के अभिमुख है।

इस शास्त्र को अभिधर्मकोश क्यों कहते हैं?

२ सी-डी. क्योंकि अभिधर्म का इसमें अर्थतः अनुप्रवेश है अथवा

[५] अभिधर्म इसका आश्रय है इसलिए इस शास्त्र को अभिधर्मकोश कहते हैं।[१]

जिस शास्त्र की संज्ञा अभिधर्म है अर्थात् अभिधर्मपिटक, वह इस शास्त्र में अर्थतः, यथाप्रधान अन्तर्भूत है। इसलिए यह अभिधर्मकोश है, अभिधर्म का कोशस्थानीय है। अथवा वह अभिधर्म इस शास्त्र का आश्रयभूत है। इसलिए हम कह सकते हैं कि यह शास्त्र अभिधर्म से निराकृष्ट है यथा खड्ग कोश से निराकृष्ट होता है। अतः इस शास्त्र को अभिधर्मकोश कहते हैं अर्थात् वह शास्त्र जिसका कोश अभिधर्म है।

---

[१] व्याख्या [८.२७]—परमार्थ एव पारमार्थिकः। परमार्थे वा भवः पारमार्थिकः। परमार्थेन वा दीव्यति चरतीति पारमार्थिकः।

[२] तत्प्राप्तये यापि च यच्च शास्त्रम्। [व्याख्या ८.३०, ९.६]

[३] सांकेतिक, सांव्यवहारिक अभिधर्म। [व्याख्या ८.२९]

[४] शास्त्र अर्थात् (१) अभिधर्म शास्त्र, अभिधर्मपिटक। [व्याख्या ९.७]
इस अर्थ में कुछ का कहना है कि शास्त्र के साथ 'सानुचर' का अनुवर्तन नहीं करना चाहिए क्योंकि ग्रंथ का परिवार नहीं होता। कुछ का मत है कि लक्षण (२.४५ सी-डी) अनुचर हैं। (२) अथवा ज्ञानप्रस्थान जो अभिधर्म का शरीर है और उसके पादभूत (और 'अनुचर') ६ ग्रन्थ—प्रकरणपाद, विज्ञानकाय, धर्मकाय, प्रज्ञाप्तिशास्त्र, धातुकाय और संगीतिपर्याय।
(बर्नूफ़, भूमिका, पृ. ४४८)

[१] तस्यार्थतोऽस्मिन् [व्याख्या १०.३] [सम्] अनुप्रवेशात्।
[सो वा] आश्रयो [ऽस्येत्य्] अभिधर्मकोशः॥

धर्माणां प्रविचयमन्तरेण नास्ति
क्लेशानां यत उपशान्तयेऽभ्युपायः।
क्लेशैश्च भ्रमति भवार्णवेऽत्र लोक
स्तद्धेतोरत उदितः किलैष शास्त्रा ॥३॥

अभिधर्म के उपदेश का क्या प्रयोजन है? किसने इसका प्रथम उपदेश किया? इन दो प्रश्नों के उत्तर से हम जानेंगे कि अभिधर्मकोश के प्रणयन में आचार्य क्यों आदर प्रदर्शित करते हैं।

३. यतः धर्म-प्रविचय के बिना क्लेशों की शान्ति का कोई उपाय नहीं है और क्लेशों के कारण ही लोक इस भवार्णव में भ्रमित होता है अतएव कहते हैं कि इस प्रविचय के लिए शास्ता ने अभिधर्म का उपदेश किया है।[२]

धर्मों के प्रविचय के बिना क्लेशों के (५. १) उपशम का दूसरा कोई उपाय नहीं है और क्लेश ही लोक को इस संसार रूपी महार्णव में भ्रमित करते हैं। अतएव वैभाषिक[३] कहते हैं कि धर्मों के प्रविचय के लिए शास्ता बुद्ध भगवत् ने अभिधर्म का उपदेश किया है क्योंकि अभिधर्म के उपदेश के बिना शिष्य धर्मों का प्रविचय करने में अशक्त हैं।

[६] वैभाषिक कहते हैं कि भगवत् ने अभिधर्म का प्रवचन सदा प्रकीर्ण रूप से किया है और जिस प्रकार स्थविर धर्मत्रात ने प्रवचन में प्रकीर्ण उदानों को उदानवर्ग[१] में बर्गीकृत किया है उसी प्रकार आर्य कात्यायनीपुत्र प्रभृति स्थविरों ने सात अभिधर्मों में अभिधर्म को संगृहीत कर स्थापित किया है।[२]

---

२ [व्याख्या १०.२६] धर्माणां प्रविचयमन्तरेण नास्ति क्लेशानां यत उपशान्तयेऽभ्युपायः। [व्याख्या १०.३० में द्वितीय चरणांश यों है—नास्ति क्लेशोपशमाभ्युपायः।] क्लेशैश्च भ्रमति भवार्णवेऽत्र लोकः [व्याख्या ११.२] (तद्धेतोरत उदितः किलैष शास्त्रा) ॥ प्रथम दो पंक्तियां नामसंगीति, १३० की टीका (अमृतकणिका) में 'यदुपशान्तये' इस पाठ के साथ उद्धृत हैं। तृतीय पंक्ति व्याख्या में (११.२) उद्धृत है। चतुर्थ व्याख्या के अनुसार व्यवस्थित की गई है।

३ 'किल परमतद्योतने'। 'किल' शब्द दिखाता है कि वसुबन्धु यहां वैभाषिकों का मत देते हैं और यह उनका मत नहीं है। सौत्रान्तिक और वसुबन्धु के अनुसार अभिधर्म बुद्धवचन नहीं है। हम भूमिका में अभिधर्म ग्रन्थों की प्रामाणिकता के प्रश्न का विचार करेंगे। सूत्र और अभिधर्म का विरोध, यथा ३.१०४, ७.२२.

१ उदानवर्ग (तिब्बती सूत्र, २६) के तिब्बती भाषान्तर का अनुवाद डब्ल्यू० राकहिल (लन्दन १८८३) ने किया है और एच० बेक (बर्लिन १९११) ने उसे प्रकाशित किया है। मूल का एक अच्छा भाग तुर्किस्तान में पाया गया है (जे० आर० ए० एस० १९१२ पृ. ३५५-३७७; जे० एस० १९१२, १.३११ में पालि पाठ की इससे समानता दिखाई गई है)— एस० लेवी, जे० एस० १९१२, २.२१५-२२२.

२ जे तकाकुसु—आन दि अभिधर्म लिटरेचर आफ दि सर्वास्तिवादिन्स, जे० पी० टी० एस०, १९०५, पृ. ७५.

सास्रवानास्रवा धर्माः संस्कृता मार्गवर्जिताः।
सास्रवा आस्रवास्तेषु यस्मात्समनुशेरते ॥४॥

वह धर्म कौन हैं जिनका प्रविचय अभिधर्म में उपदिष्ट है?

४. ए—धर्म सास्रव और अनास्रव हैं।[3]

सास्रव धर्म कौन हैं?

४. बी-डी—मार्ग को वर्जित कर अन्य संस्कृत धर्म सास्रव हैं। वह सास्रव हैं क्योंकि वहाँ आस्रव प्रतिष्ठा-लाभ करते हैं।[4]

[७] संस्कृत धर्म का अर्थ १.७ ए, २.४५ सी-डी में है।

आस्रवों पर ५.४० देखिए।

यद्यपि आर्यमार्ग या असंस्कृत धर्म आस्रव-विशेष के, यथा मिथ्यादृष्टि के, आलम्बन हो सकते हैं किन्तु इससे आर्यमार्ग या यह धर्म सास्रव नहीं होते, क्योंकि आस्रव

---

[3] सास्रवानास्रवा धर्माः [व्याख्या १२.९]

[4] संस्कृता मार्गवर्जिताः। सास्रवा आस्रवास्तेषु यस्मात् समनुशेरते॥ [व्याख्या १२.२०, १३.१]

मार्ग-संगृहीत संस्कृत धर्मों को वर्जित कर अन्य संस्कृत धर्म सास्रव कहलाते हैं। यह कैसे और क्यों 'सास्रव' हैं?

(१) हम यह नहीं कह सकते कि जो आस्रवों से 'संप्रयुक्त' हैं, वह सास्रव हैं क्योंकि केवल क्लिष्ट चित्त-चैत्तों का आस्रवों से संप्रयोग होता है (१.२३)।

(२) हम यह नहीं कह सकते कि जिनका आस्रवों के साथ उत्पाद (सहोत्पाद) होता है वह सास्रव हैं। उस पक्ष में न बाह्य धर्म (१.३९ ए) सास्रव होंगे और न उस सत्व के पांच उपादान-स्कन्ध (१.८) जिनकी सन्तति में क्लेशों का समुदाचार इस समय नहीं हो रहा है।

(३) हम नहीं कह सकते कि आस्रवों के जो आश्रय हैं, वह सास्रव हैं, क्योंकि ६ आध्यात्मिक आयतन ही आस्रवों के आश्रय होते हैं।

(४) हम यह नहीं कह सकते कि जो आस्रवों के आलम्बन हैं वह सास्रव हैं। इस विकल्प में निर्वाण (निरोधसत्य) भी सास्रव होगा क्योंकि निर्वाण के विषय में भी मिथ्यादृष्टि हो सकती है। इस विकल्प में जब ऊर्ध्व भूमि को अधर भूमि के आस्रव आलम्बन बनायेंगे तब ऊर्ध्व भूमि भी सास्रव होगी। (५.१८ में इन दृष्टियों का विरोध किया है।) अतः आचार्य कहते हैं कि एक धर्म 'सास्रव' कहलाता है जब आस्रव वहां अनुशयन करते हैं (अनुशेरते) अर्थात् वहां पुष्टि-लाभ करते हैं (पुष्टिं लभन्ते) अथवा वहां प्रतिष्ठा-लाभ करते हैं यथा पादतल भूमि पर प्रतिष्ठित हो सकता है, तप्त उपल पर नहीं। 'सास्रव' धर्मों में पुष्टि और प्रतिष्ठा का लाभ कर अनुशय की बहुलता होती है (सन्तायन्ते)। एक दूसरे मत के अनुसार जैसे यह कहने के लिए कि "यह आहार मुझे पथ्य है" "यह आहार मेरे अनुकूल है" (अनुगुणीभवति) लोक में कहते हैं कि "यह आहार मुझे लगता है (मम अनुशेते)" उसी प्रकार आस्रव "इन धर्मों में अनुशयन करते हैं" "इन धर्मों के अनुकूल हैं।" अतएव उन धर्मों को सास्रव कहते हैं जिनके अनुकूल आस्रव हैं अर्थात् मार्गवर्जित संस्कृत। वास्तव में आस्रव से अभिष्यन्दित कर्म से [व्याख्या १३.७] संस्कृत निर्वतित होते हैं। अतएव आस्रव उनके अनुकूल हैं [व्याख्या ५.१, १८, २९, ३९, ४० देखिए]। निकाय इसपर एकमत नहीं हैं कि बुद्धकाय सास्रव है या नहीं। (१.३१ डी देखिए)

वहाँ प्रतिष्ठा-लाभ नहीं करते, वहाँ अनुशयन नहीं करते। इसका व्याख्यान पाँचवें कोशस्थान (अनुशयनिर्देश) में करेंगे।

अनास्रवा मार्गसत्यं त्रिविधं चाप्यसंस्कृतम्।
आकाशं द्वौ निरोधौ च तत्राकाशमनावृतिः ॥५॥

अनास्रव धर्म कौन हैं?

५ ए-बी—मार्गसत्य और तीन असंस्कृत अनास्रव हैं।[1]

तीन असंस्कृत कौन हैं?[2]

[८] ५ सी—आकाश और दो निरोध।[1]

दो निरोध प्रतिसंख्यानिरोध और अप्रतिसंख्यानिरोध हैं। तीन असंस्कृत और मार्ग-सत्य यह अनास्रव धर्म हैं क्योंकि यहाँ आस्रव प्रतिष्ठा-लाभ नहीं करते।

५ डी—आकाश वह है "जो आवृत नहीं करता।"[2]

आकाश अनावरण-स्वभाव है; यहाँ रूप की अबाध गति है। यह रूप से आवृत भी नहीं होता (आव्रियते) क्योंकि आकाश रूप से अपगत नहीं होता।[3]

---

[1] अनास्रवा मार्गसत्यं त्रिविधं चाप्यसंस्कृतम्। [व्याख्या १३.३०]
सत्यदर्शनात्मक और सत्यभावनात्मक धर्मों का समुदाय मार्गसत्य है। (६.२५ डी, ७.३ बी)
असंस्कृतों पर १.४८ बी, २.५५ सी-डी और भूमिका देखिए।

[2] कुछ दार्शनिक यथा वात्सीपुत्रीय कहते हैं कि केवल एक असंस्कृत है अर्थात् निर्वाण। वैशेषिक परमाणु आदि अनेक असंस्कृत मानते हैं [व्याख्या १५.२]।
एक हैं जो तीन असंस्कृत मानते हैं। दूसरे शून्यता को जो 'तथतालक्षण' है (मध्यमक, ७.३३, पृ० १७६) असंस्कृत मानते हैं।
वैसिलीफ़, पृ०२६४, २८२—कथावत्थु, २.९, ६.१-६, १९.५; भावविवेक, नैन्जिओ १२३७, २, पृ० २७५, कालम ३.

[1] आकाशं द्वौ निरोधौ च। दो निरोधों पर १.६, २.५५ सी और ५ निरोधों पर १.२० ए-बी देखिए।

[2] तत्राकाशमनावृतिः। [व्याख्या १५.६]

[3] आकाश और आकाशधातु के भेद पर १.२८ देखिए। आकाश नामक असंस्कृत के अभाव पर (सौत्रान्तिकवाद) २.५५ सी-डी देखिए—कथावत्थु, ६.६-७.
आकाश पर 'डाकुमेन्टस आफ़ अभिधर्म' बी० ई० एफ़० ई० ओ० १९३०, २.२७९, ३.१३९, परिशिष्ट देखिए।
आकाश और अन्य असंस्कृतों पर माध्यमिक मत सौत्रान्तिकों के मत से मिलता है। आर्यदेव, शतक, ९.३ में (मध्यमकवृत्ति, ५०५, चतुःशतिका, २०२, एशियाटिक सोसा० आफ बंगाल, ३ पृ.४८३, १९१४) इसका व्याख्यान करते हैं: "जहां रूपान्तर का अभाव है, जहां रूपी धर्मों की उत्पत्ति में कोई प्रतिबन्ध नहीं है। रूपाभाव मात्र के लिए आकाश का व्यवहार होता है क्योंकि भाव वहां अत्यन्त रूप से प्रकाशित होते हैं (भृशमस्यान्तः काशन्ते भावाः—व्याख्या १५.८)। वैभाषिक अभिधर्मशास्त्र में आकाश में वस्तुत्व आरोपित करते हैं। वह यह नहीं देखते कि आगम अवस्तुसत्, अकिंचन के (अवस्तुसतोऽकिंचनस्य) नामधेय मात्र का उपदेश देता है.....।"

प्रतिसंख्यानिरोधो यो विसंयोगः पृथक् पृथक्।
उत्पादात्यन्तविघ्नोऽन्यो निरोधोऽप्रतिसंख्यया ॥६॥

६.ए-बी—पृथक् पृथक् 'विसंयोग' प्रतिसंख्यानिरोध (२.५५) है।[४]

सास्रव धर्मों से विसंयोग (२.५७ डी) प्रतिसंख्यानिरोध (२. ५५) या निर्वाण है।

[९] प्रतिसंख्यान या प्रतिसंख्या से एक प्रज्ञाविशेष का, अनास्रव प्रज्ञा का, दुःखादि आर्यसत्यों के अभिसमय (साक्षात्कार) का ग्रहण होता है। इस प्रज्ञाविशेष से जिस निरोध की प्राप्ति होती है वह प्रतिसंख्यानिरोध कहलाता है। हम 'प्रतिसंख्याप्राप्य निरोध' कह सकते थे किन्तु मध्यम पद (प्राप्य) का लोप होता है यथा 'गोयुक्त रथ' न कह कर 'गोरथ' कहते हैं। (गोरथ=गोयुक्त रथ)

क्या यह समझना चाहिए कि सब सास्रव धर्मों के लिए एक ही प्रतिसंख्यानिरोध होता है?

नहीं। प्रत्येक विसंयोग पृथक्-पृथक् प्रतिसंख्यानिरोध है। जितने संयोग-द्रव्य होते हैं उतने ही विसंयोग-द्रव्य होते हैं।[१] यदि अन्यथा होता, यदि प्रतिसंख्यानिरोध एक ही होता, तो जिस पुद्गल ने दुःखसत्य-दर्शन से प्रहातव्य क्लेशों के निरोध का लाभ किया है, उसका साक्षात्कार किया है, उसको समुदयादि दर्शन और भावना से प्रहातव्य क्लेशों के निरोध की प्राप्ति भी साथ-साथ होती। उसके लिए शेष क्लेशों के प्रतिपक्षभूत मार्ग की भावना व्यर्थ होगी (विभाषा ३२, ६)। किन्तु क्या यह नहीं कहा है कि "निरोध असभाग है"? इसका यह अभिप्राय नहीं है कि निरोध एक है अथवा एक निरोध दूसरे निरोध का सभाग नहीं हो सकता। इसका यह अर्थ है कि निरोध का कोई सभाग-हेतु नहीं है और न यह किसी दूसरे धर्म का सभाग-हेतु है[२] (२.५२)।

(१०) ६. सी-डी—एक अन्य निरोध जो उत्पाद में अत्यन्त विघ्नभूत है अप्रतिसंख्या-निरोध कहलाता है।[१]

---

[४] प्रतिसंख्यानिरोधो यो विसंयोगः पृथक् पृथक्। कथावत्थु, १९.३ के शास्त्रार्थ से तुलना कीजिए।
सर्वास्तिवादिन् का मत है कि 'क्लेश-विसंयोग' 'क्लेश या अनागत दुःख का निरोध' (विसंयोग, निरोध) वस्तुसत्, धर्मसत्, द्रव्य है। 'विसंयोग' हेतुजनित नहीं है: यह नित्य है। प्रतिसंख्या (सत्याभिसमय) से विसंयोग की प्राप्ति का (२.३६ बी) लाभ होता है।

[१] भगवत् सास्रव द्रव्य को स्तम्भस्थानीय बताते हैं अर्थात् यह वह द्रव्य है जिससे रागद्वेषादि क्लेश संप्रयुक्त हो सकते हैं। क्लेश या संयोजन रज्जुस्थानीय हैं; पुद्गल बलीवर्दस्थानीय है [व्याख्या १६.२२] (संयुत्त, ४.२८२ से तुलना कीजिए)। सास्रव द्रव्य 'संयोग-वस्तु' 'सञ्ञोजनिय' है। प्रतिसंख्यानिरोध कई हैं, वसुमित्र, महासांघिक ३४ वां वाद—विभाषा का हवाला ३१, पृ. १६१, काल० ३, पृ. १६२, काल० १ है।

[२] धर्मदिन्ना से उसके पूर्व भर्ता गृहपति विशाख ने पूछा: किं सभाग आर्ये निरोधः? उसने उत्तर दिया: असभाग आयुष्मन् विशाख। [व्याख्या १६.२८] (मध्यमागम, फ़ैस्किकुलस १८, फ़ोलिओ ३, विभाषा ३१.१६)
मज्झिम, १.३०४ से तुलना कीजिए: निब्बानस्स पनय्ये किं पतिभागो........

[१] उत्पादात्यन्तविघ्नोऽन्यो निरोधोऽप्रतिसंख्यया॥ [व्याख्या १७.८]

'विसंयोग' से भिन्न 'निरोध' जो अनागत धर्मों के उत्पाद में अत्यन्त विघ्न है अप्रतिसंख्या-निरोध है। इसकी यह संज्ञा इसलिए पड़ी क्योंकि इसकी प्राप्ति सत्याभिसमय से नहीं होती, प्रत्यय-वैकल्य से होती है।[2]

यथा, जब चक्षुरिन्द्रिय और मन-इन्द्रिय एक रूप में व्यासक्त होते हैं तब अन्य रूप, शब्द, गन्ध, रस और स्प्रष्टव्य प्रत्युत्पन्न अध्व का अतिक्रम कर अतीत अध्व में प्रतिपन्न होते हैं। इससे यह परिणाम निकलता है कि चक्षुर्विज्ञानादि पांच विज्ञानकाय जिनका आलम्बन अन्य रूप, शब्द, गन्ध, रस और स्प्रष्टव्य हो सकते थे, उत्पन्न नहीं हो सकते। क्योंकि विज्ञान-काय अतीत विषय के ग्रहण में, चाहे वह स्वालम्बन ही क्यों न हो, समर्थ नहीं होते। अतः पूर्वोक्त विज्ञानों के उत्पाद में अत्यन्त विघ्न होता है क्योंकि प्रत्यय-वैकल्य है।

इस निर्देश में चतुष्कोटि है (विभाषा ३२, ६):—

१ केवल अतीत, प्रत्युत्पन्न, उत्पत्तिधर्मा सास्रव धर्मों का प्रतिसंख्यानिरोध;

२ केवल अनुत्पत्तिधर्मा अनास्रव संस्कृत धर्मों का अप्रतिसंख्यानिरोध;

३ अनुत्पत्तिधर्मा सास्रव धर्मों का प्रतिसंख्यानिरोध और अप्रतिसंख्या-निरोध;

४ अतीत, प्रत्युत्पन्न और उत्पत्तिधर्मा अनास्रव धर्मों का न प्रतिसंख्यानिरोध, न अप्रति-संख्यानिरोध।[3]

[११] ते पुनः संस्कृता धर्मा रूपादिस्कन्धपंचकम्।
त एवाऽध्वा कथावस्तु सनिःसाराः सवस्तुकाः ॥७॥

---

[2] विभाषा, ३२,५—कथावत्थु, २.११ के अनुसार महिसासक (वैसिलीफ पृ.२८२) और अंधक पटिसंखानिरोध और अप्पटिसंखानिरोध में भेद करते हैं। शंकर २.२, २२ में दो निरोधों का विचार करते हैं (एलबम कर्न १११ देखिए)। वह अप्रतिसंख्यानिरोध और अनित्यतानिरोध को (१.२० ए-बी) एक दूसरे से मिला जुला देते हैं।

[3] यह चतुष्कोटि दो विषयों पर आश्रित हैः १. सास्रव धर्मों का, चाहे जिस किसी अध्व के वह हों, चाहे उत्पत्तिधर्मा हों या अनुत्पत्तिधर्मा, प्रतिसंख्यानिरोध (विसंयोग, वैराग्य) हो सकता है। २. सर्व अनास्रव और सास्रव धर्मों का, जो अनुत्पत्तिधर्मा हैं, अप्रतिसंख्या-निरोध होता है। अनागतधर्मों का अस्तित्व है। वह उत्पन्न होंगे यदि प्रत्यय उनको अनागत से प्रत्युत्पन्न अध्व में आकृष्ट करेंगे। वह उत्पन्न न होंगे यदि उनको अप्रतिसंख्यानिरोध का लाभ होगा। यथा आर्य एक काल में तिर्यक् योनि में पुनः अनुत्पन्न होने का सामर्थ्य प्राप्त करता हैः वह तिर्यक् योनि के अप्रतिसंख्यानिरोध का लाभ करता है जो अब से उसके लिए 'अनुत्पत्तिधर्मा' है।
भगवत् स्रोतापन्न पुद्गल के विषय में कहते हैं: "इसके नरक, तिर्यक्, प्रेतभव निरुद्ध हैं।" (व्याख्या १८.१४) (संयुत्त, ५.३५६ से तुलना कीजिए :—खीणनिरयो खीणतिरच्छान-योनिको ......)—अप्रतिसंख्यानिरोध एक धर्मविशेष है जो अमुक अमुक धर्म के उत्पाद का उसमें नियत रोध करता है जिसमें उसकी प्राप्ति होती है। यह अत्यन्त अनुत्पाद प्रत्यय-वैकल्यमात्र से नहीं होता क्योंकि यदि पुनः प्रत्ययों का किसी दिन सान्निध्य होगा तो धर्म की उत्पत्ति का प्रसंग होगा। अतः अप्रतिसंख्यानिरोध की प्राप्ति से तज्जातीय प्रत्यय-सान्निध्य और उत्पत्ति का नियत रोध होता है। २.५५ सी-डी और ५.२४ देखिए।

हमने कहा है कि सास्रव धर्म मार्गवर्जित संस्कृत धर्म हैं। संस्कृत कौन है?

७ ए-बी. संस्कृत रूपादि पंचस्कन्ध हैं।[1]

रूपस्कन्ध, वेदनास्कन्ध, संज्ञास्कन्ध, संस्कारस्कन्ध, विज्ञानस्कन्ध। 'संस्कृत' की व्युत्पत्ति इस प्रकार है: "जिसे प्रत्ययों ने अन्योन्य समागम से, एक दूसरे की अपेक्षा कर (समेत्य, संभूय) किया है (कृत)"। कोई भी एक ऐसा धर्म नहीं है जो एक प्रत्यय से जनित हो (२.६४)। 'संस्कृत' शब्द का अर्थ यद्यपि 'कृत' है तथापि यह अनागत धर्म के लिए, प्रत्युत्पन्न धर्म के लिए उसी प्रकार प्रयुक्त होता है जैसे अतीत धर्म के लिए। वास्तव में अध्व के बदलने से धर्म का स्वभाव नहीं बदलता—दुग्धवत्। 'दुग्ध' का अर्थ है 'स्तन से जो निष्कासित हुआ है' 'जो दुहा गया है'। किन्तु स्तनस्थ क्षीर को भी लोक में 'दुग्ध' कहते हैं चाहे वह निष्कासित हो या न हो। 'इन्धन' का अर्थ है 'प्रदीप्त काष्ठ' किन्तु काष्ठ को भी 'इन्धन' कहते हैं।

[१२] ७ सी-डी. संस्कृत ही अध्व, कथावस्तु, सनिःसार और सवस्तुक हैं।[1]

१. संस्कृत ही अध्व अर्थात् अतीत, प्रत्युत्पन्न और अनागत काल हैं क्योंकि उनका गत-गच्छत्-गमिष्यत्भाव है। यथा अध्व (मार्ग) के लिए लोक में कहते हैं कि यह अध्व ग्राम को गया, जाता है, जाएगा।

अथवा संस्कृत 'अध्व' इसलिए कहलाते हैं क्योंकि अनित्यता (२.४५ सी) इनका भक्षण करती है (अद्यन्ते)।

२. कथा से अभिप्राय शब्द, वाक्य से है। कथा का वस्तु (विषय) नाम (२.३६) है।[2]

क्या यह आवश्यक है कि कारिका में दिए अर्थ को हम अक्षरशः लें और कहें कि संस्कृत नाम हैं?

नहीं। 'कथावस्तु' से कथा के विषय का अर्थात् सार्थक वस्तु का ग्रहण होता है। अन्यथा यदि 'कथावस्तु' से केवल नाम का ग्रहण हो तो प्रकरणपाद[3] से विरोध हो। प्रकरणपाद में कहा

---

[1] ते पुनः संस्कृता धर्मा रूपादिस्कन्धपंचकम् [व्याख्या १९.३०, २०.७]। 'स्कन्ध' आख्या का निरूपण १.२० में है। 'संस्कृत' पर विसुद्धिमग्गो २९३ देखिये।

[1] त एवाध्वा कथावस्तु सनिःसाराः सवस्तुकाः॥ (व्याख्या २०.२४, २१.२०, २१.२८)

[2] इस सूत्र के अनुसार: [व्याख्या २१.३-५] त्रीणीमानि भिक्षवः कथावस्तून्यचतुर्थान्यपंचमानि यान्याश्रित्यार्याः कथां कथयन्तः कथयन्ति। कतमानि त्रीणि। अतीतं कथावस्तु अनागतं कथावस्तु प्रत्युत्पन्नं कथावस्तु। [प्रत्युत्पन्नं (व्याख्या २१.५) के अनन्तर कथावस्तु होना चाहिए था पर छूट गया है।]
अंगुत्तर, १.१९७ से तुलना कीजिए।
संघभद्र, ६३३,३,१३.

[3] २३.१०, फ्रोलिओ ४४ ए ४: "तीन अध्व, तीन कथावस्तु १८ धातुओं में, १२ आयतनों में, पांच स्कन्धों में संगृहीत हैं। निरोधज्ञान को वर्जित कर शेष ९ ज्ञानों से यह जाने जाते हैं। ६ विज्ञानों से इनका प्रविचय होता है और सब अनुशयों से यह प्रभावित होते हैं।"

है कि कथावस्तु १८ धातुओं में संगृहीत है।" (विभाषा, १५, ८)।[४]

३. निःसार का अर्थ है अवश्य निःसरण (सार = निःसरण), सर्व संस्कृत का निर्वाण (निरुपधि-शेष निर्वाण)। क्योंकि संस्कृत से निःसरण आवश्यक है इसलिए संस्कृत को 'सनिःसार' कहते हैं।[५]

[१३] ४ संस्कृत सहेतुक हैं। इसलिए उन्हें सवस्तुक कहते हैं अर्थात् सहेतुक।[१] वैभाषिकों का मत है कि 'सवस्तुक' शब्द में 'वस्तु' का अर्थ 'हेतु' है।[२] संस्कृत' के यह विविध पर्याय रूप हैं।

ये सास्रवा उपादानस्कन्धास्ते सरणा अपि।
दुःखं समुदयो लोको दृष्टिस्थानं भवश्च ते ॥८॥

८ ए-बी—जब वे सास्रव होते हैं तब उपादानस्कन्ध होते हैं।[3] सास्रव संस्कृत ५ उपादान स्कन्ध हैं। सब उपादानस्कन्ध स्कन्ध हैं। किन्तु अनास्रव संस्कृत स्कन्धों में संगृहीत हैं, उपादानस्कन्धों में संगृहीत नहीं हैं (विभाषा, ७५, ३)।

'उपादान' क्लेश हैं (क्लेश, ५.३८)।

उपादानस्कन्ध संज्ञा इसलिए है (१) क्योंकि यह क्लेशों से संभूत हैं यथा लोक में 'तृणाग्नि' 'तुषाग्नि' कहते हैं; (२) अथवा यह क्लेशविधेय हैं यथा लोक में राजा से विधेय पुरुष को 'राजपुरुष' कहते हैं; (३) अथवा इनसे उपादान, क्लेश संभूत होते है, यथा लोक

---

[४] असंस्कृत 'कथावस्तु' क्यों नहीं हैं? क्योंकि यह कथा का हेतु-प्रत्यय (२.५५) नहीं हैं; क्योंकि जैसे हम कह सकते हैं कि "दीपंकर एवं एवं थे...... मैत्रेय एवं एवं होंगे......., कप्फिण (?) राजा ऐसे हैं" उस प्रकार असंस्कृत आख्यानकरण-योग्य नहीं है [व्याख्या २१.२०]।

[५] प्रकरण, ३४ ए के अनुसार हम उद्धार कर सकते हैं: सनिःसारा धर्माः कतमे? सर्वे संस्कृता धर्माः—केवल सास्रव धर्मों से ही नहीं किन्तु आर्यमार्ग से भी 'निःसरण' आवश्यक है। कोलोपम सूत्र को व्याख्या [२१.२५] उद्धृत करती है, मज्झिम, १.१३५, वज्रच्छेदिका §६: कोलोपमं धर्मपर्यायं आजानद्भिर्धर्मा अपि प्रहातव्याः प्रागेवाधर्मा इति (बोधिचर्यावतार, ९.३३ से तुलना कीजिए; कठ, २.१४)। कोलोपम पर ८.१८६ और परिशिष्ट देखिए।

[१] प्रकरण, ३३ बी ३ के अनुसारः सवस्तुकाः सप्रत्यया धर्माः कतमे?
—संस्कृता धर्माः—२.५५ के अन्त में देखिए।

[२] निरुक्ति के अनुसार 'वस्तु' का अर्थ 'हेतु' हैः वसन्त्यस्मिन् प्राक् कार्याणि पश्चात् तत उत्पत्तेः। [व्याख्या २१.२९ में 'उत्पत्तेः' के स्थान में 'उत्पत्तिः' पाठ है।]
व्याख्या [२१.३०] यहां २.५५ के भाष्य का एक अंश उद्धृत करती है। प्रवचन में 'वस्तु' शब्द का प्रयोग पांच अर्थों में पाया जाता है (विभाषा, १९६, ८)—वसुबन्धु के मत में सवस्तुक का अर्थ 'सस्वभाव' हैः संस्कृत सस्वभाव हैं, असंस्कृत अवस्तुक प्रज्ञप्तिसत् हैं।

[3] ये सास्रवा उपादानस्कन्धास्ते [व्याख्या २२.१०]
विभाषा, ७५, ३ में 'उपादानस्कन्ध' पद के १४ अर्थ दिए हैं। वसुबन्धु इनमें से पहले तीन देते हैं।
खन्ध और उपादानक्खन्ध पर विसुद्धिमग्ग, १४, वारेन, पृ १५५ देखिए।

में पुष्प-वृक्ष, फल-वृक्ष कहते हैं।

८ सी. इन्हें 'सरणा' भी कहते हैं।[४]

[१४] 'रण' क्लेश हैं क्योंकि वह अपने को और दूसरे को बाधा पहुँचाते हैं। सास्रव संस्कृत 'सरण' कहलाते हैं क्योंकि क्लेश या रण वहां प्रतिष्ठा-लाभ करते हैं, उनसे अनुशयित, उपसेवित होते हैं। इसी प्रकार वह सास्रव कहलाते हैं क्योंकि वहां आस्रव अनुशयन करते हैं।

८. सी-डी. वह दुःख, समुदय, लोक, दृष्टिस्थान, भव भी हैं।[१]

१. दुःख, क्योंकि वह आर्यों के प्रतिकूल हैं (६.२)।

२. समुदय, क्योंकि दुःख के वह हेतुभूत हैं (६.२)।

३. लोक, क्योंकि वह विनाशप्रवृत्त हैं।[२]

४. दृष्टिस्थान, क्योंकि ५ दृष्टियां यहां अवस्थान करती हैं (तिष्ठति) और प्रतिष्ठा-लाभ करती हैं (५.७) (प्रकरण, ३३ बी ७)।

५. भव, क्योंकि उनका अस्तित्व है।[3] (८. पृ. १४१)

रूपं पंचेन्द्रियाण्यर्थाः पंचाऽविज्ञप्तिरेव च ।
तद्विज्ञानाश्रया रूपप्रसादाश्चक्षुरादयः ॥९॥

हमने कहा है कि ५ स्कन्ध हैं (१.७, २०)। हम पहले रूपस्कन्ध का निर्देश करते हैं (१.९-१४ बी)।

९ ए-बी. पांच इन्द्रिय, पांच अर्थ या विषय और अविज्ञप्ति—यह रूप हैं।[४] पांच इन्द्रियः

---

[४] सरणा अपि। मज्झिम, ३.२३५
रण, सरण, अरणा (७.३५ सी) पर मज्झिम, ३.२३५, मूसिओं, १९१४, पृ०३५, वालेसर, डी स्ट्राइटलाजिगकाइट डे सुभूति (हीडेलबर्ग, १९१७) देखिए।

[१] दुःखं समुदयो लोको दृष्टिस्थानं भवश्च ते॥

[२] अस्मिन्नेव रोहित व्यायाममात्रे कलेवरे लोकं प्रज्ञपयामि लोकसमुदयं च (व्याख्या २३.६) (अंगुत्तर, २.४८: रोहितस्स देवपुत्त) (व्याख्या २३.६ में 'रोहित' के स्थान में 'रोहिताश्व' पाठ है)—
भगवत् पुनः कहते हैं: लुह्यते प्रलुह्यते तस्माल्लोकः (संयुत्त ४.५२) (व्याख्या २३.७ में लुज्यते प्रलुज्यते पाठ है)—अष्टसाहस्रिका, पृ०२५६; महाव्युत्पत्ति, १५४, १६ (वोगिहारा, बोधिसत्वभूमि, लीपज़िग—१९०८, पृ०. ३७)—यहां 'लुजि' धातु है, 'लोकि' नहीं।

[3] भवतीति भवः—व्याख्या : भवः कतमः। पंचोपादानस्कन्धा इति वचनात् (व्याख्या २३.१३)
ह्वेनचाङ का अनुवादः "यह भवत्रय हैं।"
ऐसा प्रतीत होता है कि वसुबन्धु ने प्रकरण, ३२ बी २ से लिया है।
"कौन धर्म 'भव' हैं? सास्रव धर्म।
कौन धर्म 'भव' नहीं हैं? अनास्रव धर्म।"

[४] रूपं पंचेन्द्रियाण्यर्थाः पंचाविज्ञप्तिरेव च।
भूमिका में अनुदित प्रकरणपाद, अध्याय १ से तुलना कीजिए।

चक्षुरिन्द्रिय, श्रोत्र,° घ्राण,° जिह्वा,° काय°।

[१५] पांच अर्थ जो ५ इन्द्रियों के विषय हैं—रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्प्रष्टव्य। इनमें अविज्ञप्ति (१.११) को शामिल कर रूपस्कन्ध होता है।

हमने रूपशब्दादि पांच अर्थ गिनाए हैं।

९ सी-डी. इन अर्थों के विज्ञान के आश्रय रूप-प्रसाद चक्षुरादि पंचेन्द्रिय हैं।[1] (इन्द्रिय भूत-विकारविशेष हैं)

चक्षुर्विज्ञान, श्रोत्र,° घ्राण,° जिह्वा° और कायविज्ञान के जो पांच आश्रय हैं और जो रूपप्रसाद और अतीन्द्रिय हैं वह यथाक्रम चक्षुरिन्द्रिय, श्रोत्र°, घ्राण°, जिह्वा°, कायेन्द्रिय हैं।

यथा भगवत् ने कहा है: "हे भिक्षुओ! चक्षु आध्यात्मिक आयतन भौतिक प्रसाद रूप..।[2]

अथवा इसका अर्थ इस प्रकार हो सकता है:[3]

९ सी-डी. इन इन्द्रियों के विज्ञानों के आश्रय अर्थात्.....चक्षुर्विज्ञान आदि के आश्रय—यह अर्थ प्रकरण ग्रन्थ (१३ ए १०) का अनुवर्तन करता है। प्रकरण में है:—

"चक्षुर्विज्ञान क्या है?

यह प्रसादरूप है जो चक्षु के विज्ञान का आश्रय है।"

रूपं द्विधा विंशतिधा शब्दस्त्वष्टविधो रसः।
षोढा चतुर्विधो गन्धः स्पृश्यमेकादशात्मकम्॥१०॥

हम रूपायतन से आरम्भ कर ५ अर्थों का अब विचार करते हैं।

[१६] १०ए. रूप द्विविध है, रूप २० प्रकार का है।[1]

१. रूप वर्ण और संस्थान है। वर्ण चतुर्विध है:- नील, लोहित, पीत, अवदात। अन्य वर्ण, वर्ण-चतुष्टय के भेद हैं। संस्थान (४.३ सी) अष्टविध है :- दीर्घ, ह्रस्व, वृत्त, परिमंडल, उन्नत, अवनत, शात, विशात।[2]

२. रूप के २० प्रकार हैं:- ४ मूल जाति के वर्ण, ८ संस्थान, ८ वर्ण—अभ्र, धूम, रज, महिका, छाया, आतप, आलोक, अन्धकार। कोई नभस् को भी जो वैडूर्य-भित्ति के आकार

---

[1] तद्विज्ञानाश्रया रूपप्रसादश्चक्षुरादयः॥ [व्याख्या २३.३२]
पांच इन्द्रियां अतीन्द्रिय, अच्छ, इन्द्रियग्राह्य-वस्तु-व्यतिरिक्त, रूप-स्प्रष्टव्यादि-व्यतिरिक्त हैं। इनके अस्तित्व का ज्ञान अनुमान से होता है। जिन्हें लोकभाषा में चक्षुरादि कहते हैं वह इनके अधिष्ठान हैं [व्याख्या २४.१३] (१.४४ ए-बी)।
पसादचक्खु, चक्खुपसाद पर धम्मसंगणि, ६१६, ६२८ देखिए।

[2] १.३५ में उद्धृत सूत्र देखिए—विभंग, १२२, साइकालोजी १७३ से तुलना कीजिए।

[3] पहला अर्थ विभाषा, ७१, १२ के अनुसार है।

[1] रूपं द्विधा विंशतिधा [२५.६, २५.१३—व्याख्या में 'द्विधा' के स्थान म 'द्विविधा' पाठ प्रामादिक है।]
विभाषा, १३.९; महाव्युत्पत्ति, १०१; धम्मसंगणि, ६१७ से तुलना कीजिए।

[2] सौत्रान्तिक यह नहीं मानते कि संस्थान वर्ण से द्रव्यान्तर है।

का दिखाईपड़ता है, एक वर्ण मानते हैं। इनके अनुसार २१ प्रकार होते हैं। 'शात' का अर्थ है 'सम संस्थान'। 'विशात' इसका विपर्यय है। 'महिका' वह वाष्प है जो भूमि और उदक से उत्थित होता है। 'आतप' सूर्य का प्रकाश है। आलोक चन्द्र, तारक, अग्नि, ओषधि और मणि का प्रकाश है। 'छाया' जो प्रकाश के प्रतिबन्ध से उत्पन्न होती है वह है जहाँ रूपों का दर्शन होता है। अन्धकार इसका विपर्यय है।

अन्य आख्याओं के अर्थ बताने की आवश्यकता नहीं है।

३. संस्थान के बिना वर्ण रूप हो सकता है[3] :– नील, लोहित, पीत, अवदात, छाया, आतप, आलोक, अन्धकार।

वर्ण के बिना संस्थान रूप हो सकता है:–दीर्घ-ह्रस्वादि का वह प्रदेश जो कायविज्ञप्ति-स्वभाव है।[४] (४. २)

रूप वर्ण-संस्थानात्मक हो सकता है: रूप के परिशिष्ट प्रकार। अन्य आचार्यों का मत है कि केवल आतप और आलोक वर्णमात्र हैं क्योंकि नील, लोहितादि का परिच्छेद दीर्घ-ह्रस्वादि के आकार में दिखाई देता है।

४. किन्तु सौत्रान्तिक कहते हैं कि एक द्रव्य उभयथा कैसे विद्यमान हो सकता है (विद्यते), कैसे वर्ण-संस्थानात्मक हो सकता है, क्योंकि वैभाषिकों का सिद्धान्त है कि वर्णरूप और संस्थानरूप द्रव्यान्तर हैं (४. ३)।

[१७] क्योंकि वर्ण और संस्थान उभय का एक द्रव्य में प्रज्ञान, ग्रहण होता है। यहाँ 'विद्' धातु ज्ञानार्थ है, सत्तार्थ नहीं है।

किन्तु सौत्रान्तिक उत्तर देते हैं कि कायविज्ञप्ति में भी वर्ण-संस्थानात्मक होने का प्रसंग होगा।

१० बी. शब्द अष्टविध है।[१]

१. यह चतुर्विध है : उपात्तमहाभूतहेतुक, अनुपात्तमहाभूतहेतुक (१. ३४ सी-डी), सत्वाख्य, असत्वाख्य (सत्वासत्वाख्य)।[२]

चतुर्विध शब्द मनोज्ञ-अमनोज्ञ भेद से पुनः अष्टविध होता है।

प्रथम प्रकार : यथा हस्तशब्द, वाक्शब्द

द्वितीय प्रकार : यथा वायु-वनस्पति-नदी शब्द

---

३ विज्ञानकाय, २३. ९, ४५ बी १८; विभाषा, ७५, १७.

४ धम्मसंगणि, ६३६.

१ (शब्दोऽष्टधा भवेत्)
धम्मसंगणि, ६२१

२ सत्त्वाख्य = सत्वम् आचष्टे [व्याख्या २७. १]—प्रत्येक धर्म जो ज्ञापित करता है कि यह सत्व है 'सत्वाख्य' कहलाता है। जब कोई वाग्विज्ञप्ति-शब्द (४. ३ डी) सुनता है तो वह जानता है कि "यह सत्व है"। वाग्विज्ञप्ति से अन्य शब्द असत्वाख्य है।

तृतीय प्रकार : यथा वाग्विज्ञप्ति-शब्द (४. ३ डी)

चतुर्थ प्रकार : अन्य शब्द

२. अन्य आचार्यों के अनुसार शब्द प्रथम दो प्रकार का युगपत् हो सकता है यथा हाथ और तम्बूरे के संयोग से उत्पादित शब्द। किन्तु वैभाषिक (विभाषा, १२७, ८) यह नहीं मानते कि एक वर्ण-परमाणु का हेतु महाभूत के दो भूतचतुष्क होते हैं। अतः यह नहीं स्वीकार किया जा सकता कि एक शब्द-परमाणु हाथ और तम्बूरे के महाभूत-चतुष्क-द्वय के उपादान से वर्तमान होता है।

१० बी-सी. रस छः प्रकार का है।[3]

मधुर, आम्ल, लवण, कटु, कषाय और तिक्त।

[१८] १० सी. गन्ध चतुर्विध है।[1]

क्योंकि सुगन्ध और दुर्गन्ध सम या विषम हैं [व्या २७. १४] (सम, विषम=अनुत्कट, उत्कट)। प्रकरणशास्त्र (फ़ोलियो १३बी १) में गन्ध त्रिविध है : सुगन्ध, दुर्गन्ध, समगन्ध।

१० डी. स्प्रष्टव्य ११ प्रकार का है।[2]

१. ११ द्रव्य स्प्रष्टव्य हैं : महाभूतचतुष्क, श्लक्ष्णत्व, कर्कश, गुरुत्व, लघुत्व, शीत, जिघत्सा और पिपासा।

२. भूत-निर्देश नीचे (१. १२) होगा। श्लक्ष्णत्व स्निग्धता है। कर्कश कठोरता है। गुरुत्व वह है जिसके योग से काय तोलनार्ह (१. ३६) होते हैं। लघुत्व इसका विपर्यय है। शीत वह धर्म है जो उष्म की अभिलाषा उत्पन्न करता है। जिघत्सा (बुभुक्षा) वह धर्म है जो आहार की इच्छा उत्पन्न करता है। पिपापा वह धर्म है जो पीने की इच्छा उत्पन्न करता है। वस्तुतः जिघत्सा और पिपासा शब्द से वह स्प्रष्टव्य प्रज्ञप्त होता है जो जिघत्सा और पिपासा का उत्पाद करता है। कारण में कार्य के उपचार से ऐसा होता है। यथा कहते हैं कि "बुद्धों का उत्पाद सुख है; सद्धर्म की देशना सुख है; संघ की सामग्री सुख है; समग्रों का तप सुख है"।[3] (मिद्ध और मूर्छन स्प्रष्टव्य में अन्तर्भूत हैं, सिद्धि, ४१०)

३. रूपधातु में[4] जिघत्सा और पिपासा का अभाव है किन्तु अन्य स्प्रष्टव्य वहाँ हैं। यह सत्य है कि रूपावचर देवों के वस्त्र का अलग अलग तोल नहीं होता किन्तु संचित होने पर उनका तोल

---

[3] रसः । षोढा [व्याख्या २७.१०]
धर्मस्कन्ध, ९, ९ के अनुसार रस १४ प्रकार का है। धम्मसंगणि, ६२९ से तुलना कीजिए।

[1] [गन्धश्चतुर्धा
धम्मसंगणि, ६२५

[2] स्प्रष्टव्यमेकादशात्मिकम्]
विभाषा, १२७, १, धम्मसंगणि, ६४८—१.३५ देखिए।

[3] धम्मपद, १९४; उदानवर्ग, ३०, २३—बुद्धोत्पाद सुखहेतु है, सुख नहीं है।

[4] १.३० बी देखिए।

होता है। यह सत्य है कि रूपधातु में अपकारक शीत का अभाव है किन्तु अनुग्राहक शीत वहाँ होती है।

[१९] कम से कम वैभाषिकों का ऐसा मत है। [हमारे मत में समाधि देवों का अनुग्राहक है, शीत नहीं, व्या० २७. २८] ऐसा होता है[१] कि रूपविज्ञान या चक्षुर्विज्ञान, एक द्रव्य से, रूप के एक प्रकार से, उत्पन्न होता है : जब इस द्रव्य के प्रकार (नीलादि) का व्यवच्छेद होता है। अन्य अवस्थाओं में बहु द्रव्यों से विज्ञान की उत्पत्ति होती है : जब ऐसे व्यवच्छेद का अभाव होता है; उदाहरण के लिए, जब एक सेना या रत्नराशि के बहुवर्ण और संस्थान का समुदाय दूर से देखा जाता है। इसी प्रकार श्रोत्रादि विज्ञान की योजना करनी चाहिए। किन्तु कायविज्ञान अधिक से अधिक पाँच द्रव्यों से अर्थात् महाभूतचतुष्क और श्लक्ष्णत्व, कर्कशत्वादि अन्य स्प्रष्टव्यों में से किसी एक से उत्पन्न होता है। कुछ ही आचार्यों का यह मत है क्योंकि एक दूसरे मत के अनुसार कायविज्ञान ११ स्प्रष्टव्यों से युगपत् उत्पन्न होता है।

आक्षेप—आपके कथन के अनुसार ५ विज्ञानकायों में से प्रत्येक एक सामान्य को आलम्बन बनाता है, यथा चक्षुर्विज्ञान नीललोहितादि को आलम्बन बनाता है। अतः यह प्रसंग होगा कि विज्ञानकायों का विषय 'सामान्य लक्षण' है, न कि, जैसा प्रवचन में उपदिष्ट है, 'स्वलक्षण' है।

वैभाषिक (विभाषा, १३, १२) का उत्तर है कि स्वलक्षण से प्रवचन को द्रव्यों का स्वलक्षण इष्ट नहीं है किन्तु आयतनों का स्वलक्षण इष्ट है (२. ६२ सी)।[२]

[२०] जब कायेन्द्रिय और जिह्वेन्द्रिय युगपत् अपने विषय को (१. ४३ सी-डी) संप्राप्त होते हैं तो कौन सा विज्ञान पूर्व उत्पन्न होता है? वह जिसका विषय पटुतर है। किन्तु यदि दो

---

१ **विभाषा, १३, ९ के अनुसार।**

२ **[व्याख्या २८.४] मनोविज्ञान चक्षुर्विज्ञान आदि विज्ञानकाय के आलम्बनों को अभिसमस्त कर (अभिसमस्य) ग्रहण करता है। इसीलिए इसका विषय सामान्य लक्षण व्यवस्थापित होता है। दूसरे शब्दों में इसका विषय विशिष्ट नहीं है।**
यदि इसी प्रकार कोई कहता है कि नील, पीत, लोहित और अवदात को आलम्बन बनाने वाले चार चक्षुर्विज्ञान के चार आलम्बनों को अभिसमस्त कर (अभिसमस्य) चक्षुर्विज्ञान एक को ग्रहण करता है तो हम कहेंगे कि इसका विषय सामान्य लक्षण है क्योंकि रूपायतन के सामान्य लक्षण उसके आलम्बन हैं। इसी प्रकार श्रोत्र-घ्राणादि विज्ञानों की भी स्वविषय में योजना करनी चाहिए। किन्तु इसका प्रवचन से विरोध है।
उत्तरः जब प्रवचन में उपदिष्ट है कि ५ विज्ञानकायों में से प्रत्येक का विषय एक स्वलक्षण है तब उसका अभिप्राय आयतनों के स्वलक्षण से है अर्थात् रूपायतनत्व से, 'चक्षुर्विज्ञान-विज्ञेयत्व' से है, शब्दायतनत्व से अथवा 'श्रोत्रविज्ञान-विज्ञेयत्व' आदि से है। प्रवचन को द्रव्यों का स्वलक्षण इष्ट नहीं है अर्थात् 'नीलाकारत्व' अथवा 'नीलाकारचक्षुर्विज्ञानविज्ञेयत्व' आदि इष्ट नहीं है। यह द्रव्यों के इन स्वलक्षणों की दृष्टि से नहीं है जो पंच विज्ञानकाय 'स्वलक्षणविषय' दूसरे शब्दों में 'स्वालम्बननियत' कहलाते हैं। क्या पट और मल का एक ही काल में ग्रहण होता है? ७. १७—द्रव्यस्वलक्षण, आयतनस्वलक्षण, वसुमित्र, सर्वास्तिवादी, २८ वां वाद।

विषयों की पटुता तुल्य है तो पूर्व जिह्वाविज्ञान उत्पन्न होता है क्योंकि सन्तति भोजन की इच्छा से आवर्जित होती है।

विक्षिप्ताचित्तकस्यापि योऽनुबन्धः शुभाशुभः।
महाभूतान्युपादाय सा ह्यविज्ञप्तिरुच्यते ॥११॥

हमने विज्ञानकाय के इन्द्रियों के अर्थों का निर्देश किया है और यह भी बताया है कि इन अर्थों का ग्रहण कैसे होता है। अब हम रूपस्कन्ध के ११ वें प्रकार अविज्ञप्ति का निर्देश करते हैं।

जिस पुद्गल का चित्त विक्षिप्त है अथवा जो अचित्तक है उसका भी महाभूतहेतुक कुशल और अकुशल प्रवाह अविज्ञप्ति कहलाता है।[1]

जिसका चित्त विक्षिप्त है' अर्थात् जिसका चित्त अविज्ञप्ति- समुत्थापक चित्त से अन्य है—यथा एक अकुशल चित्त, जब अविज्ञप्ति का समुत्थापक एक कुशल चित्त है।

[२१] 'जो अचित्तक है' अर्थात् जो असंज्ञिसमापत्ति और निरोधसमापत्ति में समापन्न है (२.४२)।

'अपि' शब्द सूचित करता है कि अविक्षिप्त पुद्गल में और सचित्तक पुद्गल में भी जिसका चित्त दो समापत्तियों में निरुद्ध नहीं हुआ है अविज्ञप्ति होती है।

'शुभ-अशुभ' = कुशल-अकुशल।

'अनुबन्ध' = प्रवाह।

'महाभूतान्युपादाय' : प्राप्ति–प्रवाह (२.३६) से अविज्ञप्ति-प्रवाह का भेद दिखाने के लिए ऐसा कहा है। अविज्ञप्ति महाभूतों पर आश्रित है क्योंकि भूत उसके जनन-निश्रयादि हेतु हैं (२.६५, विभाषा, १२७, ६)।

'सा हि···' अविज्ञप्ति के नाम-करण को ज्ञापित करने के लिए है। यद्यपि यह अनुबन्ध कायविज्ञप्ति और वाग्विज्ञप्ति के सदृश रूप-स्वभाव और क्रिया-स्वभाव है तथापि यह विज्ञप्ति

---

[1] विक्षिप्ताचित्तकस्यापि योऽनुबन्धः शुभाशुभः।
महाभूतान्युपादाय सा ह्यविज्ञप्तिरिष्यते ॥ [व्याख्या २९.३]

४.३ डी आदि में हम अविज्ञप्ति का सविस्तर वर्णन करेंगे। यह वह कर्म है जो दूसरे को कुछ विज्ञापित नहीं करता। इस प्रकार यह मानस कर्म के सदृश है। किन्तु यह रूप है। इस प्रकार यह कायिक और वाचिक कर्म के सदृश है। हम देखेंगे कि सौत्रान्तिक और वसुबन्धु अविज्ञप्ति नामक धर्मविशेष के अस्तित्व को नहीं स्वीकार करते। संघभद्र का कहना है कि अविज्ञप्ति के जिस लक्षण को वसुबन्धु ने व्यवस्थापित किया है वह वैभाषिकवाद का अनुवर्तन नहीं करता। यशोमित्र ने (व्याख्या, ३०.२१-३२.३०) उनके दोषों को (न्यायानुसार से) उद्धृत किया है और उनका प्रतिषेध किया है। समयप्रदीपिका में संघभद्र वसुबन्धु की कारिका के स्थान में एक अन्य कारिका देते हैं। यशोमित्र इसे उद्धृत करते हैं :

कृतेऽपि विसभागेऽपि चित्ते चित्तात्यये च यत्।
व्याकृताप्रतिघं रूपं सा ह्यविज्ञप्तिरिष्यते ॥ (व्या ३२.२१)

के सदृश दूसरे को कुछ विज्ञापित नहीं करता (विज्ञपयति) [विज्ञपयति के स्थान में व्या २९. ३२ का विज्ञापयति पाठ है] ।

'इष्यते' यह दिखाने के लिए है कि आचार्य यहाँ वैभाषिक मत का निर्देश करते हैं, अपने मत का नहीं।

समासतः विज्ञप्ति और समाधि से संभूत कुशल-अकुशल रूप अविज्ञप्ति है।

भूतानि पृथिवीधातुरप्तेजोवायुधातवः।
धृत्यादिकर्मसंसिद्धाः खरस्नेहोष्णतेरणाः ।।१२।।

१२ ए-बी. भूत या महाभूत पृथिवीधातु, अब्धातु, तेजोधातु और वायुधातु हैं।[1]

[२२] यह चार धातु-चतुष्टय हैं। यह धातु इसलिए कहलाते हैं क्योंकि यह अपने स्वलक्षण और उपादायरूप या भौतिक का धारण करते हैं। यह 'महान्' कहलाते हैं। यह महान् हैं क्योंकि यह सर्व उपादायरूप के आश्रय हैं। अथवा यह महान् हैं क्योंकि पृथिवी, अप्, तेज, वायु स्कन्ध में जहाँ महाभूतों की वृत्तियाँ युगपत् उद्भूत होती हैं महाभूतों का महासन्निवेश होता है (विभाषा, १३१, ६, १२७, ५)।[1]

किस कारित्र से इन धातुओं की सिद्धि होती है और इनका स्वभाव क्या है ?

१२ सी-डी. धृति आदि कर्म से इनकी सिद्धि होती है। यह खर, स्नेह, उष्णता, ईरण हैं।[2]

पृथिवी-अप्-तेजो-वायुधातु की सिद्धि यथाक्रम धृतिकर्म, संग्रहकर्म, पक्तिकर्म, व्यूहन-कर्म से होती है। व्यूहन से वृद्धि और प्रसर्पण समझना चाहिए। यह इनके कर्म हैं।

---

[1] **भूतानि पृथिवीधातुरप्तेजोवायुधातवः [व्याख्या ३२.३१]**
संघभद्र का व्याख्यान :—
महाभूतों को धातु क्यों कहते हैं ?—क्योंकि यह सर्व रूपधर्मों के उत्पत्ति-स्थान हैं। स्वयं महाभूतों की उत्पत्ति महाभूतों से होती है। लोक में उत्पत्ति-स्थान को 'धातु' कहते हैं, यथा स्वर्ण आदि की खनि को स्वर्णादि धातु कहते हैं। अथवा वह 'धातु' इसलिए कहलाते हैं क्योंकि वह विविध दुःखों के उत्पत्ति-स्थान हैं। उदाहरण, यथापूर्व।
कुछ का कहना है कि वह 'धातु' इसलिए कहलाते हैं क्योंकि वह महाभूतों के स्वलक्षण और उपादायरूप दोनों को धारण करते हैं।
धातुओं को महाभूत भी कहते हैं—भूत क्यों ? महाभूत क्यों ? जब उपादायरूप के विविध प्रकार (नीलादि) की उत्पत्ति होती है तब उनमें से प्रत्येक विविध आकारों में उपस्थित होता है। इसीलिए उन्हें 'भूत' कहते हैं। अन्य आचार्यों के अनुसार सत्त्वों के कर्म के अधिपति-प्रत्ययवश वह सदा वर्तमान होते हैं। इसीलिए उन्हें 'भूत' कहते हैं। अथवा धर्मों के उत्पाद को भव कहते हैं....। २, पृ० १४४, ३१३ देखिए।

[1] **तदुद्भूतवृत्तिषु पृथिव्यप्तेजोवायुस्कन्धेषु तेषु एषां महासंनिवेशत्वात् [व्याख्या ३३.५]। 'भूतानि' का निर्वचन 'भूतं तन्वन्ति' है। [व्याख्या ३३.८]**

[2] **धृत्यादिकर्मसंसिद्धाः खरस्नेहोष्णतेरणाः। [व्याख्या ३३.९]**
जल (शब्द के लौकिक अर्थ में) नावों का संधारण करता है। इसलिए पृथिवीधातु अपनी वृत्ति को वहां उद्भूत करता है [व्याख्या ३३.१२]; यह उष्ण है, इसमें ईरण है इत्यादि। २.२२ देखिए। धम्मसंगणि, ९६२-९६६; काम्पेण्डियम, एपेण्डिक्स पृष्ठ २६८.

पृथिवीधातु का स्वभाव खर है; अब्धातु का स्वभाव स्नेह है; तेजोधातु का स्वभाव उष्णता है; वायुधातु का स्वभाव ईरण है।[३]

[२३] ईरण से अभिप्राय उससे है जिसका स्वभाव भूतस्रोत का देशान्तरोत्पादन है,[१] यथा लोक में प्रदीप का ईरण कहते हैं (४.२ सी-डी)। प्रकरणों[२] में और सूत्र[3] में उक्त है— "वायु धातु क्या है?—लघुत्व।" प्रकरणमें यह भी है कि "लघु उपादायरूप है।" अतएव जो धर्म ईरणात्मक है वह वायुधातु है।[४] उसका स्वभाव (लघुत्व) उसके ईरणा-कर्म से अभिव्यक्त होता है।

पृथिवी वर्णसंस्थानमुच्यते लोकसंज्ञया।
आपस्तेजश्च वायुस्तु धातुरेव तथापि च ॥१३॥

पृथिवीधातु और पृथिवी में क्या विशेष है; अब्धातु और जल में क्या विशेष है, इत्यादि?

१३. लोक व्यवहार में जिसे 'पृथिवी' शब्द से प्रज्ञप्त करते हैं वह वर्ण और संस्थान है। इसी प्रकार जल और तेज हैं। वायु वायुधातु है अथवा वर्ण और संस्थान है।[५]

[२४] वास्तव में लोक में 'कृष्ण वायु' 'परिमंडल वायु' कहते हैं किन्तु जिसकी लोक में वायु संज्ञा है वह वायुधातु भी है।

---

[३] प्रकरण, १३ ए—महाव्युत्पत्ति (१०१) में खक्खटत्व, द्रवत्व, उष्णत्व, लघुसमुदीरणत्व है।

[१] देशान्तरोत्पादनस्वभावा...ईरणा। [व्याख्या ३३.२१ में स्वभावा के अनन्तर 'भूतस्रोतसः' पद है।] काम्पेण्डियम में उद्धृत वाक्य से तुलना कीजिए: देसन्तरुप्पत्तिहेतुभावेन।

[२] संस्कृत और तिब्बती भाषान्तर में बहुवचन है।—युआन्-चाङः प्रकरणपाद; परमार्थः फेन-पी-ताओ-लि-ल्युएन—प्रकरण, १३ ए: वायुधातुः कतमः? लघुसमुदीरणत्वम्।

[3] यह सूत्र (संयुक्तागम, ११, १, विभाषा, ७५, ८) कदाचित् गर्भावक्रान्तिसूत्र (मज्झिम, ३.२३९, नीचे पृष्ठ ४९, टिप्पणी २) है। शिक्षासमुच्चय (पृ० २४४) जिस पाठ से परिचित है उसमें (१) पृथिवी के लिए कक्खटत्व खरगत है।
(महावस्तु १.३३९, दिव्यावदान, ५१८,२ से तुलना कीजिए।
धम्मसंगणि, ६४८; हर्ष चरित; जे० आर० ए० एस० १८९९, पृ० ४९४);
(२) अप् के लिए आपस् अब्गत अप्त्व स्नेह स्नेहगत स्नेहत्व द्रवत्व है; (३) तेज के लिए तेजस् तेजोगत उष्मगत है; (४) वायु के लिए वायु वायुगत लघुत्व समुदीरणत्व है।

[४] अर्थात् लघु भौतिक रूप है; लघुत्व जो ईरणात्मक है वायुधातु है; वायुधातु इसलिए लघु-समुदीरणत्व है: जो लघुत्व और ईरणत्व उत्पन्न करता है।

[५] पृथिवी वर्णसंस्थानमुच्यते लोकसंज्ञया।
आपस्तेजश्च वायुस्तु (वायुश्च) धातुरेव तथापि च। [व्याख्या ६९२.९]
८.३५ की व्याख्या में यह पाठ उद्धृत है किन्तु तिब्बती भाषान्तर और व्याख्या पृ० ३३ [व्याख्या ३३.३०] के अनुसार 'वात्या तु...' पाठ होना चाहिए—वात्या=वातानाम् समूहः [व्याख्या ३३.३०], पाणिनि ४,२,४२ के अनुसार।
८.३६ बी (वायुकृत्स्नायतन) देखिए। क्या वायु रूप है? इस पर विभाषा, ८५, १३; १३३,५ में दो मत हैं।

रूप से लेकर अविज्ञप्ति तक यह सब धर्म 'रूप' क्यों कहलाते हैं? यह सब मिलकर रूप-स्कन्ध क्यों हैं?

१. भगवत् ने कहा है 'हे भिक्षुओ! क्योंकि यह निरन्तर 'भिन्न' (रूप्यते) होता है इसलिए इसे रूप उपादानस्कन्ध कहते हैं। किससे यह भिन्न होता है? हस्त के स्पर्श से यह भिन्न होता है'।[1] 'रूप्यते' का अर्थ 'बाध्यते' है यह क्षुद्रकागम में पठित अर्थ-वर्गीय सूत्रों की एक गाथा से सिद्ध होता है (अट्ठकवग्ग, १.२): [2] "जो पुद्गल छन्द उत्पन्न होने से काम-भोग की इच्छा करता है, यदि उसकी कामनाएँ समृद्ध नहीं होतीं तो वह शल्य से विद्ध सत्व के सदृश बाधित होता है" (रूप्यते)। (महाभारत १३। १९३, ४८ से तुलना कीजिए)

किन्तु रूप कैसे बाधित होता है? – विपरिणाम के उत्पादन से, विक्रिया से।

२. अन्य आचार्यों के अनुसार रूपभाव अर्थात् रूपण भेद, विपरिणाम (बाधनरूपण, विपरिणाम के अर्थ में रूपण) नहीं है,

[२५] किन्तु सप्रतिघत्व या प्रतिघात[1] है। यह स्वदेश में पररूप की उत्पत्ति में प्रतिबन्ध है (१.४३ सी-डी देखिए)।[2]

३. दोष

---

[1] रूप्यते रूप्यत इति भिक्षवः...... (ऐसा प्रतीत होता है कि तिब्बती और चीनी ग्रन्थ यह अनुवाद चाहते हैं:—"कौन बाधित होता है? हस्त-स्पर्श से......")
संयुत्त, ३.८६: रुप्पतीति खो भिक्खवे तस्मा रूपंति वुच्चति। केन रुप्पति। सीतेन... सिरिंसपसंफस्सेन रुप्पति (इवे जन आङ्ग का अर्थ काम्पेण्डियम में देखिए: "रूप उसे कहते हैं जो शीत आदि...की भौतिक अवस्था में अपनी आकृति बदलते हैं।")
महाव्युत्पत्तिः रूपणाद् रूपम् (१११, ३; २४५, ११३७, ११५३, ११५४)। दो धातु हैं: (१) 'रूप्' जिससे 'रूप' सिद्ध होता है, जिसके अर्थ आकृति, वर्ण, सौन्दर्य, रूप्य, स्वर्ण आदि हैं; (२) 'रुप्' भिन्न होना: वैदिक संस्कृत में रुप्यति, रोपण आदि; पालि में रुप्पति (=कुप्पति घट्टियति पीडियति दोमनस्सितो होति); पाणिनीय संस्कृत में लुप्, लुम्पति है।

[2] सर्वास्तिवादियों के अनुसार अर्थवर्गीय 'उपयोगी अध्याय' हैं। पालि के अनुसार यह 'अष्टक वर्ग' है। (एस० लेवी, जे० एस १९१५, १.४१२; १९१६, २.३४)

तस्य चेत् कामयानस्य छन्दजातस्य देहिनः।
ते कामा न समृध्यन्ति शल्यविद्ध इव रूप्यते॥ [व्याख्या ३४.२]

महानिद्देस, पृ० ५—कर्न, वेर्स्प्राइडे गेश्रीफ्तेन्, २.२६१ (हेग १९१३) जातक ३, ३६८, चरियापिटक, ३, ६ आदि से 'रुप्' का अर्थ उदाहृत करते हैं।

[1] रूपणं प्रतिघात इत्यपरे [व्याख्या ३४.२०]—प्रतिघात का अर्थ है—स्वदेशे परस्योत्पत्तिप्रतिबन्धः—नीचे पृष्ठ ५१ देखिए।
अन्यत्र 'सप्रतिघ' वस्तु का लक्षण यह है: यद्देशं आवृणोति, जो देश का 'आवरण' करता है, जो 'प्रसृत' है।
१.४३ में हम देखेंगे कि धम्मसंगणि, ६१८-६१९ को किस प्रकार का प्रतिघात इष्ट है।

[2] रूपण का एक तीसरा निर्वचन है, मध्यमकवृत्ति, ४५६, ९: तत्रेदम् इहामुत्रेति निरूपणाद् रूपम्।
"यह रूप कहलाता है क्योंकि हम निर्देश कर सकते हैं कि यह यहां है, वहां है।" १.२४ की

१. यदि ऐसा है तो परमाणु-रूप रूप नहीं होगा क्योंकि बाधन-रूपण और प्रतिघात-रूपण से द्रव्य-परमाणु का रूपण अशक्य हैः यह रूपण से मुक्त है।

निस्सन्देह परमाणु रूपण से मुक्त है किन्तु एक परमाणु-रूप पृथग्भूत नहीं होता[3] ; संघातस्थ (संचित) होने के कारण संघात की अवस्था में इसका बाधन-रूपण और प्रतिघात-रूपण हो सकता है। (विभाषा, ७५, १४)

२. अतीत (संघभद्र, ६३६, १, ८) और अनागत रूप रूप नहीं हैं क्योंकि उनके विषय में यह नहीं कहा जा सकता कि उनका वर्तमान में रूपण, प्रतिघात होता है। (रूप्यन्ते, प्रतिहन्यन्त इति)

निस्सन्देह, किन्तु वह रूपित हुए हैं और रूपयिष्यमाण हैं। अतीत या अनागत, इनकी वही जाति है जो उस धर्म की है जिसका वर्तमान में प्रतिघात होता है। यथा लोक में केवल प्रदीप्त काष्ठ को ही नहीं किन्तु तज्जातीय को भी, जो इन्धनार्थ कल्पित है, 'इन्धन' कहते हैं।

३. अविज्ञप्ति रूप न होगा क्योंकि वह अप्रतिघ है।

निसन्देह, किन्तु हम अविज्ञप्ति के रूपत्व को युक्त सिद्ध कर सकते हैं।

[२६] ए—कायिक या वाचिक विज्ञप्ति, जिससे अविज्ञप्ति समुत्थापित होती है, रूप है। इसलिए अविज्ञप्ति रूप है यथा जब वृक्ष प्रचलित होता है तब छाया प्रचलित होती है।

नहीं, क्योंकि अविज्ञप्ति में विकार नहीं होता (अविकारात्) । इसके अतिरिक्त यदि वृक्ष-छाया-धर्म इष्ट है तो दृष्टान्त की यथार्थता के लिए जिस प्रकार वृक्ष की निवृत्ति से छाया की निवृत्ति देखी जाती है उसी प्रकार विज्ञप्ति की निवृत्ति से अविज्ञप्ति की निवृत्ति होनी चाहिए।

बी—दूसरा निरूपण। अविज्ञप्ति रूप है क्योंकि महाभूत, जो उसके आश्रयभूत हैं, रूप हैं।[1]

दोष—इस प्रकार चक्षुर्विज्ञानादि पाँच विज्ञानकाय के रूपत्व का प्रसंग होगा क्योंकि उनका आश्रय (चक्षुरिन्द्रिय आदि) रूप है। यह उपन्यास विषम है। अविज्ञप्ति महाभूतों पर आश्रित

व्याख्या का लक्षण—पाण्यादिसंस्पर्शैर्बाधनालक्षणाद् रूपणात्। इदमिहामुत्रेति देशनिदर्शनरूपणाच्च [व्याख्या ५१.३०]।—महाव्युत्पत्ति, २४५, ११३९ के 'देशनिरूपण' से तुलना कीजिए। इसलिए रूप वह है जो सप्रतिघ है, जो देश को आवृत करता है। संघभद्र अन्य निरूपण देते हैं: रूप की संज्ञा इसलिए है क्योंकि यह पूर्वकृत कर्म का निदर्शन करता है : "इस पुद्गल ने कोप-कर्म का आचरण किया; इससे इसकी कुरूपता का उत्पाद हुआ।"

[3] न वै परमाणुरूपमेकं पृथग्भूतमस्ति [व्याख्या ३४.२४]—१.४३ सी-डी और २.२२ देखिए।

[1] आश्रयभूतरूपणात् [व्याख्या २५.२०]। यह वाक्य महाव्युत्पत्ति, १०९,२ में आ गया है। जापानी संपादक विभाषा, ७५, १४ का हवाला देते हैं।
व्याख्या सूचित करती है कि यह दूसरा निरूपण वृद्धाचार्य वसुबन्धु का है। [व्याख्या ३५.२०] कोश के रचयिता वसुबन्धु के आचार्य मनोरथ के आचार्य वसुबन्धु पर भाष्य, ३.२७ और ४.३ ए तथा बुधिस्ट कास्मालोजी की भूमिका, पृ० ८ (लन्दन, १९१८) देखिए।

हो वर्तमान है यथा छाया वृक्ष में उपश्लिष्ट हो वर्तमान होती है, यथा मणि-प्रभा मणि में उपश्लिष्ट हो वर्तमान होती है। चक्षुर्विज्ञान इन्द्रिय पर आश्रित नहीं है जो उसकी उत्पत्ति में निमित्त मात्र है।

परिहार— यह वैभाषिक मत नहीं है कि छाया और मणि-प्रभा वृक्ष और मणि के आश्रित हैं (विभाषा, १३, ९)। वैभाषिक मत यह है कि छाया और प्रभा का प्रत्येक वर्ण-परमाणु स्वभूत-चतुष्क का आश्रय ले वर्तमान होता है। और यह मानना कि "छाया पारंपर्येण वृक्ष पर आश्रित है क्योंकि छाया स्वभूत पर आश्रित है और यह महाभूत वृक्ष पर आश्रित हैं" छाया और अविज्ञप्ति के दृष्टान्त को अयुक्त ठहराना है। वैभाषिक मानते हैं कि अविज्ञप्ति के आश्रय (४.४ सी-डी) महाभूत जब निरुद्ध होते हैं तब भी अविज्ञप्ति का निरोध नहीं होता। अतः आप का यह परिहार ("यह उपन्यास विषम है। अविज्ञप्ति ....") अयुक्त है।

किन्तु हम कहेंगे कि इस दोष का कि "इस सिद्धान्त के अनुसार पाँच विज्ञानकाय रूप होंगे" परिहार हो सकता है।

[२७] वास्तव में चक्षुर्विज्ञान का आश्रय द्विविध है: १. चक्षुरिन्द्रिय जो 'प्रतिघात' (१.२९बी) की अवस्था में है, जो रूप है। २. मन-इन्द्रिय (मनस्, १.४४ सी-डी) जो रूप नहीं है।

किन्तु अविज्ञप्ति के विषय में ऐसा नहीं है। इसका आश्रय केवल रूप है। क्योंकि अविज्ञप्ति का आश्रय रूप होने से अविज्ञप्ति रूप कहलाता है इसलिए चक्षुर्विज्ञान को भी रूप कहना चाहिए। यह प्रसंग असमान है। इसलिए दूसरा निरूपण सुष्ठु है।

जिन इन्द्रिय और इन्द्रियार्थ को रूपस्कन्ध बताया है,

इन्द्रियार्थास्त एवेष्टा दशायतनधातवः ।
वेदनाऽनुभवः संज्ञा निमित्तोद्ग्रहणात्मिका ॥१४॥

१४ ए-बी—यही इन्द्रिय और इन्द्रियार्थ १० आयतन, १० धातु माने जाते हैं।[१] आयतन (चित्त-चैत्त का आयद्वार) (१.२०) की व्यवस्था में यह १० आयतन हैं: चक्षुरायतन, रूपायतन ...... कायायतन, स्प्रष्टव्यायतन।

धातु (आकर १.२०) की व्यवस्था में यह १० धातु हैं: चक्षुर्धातु, रूपधातु ... कायधातु, स्प्रष्टव्यधातु।

हमने रूपस्कन्ध का व्याख्यान किया है और यह भी निर्दिष्ट किया है कि उसका आयतन और धातु में व्यवस्थान कैसे होता है। अब अन्य स्कन्धों का निरूपण करना है।

---

[१] **इन्द्रियार्थास्त एवेष्टा (दशायतनधातवः)। [व्याख्या ३६.२२]**
समयप्रदीपिका में संघभद्र का पाठ 'त एवोक्ता' है—वसुबन्धु में 'इष्ट' शब्द का प्रयोग है जिसका अर्थ है कि यह वैभाषिक मत है क्योंकि उनके मत में स्कन्ध वस्तुसत् नहीं हैं (१.२०)।

१४ सी. वेदना दुःखादि अनुभव है।[२]

वेदनास्कन्ध त्रिविध अनुभव या अनुभूति (अनुभव, अनुभूति, उपभोग [व्या ३६. ३३]) है: सुख, दुःख, अदुःखासुख। वेदना के ६ प्रकार हैं: जो चक्षुरादि ५ रूपी इन्द्रियों के स्वविषय के साथ संस्पर्श होने से उत्पन्न होते हैं; जो मन-इन्द्रिय के साथ संस्पर्श होने से उत्पन्न होता है (२.७ आदि)।

[२८] १४ सी-डी. संज्ञा निमित्त का उद्ग्रहण है।[१]

नीलत्व, पीतत्व, दीर्घत्व, ह्रस्वत्व, पुरुषत्व, स्त्रीत्व, शातत्व, अशातत्व, मनोज्ञ, अमनोज्ञ आदि विविध स्वभावों का उद्ग्रहण, परिच्छेद संज्ञास्कन्ध है (१.१६ ए देखिए)। वेदना के समान संज्ञाकाय के भी इन्द्रिय के अनुसार ६ प्रकार हैं।

चतुर्भ्योऽन्ये तु संस्कारस्कन्ध एते पुनस्त्रयः।
धर्मायतनधात्वाख्याः सहाविज्ञप्त्यसंस्कृतैः ॥१५॥

१५ ए-बी. अन्य चार स्कन्धों से भिन्न संस्कार संस्कारस्कन्ध है।[२] सर्व संस्कृत (१.७ए) संस्कार हैं किन्तु संस्कारस्कन्ध उन्हीं संस्कृतों के लिए प्रयुक्त होता है जो न पूर्वोक्त रूपस्कन्ध, वेदनास्कन्ध, संज्ञास्कन्ध में संगृहीत हैं और जो न वक्ष्यमाण (१.१६) विज्ञानस्कन्ध में संगृहीत हैं।

---

[२] वेदनानुभवः।—२.७, ८, २४; ३. ३२; संयुत्त, ३. ९६;
धम्मसंगणि, ३; थियोरी आफ़ ट्वेल्व काजेज, पृ २३

[१] संज्ञा निमित्तोद्ग्रहणात्मिका ॥ [व्याख्या ३७.५] मज्झिम, १.२९३; सिद्धि, १४८; १० निमित्त, ८. १८५.
'निमित्त' से वस्तु की विविध अवस्थाएँ, 'वस्तुनोऽवस्थाविशेषः' [व्याख्या ३७.५] समझना चाहिए। 'उद्ग्रहण' का अर्थ 'परिच्छेद' है।
विज्ञानकाय २६ ए १६ जो न्यायबिन्दुपूर्वपक्षसंक्षेप (तिब्बती सूत्र १११, फ़ोलिओ १०८ बी) और मध्यमकवृत्ति (पृ० ७४) में उद्धृत है कहता है कि चक्षुर्विज्ञान नील को जानता है (नीलं जानाति) किन्तु यह नहीं जानता कि 'यह नील है' (नो तु नीलमिति)।
१.३३ ए-बी. पर टिप्पणी देखिए—संज्ञा से चक्षुः संस्पर्शज उपलब्धि और चक्षुः संस्पर्शज उपलब्धि के बाह्यहेतु का नामकरण होता है।
आक्षेप—विज्ञान और संज्ञा का सदा संप्रयोग होता है (२.२४)। इसलिए चक्षुर्विज्ञान आलम्बन के निमित्तों का उद्ग्रहण करेगा।
उत्तर—पंच विज्ञानकाय से संप्रयुक्त संज्ञा अपटु होती है; केवल मनोविज्ञान-संप्रयोगिणी संज्ञा पटु होती है; यही सविकल्पक है (१.३२-३३)। [व्याख्या ३७.९]
संयुत्त, ३.८६ से तुलना कीजिए; अत्थसालिनी, २९१; मिलिन्द ६१.

[२] इस पंक्ति का उद्धार कठिन है।
[संस्कारस्कन्धस्] चतुर्भ्योऽन्ये [संस्काराः] [व्याख्या ३७.१३]
संस्कारों पर थियोरी आफ़ ट्वेल्व काजेज, पृ. ९-१२ देखिए।

यह सत्य है कि सूत्र में कहा है कि "संस्कारस्कन्ध ६ चेतनाकाय हैं"[3] और इस लक्षण के अनुसार संस्कारस्कन्ध में १. सब विप्रयुक्तसंस्कार (२. ३५) और २. चेतनावर्जित संप्रयुक्त-[२९] संस्कार (२. २३ बी, ३४) का असंग्रह है। किन्तु अभिसंस्करण में चेतना का प्राधान्य होने से सूत्र का ऐसा निर्देश है। चेतना कर्मस्वभाव है।[1] लक्षणतः यह वह हेतु है जो उपपत्ति का अभिसंस्करण करता है। भगवत् का यह भी वचन है कि "संस्कार नामक उपादान-स्कन्ध इसलिए ऐसा कहलाता है क्योंकि यह संस्कृत का अभिसंस्कार करता है"[2] अर्थात् यह अनागत स्कन्ध-पंचक का अभिसंस्करण और निर्धारण करता है।[3] अन्यथा सूत्र-निर्देश का अक्षरार्थ लेने से यह परिणाम होगा कि चेतनाव्यतिरिक्त शेष चैतसिक (संप्रयुक्त) धर्म और सर्व विप्रयुक्त धर्म (२. ३५) किसी स्कन्ध में संगृहीत न होंगे। इसलिए उनका दुःख-समुदय-सत्यत्व न होगा : न परिज्ञा होगी, न प्रहाण।

किन्तु भगवत् वचन है कि "यदि एक धर्म भी अनभिज्ञात, अपरिज्ञात हो तो मैं कहता हूँ कि दुःख का अन्त नहीं किया जा सकता" (६. ३३)।[4]

पुनः "यदि एक धर्म भी अप्रहीण हो ... " (संयुक्त, ८, २२)। इसलिए चैत्त और विप्रयुक्त का कलाप संस्कारस्कन्ध में संगृहीत है।

[३०] १५ बी-डी. यह तीन स्कंध, अविज्ञप्ति और असंस्कृत के साथ मिलकर, धर्मायतन, धर्मधातु कहलाते हैं।[1]

वेदनास्कन्ध, संज्ञास्कन्ध, संस्कारस्कन्ध, अविज्ञप्ति (१. ११) और तीन असंस्कृत (१.५बी) यह ७ द्रव्य धर्मायतन, धर्मधातु कहलाते हैं।

---

[3] **संस्कारस्कन्धः कतमः। षट् चेतनाकायाः [व्याख्या ३७.१६]—संयत्त, ३.६० से तुलना कीजिए : कतमे च भिक्खवे संखारा। छयिमे चेतनाकाया। रूपसंचेतना...... धम्मसंचेतना; विभंग, पृ.१४४; सुमंगलविलासिनी, पृ.६४.**

[1] **चेतना कर्म है, (४.१) उपपत्ति का हेतु है। इसके विपरीत तृष्णा अभिनिर्वृत्ति (६.३) का हेतु है।**

[2] **अर्थात् : "क्योंकि यह संस्कृत का अभिसंस्कार करता है"—यथा लोक में कहते हैं "ओदनं पचति"।**

[3] **ए. (संयुत्त, ३.८७): संखतं अभिसंखरोन्तीति भिक्खवे तस्मा संखारा ति वुच्चन्ति। किंच संखतं अभिसंखरोन्ति। रूपं रूपत्ताय संखतं अभिसंखरोन्ति। वेदनं वेदनत्ताय........ बी. संयुत्त ५.४४९ : जातिसंवत्तनिकेऽपि संखारे अभिसंखरोन्ति। जरासंवत्तनिकेऽपि ......। मरणसंवत्तनिकेऽपि......। ते जातिसंवत्तनिकेऽपि संखारे अभिसंखरित्वा... जातिपपातंपि पपतन्ति।......**
सी. अभिसंस्करणलक्षणाः संस्काराः (मध्यमकवृत्ति, ३४३.९); चित्ताभिसंस्कारमनस्कारलक्षणा चेतना (वही. ३११, १); रक्तः सन् रागजं कर्माभिसंस्करोति (वही. १३७, ७, महावस्तु, १.२६ और ३९१)।

[4] **नाहमेकधर्ममप्यनभिज्ञाय अपरिज्ञाय दुःखस्यान्तक्रियां वदामि। [व्याख्या ३७.३३]**

[1] **त इमे [त्रयः] धर्मायतनधात्वाख्याः सहाविज्ञप्त्यसंस्कृतैः॥ [व्याख्या ३८.१२]**

विज्ञानं प्रतिविज्ञप्तिर्मन आयतनं च तत्।
धातवः सप्त च मताः षड् विज्ञानान्यथो मनः ॥१६॥

१६ ए. विज्ञान प्रत्येक विषय की विज्ञप्ति है।[२]

विज्ञानस्कन्ध प्रत्येक विषय की विज्ञप्ति है। यह विषय विषय की (विषयं विषयं प्रति)[३] उपलब्धि[४] है (व्या ३८.२४)। विज्ञानस्कन्ध ६ विज्ञानकाय है—

[३१] चक्षुर्विज्ञान, श्रोत्र°, घ्राण°, जिह्वा°, काय°, मनो°। आयतन-देशना में (१.२० ए), १६ बी. यह मन आयतन है।[१]

धातु-(१.२० ए) देशना में —

१६ सी-डी. यह ७ धातु हैं अर्थात् ६ विज्ञान और मनस्।[२] अर्थात् चक्षुर्विज्ञानधातु, श्रोत्र°, घ्राण°, जिह्वा°, काय°, मनोविज्ञानधातु, मनोधातु।

हमने कहा है कि ५ स्कन्ध, १२ आयतन, १८ धातु हैं।

१. रूपस्कन्ध १० आयतन, १० धातु और अविज्ञप्ति है।

२. वेदना°, संज्ञा° और संस्कारस्कन्ध तथा अविज्ञप्ति और असंस्कृत धर्मायतन, धर्मधातु हैं।

---

[२] विज्ञानं प्रतिविज्ञप्तिः (२.३४)। [व्याख्या ३८.२२] चित्त और चैत्त, २.१७७.

[३] अर्थात् संघभद्र के अनुसार : यद्यपि बहुरूपी आलम्बन वर्तमान हो तथापि चक्षुर्विज्ञान केवल रूप का ग्रहण करता है, शब्द का नहीं; यह नीलादि का ग्रहण करता है किन्तु यह निर्दिष्ट नहीं करता कि यह नीलादि है, यह सुखवेदनीय, दुःखवेदनीय है, पुरुष, स्त्री आदि है, यह मूल आदि ......है" ......।

[४] व्याख्या [३८.२४] 'उपलब्धि' का अर्थ 'वस्तुमात्रग्रहण' देती है और पुनः कहती है— वेदनादयस्तु चैतसिका विशेषग्रहणरूपाः। [व्याख्या ३८.२५]
(बिब्लियोथिका बुद्धिका का यह पाठ अशुद्ध हैः चैतसिकविशेषं)—"विज्ञान या चित्त वस्तुमात्र का ग्रहण करता है; चैतसिक या चित्तसंप्रयुक्त धर्म (२.२४) अर्थात् वेदनादि (वेदना संज्ञा ......) विशेष अवस्था का ग्रहण करते हैं।"
यथा कायविज्ञान कर्कशत्व, श्लक्ष्णत्व आदि (१.१० डी) का ग्रहण करता है : यह सुखा वेदना से संप्रयुक्त होता है जो कर्कश या श्लक्ष्ण के अवस्थाविशेष, सुखवेदनीयता का ग्रहण करती है। चक्षुर्विज्ञान वर्ण (नीलादि) और संस्थान का ग्रहण करता है। यह संज्ञा नामक चैत्तविशेष से संप्रयुक्त होता है जो गृहीत वर्ण और संस्थान के निमित्तविशेष का ग्रहण करती है : "यह पुरुष है, यह स्त्री है, इत्यादि।" (१.१४ सी-डी).
यह वाद नागार्जुन के निकाय को मान्य है। मध्यमकवृत्ति, पृ० ६५, चित्तमर्थमात्रग्राहि चैत्ता विशेषावस्थाग्राहिणः सुखादयः; दिग्नाग के सिद्धान्त का भी यही मत है, न्यायबिन्दु-टीका, पृ. १२, तिब्बती भाषान्तर, पृ. २५;
कोश के जापानी संपादक कोकी और विभाषा का उल्लेख करते हैं। इनमें इस प्रश्न पर ४ मत निर्दिष्ट हैं।
२.३४ बी-डी देखिए।

[१] मन आयतनं च तत्।

[२] [सप्त धातवश्च मतं] षड् विज्ञानान्यथो मनः॥ [व्याख्या ३८.२७]

३. विज्ञानस्कन्ध मन-आयतन है; यह ७ धातु हैं अर्थात् ६ विज्ञानकाय (=विज्ञानधातु) और मनोधातु या मनस्।

षण्णामनन्तरातीतं विज्ञानं यद्धि तन्मनः।
षष्ठाश्रयप्रसिद्धयर्थं धातवोऽष्टादश स्मृताः ॥१७॥

प्रश्न है कि ६ विज्ञानकाय अर्थात् ५ इन्द्रियविज्ञान और मनोविज्ञान से भिन्न मनस् या मनोधातु क्या हो सकता है। विज्ञान से भिन्न मनस् नहीं है।[3]

१७ ए-बी. इन ६ विज्ञानों में से जो विज्ञान अनन्तरातीत है वह मनस् है।[4]

[३२] जो जो विज्ञान समनन्तर निरुद्ध होता है वह वह मनोधातु की आख्या प्राप्त करता है: यथा वही पुत्र दूसरे के पिता की आख्या का लाभ करता है, वही फल दूसरे के बीज की आख्या प्राप्त करता है।

आक्षेप—यदि जो ६ विज्ञानधातु हैं वही मनस् हैं, यदि मनस् ६ विज्ञानों से अन्य नहीं है तो यदि ६ विज्ञान-धातुओं का ग्रहण करें तो इनमें मनोधातु का अन्तर्भाव होने से मनोधातु का कोई प्रयोजन नहीं है और इस प्रकार १७ धातु होते हैं अथवा यदि मनोधातु का ग्रहण करें तो इनमें षड् विज्ञानधातुओं का अन्तर्भाव होने से उनका कोई अर्थ नहीं है और इस प्रकार १२ धातु होते हैं। यह इस आधार पर है कि आप भिन्न द्रव्यों को गिनाना चाहते हैं, न कि केवल प्रज्ञप्तियों को।

---

[3] **विज्ञान आनुपूर्विक होते हैं; वह चक्षुर्विज्ञान......मनोविज्ञान हो सकते हैं। जो विज्ञान निरुद्ध होता है वह अन्य विज्ञान से अव्यवहित, अपने अनन्तर के विज्ञान का समनन्तर प्रत्यय (२.६२ ए) और आश्रय होता है। इस आकार में इसकी मनस्, मन-आयतन, मनोधातु, मन-इन्द्रिय (२.१) संज्ञा होती है। इसका अनन्तर-विज्ञान से वही सम्बन्ध है जो चक्षुरिन्द्रिय का चक्षुर्विज्ञान से है।**

[4] **षण्णामनन्तरातीतं विज्ञानं यद्धि तन्मनः। [व्याख्या ३८.३१] (१.३९ ए-बी देखिए) व्याख्या के अनुसार योगाचार-दर्शन में षड्विज्ञान से व्यतिरिक्त एक मनोधातु, एक मनस् है। ताम्रपर्णीय मनोविज्ञानधातु का एक आश्रय कल्पित करते हैं (कल्पयन्ति); इसे वह 'हृदयवस्तु' कहते हैं; यह रूपी इन्द्रिय है। यह हृदयवस्तु आरूप्यधातु में भी विद्यमान होता है। इन आचार्यों को आरूप्यधातु में भी रूप अभिप्रेत है (८.३ सी) [व्याख्या ३९.२५]: 'आ' उपसर्ग को यह ईषत् के अर्थ में लेते हैं। यथा आपिंगल, 'ईषत् पिंगल'। पट्ठान (काम्पेण्डियम आफ फिलासफी, पृ० २७८ में उद्धृत) के अनुसार मनोविज्ञान का आश्रय एक रूप है किन्तु वह इस आश्रय को 'हृदयवस्तु' की आख्या नहीं देता। वह चक्षुर्विज्ञान के आश्रय का नाम 'चक्षु' बताता है किन्तु पीछे का अभिधम्म (विसुद्धिमग्ग, अभिधम्मत्थसंगह) हृदयवस्तु को मनोधातु का निश्रय मानता है। विभंग, पृ० ८८ की शिक्षा कम स्पष्ट है: "जो चक्षुर्विज्ञान, श्रोत्र°......कायविज्ञान समनन्तर निरुद्ध होता है उससे चित्त, मनस्, मानस (=मनस्), हृदय (=चित्त), मनस्, मन-इन्द्रिय......उत्पन्न होता है।" (अत्थसालिनी, ३४३)। हृदयवस्तु, काम्पेण्डियम, १२२, २७८, जे० पी० टी० एस० १८८४, २७-२९, अत्थसालिनी, १४०; मिसेज राइस डेविड्स, बुल० एस० ओ० एस०, ३. ३५३, जातकट्ठकथा से उद्धृत करती हैं:....हदयमंसन्तरे पटिट्ठिता पञ्ञा; सिद्धि, २८१।**

यह सत्य है किन्तु

१७ सी-डी. षष्ठ विज्ञानधातु का आश्रय प्रसिद्ध करने के लिए १८ धातु गिनाते हैं।[1]

प्रथम पाँच विज्ञानधातुओं के चक्षुरादि ५ रूपीन्द्रिय आश्रय हैं (१.४४ सी-डी भी देखिए)। षष्ठ विज्ञान, मनोविज्ञानधातु का ऐसा कोईआश्रय नहीं है। अतएव इस विज्ञानधातु का आश्रय प्रसिद्ध करने के लिए मनोधातु व्यवस्थापित करते हैं। जो इसका आश्रय होता है अर्थात् ६ [३३] विज्ञानधातुओं में से अन्यतम वह मनस् या मनोधातु अथवा मन-आयतन और मन-इन्द्रिय कहलाता है। इस प्रकार ६ आश्रय या इन्द्रिय, आश्रय-षट्क पर आश्रित ६ विज्ञान और ६ आलम्बन के व्यवस्थान से १८ धातु होते हैं।

आक्षेप—यदि निरुद्ध होने के अनन्तर जब विज्ञानधातु या चित्त अन्य विज्ञान का आश्रय होता है तब वह मनस् की आख्या प्राप्त करता है तो अर्हत् का चरम चित्त मनस् न होगा क्योंकि इसके अनन्तर अन्य चित्त उत्पन्न न होगा जिसका यह समनन्तरप्रत्यय और आश्रय हो (१.४४ सी-डी)।

यह चरम चित्त मनोभाव से, आश्रय भाव से अवस्थित होता है। यदि इसके अनन्तर उत्तर विज्ञान की संभूति नहीं होती अर्थात् पुनर्भव का प्रतिसन्धि-विज्ञान संभूत नहीं होता तो यह उसके स्वभावके कारण नहीं है। यह अन्य कारणों की विकलता से, उस कर्म और क्लेश के वैकल्य से होता है जो उत्तर विज्ञान के संभव के लिए आवश्यक हैं।

सर्वसंग्रह एकेन स्कन्धेनायतनेन च।
धातुना च स्वभावेन परभावावियोगतः॥१८॥

सर्व संस्कृत धर्म स्कन्ध-संग्रह में (१.७) संगृहीत हैं; सर्व सास्रव धर्म उपादानस्कन्ध-संग्रह में (१.८) संगृहीत हैं; सर्व धर्म आयतन-संग्रह और धातुसंग्रह में संगृहीत हैं (१.१४)।

किन्तु समासतः

१८ ए-बी. सर्व धर्म एक स्कन्ध, एक आयतन और एक धातु में संगृहीत हैं—[1] रूपस्कन्ध, मन आयतन और धर्मधातु में।

१८. सी-डी. धर्म का संग्रह स्वभाव में होता है क्योंकि यह दूसरे के भाव से वियुक्त है।[2] धर्म का संग्रह अपने से भिन्न भाव में नहीं होता। यथा चक्षुरिन्द्रिय का संग्रह रूपस्कन्ध [३४] में होता है क्योंकि यह रूप-स्वभाव है; चक्षुरायतन में, चक्षुर्धातु में होता है क्योंकि यह चक्षुरायतन चक्षुर्धातु है; दुःख-सत्य और समुदय-सत्य में होता है क्योंकि यह दुःख और समुदय है।

---

[1] **षष्ठाश्रयप्रसिद्धयर्थं धातवोऽष्टादश स्मृताः॥ [व्याख्या ४०.१४]**

[1] **एकेन स्कन्धायतनधातुना सर्वसंग्रहः।**
अविज्ञप्ति रूपस्कन्ध और धर्मधातु में संगृहीत है।

[2] **परभावावियुक्तत्वात् स्वभावेनैव संग्रहः॥**
धातुकथापकरण, कथावत्थु, ७.१, धातुकाय, प्रकरण (नीचे १.२०, पृ.३९ नोट ३ देखिए) में संग्रह के प्रश्न का विचार किया गया है।

किन्तु यह अन्य स्कन्धों में, अन्य आयतनादि में संगृहीत नहीं होता क्योंकि इसका भाव उनके भाव से वियुक्त है।

इसमें संदेह नहीं कि पर्षदों का संग्रह दानादि संग्रह वस्तुओं से[1] होता है: अतः भिन्न वस्तुओं का संग्रह एक दूसरे से होता है। किन्तु यह संग्रह कादाचित्क है और इसलिए पारमार्थिक नहीं है किन्तु सांकेतिक है।

जातिगोचरविज्ञानसामान्यादेकधातुता।
द्वित्वेऽपि चक्षुरादीनां शोभार्थं तु द्वयोद्भवः ॥१९॥

किन्तु यह कहा जायगा कि चक्षु, श्रोत्र और घ्राणेन्द्रियों का द्वित्व है। अतएव २१ धातु परिगणित होना चाहिए।

१९. चक्षु, श्रोत्र और घ्राणेन्द्रिय यद्यपि दो दो हैं तथापि एक एक धातु माने जाते हैं क्योंकि जाति, गोचर और विज्ञान में यह सामान्य हैं। शोभा के निमित्त इनका द्वित्व-भाव है।[2]

दोनों चक्षुरिन्द्रियों का जाति-सामान्य है क्योंकि दोनों चक्षुरिन्द्रिय हैं; इनका गोचर-सामान्य है क्योंकि दोनों का गोचर रूपधातु है; इनका विज्ञान-सामान्य भी है क्योंकि दोनों चक्षुर्विज्ञानधातु के आश्रय हैं। अतएव दो चक्षुरिन्द्रिय का एक ही धातु होता है। इसी प्रकार श्रोत्र और घ्राण की भी योजना करनी चाहिए।

यद्यपि यह मिलकर केवल एक धातु होते हैं तथापि इनकी उत्पत्ति शरीर की शोभा के लिए युग्म में होती है। एक चक्षु, एक श्रोत्राधिष्ठान, एक नासिका-बिल के होने से बड़ा वैरूप्य होगा (२.१ ए; १.४३, ३०)।[3]

राश्यायद्वारगोत्रार्थाः स्कन्धायतनधातवः।
मोहेन्द्रियरुचित्रैधात् तिस्रः स्कन्धादिदेशनाः ॥२०॥

[३५] स्कन्ध, आयतन, धातु इन आख्याओं का क्या अर्थ है?

---

[1] दीघ, ३.२३२; धर्मसंग्रह, १९; महाव्युत्पत्ति, ३५ आदि।

[2] जातिगोचरविज्ञानसामान्यादेकधातुता।
द्वित्वेऽपि चक्षुरादीनां शोभार्थं तु द्वयोद्भवः॥ [व्याख्या ४१.२७, ४२.४]

[3] केवल एक चक्षु, एक श्रोत्र, एक नासिका-पुट होने से अत्यन्त कुरूपता उत्पन्न होगी [व्याख्या ४२.५]। किन्तु उष्ट्र, मार्जार, उलूक प्रभृति अनेक पशुओं के आश्रय की शोभा दो चक्षु आदि के होने से भी नहीं होती: अन्य जातियों की अपेक्षा उनकी आश्रय-शोभा नहीं होती। किन्तु स्वजाति में जिसके एक ही चक्षु आदि होते हैं उसका अपेक्षाकृत वरूप्य होता है। [व्याख्या ४२.७-१०]
संघभद्र 'शोभार्थम्' का अर्थ 'आधिपत्यार्थम्' करते हैं (२.१ देखिए)। लोक में वही शोभित होता है जो आधिपत्य-संपन्न है। जिनके एक ही चक्षु-अधिष्ठान होता है वह आधिपत्य से सम्पन्न नहीं होते अर्थात् उनका परिशुद्ध दर्शन नहीं होता क्योंकि एक चक्षु से वैसा परिशुद्ध दर्शन नहीं होता जैसा दो चक्षुओं से [व्याख्या ४२.११] ......। (१.४३)

२० ए-बी. स्कन्ध 'राशि' को कहते हैं (विभाषा, ७४, पृ० ३८३)। आयतन का अर्थ 'आयद्वार' 'उत्पत्तिद्वार' है; धातु से आशय 'गोत्र' का है।[1]

१. सूत्र में स्कन्ध 'राशि' को कहते हैं: "यत्किंचित् रूप अतीत हो या अनागत या प्रत्युत्पन्न, आध्यात्मिक हो या वाह्य, औदारिक (=स्थूल) हो या सूक्ष्म, हीन हो या प्रणीत (=उत्तम), दूर हो या अंतिक, इन सबको एकत्र कर रूपस्कन्ध होता है।"[2]

वैभाषिकों के अनुसार (१) अतीत रूप अनित्यता[3] से निरुद्ध रूप है, अनागत रूप अनुत्पन्न रूप है, प्रत्युत्पन्न रूप उत्पन्न और अनिरुद्ध रूप है; (२) रूप आध्यात्मिक है जब वह आत्मसन्तान में (१. ३९) पतित है; अन्य सब रूप वाह्य है; अथवा आध्यात्मिक [३६] और वाह्य आख्याएं आयतनतः समझी जाती हैं: चक्षुरिन्द्रिय आध्यात्मिक है क्योंकि यह स्वसन्तान या परसन्तान में पतित है; (३) रूप औदारिक है जब यह सप्रतिघ है (१. २९ बी), सूक्ष्म है जब यह अप्रतिघ है; अथवा यह दो आख्याएं आपेक्षिक हैं, आत्यन्तिक नहीं। क्या यह आक्षेप होगा कि इस द्वितीय विकल्प में औदारिक और सूक्ष्म सिद्ध नहीं होते क्योंकि एक ही रूप अपने से सूक्ष्म रूप की अपेक्षा औदारिक है और अपने से औदारिक रूप की अपेक्षा सूक्ष्म है? यह आक्षेप व्यर्थ है क्योंकि अपेक्षा-भेद नहीं है: जब एक रूप दूसरे रूप की अपेक्षा औदारिक होता है तो उसी की अपेक्षा कभी सूक्ष्म नहीं होता— पितृपुत्रवत्; (४) हीन रूप क्लिष्ट रूप है, प्रणीत रूप अक्लिष्ट रूप है; (५) अतीत या अनागत रूप दूर है, प्रत्युत्पन्न रूप अन्तिक है[1]। अन्य स्कन्धों की भी योजना इसी प्रकार होनी चाहिए। किन्तु यह विशेष है कि औदारिक विज्ञान वह है जिसका

---

[1] राश्यायद्वारगोत्रार्थाः स्कन्धायतनधातवः। [व्याख्या ४२.२६]

[2] संयुक्त, २५, २: यत् किंचिद् रूपमतीतानागतप्रत्युत्पन्नं आध्यात्मिकं वा वाह्यं वा औदारिकं वा सूक्ष्मं वा हीनं वा प्रणीतं वा दूरं वा अन्तिकं वा तदेकध्यमभिसंक्षिप्याऽयमुच्यते रूपस्कन्धः। विभंग, पृ. १ से तुलना कीजिए।
व्याख्या के संस्करण में [व्याख्या ४२.३२] 'ऐकध्यम्' पाठ है किन्तु महाव्युत्पत्ति २४५, ३४३ का पाठ 'एकध्यमभिसंक्षिप्य' है। वोगिहारा सूचित करते हैं कि दिव्य, ३५, २४; ४०, २२ में 'एकध्ये' है।

[3] अनित्यतानिरुद्ध अर्थात् अनित्यता नामक संस्कृत-लक्षण (२.४५ सी-डी) से विनष्ट। [व्याख्या ४२.३२]
निरोध पांच प्रकार के हैं: (१) लक्षणनिरोध (२.४५ सी-डी) जो यहां अभिप्रेत है, (२) समापत्तिनिरोध (२.४१ सी), (३) उपपत्तिनिरोध (=आसंज्ञिक, २.४१ बी), (४) प्रतिसंख्यानिरोध (१.६ ए-बी), (५) अप्रतिसंख्यानिरोध (१.६ सी-डी)। यदि भाष्य में केवल 'अतीतं रूपम् निरुद्धं' होता तो 'निरुद्ध' शब्द के अविशेषित होने से निरोध २-५ का भी प्रसंग होता किन्तु निरोध २-३ अनागत चित्त-चैत्त का निरोध है; चौथा निरोध सास्रव चित्त-चैत्त का निरोध है और पाँचवां निरोध अनुत्पत्तिधर्मा अनागत धर्मों का निरोध है। [व्याख्या ४३.२]

[1] आर्यदेव, शतक, २५८ सिद्ध करता है कि यह लक्षण अनागतास्तित्ववाद के विरुद्ध है। दूरता, कथावत्थु, ७.५.

आश्रय पांच विज्ञानकाय हैं, सूक्ष्म विज्ञान मनोविज्ञान है; अथवा विज्ञान अधर या ऊर्ध्व स्वभूमि के अनुसार औदारिक या सूक्ष्म होता है ।

भदन्त के[२] अनुसार (१) औदारिक रूप वह है जो पंचेन्द्रिय से ग्राह्य है, अन्य सर्व रूप सूक्ष्म है; (२) 'हीन' का अर्थ अमनाप (=मन को न भाने वाला) है, 'प्रणीत' का अर्थ मनाप (=मन को भाने वाला) है; (३) दूर रूप वह है जो अदृश्य देश में है, अन्तिक रूप

[३७] वह है जो दृश्य देश में है: वैभाषिकों का व्याख्यान सुष्ठु नहीं है क्योंकि अतीतादि रूप स्वशब्द से पहले ही अभिहित हो चुका है। इसी प्रकार वेदना को समझना चाहिए। आश्रयवश इनका दूरत्व, अन्तिकत्व होता है। यदि वेदना का आश्रय अदृश्यमान है तो वेदना दूर है, यदि दृश्यमान है तो वेदना अन्तिक है। यदि यह कायिकी है तो औदारिक है, यदि चैतसिकी है तो सूक्ष्म है (२.७) ।

२. 'आयतन' का अर्थ "चित्त-चैत्त (२.२३) का आयद्वार" है। नैरुक्तिक विधि से 'आयतन' उन्हें कहते हैं जो चित्त-चैत्त के आय को फैलाते हैं (तन्वन्ति)।[१] [व्याख्या ४५.४]

३. 'धातु' का अर्थ गोत्र है।[२] यथा वह स्थान अर्थात् पर्वत जहाँ लौह, ताम्र, रजत, सुवर्ण धातुओं के बहु गोत्र पाए जाते हैं 'बहुधातुक' कहलाता है उसी प्रकार एक आश्रय या सन्तान में १८ प्रकार के 'गोत्र' पाए जाते हैं जो १८ धातु कहलाते हैं।

अतएव 'गोत्र' से 'आकर' का बोध होता है।[३] चक्षुर्धातु किसका आकर है? अन्य धातु किसके आकर हैं?

धातु स्वजाति के (स्वस्या जातेः) आकर हैं: पूर्वोत्पन्न चक्षु चक्षु के पश्चिम क्षणों का सभागहेतु (२.५२) है। इस लिए यह चक्षुका आकर, धातु है।

किन्तु उस अवस्था में क्या असंस्कृत जो नित्य हैं धातु नहीं हो सकते? हमारा कहना है कि वह चित्त-चैत्त के आकर हैं ।

---

[२] युआन्-चाङ् का अनुवाद—भदन्त धर्मत्रात । किन्तु व्याख्या [४४.१४] में है—भदन्त अर्थात् स्थविर सौत्रान्तिक अथवा इस नाम का कोई स्थविर सौत्रान्त्रिक । भगवद्विशेष का कहना है कि यह स्थविर धर्मत्रात हैं। हमारा इसमें आक्षेप है। धर्मत्रात अतीतानागतास्तित्ववादी हैं। इसलिए यह सर्वास्तिवादी हैं और यहां सौत्रान्तिक अर्थात् दार्ष्टान्तिक का प्रयोजन है। भदन्त धर्मत्रात सर्वास्तिवाद के एक वाद का समर्थन करते हैं जिसका निर्देश आगे चलकर (५.२५) होगा। भदन्त सौत्रान्तिक दर्शनावलम्बी हैं जिनका उल्लेख विभाषा केवल 'भदन्त' के नाम से करती है। विभाषा में भदन्त धर्मत्रात का अपने नाम से उल्लेख ह। अतः यहां धर्मत्रात से अन्य कोई सौत्रान्तिक स्थविर भिक्षु अभिप्रेत है।
जापानी संपादक विभाषा, ७४, ९ का हवाला देते हैं जहां कहा है कि धर्मत्रात यह नहीं स्वीकार करते कि धर्मायतन रूप है (४.४ ए-बी देखिए)।

[१] विभाषा, ७३, १२ में 'आयतन' शब्द के अर्थ पर २० मत निर्दिष्ट हैं—मध्यमकवृत्ति, पृ.५५२ में कोशवर्णितलक्षण दिया है। अत्थसालिनी, १४०-१

[२] विभाषा, ७१, ७ में ११ निर्वचन हैं। यहां पहला निर्वचन दिया है।

[३] 'सुवर्णगोत्र' इस पद में गोत्र का अर्थ 'आकर' है। असंग, सूत्रालंकार, ३.९ और अनुवादक की टिप्पणी ।

एक दूसरे मत के अनुसार 'धातु' का अर्थ 'जाति' है। १८ धातुओं से १८ पृथक् धर्मों का स्वभावविशेष समझा जाता है।

४. आक्षेप[४]—१. यदि स्कन्ध का अर्थ 'राशि' है तो स्कन्ध केवल प्रज्ञप्तिसत् हैं, [३८] द्रव्यसत् नहीं हैं क्योंकि समुदित, संचित द्रव्य नहीं है यथा धान्यराशि, यथा पुद्गल।[१] वैभाषिक[२] कहता है—नहीं, क्योंकि परमाणु स्कन्ध है। इस विकल्प में, जब कि परमाणु का राशित्व नहीं है, यह न कहिए कि स्कन्ध का अर्थ 'राशि' है।

२. एक दूसरे मत के अनुसार (विभाषा, ७९, ५) स्कन्ध का अर्थ इस प्रकार है—जो अपने कार्य-भार का उद्वहन करता है।[3] अथवा 'स्कन्ध' का अर्थ प्रच्छेद, अवधि[४] है; यथा लोक में कहते हैं: "यदि तुम मुझे तीन स्कन्ध वापिस करने का वचन दो तो मैं तुम्हें दूँगा"।[५]

यह दो अर्थ उत्सूत्र हैं।[६] वास्तव में सूत्र में स्कन्ध का अर्थ 'राशि' है, अन्य अर्थ नहीं है: "यत्किंचित् रूप अतीत, अनागत, प्रत्युत्पन्न....है यदि यह सब रूप एकत्र हो....।"

३. वैभाषिक कहता है: सूत्र में उक्त है कि सर्व रूप, अतीत रूप, अनागत रूपादि, इनमें से एक-एक स्कन्ध है यथा इसकी शिक्षा है कि एक एक केशादि द्रव्य पृथ्वीधातु है (नीचे पृ. ४९, नोट. २)। इसलिए अतीत, अनागत आदि रूप का प्रत्येक (परमाणु) द्रव्य 'स्कन्ध' कहलाता है। अतएव स्कन्ध द्रव्यसत् हैं, प्रज्ञप्ति-सत् नहीं।

[३९] यह अर्थ अग्राह्य है क्योंकि सूत्रवचन है कि "··· यदि यह सर्व रूप एकत्र अभिसंक्षिप्त हो तो यह रूपस्कन्ध है।"

४. सौत्रान्तिकः यदि ऐसा है तो रूपी आयतन—इन्द्रिय और पाँच विज्ञानकायों के आलम्बन—केवल प्रज्ञप्तिसत् हैं क्योंकि चित्त-चैत्तों की आयद्वारता एक-एक परमाणु-द्रव्य की नहीं होती किन्तु चक्षुरिन्द्रिय-रूपादि परमाणु-संचित की होती है।

---

[४] वैभाषिक का मत है कि स्कन्ध, आयतन और धातु द्रव्यसत् हैं; सौत्रान्तिक धातुओं को द्रव्यसत् और स्कन्ध तथा आयतनों को 'प्रज्ञप्तिसत्' मानते हैं। वसुबन्धु स्कन्धों को प्रज्ञप्ति-सत्, आयतन तथा धातुओं को द्रव्यसत् मानते हैं।

[१] पुद्गलवाद का विचार कोशप्रतिबद्ध पुद्गलप्रकरण में किया गया है। शरबात्स्की ने इसका अनुवाद दिया है, ऐकेडमी आफ पैट्रोग्राड, १९२०.

[२] संघभद्र : "यह आक्षेप युक्त नहीं है। स्कन्ध का अर्थ 'राशि' नहीं है किन्तु वह जो राशीकृत, संचित हो सकता है···।

[3] यथा लोक में स्कन्ध कन्धे को कहते हैं उसी प्रकार नाम-रूप स्कन्धद्वय हैं जो षडायतन (३.२१) का वहन करते हैं।

[४] रूपप्रच्छेद, वेदनाप्रच्छेद......

[५] परमार्थः "मैं तुमको ३ स्कन्ध वापिस करूँगा।"
तिब्बती = देयस्कन्धत्रयेण दातव्यम् (?)

[६] उत्सूत्र, महाभाष्य, १.पृ.१२, कीलहार्न, जे० आर० ए० एस० १९०८, पृ० ५०१।

उत्तर—इन परमाणुओं में से प्रत्येक की 'चित्तायद्वारता' होती है, प्रत्येक का विज्ञान-कारणभाव होता है (१.४४-ए-बी ३ से तुलना कीजिये)। यदि आप इस वाद को स्वीकार नहीं करते तो आप समग्र इन्द्रिय के विज्ञान-कारणभाव का निषेध करते हैं क्योंकि विषय-सहकारिता के बिना इन्द्रिय अकेला विज्ञान का उत्पाद नहीं करता।

५. दूसरी ओर विभाषा (७४.११) का यह कथन है: "जब आभिधार्मिक को[1] यह अपेक्षित है कि 'स्कन्ध' आख्या राशि[2] की प्रज्ञप्ति-मात्र है तब वह कहता है कि परमाणु एक धातु, एक आयतन, एक स्कन्ध का प्रदेश है। जब वह स्कन्ध-प्रज्ञप्ति की अपेक्षा नहीं करता तब वह कहता है कि परमाणु एक धातु, एक आयतन, एक स्कन्ध[3] है। वास्तव में प्रदेश में प्रदेशी का उपचार होता है, यथा "पट का एक देश दग्ध है" इसके लिए 'दग्ध पट है' ऐसा कहते हैं।

भगवत् ने धर्मों का स्कन्ध, आयतन और धातु ऐसा त्रिविध वर्णन क्यों किया है?

[४०] २० सी-डी. स्कन्धादि त्रय की देशना इसलिए है क्योंकि मोह, इन्द्रिय और रुचि के तीन-तीन प्रकार हैं।[1]

१. मोह या संमोह त्रिविध है: एक चैत्तों का पिंडतः ग्रहण कर उन्हीं को आत्मतः ग्रहण करते हैं और इस प्रकार संमूढ़ होते हैं; एक रूपपिंड को ही आत्मतः गृहीत कर संमूढ़ होते हैं; एक रूप और चित्त का पिंडात्मतः ग्रहण कर (पिंडात्मग्रहणतः) संमूढ़ होते हैं।

२. श्रद्धादि इन्द्रिय (२.३ सी-डी), प्रज्ञेन्द्रिय (२.२४) त्रिविध हैं—अधिमात्र (=तीक्ष्ण), मध्य, मृदु।

३. रुचि (अधिमोक्ष) त्रिविध है: एक की संक्षिप्त रुचि होती है, एक की मध्य, एक की विस्तीर्ण।

स्कन्ध-देशना पहले प्रकार के श्रावकों के लिए है जो चैत्तों के विषय में सम्मूढ़ होते हैं, जिनकी इन्द्रियाँ अधिमात्र हैं, जिनकी संक्षिप्त देशना में रुचि होती है।

---

[1] आभिधार्मिक सदा स्पष्ट रूप से वैभाषिक से पृथक् निर्दिष्ट नहीं है।

[2] स्कन्धप्रज्ञप्तिमपेक्षते।

[3] प्रकरणपाद, अध्याय ६ (२३.१०, फ़ोलिओ ४७) से तुलना कीजिए:
चक्षुर्धातु एक धातु, एक आयतन, एक स्कन्ध में संगृहीत है; परचित्तज्ञान, निरोधज्ञान, मार्गज्ञान को वर्जित कर शेष ७ ज्ञानों से (कोश ७) यह ज्ञेय है; यह एक विज्ञान से विज्ञेय है; यह कामधातु और रूपधातु में होता है; यह भावनाहेय अनुशयों से प्रभावित होता है (कोश ५ देखिए)।
धातुकथापकरण (पी०टी० एस १८९२) पृ० ६: चक्खुधातु एकेन खन्धेन एकेनायतनेन एकाय धातुया संगहिता।

[1] मोहेन्द्रियरुचित्रैधात् स्कन्धादित्रयदेशना ॥ [व्याख्या ४७.१५]
विभाषा, ७१; ४ के अनुसार।

आयतन-देशना दूसरे प्रकार के लिए है और धातु-देशना तीसरे प्रकार के लिए है।[२]

विवादमूलसंसारहेतुत्वात् क्रमकारणात्।
चैत्तेभ्यो वेदनासंज्ञे पृथक् स्कन्धौ निवेशितौ ॥२१॥

वेदना और संज्ञा पृथक् पृथक् स्कन्ध हैं: अन्य सब चैत्त धर्म (२.२४) संस्कारस्कन्ध (१.१५) में संगृहीत हैं। इसका क्या कारण है?

२१. क्योंकि वह विवाद के मूल हेतु हैं, क्योंकि वह संसार के कारण हैं और स्कन्धों के [४१] क्रम (१.२२ बी) के कारण दो चैत्त—वेदना और संज्ञा—पृथक् स्कन्ध व्यवस्थित होते हैं।[१]

१. दो विवाद-मूल हैं[२]: कामाध्यवसाय (अभिष्वंग) [व्या० ४८.१६ में अध्यवसान] और दृष्टि-अभिष्वंग। इन दो मूलों के प्रधान हेतु यथाक्रम वेदना और संज्ञा हैं। वास्तव में वेदना के आस्वादवश कामाभिष्वंग होता है और विपरीतसंज्ञावश (५.९) दृष्टियों में अभिष्वंग होता है।

२. वेदना और संज्ञा संसार के कारण हैं: जो वेदनागृद्ध है और जिसकी संज्ञा विपर्यस्त है वह संसार में जन्मपरंपरा करता है।

३. जो कारण स्कन्धों के अनुक्रम को युक्त सिद्ध करते हैं उनका निर्देश नीचे (१.२२ बी-डी) होगा।

स्कन्धेष्वसंस्कृतं नोक्तमर्थायोगात् क्रमः पुनः।
यथौदारिकसंक्लेशभाजनाद्यर्थधातुतः ॥२२॥

असंस्कृत जो धर्मायतन और धर्मधातु (१.१५ डी) में संगृहीत हैं, स्कन्धों में संगृहीत क्यों नहीं हैं?

२२ ए-बी. असंस्कृत स्कन्धों में वर्णित नहीं है क्योंकि अर्थ का योग नहीं है।[३]

---

[२] स्कन्ध-देशना तीक्ष्णेन्द्रिय (प्रज्ञेन्द्रिय) पुद्गलों के लिए है। यथा——यद् भिक्षो न त्वं स ते धर्मः प्रहातव्यः। आज्ञातम् भगवन् [व्याख्या, भगवन्नित्याह]। कथमस्य भिक्षो संक्षिप्तेनोक्तार्थमाजानासि। रूपं भदन्त नाहं स मे धर्मः प्रहातव्यः। [व्याख्या ४८.२]
तीन प्रकार की इन्द्रियों के अनुरूप तीन प्रकार के श्रावक हैं——उद्घटितज्ञ, अविपंचितज्ञ [व्याख्या में विपंचितज्ञ], पदंपरम [व्याख्या में पदपरम] (पुग्गल-पञ्ञत्ति, पृ० ४१; सूत्रालंकार, अनुवाद पृ. १४५)। [व्याख्या ४७.३४]

[१] विवादमूलसंसार [कारणात्] क्रमकारणात्।
[चैत्तेभ्यो वेदनासंज्ञे पृथक् स्कन्धौ व्यवस्थिते] ॥
धर्मस्कन्ध, ९, १० : विभाषा, ७४, १४.

[२] ६ विवादमूल दीघ, ३.२४६ आदि में।

[३] [स्कन्धेष्वसंस्कृतं नोक्तम्] अर्थायोगात्
विभाषा, ७४, १०.

१. पांच स्कन्धों में से किसी में भी असंस्कृत अन्तर्नीत नहीं हो सकता है क्योंकि यह रूप-स्वभाव, वेदनास्वभाव..... नहीं है ।

२. असंस्कृत को षष्ठ स्कन्ध भी नहीं कह सकते। इसके साथ स्कन्ध के अर्थ का अयोग है क्योंकि स्कन्ध का अर्थ 'राशि' 'समुदाय-लक्षणत्व' है। रूप के सम्बन्ध में सूत्र ने जो कहा है वह असंस्कृत के सम्बन्ध में नहीं कहा जा सकता :

"यदि अतीतादि..... सर्व असंस्कृत को एकत्र करें तो असंस्कृतस्कन्ध होगा" क्योंकि असंस्कृत में अतीतादि विशेष का अभाव है।

[४२] ३. पुनः उपादानस्कन्ध (१.८ ए) संक्लेशवस्तु को ज्ञापित करता है; 'स्कन्ध' से संक्लेशवस्तु (सास्रव संस्कृत) और व्यवदान-वस्तु (अनास्रव संस्कृत—मार्ग) दोनों ज्ञापित होते हैं। इसलिए असंस्कृत जो न संक्लेशवस्तु है और न व्यवदान-वस्तु, उपादानस्कन्धों में या स्कन्धों में संगृहीत नहीं हो सकता।

४. एक मत के अनुसार यथा घट का उपरम घट नहीं है उसी प्रकार असंस्कृत जो स्कन्धों का उपरम या निरोध है स्कन्ध नहीं है (विभाषा, ७४, १६)।—किन्तु इस युक्ति के अनुसार आयतन और धातु में भी असंस्कृत व्यवस्थापित न होगा। हम स्कन्धों का लक्षण बता चुके हैं। अब स्कन्धों के क्रम का निरूपण करते हैं।

२२ बी-डी. औदारिकभाव, संक्लेश-भाव, भाजनत्व आदि से तथा अर्थधातुओं की दृष्टि से भी स्कन्धों का क्रम युक्त है।[1]

१. सप्रतिघ होने से (१.२९ बी) स्कन्धों में रूप सबसे औदारिक है। अरूपी स्कन्धों में प्रचार की औदारिकता से वेदना सबसे औदारिक है: वास्तव में हस्तपादादि में वेदना का व्यपदेश होता है। अन्तिम दो स्कन्धों से संज्ञा औदारिक है। विज्ञान सर्वसूक्ष्म है। संस्कार-स्कन्ध विज्ञानस्कन्ध से औदारिक है—अतः स्कन्धों का अनुक्रम क्षीयमाण औदारिकता के क्रम के अनुसार है।

२. अनादि संसार में स्त्री-पुरुष अन्योन्य रूपाभिराम होते हैं क्योंकि वह वेदनास्वाद में आसक्त हैं। यह आसक्ति संज्ञा-विपर्यास से प्रवृत्त होती है। संज्ञा-विपर्यास संस्कार-भूत क्लेशों के कारण होता है और यह चित्त (विज्ञान) है जो क्लेशों से संक्लिष्ट होता है। अतः संक्लेश की प्रवृत्ति के अनुसार स्कन्धों का क्रम है।

[४३] रूप भाजन है, वेदना भोजन है, संज्ञा व्यंजन है, संस्कार पक्ता है, विज्ञान या चित्त भोक्ता है। स्कन्धों के क्रम को युक्त सिद्ध करने में यह तीसरी युक्ति है।

४. अंततः, धातुतः (२.१४) विचार करने पर हम देखते हैं कि कामधातु रूप से अर्थात् पाँच कामगुणों से प्रभावित, प्रकर्षित है (धर्मस्कन्ध, ५.१०, विभाषा, ७३, २, कथावत्थु,

---

[1] **क्रमः पुनः। यथौदारिकसंक्लेशभाजनाद्यर्थधातुतः ।। [व्याख्या ४८.२६] विभाषा, ७४, २२ के अनुसार।**

८.३ से तुलना कीजिए)। रूपधातु अर्थात् चार ध्यान वेदना से (सुखेन्द्रिय, सौमनस्येन्द्रिय, उपेक्षेन्द्रिय, ८.१२) प्रभावित हैं।

प्रथम तीन आरूप्य संज्ञा से प्रभावित हैं: अनन्ताकाशसंज्ञादि (८.४)। चतुर्थ आरूप्य अथवा भवाग्र संस्कार मात्र (चेतना) से प्रभावित हैं। वहाँ चेतना ८० सहस्र कल्प (३.८१ सी) की आयु आक्षिप्त करती है। अन्ततः यह विविध भूमि 'विज्ञानस्थिति' (३.६) हैं: इन स्थानों में विज्ञान प्रतिष्ठित है। स्कन्धों का अनुक्रम क्षेत्र-बीज संदर्शनार्थ है। पहले चार स्कन्ध क्षेत्र हैं; पाँचवाँ बीज है।

अतएव पाँच स्कन्ध हैं, न कम, न अधिक। हम देखते हैं कि जो युक्तियाँ स्कन्धों के क्रम को युक्त सिद्ध करती हैं वह इस वाद को भी युक्त सिद्ध करती हैं जो वेदना और संज्ञा को पृथक् पृथक् स्कन्ध व्यवस्थित करता है। यह अन्य संस्कारों से औदारिक हैं; यह संक्लेश की प्रवृत्ति के कारण हैं; यह भोजन और व्यंजन हैं; इनका दो धातुओं पर आधिपत्य है।

प्राक् पंच वर्तमानार्थ्याद् भौतिकार्थ्याच्चतुष्टयम्।
दूराशुतरवृत्त्यान्यद् यथास्थानं क्रमोऽथवा ॥२३॥

अब उस क्रम का निर्देश करना है जिसके अनुसार चक्षुरादि ६ इन्द्रिय, ६ आयतन या धातु परिगणित हैं; उस क्रम को बताना है जिसके अनुसार विषय और इन इन्द्रियों के विज्ञान (रूपधातु, चक्षुर्विज्ञानधातु.........) परिगणित हैं।

२३ ए. पहले पाँच पूर्वोक्त हैं क्योंकि उनका विषय वर्तमान है।[1]

[४४] चक्षुरादि पाँच इन्द्रिय पूर्व कहे गए हैं क्योंकि उनका विषय वर्तमान, सहोत्पन्न है। इसके विपरीत मन-इन्द्रिय (मनस्) का विषय अनियत है। किसी का विषय (१) वर्तमान, सहोत्पन्न (२) किसी का पूर्व या अतीत (३) किसी का अपर या अनागत (४) किसी का त्र्यध्व अर्थात् वर्तमान, पूर्व, अपर और (५) किसी का अनध्व होता है।

२३ बी. प्रथम चार पूर्व उक्त हैं क्योंकि उनका विषय केवल भौतिक रूप है।[1]

चक्षुरिन्द्रिय, श्रोत्र०, घ्राण० और जिह्वेन्द्रिय महाभूत (१.१२) को प्राप्त नहीं होते किन्तु केवल उपादायरूप (भौतिक, २.५० ए, ६५) को प्राप्त होते हैं।

कायेन्द्रिय का विषय अनियत है (१.३५ए-बी, १० डी): कदाचित् महाभूत, कदाचित् उपादायरूप, कदाचित् उभय, इसके विषय होते हैं।

२३ सी. यह चार दूर-आशुतरवृत्ति के कारण यथायोग इतर से पूर्व कहे गए हैं।[2]

इनकी वृत्ति दूर, दूरतर, आशुतर है।

---

[1] **पंचाप्यावर्तमानार्थ्यात्।**

[1] **भौतिकार्थ्याच्चतुष्टयम् [व्याख्या ५०.३१ में पाठ भौतिकार्था० है]**

[2] **दूराशुतरवृत्त्यान्ये**

चक्षुरिन्द्रिय और श्रोत्रेन्द्रिय के विषय दूर (१. ४३सी-डी) होते हैं। अतः यह दो से पूर्व उक्त हैं।

इनमें भी चक्षुरिन्द्रिय की वृत्ति श्रोत्रेन्द्रिय की अपेक्षा दूरतर है: क्योंकि दूर से नदी को देखते हैं किन्तु उसका शब्द नहीं सुनते। अतः चक्षुरिन्द्रिय श्रोत्र० से पूर्व उक्त है।

घ्राण और जिह्वा की वृत्ति दूर नहीं है। किन्तु घ्राण की वृत्ति जिह्वा की वृत्ति से आशुतर है। जिह्वा से अप्राप्त भोज्य पदार्थ के गन्ध का ग्रहण घ्राण करता है।

२३ डी. अथवा इन्द्रियों का क्रम उनके आश्रय के अनुसार है।[3]

चक्षुरिन्द्रिय का आश्रय या अधिष्ठान अर्थात् चक्षु, सब से ऊपर है; उसके नीचे श्रोत्रेन्द्रिय का अधिष्ठान है; उसके नीचे घ्राणेन्द्रिय का अधिष्ठान है;

[४५] सब से नीचे जिह्वेन्द्रिय का अधिष्ठान है। कायेन्द्रिय अर्थात् काय का अधिष्ठान अपने समुदाय-रूप में जिह्वा के और नीचे है। मन-इन्द्रिय रूपी नहीं है (१. ४४ ए-बी)।

विशेषणार्थं प्राधान्याद् बहुधर्माग्रसंग्रहात्।
एकमायतनं रूपमेकं धर्माख्यमुच्यते ॥२४॥

रूपस्कन्ध में संगृहीत १० आयतनों में एक ही रूपायतन की आख्या प्राप्त करता है। यद्यपि सब आयतन धर्म हैं तथापि केवल एक धर्म-आयतन कहलाता है। क्यों?

२४. दूसरों से उसे विशेषित (=विभिन्न) करने के लिए, अपनी प्रधानता के कारण, एक ही आयतन रूप-आयतन कहलाता है। दूसरों से उसे विशेषित करने के लिए और इसलिए कि उसमें बहु धर्म और सर्वोत्कृष्ट धर्म संगृहीत हैं केवल एक आयतन धर्म-आयतन कहलाता है।[1]

दस रूपी आयतनों में से (१. १४ए-बी) प्रत्येक आयतन है: विज्ञान-विशेषों के ५ विषयी हैं और ५ विषय हैं। समस्त का एक ही आयतनत्व नहीं है, एक ही विज्ञान-प्रभव नहीं है जिसे रूपायतन कहें।

९ के विशेषणार्थ अपने विशेष नाम हैं: चक्षुरायतन, श्रोत्रायतन, शब्दायतन.........। जो चक्षुरादि ९ से विशेषित है, जिसकी चक्षुरादि संज्ञा नहीं है और जो रूप है वह रूपायतन संज्ञा से जाना जायगा और इसलिए उसको नामान्तर नहीं देते।

---

[3] अथवा [यथाश्रयं] क्रमः ॥

[1] विशेषणार्थं प्राधान्याद् बह्वग्रधर्मसंग्रहात्।
रूपायतनमेवैकम् एकं च धर्मसंज्ञकम् ॥
विभाषा, ७३, १४ ग्यारह युक्तियां गिनाती है जो रूपायतन, धर्मायतन इन आख्याओं को युक्त सिद्ध करती हैं।

किन्तु अन्य ९ आयतन भी आयतन और रूप हैं। फिर रूप-आयतन के नाम के लिए चक्षुरिन्द्रिय का विषय ही क्यों चुना गया? उसकी प्रधानता के कारण । यह रूप है (१) बाधनलक्षणरूपण के कारण: क्योंकि यह सप्रतिघ है; इसमें पाण्यादि-संस्पर्श से 'रूपण' होता है; (२) देशनिदर्शनरूपण के कारण (१. १३, पृ. २५): इसके सम्बन्ध में यह सूचित कर सकते हैं कि यह यहाँ है, वहाँ है; (३) लोक-प्रतीति से: जिसे लोक में 'रूप' कहते हैं वह वर्ण-संस्थान है।

[४६] धर्मायतन को (१. १५ बी-डी) अन्य आयतनों से विशेषित करने के लिए धर्मायतन कहा है। पूर्वोक्त निरूपण के अनुसार इसका भी निर्देश है। इसमें वेदना, संज्ञा आदि बहु धर्म संगृहीत हैं। इसमें सर्वोत्तम धर्म निर्वाण संगृहीत है। इसीलिए प्राधान्य के कारण इसे धर्मायतन यह सामान्य नाम दिया गया है।

एक दूसरे मत के अनुसार[1] रूप रूपायतन कहलाता है क्योंकि इसमें (नीलादि) २० प्रकार संगृहीत हैं, क्योंकि यह मांसचक्षु, दिव्यचक्षु, प्रज्ञाचक्षु (इतिवुत्तक, ६१) इन तीन चक्षुओं का गोचर है।

धर्मस्कन्धसहस्राणि यान्यशीतिं जगौ मुनिः ।
तानि वाङ्नाम वेत्येषां रूपसंस्कारसंग्रहः ॥२५॥

सूत्रों में अन्य स्कन्ध, अन्य आयतन, अन्य धातु वर्णित हैं।

क्या यह पूर्वोक्त स्कन्ध, आयतन, धातुओं में संगृहीत हैं?

२५. जिन ८०,००० धर्मस्कन्धों को मुनि ने कहा है उनका संग्रह रूपस्कन्ध में होता है यदि वह वाक्-स्वभाव के माने जाते हैं और संस्कारस्कन्ध में होता है यदि वह नाम-स्वभाव के माने जाते हैं।[2]

---

[1] यह धर्मत्रात का मत है (नैन्जियो १२८७), १. १७.

[2] धर्मस्कन्धसहस्राणि अशीतिर्यान्यवदन्मुनिः।
तानि वाग् नाम वा तेषां रूपसंस्कारसंग्रहः ॥
वसुमित्र,बहुश्रुतीय, वाद १—देशनास्वभाव, डेमीविल, मिलिन्द ५२-५७, ६२, सिद्धि, ७९५—दशभूमि, ७४: चतुरशीतिक्लेशचरितनानात्वसहस्र. ८४००० में से २००० शारिपुत्र के हैं।
(१) सौत्रान्तिकों के अनुसार बुद्ध-वचन वाग्विज्ञप्ति (४. ३ डी) है; निकायान्तरीय के अनुसार यह नामन् है। आभिधार्मिकों को इष्ट है कि बुद्ध-वचन उभयस्वभाव है। यहां व्याख्या ज्ञानप्रस्थान, १२, १५ (बुद्धिस्ट कास्मालॉजी, पृ. ७ नोट) उद्धृत करती है। [व्याख्या ५२. १५]
(२) एक दूसरे निकाय में सूत्रपाठ है कि ८४००० धर्मस्कन्ध हैं। सूत्र में आनन्द कहते हैं कि "मैंने भगवत् से ८०,००० से अधिक धर्मस्कन्ध उद्गृहीत किए हैं: सातिरेकाणि मेऽशीतिर्धर्मस्कन्धसहस्राणि भगवतोऽन्तिकात् सम्मुखमुद्गृहीतानि। [व्याख्या ५२. २४] (बर्नूफ़, भूमिका पृ. ३४ देखिए; सुमंगलविलासिनी, १. पृ. २४; थेरगाथा १०२४, नागार्जुन के अकुतोभय में प्रज्ञापारमिता, १. ८, अवदानशतक, २. १५५)।

जो दार्शनिक यह कहते हैं कि "बुद्ध-वचन वाक्-स्वभाव है" उनके मत में यह स्कन्ध रूप-स्कन्ध में संगृहीत होते हैं। जो बुद्ध-वचन को नाम-स्वभाव मानते हैं उनके लिए यह स्कन्ध संस्कार-स्कन्ध में संगृहीत होते हैं (२. ३६, ४७ ए-बी)।

शास्त्रप्रमाण इत्येके स्कन्धादीनां कथैकशः।
चरितप्रतिपक्षस्तु धर्मस्कन्धोऽनुवर्णितः ॥२६॥

धर्मस्कन्ध का प्रमाण क्या है?

[४७] २६ ए. कुछ के अनुसार इसका वही प्रमाण है जो शास्त्र का प्रमाण है[1] अर्थात् धर्मस्कन्ध-संज्ञक अभिधर्मशास्त्र का प्रमाण जिसमें ६००० गाथाएं हैं।[2]

२६ बी. स्कन्धादि की एक-एक कथा एक-एक धर्मस्कन्ध है।[3] एक दूसरे मत के अनुसार स्कन्ध, आयतन, धातु, प्रतीत्यसमुत्पाद, आर्यसत्य, आहार, ध्यान, अप्रमाण, आरूप्य, विमोक्ष, अभिभ्वायतन, कृत्स्नायतन, बोधिपक्षिक, अभिज्ञा, प्रतिसंविद्, प्रणिधिज्ञान, अरणा आदि का एक-एक आख्यान (कथा) एक-एक धर्मस्कन्ध है।

२६ सी-डी. वास्तव में प्रत्येक धर्मस्कन्ध एक एक चरित के विनेयजन के प्रतिपक्ष के लिए अनुवर्णित है।[4]

चरित के भेद से (२.२६) सत्त्वों की संख्या ८०,००० है। कोई रागचरित होते हैं, कोई द्वेषचरित, कोई मोहचरित, कोई मानचरित आदि। भगवत् ने ८०,००० धर्मस्कन्ध इन सत्वों के प्रतिपक्ष के लिए वर्णित किये हैं।

तथान्येऽपि यथायोगं स्कन्धायतनधातवः।
प्रतिपाद्या यथोक्तेषु संप्रधार्य स्वलक्षणम् ॥२७॥

यथा धर्मस्कन्ध रूपस्कन्ध या संस्कारस्कन्ध में गृहीत होते हैं

२७. उसी प्रकार अन्य स्कन्ध, आयतन और धातुओं को उनके व्यवस्थापित स्वलक्षण को

[४८] विचारकर पूर्वोक्त स्कन्ध, आयतन और धातुओं में यथायोग प्रविष्ट करना चाहिए।[1]

---

[1] **शास्त्रप्रमाण इत्येके [व्याख्या ५२.२७]**
विभाषा ७४, १०: धर्मस्कन्धशास्त्र में ६००० गाथा हैं।
तकाकुसु का विवरण देखिए, जे० पी० टी० एस० १९०५, पृ. ११२.

[2] **८०,००० धर्मस्कन्ध अन्तर्हित हो गए हैं; केवल एक धर्मस्कन्ध अवशिष्ट है। [व्याख्या ५२.३२]**

[3] **स्कन्धादीनां कथैकशः॥ [व्याख्या ५२.३४]**
यह बुद्धघोष का व्याख्यान है, सुमंगल, १.२४

[4] **चरितप्रतिपक्षस्तु धर्मस्कन्धोऽनुवर्णितः॥ [व्याख्या ५३.५]**

[1] **[तथान्येऽपि यथायोगं स्कंधायतनधातवः]।**
प्रतिपाद्या यथोक्तेषु सुविमृश्य स्वलक्षणम्॥
(धातुसंग्रह में सप्तधातुकसूत्र, विभाषा ८५ पृष्ठ.४३७: विद्याधातु, शुभधातु (?), आकाशानंत्यधातु...... निरोधधातु)

जो अन्य स्कन्ध, आयतन और धातु अन्य सूत्रों में वर्णित हैं उनको भी, इस शास्त्र में व्यवस्थापित अपने अपने स्वभाव के अनुसार, इन्हीं पांच स्कन्ध, १२ आयतन और १८ धातुओं में प्रविष्ट करना चाहिए।

पाँच अनास्रव स्कन्ध हैं—शील (४.१३), समाधि (६.६८), प्रज्ञा (२.२५), विमुक्ति (६.७६ सी), विमुक्तिज्ञानदर्शन : शीलस्कन्ध रूपस्कन्ध में संगृहीत है, शेष संस्कार-स्कन्ध में (संयुत्त, १.९९, दीघ, ३.२७९, धर्मसंग्रह, २३)।

पहले ८ कृत्स्नायतन (८.३५) अलोभ-स्वभाव के होने से धर्मायतन में संगृहीत हैं। यदि सपरिवार इनका विचार करें तो इनका पंचस्कन्ध का स्वभाव है और यह मन-आयतन और धर्मायतन में संगृहीत होंगे।

अभिभ्वायतन (८.३४) भी इसी प्रकार हैं।

अन्तिम दो कृत्स्नायतन और चार आरूप्यायतन (८.२ सी) रूपवर्जित चतुःस्कन्ध-स्वभाव के हैं। यह मन-आयतन और धर्मायतन में संगृहीत हैं।

५ विमुक्त्यायतन[2] (विमुक्ति के आयद्वार) प्रज्ञास्वभाव हैं। इसलिए यह धर्मायतन में संगृहीत हैं। यह सपरिवार शब्दायतन, मन-आयतन और धर्मायतन में संगृहीत हैं।

दो आयतन शेष रहते हैं:[3] १. असंज्ञिसत्व, (२.४१ बी-डी) जो गन्ध-रस को वर्जित कर अन्य १० आयतनों में संगृहीत हैं।

[४९] २. नैवसंज्ञानासंज्ञायतनोपग जो मन-आयतन और धर्मायतन में संगृहीत हैं।

इसी प्रकार बहुधातुक में परिगणित ६२ धातुओं को उनके स्वभाव का विचार करके १८ धातुओं में यथायोग संगृहीत करना चाहिए।[1] पृथिवीधातु, अब्धातु, तेजो०, वायु०, आकाश०, विज्ञान० इन ६ धातुओं में से, जिनका उल्लेख सूत्र[2] (बहुधातुकसूत्र) में है,

अन्तिम दो का लक्षण नहीं कहा गया है। क्या यह समझना चाहिए कि आकाश ही, जो पहला असंस्कृत है, आकाशधातु है (१.५ सी)? क्या सर्व विज्ञान (१.१६) विज्ञानधातु है?

---

[2] व्याख्या [५४.१] एक सूत्र उद्धृत करती है जिसका पाठ दीघ, ३.२४१ और अंगुत्तर, ३.२१ से कम विस्तृत है।
विमुक्तयायतनम्=विमुक्तेरायद्वारम्।

[3] रूपिणः सन्ति सत्वा असंज्ञिनोऽप्रतिसंज्ञिनः तद् यथा देवा असंज्ञिसत्वाः। इदं प्रथममायतनम्। अरूपिणः सन्ति सत्वाः सर्वश आकिंचन्यायतनम् समतिक्रम्य नैवसंज्ञानासंज्ञायतनं उपसम्पद्य विहरन्ति। तद्यथा देवा नैवसंज्ञानासंज्ञायतनोपगाः। इदं द्वितीयं आयतनम्। [व्याख्या ५५.९]

[1] यह ६२ दृष्टियों के प्रतिपक्ष हैं (विभाषा, ७१, ६)—
बहुधातुक (मध्यम, ४८, १६, धर्मस्कन्ध, अध्याय २०) मज्झिम, ३.६१ (४१ धातु) के अति समीप है। असंग, सूत्रालंकार, ३.२ से तुलना कीजिए।

छिद्रमाकाशधात्वाख्यमालोकतमसी किल।
विज्ञानधातुर्विज्ञानं सास्रवं जन्मनिश्रयः।।२८।।

२८ ए-बी. छिद्र को आकाशधातु की आख्या देते हैं। कहते हैं कि यह आलोक और तम है।[3]

द्वार, गवाक्षादि का छिद्र वाह्य आकाशधातु है; मुख, नासिकादि का छिद्र आध्यात्मिक आकाशधातु है।[4]

वैभाषिक के अनुसार (किल) छिद्र या आकाशधातु आलोक और तम है—अर्थात् वर्ण [५०] का, रूप का (१.९ बी) एक प्रकार है क्योंकि छिद्र की उपलब्धि आलोक और तम से पृथक् नहीं है। आलोक-तम के स्वभाव का होने से छिद्र रात्रि-दिन के स्वभाव का होगा।[1] छिद्र अघ-सामन्तक रूप कहलाता है (विभाषा, ७५, ९)। कहते हैं कि नैरुक्त विधि से 'अघ' का अर्थ 'अत्यर्थं हननात्' है अर्थात् 'क्योंकि यह अत्यंत अभिघात करता है और अभिहत होता है।'[2] अतः 'अघ' का अर्थ संघातस्थ, संचित रूप है। छिद्र अघ का सामन्तक रूप है।

एक दूसरे मत के अनुसार, हमारे अनुसार, 'अघ' का अर्थ है 'प्रतिघात से रहित (अ-घ)'।

---

२ यहां वह सूत्र इष्ट है जो आश्रय के धातुओं का निर्देश करता है: षड्धातुरयम् भिक्षो पुरुषः। वसुबन्धु गर्भावक्रान्तिसूत्र के नाम से उसको उद्धृत करते हैं (१.३५)। (विनयसंयुक्तकवस्तु, § ११, नैनजियो, ११२१; रत्नकूट, अध्याय १४, नैनजियो, २३.१५।)
मज्झिम में इस सूत्र को धातुविभंगसुत्त (३.२३९) कहा है। यह पितापुत्रसमागम का एक प्रभव है जिसके उद्धरण शिक्षासमुच्चय, पृ० २४४, बोधिचर्यावतार, ९. ८८, मध्यमकावतार, पृ० २६९ में पाए जाते हैं।
पृ०२३, नोट १, पृ० ६३, नोट १ और २.२३ सी-डी की टिप्पणी में उद्धृत प्रकरणपाद देखिए। ६ धातुओं पर अंगुत्तर, १. १७६, विभंग, पृष्ठ ८२-८५, अभिधर्महृदय, ८.७ देखिए।

३ [छिद्रमाकाशधात्वाख्यम्] आलोकतमसी किल। [व्याख्या ५७.१२]

४ धर्मस्कन्ध, अध्याय २०, विभाषा, ७५, ८—विभाषा, ७५ पृष्ठ ३८८, कालम २, धर्मस्कन्ध, १० पृ० ५०३, कालम २।
विभंग, पृ० ८४ में यही लक्षण है: कतमा अज्झत्तिका आकासधातु? यं अज्झत्तं पच्चत्तं आकासो आकासगतं अघं अघगतं विवरो विवरगतं।.....कण्णच्छिद्दं नासच्छिद्दं.....

१ फू-कुआंग (को-की, १७): "यह दिखाने के लिए कि यह वर्ण-प्रकार और वस्तुसत् है कोई आकाशधातु को आलोक और तमस् बताते हैं। आचार्य का यह मत नहीं है कि आकाशधातु वस्तुसत् है। इसलिए वह 'किल' शब्द जोड़ते हैं।" वसुबन्धु और सौत्रान्तिक आकाशधातु को सप्रतिघ द्रव्य का अभाव मात्र मानते हैं। २.५५ सी-डी देखिए।
विभाषा, ७५, ९: आकाश और आकाशधातु में क्या भेद है? पहला अरूपी, अनिदर्शन, अप्रतिघ, अनास्रव, असंस्कृत है; दूसरा रूपी......

२ व्याख्या के पेट्रोग्राड संस्करण में 'आघ' पाठ है: आघं किल चितस्थं रूपं इति चितस्थं संघातस्थम्। अत्यर्थम् हन्ति हन्यते चेत्याघम्।...... (जापानी संस्करण का पाठ अघ है, ५७.१६) अत्यर्थशब्दस्य आकारादेशः कृतो हन्तेश्च घादेशः। किन्तु बर्नूफ़ की पाण्डुलिपि का पाठ अघम्.......अकारादेशः है; ३.७२ की व्याख्या में अघ=चितस्थरूप; महाव्युत्पत्ति, २४५, १६२.

छिद्र 'अघ' है क्योंकि अन्य रूप का वहां प्रतिघात नहीं होता। यह अन्य रूप का सामन्तक भी है। अतः यह अघ और सामन्तक है।

२८ सी-डी. विज्ञानधातु सास्रव विज्ञान है क्योंकि यह जन्म-निश्रय है।[3] सास्रव विज्ञान अर्थात् वह चित्त जो मार्ग में संगृहीत नहीं है। सूत्र में (पृ. ४९, नोट २) छः धातु जन्म के निश्रय, जन्म के आधारभूत, अर्थात् प्रतिसन्धि-चित्त से लेकर यावत् मरण-चित्त सर्व भव के आधारभूत बताये गये हैं।

[५१] अनास्रव धर्म जन्म, भव के प्रतिपक्ष हैं। अतः ५ विज्ञानकाय जो सदा सास्रव हैं और मनोविज्ञान जब वह सास्रव होता है, विज्ञानधातु हैं (विभाषा, ७५, ११)।

इन षड् धातुओं में से पहले चार स्प्रष्टव्यधातु में संगृहीत हैं, पाँचवाँ रूपधातु में और छठा १.१६ सी में परिगणित सप्त धातुओं में संगृहीत है।

सनिदर्शन एकोऽत्र रूपं सप्रतिघा दश।
रूपिणोऽव्याकृता अष्टौ त एवारूपशब्दकाः ॥२९॥

१८ धातुओं में कितने सनिदर्शन हैं?

२९ ए-बी. केवल एक रूपधातु सनिदर्शन है।[1]

हम उसका देश निर्दिष्ट कर सकते हैं: यहाँ है, वहाँ है। शेष धातु अनिदर्शन हैं।

कितने धातु सप्रतिघ हैं? कितने अप्रतिघ हैं?

२९ बी-सी. दस धातु जो रूपी ही हैं, सप्रतिघ हैं।[2]

दस धातु जो रूपस्कन्ध में संगृहीत हैं सप्रतिघ हैं।[3]

१. प्रतिघात या अभिघात ३ प्रकार का है: आवरणप्रतिघात, विषयप्रतिघात, आलम्बन-प्रतिघात (विभाषा, ७६, ३)।

ए. आवरण-प्रतिघात—यह काय का वह गुण है जो स्वदेश में परवस्तु की उत्पत्ति में प्रतिबन्ध है, सप्रतिघत्व। जब हाथ, हाथ या उपल को प्रतिघात करता है, जब उपल हाथ या उपल को प्रतिघात करता है तो यह अभ्याहत, प्रतिहत होता है (प्रतिहन्यते)।

[५२] बी. विषय-प्रतिघात—विषय से विषयी का आघात। प्रज्ञप्ति के अनुसार[1] "एक चक्षु है, एक चक्षुरिन्द्रिय है जो जल से प्रतिहत, अभ्याहत होता है, शुष्क वस्तु से नहीं, अर्थात् मत्स्य का चक्षु। एक चक्षु है जो शुष्क वस्तु से प्रतिहत होता है, जल से नहीं, अर्थात् (कैवर्तों को छोड़कर) प्रायः मनुष्यों का चक्षु। एक चक्षु

---

[3] **[विज्ञानधातुर्विज्ञानं सास्रवं] जन्मनिश्रयः। [व्याख्या ५७.२५]**

[1] **सनिदर्शन एकोऽत्र रूपम् [व्याख्या ५८.४]**

[2] **सप्रतिघा दश। रूपिणः—ऊपर पृष्ठ २४ और आगे देखिए।**

[3] **धर्मधातु का निरास है: इसमें अविज्ञप्ति-रूप जो अप्रतिघ है उसका सद्भाव है।**

[1] **कारणप्रज्ञप्तिशास्त्र का विवरण बुद्धिस्ट कास्मालॉजी पृ० ३३९ में देखिए।**

है जो उभय से प्रतिहत होता है, अर्थात् शिशुमार, कर्कटक, मण्डूक, कैवर्त का चक्षु। एक चक्षु है जो दोनों में से किसी से भी नहीं प्रतिहत होता अर्थात् जो इन पूर्व प्रकारों में से नहीं है (यथा उनका चक्षु जिनकी गर्भ में नियत मृत्यु होती है)। एक चक्षु है जो रात्रि से प्रतिहत होता है अर्थात् तित्तिल, उलूकादि का चक्षु। एक चक्षु है जो दिन से प्रतिहत होता है, अर्थात् (चौर मनुष्य आदि को छोड़कर) प्रायेण मनुष्यों का चक्षु। एक चक्षु है जो रात्रि और दिन दोनों से प्रतिहत होता है, अर्थात् श्वान, शृगाल, अश्व, व्याघ्र, मार्जार आदि का चक्षु। एक चक्षु है जो रात्रि या दिन किसी से भी प्रतिहत नहीं होता, अर्थात् वह चक्षु जो पूर्ववर्णित आकार का नहीं है।"[२]

सी. आलम्बन-प्रतिघात—चित्त-चैत्त का स्वालंबन के साथ आघात (२.६२ सी)।

विषय और आलम्बन में क्या भेद है ?

'विषय' से वह स्थान अभिप्रेत है जहां इन्द्रिय का दर्शन, श्रवण आदि कारित्र (=क्रिया, व्यापार) होता है। आलम्बन उसे कहते हैं जिसका चित्त-चैत्त से ग्रहण होता है। अतः चित्त-चैत्त के आलंबन और विषय दोनों होते हैं किंतु चक्षु, श्रोत्रादि के विषय ही होते हैं। विषय और आलम्बन के प्रति इन्द्रिय और चित्त की प्रवृत्ति और कारित्र को प्रतिघात क्यों कहते हैं ?

क्योंकि विषय से परे इन्द्रिय की प्रवृत्ति या उसका कारित्र नहीं होता : इसलिए वह विषय से प्रतिहत होता है [लोक में कहते हैं कि सत्व कुड्य से प्रतिहत होता है क्योंकि उसके परे उसकी 'अप्रवृत्ति' होती है]। अथवा यहाँ 'प्रतिघात' का अर्थ 'निपात', 'निपतन' है : यह इन्द्रिय की स्वविषय में प्रवृत्ति (=कारित्र) है।

[५३] २. जब हम कहते हैं कि १० धातु सप्रतिघ हैं, प्रतिघात-स्वभाव हैं तो हमारा अभिप्राय आवरण-प्रतिघात से होता है। यह वह काय हैं जिनका अन्योन्य प्रतिघात हो सकता है, जो अन्योन्य सप्रतिघ हैं।

३. प्रश्न है कि क्या विषय-प्रतिघातवश सप्रतिघ धर्म आवरण-प्रतिघातवश भी सप्रतिघ हैं।

यह चतुष्कोटिक प्रश्न है : १. सप्त चित्तधातु (१. १६ सी) और धर्मधातु का एक प्रदेश अर्थात् संप्रयुक्त (२. २३) केवल विषय-प्रतिघातवश सप्रतिघ हैं; २. रूपादि (१.९) पंच विषय केवल आवरण-प्रतिघातवश सप्रतिघ हैं; ३. चक्षुरादि (१.९) पाँच इन्द्रिय इन दोनों प्रतिघातों से सप्रतिघ हैं; ४. धर्मधातु का एक प्रदेश अर्थात् विप्रयुक्त (२. ३५) सप्रतिघ नहीं है।

प्रश्न है कि क्या विषय-प्रतिघातवश सप्रतिघ धर्म आलम्बन-प्रतिघातवश भी सप्रतिघ है —प्रश्न के पश्चाद् भाग का ग्रहण कर उत्तर देते हैं (पश्चात्पादक) : जो धर्म आलम्बन-प्रतिघातवश सप्रतिघ हैं वह विषय-प्रतिघातवश भी सप्रतिघ हैं। किन्तु ऐसे धर्म हैं जो आलम्बन-

---

[२] संयुत्त, ४.२०१ से तुलना कीजिए: पुथुज्जनो चक्खुस्मिं हञ्ञति मनापामनापेहि रूपेहि।

प्रतिघातवश सप्रतिघ हुए बिना ही विषय-प्रतिघातवश सप्रतिघ हैं अर्थात् ५ इन्द्रिय। [व्याख्या ५९.१७]

४. भदन्त कुमारलाभ कहते हैं : "वह सप्रतिघ कहलाता है जहां अन्य [काय] मनस् की उत्पत्ति का प्रतिघात कर सकता है। इसका विपर्यय अप्रतिघ है।"[1]

१८ धातुओं में कितने कुशल, अकुशल, अव्याकृत (४. ८, ९, ४५) हैं ?

[५४]२९ सी-डी. ८ धातु अव्याकृत हैं अर्थात् रूप और शब्दको वर्जित कर पूर्वोक्त शेष।[1]

१० सप्रतिघ (१.२९ बी-सी) धातुओं में से रूप और शब्दको वर्जित कर शेष अर्थात् ८ धातु– ५ रूपी इन्द्रिय, गन्ध, रस और स्प्रष्टव्य—अव्याकृत हैं क्योंकि उनका कुशल-अकुशल भाव नहीं कहा गया है अथवा, एक दूसरे मतके अनुसार, क्योंकि विपाक की दृष्टि से उनका व्याकरण नहीं हुआ है।

त्रिधान्ये कामधात्वाप्ताः सर्वे रूपे चतुर्दश।
विना गन्धरसघ्राणजिह्वाविज्ञानधातुभिः ॥३०॥

३० ए. अन्य त्रिविध हैं।[2] अन्य धातु यथायोग कुशल, अकुशल, अव्याकृत हैं।

१. सप्त धातु (चित्तधातवः, १.१६ सी) कुशल होते हैं जब वह तीन कुशल-मूल [४.८] से संप्रयुक्त होते हैं, अकुशल होते हैं जब वह अकुशल-मूल से संप्रयुक्त होते हैं; अन्य अव्याकृत होते हैं।[3]

२. धर्मधातु (१.१५ सी-डी) में (१) कुशलमूल, इन मूलों से संप्रयुक्त धर्म, इन मूलों से समुत्थित धर्म, प्रतिसंख्यानिरोध या निर्वाण; (२) अकुशलमूल, इन मूलों से संप्रयुक्त धर्म, इन मूलों से समुत्थित धर्म; और (३) अव्याकृत धर्म यथा आकाश, संगृहीत हैं।

३. रूपधातु और शब्दधातु जब कुशल चित्त से समुत्थित कायिक या वाचिक कर्म (४. २६, ३ डी) होते हैं तब वह कुशल हैं, जब अकुशल चित्त से होते हैं तब अकुशल हैं। अन्य अवस्थाओं में यह अव्याकृत हैं।

कामधातु, रूपधातु, आरूप्यधातु में (३.१-३) १८ धातुओं में से कितने धातु होते हैं ?

---

[1] अर्थात् जो मनस् नील विषय और चक्षु आश्रय को लेकर उत्पन्न होता है उसकी उत्पत्ति चक्षु और नील के बीच परकाय के अन्तरावरण से प्रतिहत हो सकती है : चक्षु और नील अतः सप्रतिघ हैं। इसके विपरीत न मनोधातु जिसकी वृत्ति मनो-विज्ञान के इन्द्रिय की है और न धर्मधातु जो मनोविज्ञान का स्वालम्बन है (यथा वेदना) सप्रतिघ हैं : धर्मधातु के प्रति मनोधातु से मनोविज्ञान की उत्पत्ति में कोई अन्तरावरण नहीं कर सकता। यत्रोत्पित्सोर्मनसः प्रतिघातः शक्यते (परैः) कर्तुम्। तदेव सप्रतिघं तद्विपर्ययादप्रतिघमिष्टम्।

[1] अव्याकृता अष्टौ ते रूपशब्दवर्जिताः [व्याख्या ६०.५]।—२.९ ए देखिए; विभाषा, ५१, ३; १४४, ४.

[2] त्रिधाऽन्ये [व्याख्या ६०.१०]

[3] महीशासकों का मत है कि पहले चार विज्ञान सदा अव्याकृत होते हैं और कायविज्ञान और मनोविज्ञान तीन प्रकार के होते हैं। सिद्धिमें इस प्रश्न पर विचार किया गया है।

३० ए-बी. कामधातु में सब होते हैं।[४]

[५५] सब धातु कामधातु से संप्रयुक्त हैं, प्रतिबद्ध हैं, कामधातु से विसंयुक्त नहीं हैं (विभाषा, १४५, १४)।

३० बी-डी. रूपधातु में गन्ध, रस, घ्राणविज्ञान, जिह्वाविज्ञान को वर्जित कर चतुर्दश।[१]

१. वहाँ गन्ध और रस का अभाव है क्योंकि यह कवलीकार आहार है (३.३९) और रूपधातु में कोई ऐसा आश्रय उपपन्न नहीं होता जो इस आहार से विरक्त न हो। गन्ध और रस के अभाव के कारण घ्राणविज्ञान और जिह्वाविज्ञान का भी अभाव होता है।

आक्षेप—स्प्रष्टव्यधातु का भी वहां अभाव होगा क्योंकि यह भी कवलीकार आहार है। नहीं, क्योंकि स्प्रष्टव्यधातु एकान्ततः आहार नहीं है। रूपधातु में वह स्प्रष्टव्यधातु होता है जो आहार नहीं है।

आक्षेप—गन्ध और रस में भी यह प्रसंग होता है।

नहीं। स्प्रष्टव्य की परिविष्टि आहार के अतिरिक्त भी है। इसका इन्द्रियाश्रयभाव है, इसका आधारभाव है, इसका प्रावरणभाव है। आहाराभ्यवहार से अन्यत्र गन्ध और रस का कोई परिभोग नहीं है। जो सत्व आहार से विरक्त हैं उनके लिए इनका कोई प्रयोजन नहीं है।

२. श्रीलाभ [व्या० ६१.४, श्रीलात] एक भिन्न अर्थ देते हैं। जब कामधातु का सत्व समापत्ति-समापन्न, ध्यान-समापन्न होता है तब वह रूप देखता है, शब्द श्रवण करता है, उसका काय ध्यानोत्पादित (८.९ बी) प्रश्रब्धि (कायकर्मण्यता) से सहगत स्प्रष्टव्यविशेष से अनुगृहीत होता है। इससे हम यह परिणाम निकाल सकते हैं कि रूपधातु के देवनिकायों में, जिनको उपपत्तिध्यान (३.२, ८.१) कहते हैं, रूप, शब्द, स्प्रष्टव्य होते हैं किंतु गन्ध और रस नहीं होते।

[५६] ३. हमारा निश्चय है कि यदि रूपधातु में गन्ध और रस का अभाव है तो घ्राणेन्द्रिय और जिह्वेन्द्रिय का भी वहाँ अभाव होना चाहिए क्योंकि यह निष्प्रयोजन हैं। अतः रूप-धातु में केवल १२ धातु होते हैं।

१. वैभाषिकदेशीय का प्रतिविधान—रूपधातु में घ्राणेन्द्रिय और जिह्वेन्द्रिय का प्रयोजन है क्योंकि इनके बिना शरीर-शोभा और वाग्विज्ञप्ति न होगी।

---

[४] कामधात्वाप्ताः सर्वे [व्याख्या ६०.२६]
जो धर्म किसी धातु में परियापन्न नहीं हैं, जो अधातुपतित हैं (अधात्वाप्त-अपरियापन्न) वह असंस्कृत और अनास्रव हैं।

[१] रूपे चतुर्दश। विना गन्धरसघ्राणजिह्वाविज्ञानधातुभिः॥ [व्याख्या ६०.२९]। २.१२ में इस प्रश्न का पुनः विचार किया गया है।
कथावत्थु, ८.७ से तुलना कीजिए।

यदि प्रयोजन है तो घ्राणेन्द्रिय-रूपप्रसाद के अधिष्ठान नासिका से आश्रय-शोभा होती ह, इन्द्रिय-रूपप्रसाद (१.४४) से नहीं; जिह्वेन्द्रिय के अधिष्ठान जिह्वा से, न कि जिह्वेन्द्रिय-रूपप्रसाद से, वचन होता है।

वैभाषिकदेशीय—नासिका तथा जिह्वा जो इन्द्रिय के अधिष्ठान हैं अनिन्द्रिय नहीं हो सकते। कोई नासिका या जिह्वा नहीं है जिसमें घ्राणेन्द्रिय या जिह्वेन्द्रिय के रूप-प्रसाद का अभाव हो। यथा पुरुषेन्द्रिय का अधिष्ठान सदा पुरुषेन्द्रिय नामक (१.४४ ए, २.२सी-डी) कायेन्द्रिय-विशेष से समन्वागत होता है।

पुरुषेन्द्रिय के अभाव में पुरुषेन्द्रिय के अधिष्ठान का न होना युक्त है क्योंकि इस इन्द्रिय के बिना वह निष्प्रयोजन है। किन्तु घ्राण और जिह्वेन्द्रिय से पृथक् भी इनके अधिष्ठान का प्रयोजन है। अतः इन्द्रिय के बिना भी घ्राण और जिह्वेन्द्रिय के अधिष्ठान का रूपधातु में संभव है। अतः रूपधातु में १२ ही धातु होते हैं।

२. वैभाषिक का उत्तर—बिना प्रयोजन के भी इन्द्रिय की उत्पत्ति हो सकती है, यथा गर्भ में जिनकी नियत मृत्यु होती है उनकी इन्द्रियों की अभिनिर्वृत्ति निष्प्रयोजन होती है। हो सकता है कि एक इन्द्रिय की अभिनिर्वृत्ति निष्प्रयोजन हो किन्तु यह निर्हेतुक नहीं होती। इन्द्रिय-विशेष के प्रति तृष्णा से आहृत कर्म-विशेष के अतिरिक्त इन्द्रियाभिनिर्वृत्ति का अन्य हेतु क्या हो सकता है? किन्तु जो विषय से, गन्ध से, वितृष्ण है वह नियतरूपेण इन्द्रिय से, घ्राणेन्द्रिय से भी वितृष्ण होता है। अतः कोई हेतु नहीं है जिससे रूपधातु में उपपन्न सत्वों में घ्राणेन्द्रिय और जिह्वेन्द्रिय का प्रादुर्भाव हो क्योंकि यह सत्व गन्ध और रस से वितृष्ण हैं। अथवा आप बतावें कि रूपधातु में पुरुषेन्द्रिय की अभिनिर्वृत्ति क्यों नहीं होती?

[५७] वैभाषिक का उत्तर—पुरुषेन्द्रिय अशोभा का हेतु है (२.१२)।

उनमें क्या यह शोभा नहीं देता जो महापुरुषों के लक्षण से समन्वागत होते हैं?[1] पुनः प्रयोजनवश पुरुषेन्द्रिय की उत्पत्ति नहीं होती किन्तु स्वकारण से होती है। कारण के होने पर यह अवश्य उत्पन्न होगी, चाहे यह अशोभाकर क्यों न हो।

३. सूत्र-प्रमाण। वैभाषिक के अनुसार यह पक्ष कि रूपधातु में घ्राणेन्द्रिय—जिह्वेन्द्रिय अविद्यमान हैं सूत्र के विरुद्ध हैं। सूत्र[2] की शिक्षा है कि रूपावचर सत्त्व अहीनेन्द्रिय, अविकलेन्द्रिय होते हैं। वह कभी काण या कुण्ठ नहीं होते (३.९८ ए)।

यह सूत्र कहता है कि रूपावचर सत्त्व की वह इन्द्रियाँ अविकल होती हैं जो रूपधातु में होती हैं। यदि वैभाषिक सूत्रार्थ का इस प्रकार परिग्रह नहीं करते तो इन सत्त्वों का पुरुषेन्द्रिय-संभव भी मानना होगा।

४. वैभाषिक का उत्तर और निष्कर्ष।

---

[1] **कोशगतवस्तिगुह्य [व्याख्या ६२.१९]**
[2] **दीघ, १. ३४, १८६ से तुलना कीजिए।**

यद्यपि गन्ध-रस का वहाँ अभाव है तथापि रूपधातु में घ्राणेन्द्रिय-जिह्वेन्द्रिय होते हैं।

वास्तव में जो सत्त्व गन्ध से वितृष्ण है वह स्वसन्तान (आत्मभाव) में संगृहीत घ्राणेन्द्रिय के प्रति तृष्णा रखता है। षडायतन (६ ज्ञानेन्द्रिय) के प्रति तृष्णा का समुदाचार इन षडिन्द्रियों के आलम्बनवश नहीं, किन्तु आत्मभावमुखेन, होता है। अतः यद्यपि सत्त्व गन्ध-रस से वितृष्ण हो तथापि घ्राणेन्द्रिय-जिह्वेन्द्रिय की उत्पत्ति सहेतुक है।

पुरुषेन्द्रिय के लिए ऐसा नहीं है। इस इन्द्रिय के प्रति तृष्णा मैथुन-स्पर्श-मुखेन प्रवृत्त होती है। किन्तु रूपधातु में पुनरुपपन्न सत्त्व मैथुन-स्पर्श से वीतराग हैं। अतः पुरुषेन्द्रिय के प्रति तृष्णा से आहृत कर्म उन्होंने नहीं किया है। अतः रूपधातु में पुरुषेन्द्रिय नहीं होती।[3]

आरूप्याप्ता मनोधर्ममनोविज्ञानधातवः।
सास्रवानास्रवा एते त्रयः शेषास्तु सास्रवाः॥३१॥

[५८] ३१ ए-बी. आरूप्यधातु में मनोधातु, धर्मधातु, मनोविज्ञानधातु होते हैं।[1] आरूप्य में रूप से वीतराग सत्त्वों की उपपत्ति होती है। अतः आरूप्य में ५ इन्द्रिय और उनके आलम्बन, यह १० रूपी धातु और ५ विज्ञानधातु, जिनके आश्रय और आलम्बन रूपी धातु हैं, नहीं होते (८.३ सी)।

कितने धातु सास्रव हैं? कितने अनास्रव हैं?

३१ सी-डी. यह तीन धातु सास्रव या अनास्रव हैं।[2]

जब यह मार्गसत्य या असंस्कृत में संगृहीत हैं तब यह अनास्रव हैं; विपरीत अवस्था में सास्रव हैं (१.४)।

३१ डी. शेष सास्रव हैं।[3]

---

[3] विभाषा, १४५, १२: क्या रूप धातु में पुरुषेन्द्रिय और स्त्रीन्द्रिय होते हैं? वहां न पुरुषेन्द्रिय, न स्त्रीन्द्रिय होते हैं। प्रथम मत—क्योंकि इन इन्द्रियों के प्रहाण की इच्छा है इसलिए ध्यानों की भावना होती है और योगी रूपधातु में पुनरुपपन्न होता है। यदि रूपावचर सत्त्व इन इन्द्रियों से समन्वागत होते तो सत्त्व इस धातु में उपपन्न होना न चाहता। दूसरा मत—इन इन्द्रियों की उत्पत्ति औदारिक आहार (३.३९) से होती है। सूत्र (३.९८ सी) वास्तव में कहता है कि प्रथमकाल्पिक मनुष्य इन इन्द्रियों से समन्वागत नहीं होते और सब की एक ही सी आकृति होती है। पश्चात् जब वह भूमि के रस का पान करते हैं तो दो इन्द्रियां उत्पन्न होती हैं, पुरुष-स्त्री के विशेष का प्रादुर्भाव होता है। औदारिक आहार के अभाव में इन दो इन्द्रियों का अभाव होता है। तृतीय मत—कामधातु में इन दो इन्द्रियों का प्रयोजन है; रूपधातु में नहीं है। अतः रूपधातु में इनका अभाव है......। कामावचर देवों के विषय में ३.७० देखिए।

[1] आरूप्याप्ता मनोधर्ममनोविज्ञानधातवः। [व्याख्या ६३.११]

[2] सास्रवानास्रवा एते त्रयः। [व्याख्या ६३.२१]

[3] शेषास्तु सास्रवाः॥ [व्याख्या ६३.२३]

सवितर्कविचारा हि पंचविज्ञानधातवः।
अन्त्यास्त्रयस् त्रिप्रकाराः शेषा उभयवर्जिताः॥३२॥

अन्य धातु जिनकी संख्या १५ है केवल सास्रव हैं।[४]

[५९] कितने धातु सवितर्क-विचार हैं, कितने अवितर्क-सविचार हैं, कितने अवितर्क-अविचार हैं?[१]

३२ ए-बी. पाँच विज्ञानधातु सदा सवितर्क-सविचार होते हैं।[२] यह सदा सवितर्क-सविचार होते हैं क्योंकि बहिर्मुखवृत्ति होने से यह औदारिक हैं। 'हि' शब्द जिसका अर्थ 'सदा' है अवधारणार्थ है: यह धर्म एकान्ततः सवितर्क-सविचार हैं।

३२ सी. अन्तिम तीन धातु तीन प्रकार के हैं।[३]

यह धातु मनोधातु, धर्मधातु, मनोविज्ञानधातु हैं।

१. कामधातु और प्रथम ध्यान में (८.७, ११) (१) मनोधातु, (२) मनोविज्ञानधातु और (३) विर्तक-विचार से अन्यत्र संप्रयुक्त धर्मधातु (धर्मधातु का वह प्रदेश जो चित्त से संप्रयुक्त है २.२३) सवितर्क-सविचार हैं।

२. ध्यानान्तर में (८.२२ डी) यह अवितर्क हैं, विचार के संप्रयोग से विचारमात्र हैं।

३. द्वितीय भूमि से लेकर यावद् भवाग्र (नैवसंज्ञानासंज्ञायतन) यह अवितर्क-अविचार (८.२३ सी-डी) हैं।

४. सर्व असंप्रयुक्त धर्मधातु (धर्मधातु का वह प्रदेश जो चित्त से विप्रयुक्त (२.३५) है) और ध्यानान्तर का विचार अवितर्क-अविचार हैं।

---

[४] महासांघिक और सौत्रान्तिकों का मत है कि बुद्धकाय अनास्रव है (४.४ ए-बी में अविज्ञप्ति का विवाद देखिए) [कथावत्थु ४.३, १४.४ से तुलना कीजिए]। विभाषा ४४, पृ. २२९, कालम १; ७६ पृ. ३९१; १८३ पृ. ८७१, कालम. ३; (सिद्धि, ७७० देखिए): कुछ वादियों का मत है कि बुद्ध-काय अनास्रव है। यह महासांघिक हैं। इनका कहना है कि "आगम कहता है कि तथागत लोक से अवलिप्त नहीं होते। वह लौकिक नहीं हैं, वह संक्लिष्ट नहीं हैं। अतः हम जानते हैं कि बुद्ध-काय अनास्रव है।' इस मत का प्रतिषेध करने के लिए यह दिखाते हैं कि बुद्ध-काय सास्रव है। यह कहना कि यह अनास्रव है सूत्र का विरोध करना है।

बुद्धकाय अनास्रव नहीं है क्योंकि यह परक्लेश का प्रत्यय हो सकता है। विभाषा, १७३, ९: बुद्धकाय अविद्या और तृष्णा का फल है। अतः यह अनास्रव नहीं है। सूत्र कहता है कि साकल्येन १० आयतन (चक्षुरिन्द्रिय...... रूप......) और दो आयतन के प्रदेश (मन आयतन, धर्म) सास्रव हैं......। यदि बुद्धकाय अनास्रव होता तो स्त्रियों को उनके लिए कामराग न होता; दूसरों में वह राग, द्वेष, विक्षेप, मद......का उत्पाद न करते।

व्याख्या पृ० १४ से तुलना कीजिए; ऊपर पृष्ठ ६ देखिए।

[१] विभंग, ९७, ४३५ में यही प्रश्न है—वितर्क और विचार का लक्षण २.२८, ३३ में है।

[२] सवितर्कविचारा हि पंचविज्ञानधातवः। [व्या० ६३.२८]

[३] अन्त्यास्त्रयस्त्रिप्रकाराः [व्या० ६३.३०]

[६०] ५. वितर्क सदा विचार-सहगत होता है। यह सदा अवितर्क है क्योंकि दो वितर्कों का सहभाव असंभव है।

किन्तु कामधातु और प्रथम ध्यान का विचार तीन प्रकारों में से किसी में भी अन्तर्भूत नहीं होता। वास्तव में यह सदा वितर्क से संप्रयुक्त होता है और यह कभी विचार-सहगत नहीं होता अर्थात् अविचार-वितर्क मात्र होता है क्योंकि दो विचारों का सहभाव संभव नहीं है।

अतः हम कहेंगे कि जो भूमियाँ सवितर्क-सविचार (८.७) हैं उनमें चार प्रकार हैं: १. वितर्क-विचारवर्जित चित्त-संप्रयुक्त धर्म सवितर्क-सविचार हैं। २. वितर्क अवितर्क-सविचार है। ३. चित्त-विप्रयुक्त धर्म अवितर्क-अविचार हैं। ४. विचार अविचार-सवितर्क है।

३२ डी. अन्य धातु उभयवर्जित हैं।[1]

अन्य धातु १० रूपी धातु हैं। चित्त से संप्रयुक्त न होने के कारण वह अवितर्क-अविचार हैं।

निरूपणानुस्मरणविकल्पेनाविकल्पकाः।
तौ प्रज्ञा मानसी व्यग्रा स्मृतिः सर्वैव मानसी ।।३३।।

किन्तु पाँच विज्ञानकाय सदा सवितर्क-सविचार होते हैं। वह अविकल्पक कैसे कहे जाते हैं?

३३ ए-बी. वह अविकल्पक हैं क्योंकि वह निरूपणाविकल्प और अनुस्मरण-विकल्प से रहित हैं।[2] (कोश ३.१०९, ४.३९; सिद्धि, २८२, ३८९-३९१)

वैभाषिक[3] के अनुसार विकल्प त्रिविध है: स्वभावविकल्प, निरूपणाविकल्प, अनुस्मरण-विकल्प।[4]

[६१] पाँच विज्ञानकायों में प्रथम प्रकार का विकल्प होता है किन्तु अन्य दो विकल्प नहीं होते।[1] इसीलिए कहते हैं कि वह अविकल्पक हैं यथा एक पैर के घोड़े को अपादक

---

[1] शेषा उभयवर्जिताः।। [व्या० ६४.१८]

[2] [निरूपणानुस्मरणविकल्पादविकल्पकाः] इस वचन के अनुसार इन्हें अविकल्पक कहते हैं: चक्षुर्विज्ञान-समंगी नीलं विजानाति नो तु नीलमिति [व्या० ६४.२२] (ऊपर पृ० २८, टिप्पणी १ देखिए)

[3] किल—यह वैभाषिक मत है। सूत्र से इसका समर्थन नहीं होता। वसुबन्धु के मत का व्याख्यान आगे २.३३ में है। वसुबन्धु और सौत्रान्तिक के लिए वितर्क और विचार चित्त, मनोविज्ञान हैं।

[4] विभाषा, ४२, १४: स्वभावविकल्प वितर्क-विचार है; अनुस्मरणविकल्प मनोविज्ञान-संप्रयुक्त स्मृति है। निरूपणाविकल्प मनोविज्ञानविषयक असमाहित प्रज्ञा है। कामधातु में ५ विज्ञानकायों का केवल प्रथम प्रकार का विकल्प है। इनमें स्मृति होती है किन्तु अनुस्मरणविकल्प नहीं होता, क्योंकि वह प्रत्यभिज्ञान में समर्थ नहीं है। इनमें प्रज्ञा होती है किन्तु निरूपणा-विकल्प नहीं होता क्योंकि यह निरूपणा में समर्थ नहीं है। न्यायानुसार: स्वभावविकल्प का स्वभाव वितर्क है।

[1] पांच विज्ञानकायों से प्रज्ञा और स्मृति संप्रयुक्त हैं किन्तु उनका परिभोग वहां न्यून है (संघभद्र)।

कहते हैं। 'स्वभावविकल्प' वह वितर्क है जिसका विचार हम चैत्तों के कोश-स्थान (२.३३) में करेंगे। अन्य दो विकल्प :

३३ सी-डी. व्यग्रा मानसी प्रज्ञा, सर्व मानसी स्मृति।[२]

मानसी प्रज्ञा अर्थात् मनोविज्ञान-संप्रयुक्त धर्मों का प्रविचय; व्यग्रा अर्थात् असमाहित, समापन्नावस्था में नहीं (८.१)। यह अभिनिरूपणाविकल्प है। सर्व मानसी स्मृति, समाहित अथवा असमाहित, अनुस्मरणविकल्प है।[३]

सप्त सालम्बनाश्चित्तधातवोऽर्धं च धर्मतः।
नवानुपात्तास्ते चाष्टौ शब्दश्चान्ये नव द्विधा ॥३४॥

[६२] कितने धातु 'सालम्बन' हैं अर्थात् विज्ञान के विषयी हैं?

३४ ए-बी. सात 'सालम्बन' हैं। यह चित्त-धातु हैं।[१]

चक्षुर्विज्ञानधातु, श्रोत्र०, घ्राण०, जिह्वा० काय०, मनोविज्ञानधातु, मनोधातु केवल 'सालम्बन' हैं क्योंकि वह सदा स्वविषय का ग्रहण करते हैं।

३४ बी. और धर्मधातु का एक प्रदेश भी।[२]

अर्थात् चित्तसंप्रयुक्त धर्मधातु (२.२३)। अन्य धातु अर्थात् १० रूपी धातु और धर्म-धातु का वह प्रदेश जो चित्त-विप्रयुक्त है (२.३५) 'अनालम्बन' है।

कितने धातु 'अनुपात्त' हैं? कितने 'उपात्त' हैं?

३४ सी-डी. ९ अनुपात्त हैं अर्थात् यह ८ धातु और शब्द।[3]

---

[२] तौ व्यग्रा मानसी प्रज्ञा सर्वैव मानसी स्मृतिः॥

[३] मानसी प्रज्ञा अर्थात् 'मनसि भवा'—यह श्रुत-चिन्तामयी है या उपपत्तिप्रातिलंभिका है। 'व्यग्रा' अर्थात् असमाहित, जिसके विविध आलम्बन (अग्र) हों अथवा जो विगतप्रधाना है क्योंकि वह बार बार आलम्बनान्तर का आश्रय लेती है।
इस प्रज्ञा को अभिनिरूपणाविकल्प का नाम क्यों देते हैं? क्योंकि अमुक अमुक आलम्बन में नाम की अपेक्षा कर (नामापेक्षया) इसकी अभिप्रवृत्ति होती है और यह अभिनिरूपण करता है : "यह रूप, वेदना, अनित्य, दुःख है" इत्यादि। इसके विपरीत समाहित प्रज्ञा जो भावनामयी है नाम की अपेक्षा न कर आलम्बन में प्रवृत्त होती है। अतः वह अभिनिरूपणा-विकल्प नहीं है। सर्व मानसी स्मृति अर्थात् समाहित और असमाहित। क्योंकि विभाषा के अनुसार मानसी स्मृति का आलम्बन अनुभूतार्थमात्र होता है और यह नाम की अपेक्षा नहीं करती। यह इस लक्षण के अनुसार है : "स्मृति क्या है? चित्त का अभिलाप (चेतसोऽभि-लापः)"। पांच विज्ञानकाय से संप्रयुक्त स्मृति की प्रवृत्ति अनुभूतार्थ का अभिलाप नहीं है। अतः यह अनुस्मरण-विकल्प नहीं है। [व्याख्या ६५.९]। २.२४ देखिए।

[१] सप्त सालम्बनाश्चित्तधातवः [व्या० ६५.१२]
आलम्बन के अर्थ पर १.२९ बी देखिए। विभंग, पृ.९५ से तुलना कीजिए।

[२] अर्धं च धर्मतः [व्या० ६५.१४]

[3] नवानुपात्तास्ते चाष्टौ शब्दश्च [व्या० ६५.२०, २७]

सात चित्तधातु (१.१६ सी), धर्मधातु (१.१५ सी) और शब्दधातु अनुपात्त हैं।

३४ डी. अन्य ९ दो प्रकार के हैं।

वह कदाचित् उपात्त हैं, कदाचित् अनुपात्त हैं।

१. चक्षुर्धातु आदि पाँच वर्तमान ज्ञानेन्द्रिय उपात्त हैं। अनागत और अतीत उपात्त नहीं हैं।

[६३] चार आलम्बन--रूप, गन्ध, रस, स्प्रष्टव्य--जब वर्तमान होते हैं, जब इन्द्रियाभिन्न (इन्द्रियाविनिर्भाग) होते हैं तब वह उपात्त हैं। अन्य सर्व रूप, अन्य सर्व गन्ध, अन्य सर्व रस, अन्य सर्व स्प्रष्टव्य उपात्त नहीं हैं: यथा मूल को वर्जित कर जो काय या कायेन्द्रिय से प्रतिबद्ध है, केश, रोम, नख और दन्त के रूप, वर्ण और संस्थान; पुरीष, मूत्र, लाला, कफ, रुधिरादि के वर्ण-संस्थान; पृथिवी, जल, अग्नि आदि के वर्ण-संस्थान।

२. 'उपात्त' शब्द का क्या अर्थ है?--जिसे चित्त-चैत्त अधिष्ठानभाव से उपगृहीत और स्वीकृत करते हैं वह 'उपात्त' कहलाता है। उपात्त रूप अर्थात् पाँच ज्ञानेन्द्रिय रूप। इस प्रकार वह रूप जो इन्द्रियाविनिर्भागी है चित्त से 'उपात्त' है, 'स्वीकृत' है: अनुग्रह-उपघात की अवस्था में चित्त और इस रूप के बीच जो अन्योन्य अनुविधान होता है उसका यह फल है। जिस रूप को अभिधर्म 'उपात्त' कहता है उसे लोक में सचेतन, सजीव[१] कहते हैं।

स्प्रष्टव्यं द्विविधं शेषा रूपिणो नव भौतिकाः।
धर्मधात्वेकदेशश्च संचिता दश रूपिणः॥३५॥

कितने धातु महाभूत हैं? कितने उपादायरूप, भौतिकरूप हैं?[२]

---

[४] **अन्ये नव द्विधा॥ [व्या० ६५.२९]**

[१] **अभिधम्म (विभंग, पृ० ९६, धम्मसंगणि, ६५३, १२११, १५३४) में 'उपादिन्न' का यही अर्थ है। अभिधम्म के वर्तमान टीकाकार 'उपादिन्न' का अनुवाद इश्यू आफ ग्रैस्पिंग करते हैं। वह यह नहीं देखते कि उपादा=उपादायरूप, भौतिक है और इस प्रकार वह बड़ी गड़बड़ी करते हैं।**
इसके अतिरिक्त विभंग में धातुओं का वर्गीकरण अभिधर्म के समान नहीं है। (सुत्तविभंग, पृ० ११३ देखिए; महाव्युत्पत्ति, १०१, ५६; दिव्यावदान, पृ० ५४; बोधिचर्यावतार, ८.९७, १०१)।
संस्कृत ग्रंथों में भी कुछ अनिश्चितता है। यथा मज्झिम ३.२४० में जो पितापुत्रसमागम (ऊपर पृ० ४९ टिप्पणी २ देखिए) में उद्धृत है, केश......पुरीष को अज्झत्तं पच्चत्तं कक्खलमुपादिन्नं कहा है। किन्तु केश 'उपादिन्न' नहीं हैं।
आध्यात्मिक रूप (मज्झिम, ३.९० देखिए) को उपात्त रूप से मिला दिया है। उपात्त रूप और मनस् को आश्रय का नाम देते हैं (२.५ देखिए)। यह तीर्थिकों का सूक्ष्म (लिंग) शरीर है।

[२] **भूत, महाभूत; उपादायरूप, भौतिक; १.१२, २३-२४; २.१२, ५० ए, ६५ देखिए। भौतिक=भूते भव=भूतों से उत्पन्न**

[६४] ३५ ए-सी. स्प्रष्टव्य द्विविध है; शेष ९ रूपी धातु केवल भौतिक रूप हैं और इसी प्रकार धर्मधातु का एक देश है जो रूपी है।[1]

(१) चार महाभूत, खर, स्नेह, उष्णता, ईरण (१.१२), (२) सप्तविध भौतिक रूप, श्लक्ष्णत्व, कर्कश आदि (१.१० डी) स्प्रष्टव्य हैं।

शेष रूपी धातु, ५ इन्द्रिय, प्रथम चार इन्द्रियों के आलम्बन, केवल भौतिक रूप हैं। इसी प्रकार अविज्ञप्ति (१.११) जो धर्मधातु में (१.१५ सी-डी) संगृहीत है।

चित्तधातु (१.१६ सी) न भूत हैं, न भौतिक रूप। इसी प्रकार अविज्ञप्ति को वर्जित कर धर्मधातु।

१. भदन्त बुद्धदेव के अनुसार दस आयतन अर्थात् ५ ज्ञानेन्द्रिय और उनके आलम्बन केवल भूत हैं।[2]

यह मत अयुक्त है। सूत्र अवधारित करता है कि चार महाभूत हैं और इनका लक्षण खक्खट, स्नेहादि (१.१२ डी) अवधारित करता है। किन्तु खक्खट, स्नेहादि स्प्रष्टव्य हैं

[६५] और केवल स्प्रष्टव्य हैं: खक्खटत्व (काठिन्य) चक्षुरिन्द्रिय से गृहीत नहीं होता। इसके अतिरिक्त प्रत्येक इन्द्रिय अपने अनुकूल भौतिक रूप को प्राप्त होती है: वर्ण कायेन्द्रिय से गृहीत नहीं होता।[1] पुनः इस सूत्र-वचन से यह सिद्ध होता है कि स्प्रष्टव्य भूत और उपादायरूप है और शेष ९ रूपी आयतन केवल उपादायरूप हैं: "हे भिक्षु! चक्षु आध्यात्मिक आयतन (१.३९), रूपप्रसाद, उपादायरूप, रूपी, अनिदर्शन, सप्रतिघ है" और इसी प्रकार अन्य चार रूपीन्द्रिय हैं जो इन्हीं शब्दों में वर्णित हैं। प्रथम चार आलम्बनों के बारे में सूत्र कहता है: "रूप बाह्य आयतन, उपादायरूप, रूपी, सनिदर्शन, सप्रतिघ है। इसी प्रकार

---

[1] स्प्रष्टव्यं द्विविधं शेषा रूपिणो नव भौतिकाः।
धर्मधात्वेकदेशश्च [व्याख्या ६६.५]
विभंग, पृ० ९६ से तुलना कीजिए।

[2] विभाषा, १२७, १—इस निकाय में दो आचार्य हैं: बुद्धदेव और धर्मत्रात। बुद्धदेव कहते हैं कि "रूप केवल महाभूत है; चैत्त केवल चित्त हैं।" वह कहते हैं कि उपादायरूप महाभूत-विशेष है और चैत्त चित्त-विशेष हैं......।" (कथावत्थु, ७.३ से तुलना कीजिए)—विभाषा, ७४, ८—सूत्र कहता है: "रूप चार महाभूत और भौतिक हैं।" सूत्र किस मत का प्रतिषेध करता है? यह बुद्धदेव के मत का प्रतिषेध करता है। बुद्ध देखते हैं कि अनागत में एक आचार्य बुद्धदेव होंगे जो कहेंगे कि "महाभूतों के व्यतिरिक्त कोई पृथक् भौतिक रूप नहीं है।" इस मत का प्रतिषेध करने के लिए बुद्ध कहते हैं कि "रूप चार महाभूत हैं...।"—१४२.७—बुद्धदेव कहते हैं "सर्व संस्कृत महाभूत या चित्त हैं; महाभूतों के अतिरिक्त कोई उपादायरूप नहीं है; चित्त से अन्य चैत्त नहीं हैं। चित्त-चैत्त पर नीचे पृ० ६६ और २.२३ सी देखिए। कदाचित् आचार्य बुद्धदेव का ही नाम मथुरा के सिंह लेख में आया है।

[1] अतः (१) खरादि न होने से इन्द्रिय भूत नहीं हैं; (२) स्प्रष्टव्यधातु में भूत हैं क्योंकि स्प्रष्टव्य से खक्खट का ग्रहण होता है; (३) अन्य इन्द्रियों से गृहीत भौतिक रूप स्प्रष्टव्य से गृहीत नहीं होता।

गन्ध और रस के लिए है। किन्तु स्प्रष्टव्य के लिए सूत्र कहता है "स्प्रष्टव्य बाह्य आयतन, चार महाभूत, चार महाभूतों के उपादायरूप..............।"[२]

२. यह कहा जा सकता है कि ५ इन्द्रिय भूत हैं क्योंकि सूत्र- (संयुक्त, ११, १) वचन है कि "चक्षु में, मांसपिंड में, यत्किंचित् खक्खट, खरगत है..............।" (विभाषा, १२७, पृ. ६६१)

उत्तर। यहाँ सूत्र को इन्द्रिय इष्ट नहीं है किन्तु चक्षुरिन्द्रिय से अविनिर्भागवर्ती मांसपिंड का उपदेश है।

[६६] हो सकता है। किन्तु गर्भावक्रान्तिसूत्र (पृ.४९ नोट २) के अनुसार "पुरुष षड्धातु का है: "पृथिवी धातु, अब्धातु, तेजोधातु, वायुधातु, आकाशधातु और विज्ञानधातु। अतः गर्भावस्था में काय भूत है, भौतिक रूप नहीं है।

नहीं, क्योंकि 'पुरुष षड्धातु का है' इस प्रथम वाक्य में सूत्र पुरुष के मूलसत्त्व-द्रव्य[१] का संदर्शन कराना चाहता है, वह विस्तृत लक्षण नहीं दे रहा है। वास्तव में इसी सूत्र में पश्चात् उक्त है कि पुरुष स्पर्श (२.२४) नामक चैतसिक धर्म का षडाश्रय (स्पर्शायतन) अर्थात् षडिन्द्रिय है।[२] पुनः 'पुरुष षड्धातु का है' इस लक्षण का अक्षरार्थ लेने से चैत्तों के (२.२४, ३४) अभाव का प्रसंग होगा क्योंकि चैत्त विज्ञान-धातु में, जो चित्त है, संगृहीत नहीं हैं। क्या यह कहेंगे कि चैत्त चित्त हैं और इसलिए विज्ञान-धातु में संगृहीत हैं? यह युक्त नहीं होगा क्योंकि सूत्र-वचन है कि "वेदना और संज्ञा चैत्त धर्म हैं" अर्थात् चैतसिक धर्म हैं, चित्त-निश्रित धर्म हैं और सूत्र 'सराग चित्त' का भी उल्लेख करता है। अतः राग जो चैत्त है चित्त नहीं है (७.११ डी)।

अतः यह सिद्ध है कि हमारे दिए हुए लक्षण (१.३५ ए-सी) यथार्थ हैं।[३]

---

[२] **चक्षुर्भिक्षो आध्यात्मिकं आयतनं चत्वारि महाभूतान्युपादाय रूपप्रसादो रूपी अनिदर्शनं सप्रतिघम्।......मनो भिक्षो आध्यात्मिकं आयतनं अरूप्यनिदर्शनम् अप्रतिघम्। रूपाणि भिक्षो बाह्यमायतनं चत्वारि महाभूतान्युपादाय रूपि सनिदर्शनम् सप्रतिघम्।...... स्प्रष्टव्यानि भिक्षो बाह्यमायतनं चत्वारि महाभूतानि चत्वारि च महाभूतान्युपादाय रूपि अनिदर्शनम् सप्रतिघम्। धर्मा भिक्षो बाह्यमायतनम् एकादशभिरायतनैरसंगृहीतमरूपि अनिदर्शनमप्रतिघम्। [व्या० ६६.२५]**

[१] **२.५ देखिए। प्रथम चार धातु (पृथिवी......वायु) 'मौल सत्त्वद्रव्य' हैं क्योंकि इन्द्रियों की उत्पत्ति इन धातुओं से होती है; विज्ञानधातु या मनोधातु 'मूल' है क्योंकि इससे मनः स्पर्शायतन की उत्पत्ति होती है। अथवा प्रथम चार धातु मूल हैं क्योंकि उनसे भौतिक रूप की उत्पत्ति होती है। विज्ञानधातु मूल है क्योंकि इससे चैत्त (चैतसिक) उत्पन्न होते हैं।**

[२] **अतः प्रथम पांच 'स्पर्शायतन', ५ ज्ञानेन्द्रिय 'भौतिक रूप' हैं: अन्यथा वह "पुरुष षड्धातुक है" इस लक्षण के अन्तर्गत होंगे।**

[३] **अभिधम्म (धम्मसंगणि, ६४७) के अनुसार उपादायरूप स्प्रष्टव्यधातु नहीं है। संघभद्र इस मत का प्रतिषेध करते हैं। वह कहते हैं कि मूर्ख स्थविर का कहना है कि स्प्रष्टव्यधातु में उपादायरूप नहीं संगृहीत है (संघभद्र, ४, पृ. ३५२, कालम ३)—डाकुमेण्ट्स आफ अभिधर्म में सूत्रों की प्रामाणिकता पर विवाद देखिए।**

कितने धातु 'संचित' हैं ?

[६७] ३५ डी. १० रूपी धातु संचित हैं।[1]

५ ज्ञानेन्द्रिय और उनके आलम्बन परमाणु-संचय (संघात) (ii. २२) हैं।

छिनत्ति छिद्यते चैव बाह्यं धातुचतुष्टयम्।
दह्यते तुलयत्येवं विवादो दग्धृतुल्ययोः॥३६॥

१८ धातुओं में कितने छेदन करते हैं, कितने छिन्न होते हैं, कितने दाह करते हैं, कितने दग्ध होते हैं, कितने तौलते हैं, कितने तुलते हैं?

३६. चार बाह्य धातु छेदन करते हैं छिन्न होते हैं; इसी प्रकार दग्ध होते हैं और तौलते हैं। कौन दग्ध करता है और कौन तुलता है, इस विषय में विवाद है।[2]

रूप, रस, गन्ध और स्प्रष्टव्य छेदन करते हैं जब इनकी परशु आदि की संज्ञा होती है। यह छिन्न होते हैं जब इनकी दारु आदि की संज्ञा होती है।

छेदसंज्ञक धर्म क्या वस्तु है?—उस संघातस्रोत का विभक्तोत्पादन जिसका स्वभाव सम्बन्ध में उत्पन्न होना है। परशु दारुखंड-सन्तान का छेद करता है और उसको दो सन्तानों में विभक्त करता है जो पृथक् पृथक् वर्तमान होते हैं और वृद्धि को प्राप्त होते हैं। इन्द्रियों का छेद नहीं हो सकता। यथा निरवशेष अंग के छेद से कायेन्द्रिय, काय का द्वैधीकरण नहीं होता : छिन्न अर्थात् काय से अपगत अंग निरिन्द्रिय होते हैं।

अच्छ होने के कारण मणिप्रभा की तरह इन्द्रिय छेद नहीं करते। यह दग्ध होते हैं और तौलते हैं यथा छेद करते हैं और छिन्न होते हैं। केवल चार बाह्य धातु दग्ध होते हैं। यह तौलते हैं यथा जब वह तुलाभूत हो तौलते हैं। इन्द्रिय नहीं तौलते क्योंकि वह अच्छ हैं यथा मणि-प्रभा।

शब्द न छेद करता है, न छिन्न होता है, न दग्ध होता है, न तौलता है क्योंकि यह प्रवाह में वर्त्तमान नहीं होता।

(उच्छेदित्व, अप्रवाहवर्तित्व [व्या ६९.६])।

कौन दग्ध करता है और कौन तुलता है, इस पर विवाद है।

[६८] कुछ के अनुसार यही चार बाह्य धातु दाहक और तुल्य हैं। दूसरों के अनुसार केवल तेजोधातु दाह करता है जब वह अग्नि-ज्वाला में अपनी वृत्ति को उद्भूत करता है और केवल गुरुत्व तुल्य है। गुरुत्व एक प्रकार का उपादायरूप है (१.१० डी) : आतपादि लघु द्रव्यों का अतुल्यत्व है यद्यपि वहाँ रूप की वृत्ति उद्भूत होती है।

---

[1] **संचिता दश रूपिणः॥ [व्या० ६८.३]**
विभाषा, ७६, ३

[2] **छिनत्ति छिद्यते चव बाह्यं धातुचतुष्टयम्। [व्या० ६८.९]**
दह्यते तुलयत्येवं विवादो दग्धृतुल्ययोः॥ [व्या० ६८.३४]
विभाषा, १३३, ६.

विपाकजौपचयिकाः पंचाध्यात्मं विपाकजाः।
न शब्दोऽप्रतिघा अष्टौ नैष्यन्दिकविपाकजाः॥३७॥
त्रिधान्ये द्रव्यवानेकः क्षणिकाः पश्चिमास्त्रयः।
चक्षुर्विज्ञानधात्वोः स्यात् पृथग्लाभः सहापि च॥३८॥

१८ धातुओं में कितने विपाकज, कितने औपचयिक, कितने नैष्यन्दिक हैं?

३७-३८ ए. ५ आध्यात्मिक धातु विपाकज और औपचयिक हैं; शब्द विपाकज नहीं है; ८ अप्रतिघ धातु नैष्यन्दिक और विपाकज हैं; अन्य तीन प्रकार के हैं।[1]

(१) लक्षण

१. विपाकज—अक्षरार्थ 'विपाक से उत्पन्न'। मध्यम पद का लोप है। 'विपाकहेतुज' (२.५४) के लिए विपाकज है यथा 'गोयुक्त रथ' के लिए 'गोरथ' कहते हैं।

अथवा 'विपाकज' पद में 'विपाक' शब्द का अर्थ विपाक नहीं है किन्तु कर्म है, विपच्यमान कर्म है, वह कर्म है जो फल-काल को प्राप्त है।[2] जो फल-कालप्राप्त कर्म है अर्थात् फल या विपाक से उत्पन्न होता है वह 'विपाकज' कहलाता है। फल को विपाक भी कहते हैं क्योंकि यह विपक्ति है।[3] अथवा 'विपाकज' का अर्थ है 'विपाकहेतु से जात' किन्तु यह नहीं कहना चाहिए कि 'हेतु' शब्द का लोप है। वास्तव में हेतु में प्रायः फल का उपचार होता है यथा प्रायः फल में हेतु का उपचार होता है: "यह ६ स्पर्शायतन पौराण कर्म हैं" (एकोत्तर, १४, ५; संयुत्त, २.६५, ४.१३२; नीचे २.२८) (२.पृ.२७१ देखिए)।

[६९] २. औपचयिक—अर्थात् जो आहार-विशेष (३.३९), संस्कार-विशेष (स्नानादि), स्वप्न-विशेष, समाधि-विशेष (४.६ सी) से उपचित होता है। एक मत के अनुसार[1] ब्रह्मचर्य भी उपचय में हेतु है किन्तु वास्तव में ब्रह्मचर्य से अनुपघात मात्र होता है। यह उपचय का कारण नहीं है।

उपचय-सन्तान विपाक-सन्तान की आरक्षा है यथा प्राकार परिवृत कर रक्षा करता है।

[२.३०१ देखिए; ३, विभाषा, ११८ के आरम्भ में, सिद्धि, १९०]

३. नैष्यन्दिक अर्थात् निष्यन्द फल (२.५७) 'वह जो स्वकार्य-सदृश हेतु से उत्पन्न हुआ है।'

(२) मन इन्द्रिय को वर्जित कर ५ इन्द्रिय या आध्यात्मिक धातु विपाकज और औपचयिक

---

[1] **विपाकजौपचयिकाः पंचाध्यात्मं [विपाकजः।**
न शब्दो] ऽप्रतिघा अष्टौ नैष्यन्दिकविपाकजाः॥

[2] **त्रिधान्ये। [व्या० ६९.१७]**
निर्वचन इस प्रकार है—विपच्यत इति विपाकः। विपाक वह है जो परिपक्व होता है।

[3] **[६९.३२]**
दूसरा निर्वचन—विपाकः=विपक्तिः। [व्याख्या ६९.३३]

[1] **ऐसा प्रतीत होता है कि यह कदाचित् धर्मत्रात का मत है, १.४५ (नैन्जियो १२८७)।**

दोनों हैं। यह नैष्यन्दिक नहीं हैं क्योंकि यह नैष्यन्दिक तभी होते हैं जब यह विपाकज या औपचयिक होते हैं।[2]

(३) शब्द औपचयिक है क्योंकि अनुपचित काय होने से शब्द का सौष्ठव नहीं होता।[3] यह नैष्यन्दिक भी है। यह विपाकहेतु से उत्पन्न नहीं होता क्योंकि शब्द की प्रवृत्ति छन्द से (छन्द, २.२४) होती है।[4] (विभाषा)

आक्षेप--प्रज्ञप्तिशास्त्र कहता है कि "महापुरुष (३.९८) का यह लक्षण जिसे [७०] 'ब्रह्मस्वरता' कहते हैं पारुष्य-(४.७६सी) विरति के पूर्ण अभ्यास से निर्वर्तित होता है"।[1] अतः शब्द विपाक है।

शब्द का परम्पराभिनिर्वर्तन — प्रथम मत—परम्परा में तीन क्षण हैं: (१) कर्म; (२) इस कर्म से जात महाभूत जो विपाकज हैं; (३) शब्द जो महाभूतों से उत्पन्न होता है। द्वितीय मत – परम्परा में पाँच क्षण हैं: (१) कर्म; (२) विपाकज महाभूत; (३) औपचयिक महाभूत; (४) नैष्यन्दिक महाभूत; (५) शब्द। अतः शब्द 'विपाकज' नहीं है क्योंकि यह कर्म के अनन्तर ही प्रवृत्त नहीं होता (विभाषा)।

आक्षेप — इस युक्ति के अनुसार कायिकी वेदना (२.७) जो कर्म के अनन्तर ही उत्पन्न नहीं होती किन्तु कर्म से उत्पन्न महाभूतों के अनन्तर उत्पन्न होती है (३.३२) विपाकज न होगी।

उत्तर — किन्तु प्रतिसंवेदन की इच्छा से वेदना का प्रवर्तन नहीं होता और शब्द की प्रवृत्ति भाषण की इच्छा से होती है। यदि इसकी प्रवृत्ति इच्छा से होती तो यह विपाकज न होती।

(४) अप्रतिघ (१.२९ बी) आठ धातु अर्थात् सप्त चित्त-धातु और धर्मधातु नैष्यन्दिक और विपाकज हैं: नैष्यन्दिक, जब वह सभाग हेतु और सर्वत्रग हेतु से (२.५२, ५४) जनित होते हैं; विपाकज, जब वह विपाक हेतु (२.५४ सी) से जनित होते हैं। वह औपचयिक नहीं हैं क्योंकि अरूपी धातुओं में संचय का अभाव है।

(५) अन्य धातु अर्थात् रूप, गन्ध, रस, स्प्रष्टव्य यह चार जिनका पूर्व वर्णन नहीं हुआ है त्रिविध हैं: विपाकज, जब वह इन्द्रियाविनिर्भागी होते हैं (१.३४); औपचयिक और नैष्यन्दिक।

---

[2] चक्षुरिन्द्रिय रूप-प्रसाद के अस्तित्व के एक क्षण या अवस्था का हम विचार करते हैं। इस रूप का एक प्रदेश पौराण कर्म का विपाक है; एक अन्य प्रदेश आहार से प्रवृत्त होता है। यह सर्व रूप चक्षु के पूर्व क्षण या अवस्था का निष्यन्दफल है। किन्तु यह पूर्व क्षण या अवस्था स्वतः वर्तमान क्षण का उत्पाद करने में समर्थ नहीं हैः वास्तव में मृत का चक्षुर्धातु निष्यन्द से अनुवर्तन नहीं करता। अतः चक्षुर्धातु का लक्षण नैष्यन्दिक का नहीं है। इसके विपरीत आप काय के अस्थि को लें। मृत्यु के अनन्तर इसका अस्तित्व रहता है। अतः यह पूर्व क्षण से लेकर उसके अस्तित्व के प्रत्येक क्षण का निष्यन्दफल है। ४.२९ देखिए।
कथावत्थु, १२.४, १६.८ रूप को विपाक नहीं मानता।

[3] विभाषा, ११८, १ में ९ हेतु परिगणित हैं। वसुबन्धु तृतीय हेतु उद्धृत करते हैं।

[4] वात्सीपुत्रीय और विभज्यवादिन् का मत है कि शब्द विपाकज है।

[1] कथावत्थु, १२, ३ में महासांघिकों द्वारा उद्धृत दीघ, ३.१७३ से तुलना कीजिए: सद्दो विपाको।

३८ ए. केवल एक धातु द्रव्यवान् है।[२] [व्या ७१.११]

[७१] असंस्कृत का सारत्व होने से (सारत्वात् = अविनाशात्) वह द्रव्य है। असंस्कृत धर्मधातु (१.१५) में संगृहीत है। अतः धर्मधातु ही एक धातु है जो द्रव्यवान् है।

३८ बी. अन्तिम तीन धातु क्षणिक हैं।[१]

अन्तिम तीन धातु मनोधातु, धर्मधातु, मनोविज्ञान-धातु हैं।

दर्शनमार्ग (६.२५) के प्रथम क्षण के और इसलिए प्रथम अनास्रव क्षण के अर्थात् दुःखे धर्मज्ञानक्षान्ति के क्षण के धर्म-कलाप में यह तीन धातु सभागहेतुक (२.५२) नहीं है क्योंकि इष्ट आश्रय के सन्तान में किसी अनास्रव धर्म का अभी प्रादुर्भाव नहीं हुआ है जो दुःखे धर्मज्ञानक्षान्ति का 'सभागहेतु' हो। इसीलिए यह तीन धातु क्षणिक कहलाते हैं क्योंकि एक क्षण के लिए यह इस हेतु से निर्वर्तित नहीं होते अर्थात् अनैष्यन्दिक होते हैं।

उक्त कलाप में क्षान्तिसंप्रयुक्त चित्त मनोधातु और मनोविज्ञानधातु है। इस चित्त के सहभू धर्म धर्मधातु हैं: अनास्रव संवर, (४.१३ सी) वेदना, संज्ञा, चेतना और अन्य चैत्त; प्राप्ति (२.३६) और संस्कृत लक्षण (२.४६)।

एक प्रश्न का विचार करना है। जो पुद्गल पूर्व असमन्वागत था और अब चक्षुर्धातु के समन्वागम का प्रतिलाभ करता है क्या वह चक्षुर्विज्ञानधातु के समन्वागम का भी प्रतिलाभ करता है? जो पूर्व असमन्वागत था और अब चक्षुर्विज्ञान धातु के समागम का प्रतिलाभ करता है क्या वह चक्षुर्धातु के समागम का भी प्रतिलाभ करता है?

[७२] ३८ सी-डी. चक्षुर्धातु और चक्षुर्विज्ञानधातु का लाभ पृथक् भी हो सकता है, एक साथ भी हो सकता है।[१]

१. चक्षुर्धातु से असमन्वागत पुद्गल चक्षुर्विज्ञानधातु के समन्वागम के लाभ के बिना ही चक्षुर्धातु के समन्वागम का लाभ करता है: (ए) कामधातु का पुद्गल जिसकी इन्द्रियाँ क्रम से प्रतिलब्ध होती हैं (२.१४), क्योंकि चक्षुरिन्द्रिय के प्रतिलाभ के पूर्व वह अपने अतीत (अन्तराभव ३.१४) और अनागत ('प्राप्ति' पर २.३६ बी) चक्षुर्विज्ञानधातु से समन्वागत होता है। (बी) जो पुद्गल आरूप्य धातु में मृत हो तीन ऊर्ध्व ध्यानों के लोकों में उपपपन्न होता है, क्योंकि वहां यद्यपि चक्षुर्धातु होता है तथापि चक्षुर्विज्ञानधातु का अभाव होता है (८.१३ ए-सी)।

२. चक्षुर्विज्ञानधातु से असमन्वागत पुद्गल चक्षुर्धातु के समन्वागम का प्रतिलाभ किए बिना ही चक्षुर्विज्ञानधातु के समन्वागम का लाभ करता है: (ए) तीन ऊर्ध्व ध्यान

---

[२] **द्रव्यवानेकः [व्या० ७१.११]**

[१] **क्षणिकाश्चरमास्त्रयः।**

[१] **चक्षुर्विज्ञानधातोः स्यात् पृथक् लाभः सहापि च ।। (व्याख्या ७१.२८)
विभाषा, १६२, १६; ८७, ७; धर्मत्रात [नैन्जियो १२८७], १.४८ सी.**

के किसी लोक में उपपन्न पुद्गल प्रथमध्यानभूमिक चक्षुर्विज्ञानधातु (८.१३) को सम्मुख कर सकता है (सम्मुखीकुर्वाणः) : वह चक्षुर्धातु के समन्वागम का प्रतिलाभ नहीं करता, वह पहले से ही समन्वागत है; (बी) जो पुद्गल तीन ऊर्ध्व ध्यानों में से किसी से प्रच्युत होता है और अधर भूमि में उपपद्यमान होता है।

३. उभय से असमन्वागत पुद्गल उभय के समन्वागम का प्रतिलाभ करता है: जो पुद्गल आरूप्यधातु से च्युत होता है और कामधातु में या प्रथम ध्यान (ब्रह्मा लोक) में उपपन्न होता है।

हमने अब तक कारिका में प्रयुक्त 'लाभ 'शब्द को 'प्रतिलम्भ' के अर्थ में लिया है किन्तु उसका अर्थ 'प्राप्ति' (२.३६ बी) भी हो सकता है। अत: यह प्रश्न है: जो चक्षुर्धातु से समन्वागत है क्या वह चक्षुर्विज्ञानधातु से भी समन्वागत होता है? चार कोटि संभव हैं:

(ए) तीन ऊर्ध्व ध्यान के किसी लोक में उपपन्न पुद्गल अवश्यमेव चक्षुर्धातु के समन्वागम का प्रतिलम्भ करता है किन्तु वह चक्षुर्विज्ञानधातु के समन्वागम का प्रतिलाभ तभी करता है जब वह प्रथमध्यानभूमिक चक्षुर्विज्ञानधातु को सम्मुख करता है;

[७३] (बी) कामधातु का वह पुद्गल जिसने कललादि अवस्था में चक्षुरिन्द्रिय का प्रतिलाभ नहीं किया है या जो विहीनचक्षु है: वह अन्तराभव-काल में (३.१४) या प्रतिसन्धि-काल में प्रतिलब्ध चक्षुर्विज्ञानधातु से समन्वागत रहता हैं;

(सी) काम धातु का वह पुद्गल जिसने चक्षुरिन्द्रिय का प्रतिलम्भ किया है और उसकी हानि नहीं की है, जो पुद्गल प्रथम ध्यानलोक में उपपन्न हुआ है, जो पुद्गल तीन ऊर्ध्व ध्यान के लोकों में से किसी लोक में उपपन्न हो, प्रथमध्यानभूमिक चक्षुर्विज्ञानधातु का सम्मुखीभाव करता है: यह तीन प्रकार के पुद्गल चक्षुर्धातु और चक्षुर्विज्ञानधातु से समन्वागत होते हैं;

(डी) इन आकारों के सत्त्वों के अतिरिक्त सत्त्व, आरूप्योपपन्न सत्त्व, चक्षुर्धातु और चक्षुर्विज्ञानधातु से असमन्वागत होता है। चक्षुर्धातु और रूपधातु, चक्षुर्विज्ञानधातु और रूपधातु, श्रोत्रधातु और शब्दधातु आदि के सहवर्तमान अथवा असहवर्तमान, प्रतिलम्भ और समन्वागम का अभ्यूहन यथायोग होना चाहिए।

द्वादशाध्यात्मिका हित्वा रूपादीन् धर्मसंज्ञकः।
सभागस्तत्सभागाश्च शेषा यो न स्वकर्मकृत् ॥३९॥

१८ धातुओं में कितने आध्यात्मिक और कितने बाह्य हैं?

३९ ए-बी. रूपादि को वर्जित कर १२ आध्यात्मिक हैं।[1]

---

[1] **द्वादशाध्यात्मिका रूपादिवर्ज्याः [व्या० ७४.२१]**
विभाषा, १३८, १३. आध्यात्मिक और बाह्य धर्मों का भेद त्रिविध है:
१. सन्तान की दृष्टि से भेद: जो धर्म स्वात्मभाव में पाए जाते हैं वह आध्यात्मिक हैं, जो पर में पाए जाते हैं और जो असत्वाख्य (१.१० बी) हैं वह बाह्य हैं।
२. आयतन की दृष्टि से भेद: जो आयतन चित्त-चैत्त के आश्रय हैं वह आध्यात्मिक हैं;

६ इन्द्रिय और ६ विज्ञान यह १२ धातु आध्यात्मिक हैं; विज्ञान के ६ आलम्बन अर्थात् रूपादि ६ बाह्य धातु हैं।

किन्तु कोई आत्मा नहीं है। इसलिए आध्यात्मिक धातु और बाह्य धातु यह आख्याएं कैसे हैं?

[७४] चित्त अहंकार का सन्निश्रय है; चित्त को मिथ्याभाव से आत्मा करके ग्रहण करते हैं। अतः चित्त में आत्मा का उपचार होता है। यथा गाथा में उक्त है "सुदान्त आत्मा से पंडित स्वर्ग की प्राप्ति करता है" और भगवत् ने अन्यत्र कहा है "चित्त का दमन अच्छा है; सुदान्त चित्त सुखावह होता है"[1]। किन्तु इन्द्रिय और विज्ञान आत्म शब्द से उक्त चित्त के प्रत्यासन्न (अभ्यासन्न) हैं: वास्तव में वह उसके आश्रय हैं; इस लिए उन्हें 'आध्यात्मिक कहते हैं और रूप तथा विज्ञानधातु के अन्य आलम्बन जो विषयभाव से वर्तमान हैं 'बाह्य' कहलाते हैं।

किन्तु क्या यह कह सकते हैं कि षड्विज्ञानधातु चित्त के आश्रय हैं? वह चित्त के आश्रय तभी होते हैं जब निरुद्ध हो कर वह मनोधातुत्व को (१.१७) प्राप्त होते हैं। अतः वह आध्यात्मिक नहीं हैं।

यह आक्षेप निःसार है। जब विज्ञानधातु निरुद्ध होकर चित्त के आश्रय होते हैं तब यही विज्ञानधातु हैं जो आश्रय होते हैं। अतः आश्रय होने के पूर्व यह आश्रय-लक्षण का अतिवर्तन नहीं करते। अतः इनके भविष्यदाश्रयभाव के कारण इनका आध्यात्मिकत्व हैं। यदि अन्यथा होता तो मनोधातु अतीतमात्र होता, वह अनागत और प्रत्युत्पन्न नहीं होता। किन्तु यह सुष्ठु ज्ञात है कि १८ धातु तीन अध्व के होते हैं। पुनः यदि अनागत अथवा प्रत्युत्पन्न विज्ञानधातु का मनोधातुत्व नहीं है तो अतीत होने पर उसका यह लक्षण बताना अयुक्त है। क्योंकि अध्व में धर्म के लक्षण का व्यभिचार नहीं होता (५.२५; विभाषा, २१,१६; ३९, २)।

१८ धातुओं में कितने सभाग हैं (नीचे पृ.७७ देखिए)? कितने तत्सभाग हैं?

[७५] ३९ बी-सी. धर्मसंज्ञक धातु सभाग है।[1]

विषय सभाग कहलाता है जब कि विज्ञान जिसका यह नियत विषय है वहाँ उत्पन्न होता है या उत्पत्तिधर्मी है। किन्तु कोई ऐसा धर्म नहीं है जहाँ अनन्त मनोविज्ञान

जो उसके आलम्बन हैं वह बाह्य हैं; ३. सत्त्व की दृष्टि से भेद : सत्त्वाख्य धर्म आध्यात्मिक हो सकते हैं, अन्य बाह्य हैं।

[1] **आत्मना हि सुदान्तेन स्वर्गं प्राप्नोति पंडितः ......[व्या० ७४.२७]**
चित्तस्य दमनं साधु चित्तं दान्तं सुखावहम् [व्या० ७४.३०]
उदानवर्ग, २३ देखिए; मध्यमकवृत्ति, पृ.३५४; धम्मपद, १६०

[1] **धर्मसंज्ञकः। सभागः [व्या० ७५.१५]**
प्रकरण, फ़ोलिओ १८ बी १५-१९ ए ४

उत्पन्न हो या उत्पत्ति-धर्मी हो। सब आर्य इस चित्त का उत्पाद अवश्यमेव करते हैं:"सर्व धर्म अनात्म हैं" (७.१३ ए)। यह यथार्थ है कि इस चित्त का आलम्बन न स्वभाव-धर्म है, न इसके सहभू धर्म इसके आलम्बन हैं (सहभू. २.५० बी) किन्तु यह चित्त और इसके सहभू धर्म 'सर्वं अनात्मम्' इस चित्त के द्वितीय क्षण के आलम्बन हैं। अतः सर्व धर्म दो चित्त-क्षण (७.१८ सी-डी) के आलम्बन होते हैं। अतः धर्मधातु जो मनोविज्ञान का नियत विषय है नित्य सभाग है।

३९ सी-डी. अन्य धातु तत्सभाग भी हैं।[२]

'अपि' शब्द प्रदर्शित करता है कि शेष सभाग और तत्सभाग दोनों हैं।

यह तत्सभाग कब होते हैं?

३९ डी. जब वे अपना कर्म नहीं करते।[३]

इससे यह उक्त होता है कि जो अपना कर्म करता है वह सभाग है।

१. जिस चक्षुर्धातु ने रूप देखा, जो रूप देखता है या जो रूप देखेगा वह सभाग कहलाता है—इसी प्रकार अन्य इन्द्रियों के बारे में अपने-अपने विषय और कारित्र (पुरुषकार, २.५८) से कहना चाहिए।

२. काश्मीर वैभाषिकों के अनुसार चक्षुरिन्द्रिय चार अवस्थाओं में तत्सभाग हैं: जो चक्षुरिन्द्रिय बिना देखे निरुद्ध हुआ है, होता है, निरुद्ध होगा और अनुत्पत्ति-धर्मा (५.२४) [७६] चक्षुरिन्द्रिय। पाश्चात्यों के अनुसार अनुत्पत्तिधर्मा चक्षुरिन्द्रिय दो प्रकार का है—चक्षुर्विज्ञान से संप्रयुक्त (=संबद्ध), असम्प्रयुक्त। अन्य विज्ञानेन्द्रियों के लिए भी इसी प्रकार समझना चाहिए। मनोधातु तत्सभाग है जब यह उत्पत्ति-धर्मा नहीं है; वास्तव में जब यह उत्पन्न होता है तब नित्य सालम्बन होता है।[१]

३. जो रूप चक्षुरिन्द्रिय से देखे जा चुके हैं, देखे जा रहे हैं, देखे जावेंगे, वह सभाग हैं। जब वह बिना देखे निरुद्ध हो गए हैं, निरुद्ध होते हैं या निरुद्ध होंगे और जब वह उत्पत्ति-

---

[२] तत्सभागोऽपि शेषो [व्या ७५.२९ में 'तत्सभागाश्च शेषाः' पाठ है।]

[३] यो न स्वकर्मकृत् [व्या० ७६.३]

[१] विभाषा, ७१, ८. जो इन्द्रिय रूप देख चुका है, रूप देखता है या रूप देखेगा और तत्सभाग (अर्थात् वह इन्द्रिय जो इस इन्द्रिय के सदृश है) चक्षुर्धातु है। जो इन्द्रिय देख चुका है वह अतीत चक्षुर्धातु है; जो देखता है वह प्रत्युत्पन्न चक्षुर्धातु है, जो देखेगा वह अनागत चक्षुर्धातु है। तत्सभाग के विषय में इस देशके आचार्य कहते हैं कि यह चार प्रकार का है: अतीत, प्रत्युत्पन्न, अनागत, तत्सभाग चक्षु। यह वह चक्षुर्धातु है जो रूप को बिना देखे निरुद्ध हो गया है, निरुद्ध हो रहा है, निरुद्ध होगा। चतुर्थ प्रकार और बतलाना चाहिए। यह वह चक्षुर्धातु है जो सर्वथा उत्पन्न नहीं होगा।
बहिर्देशक कहते हैं कि यह पांच प्रकार का है: अतीत, प्रत्युत्पन्न, अनागत, जैसा पूर्वोक्त। इनके अतिरिक्त अनागत चक्षुर्धातु जो सर्वथा उत्पन्न न होगा दो प्रकार का है: विज्ञान-संप्रयुक्त, विज्ञान से असंप्रयुक्त।

धर्मा नहीं हैं तब वह तत्सभाग हैं। इसी प्रकार अन्य विज्ञान-विषयों के बारे में उनके अपने-अपने इन्द्रिय और कारित्र को सूचित कर कहना चाहिए।

४. जो चक्षुर्धातु सभाग या तत्सभाग है वह सबके लिए सभाग या तत्सभाग है, अर्थात् उसके लिए जिसका वह चक्षु है तथा दूसरों के लिए। अन्य इन्द्रियों के लिए भी इसी प्रकार समझना चाहिए। किन्तु रूप उसके लिए सभाग है जो देखता है, उसके लिए तत्सभाग है जो नहीं देखता है। वास्तव में रूप जिसको एक पुद्गल देखता है अनेकों से देखा जा सकता है, यथा चन्द्र, दृश्य, मल्लयुद्ध। किन्तु दो पुद्गल एक ही इन्द्रिय से नहीं देखते। अतः चक्षुर्धातु के सामान्य [७७] न होने से यह पुद्गल की दृष्टि से सभाग या तत्सभाग कहलाएगा: चक्षुर्धातु सभाग है जब यह रूप देखता है; तब भी जब कि इसने दूसरा रूप नहीं देखा है, नहीं देखता है, नहीं देखेगा। इसके विपरीत रूप सामान्य है: अनेक पुद्गलों की दृष्टि से यह सभाग और तत्सभाग कहलाएगा। जो इसे देखते हैं उनके लिए यह सभाग है, जो इसे नहीं देखते हैं उनके लिए यह तत्सभाग है।

रूप के समान शब्द, गन्ध, रस और स्प्रष्टव्य हैं।[1] शब्द के लिए ऐसा कह सकते हैं क्योंकि शब्द का ग्रहण रूप के समान दूर से होता है और अनेक पुद्गलों से हो सकता है (१.४३ सी-डी)। किन्तु गन्ध, रस और स्प्रष्टव्य की उपलब्धि दूर से नहीं होती। उनका ग्रहण केवल तभी होता है जब वह इन्द्रिय को प्राप्त होते हैं, स्वघ्राणादिक में प्रवेश करते हैं। इसलिए एक से गृहीत गन्ध दूसरे से गृहीत नहीं होता। अतः यह विषय साधारण नहीं हैं और सभाग, तत्सभाग के लिए हमें इन्हें इन्द्रियों से अनुगत करना चाहिए, इनका अतिदेश न्याय्य है: जब वह एक सत्त्व के लिए सभाग हैं तब वह सबके लिए सभाग हैं[1]। हमारा उत्तर है कि हम इन विषयों को साधारण मानते हैं क्योंकि वह साधारण हो सकते हैं। वास्तव में यह संभव है कि वही गन्ध—एक ही गन्ध का परमाणु-कलाप—जो एक में घ्राण-विज्ञान उत्पन्न करता है दूसरे से भी गृहीत हो। किन्तु इन्द्रियों के लिए ऐसा नहीं होता। अतः गन्ध, रस और स्प्रष्टव्य को रूप और शब्द से अनुगत करना चाहिए।

५. षड् विज्ञानधातु सभाग हैं यदि वह उत्पत्तिधर्मा हैं। वह तत्सभाग हैं यदि वह अनुत्पत्ति-धर्मा हैं। मनोधातु के समान।

६. सभाग, तत्सभागका क्या अर्थ है?

[७८] 'भाग' से इन्द्रिय, विषय और विज्ञान का आश्रय, विषय, आश्रयिभाव से अन्योन्य-भजन समझना चाहिए। अथवा 'भाग' का अर्थ कारित्र-भजन है: चक्षुरादि का

[1] **विभाषा, ७१.९—तीन मत—क्या दूसरे के चक्षु से कोई रूप देख सकता है?—इस मत का कौन है?—यदि दूसरे के चक्षु से नहीं देखा जा सकता तो एक पुद्गल का चक्षु अन्य पुद्गलों के सम्बन्ध में सभाग कैसे कहला सकता है? क्योंकि चक्षु का कारित्र नियत है: देखना इसका कारित्र है। जब चक्षु अपना कारित्र कर के निरुद्ध हो जाता है तब उसे सभाग कहते हैं। न उस पुद्गल के लिए, न दूसरे के लिए, यह 'सभाग' नाम बदलता है। इसी प्रकार . . . . . .**

दर्शनादि कारित्र है; विषयधातु का कारित्र विज्ञान का विषय, आलम्बन होना है, दृष्टादि होना है; विज्ञानधातु का कारित्र विज्ञातृत्व है।

जो धर्म भाग अर्थात् उन इन्द्रिय, विषय और विज्ञान के साथ (स-) वर्तमान हैं जो अपना कारित्र-भजन रखते हैं अथवा उन इन्द्रिय, विषय और विज्ञान के साथ वर्तमान हैं जो अन्योन्य-भजन करते हैं, सभाग कहलाते हैं। अथवा सभाग वह धर्म हैं जिनका समान कार्य स्पर्श है अर्थात् चक्षु, रूप, चक्षुर्विज्ञान आदि (३.२२) का सन्निपात।[1] जो असभाग हैं किन्तु इन सभागों के सदृश हैं वह 'तत्सभाग' हैं अर्थात् 'तत् (उस) के सभाग' अर्थात् सभाग के सभाग (सभाग-सभाग)।[2]

दश भावनया हेयाः पंच चान्त्यास्त्रयस्त्रिधा।
न दृष्टिहेयमक्लिष्टं न रूपं नाप्यषष्ठजम् ॥४०॥

कितने धातुओं का प्रहाण (हा, प्रहा, ५.२८, ६.१) सत्य-दर्शन से, दूसरे शब्दों में दर्शनमार्ग से या दर्शन से (६.२५ बी), हो सकता है? कितनों का सत्य की भावना से, दूसरे शब्दों में भावना-मार्ग से या भावना से? कितने धातुओं का प्रहाण नहीं होता अर्थात् अहेय हैं?

४० ए-बी. १० और ५ भावना से हेय हैं; अन्तिम ३, तीन प्रकार के हैं[3]।

[७९] १. १० रूपीधातु, इन्द्रिय और विषय और ५ विज्ञानधातु भावनाहेय हैं। प्रहाण की दृष्टि से अन्तिम तीन धातुओं में, मनोधातु, धर्मधातु और मनोविज्ञानधातु में, तीन प्रकार के धर्म हैं:

(ए) ८८ अनुशय (५.४), सहभू धर्मों के साथ—चाहे यह सहभू संप्रयुक्त (२.२४) हों या विप्रयुक्त (२.४६, लक्षण और अनुलक्षण)—उक्त अनुशय और उक्त सहभुओं की प्राप्ति (२.३६) के साथ, उक्त प्राप्तियों के अनुचर के साथ (अनुप्राप्ति और लक्षण), दर्शनहेय हैं।

---

[1] भज्यत इति भागः—भाग शब्द की व्युत्पत्ति कर्मणि प्रत्यय से करते हैं। [व्या० ७७.६]

[2] जो चक्षु बिना देखे निरुद्ध होता है वह उस चक्षु के सदृश है जो देखता है, इत्यादि। माध्यमिक (वृत्ति, पृ. ३२ और टिप्पणी जिसे शोधना चाहिए) इस वाद के एक अंश को लेते हैं: "परमार्थतः सभाग चक्षु रूप नहीं देखता क्योंकि यह इन्द्रिय है, यथा तत्सभाग"—न परमार्थतः सभागं चक्षुः पश्यति रूपाणि, चक्षुरिन्द्रियत्वात्, तद्यथा तत्सभागम्।

[3] दश भावनया हेयाः पंच चान्त्यास्त्रयस्त्रिधा। [व्या० ७७.१६, १९ त्रयः के स्थान में त्रयं पाठ है।] विभाषा, १५१, ९—विभंग पृष्ठ १२, १६, ९७; धम्मसंगणि, १००२, १००७, १००८ में इसी प्रश्न पर विचार किया गया है। तीन प्रकार—दर्शनहेय, भावनाहेय, अहेय। विहानि और परिहाणि में विशेष है, ६.१७३. अनास्रव धर्मों (मार्गसंगृहीत धर्मों) का निसर्ग होता है किन्तु इनका दर्शन या भावना से प्रहाण नहीं होता। यह अप्रतिसंख्यानिरोध, ८.२०९ के आलंबन हैं। शब्दानुक्रमणिका में अहेय शब्द देखिए। विभाषा, ३२ पृ० ३६४, कालम २, डाकुमेण्ट्स आफ अभिधर्म में (निःसरण पर) और सिद्धि ६६६ [सिद्धि में विभाषा ३२ पृ. १६४, कालम २ है।]

(बी) शेष सास्रव धर्म भावनाहेय हैं: १. सहभू, प्राप्ति आदि के साथ १० अनुशय (५.५); २. कुशल सास्रव और अनिवृताव्याकृत (२.६६) संस्कार; ३. सास्रव सानुचर अविज्ञप्ति (४.१३)।

(सी) अनास्रव धर्म अर्थात् असंस्कृत और मार्गसत्य अहेय हैं।

२. आक्षेप—वात्सीपुत्रीयों का मत है कि केवल ८८ अनुशय ही नहीं किन्तु अन्य धर्म भी दर्शनहेय हैं। (१) पृथग्जनत्व[1] अनिवृताव्याकृत धर्म है: तुम उसे भावनाहेय धर्मों में रखते हो; (२) अपायसंवर्तनीय काय-वाक्-कर्म रूप है: तुम उसे भी दूसरे प्रकार में रखते हो। किन्तु पृथग्जनत्व और नियत आपायिक कर्म आर्यमार्ग-विरोधी हैं, दर्शनमार्ग-विरोधी हैं। अतः हमारे अनुसार दोनों दर्शनहेय हैं। वात्सीपुत्रीयों के वाद का प्रतिषेध करने के लिए आचार्य संक्षेप में कहते हैं:

४० सी-डी. न अक्लिष्ट, न रूप, न अषष्ठज दर्शनहेय हैं।[2]

[८०] १. जो अक्लिष्ट है, जो न अकुशल है, न निवृताव्याकृत (२.६६) है, जो रूप है, उसका प्रहाण दर्शन से नहीं हो सकता। किन्तु पृथग्जनत्व क्लिष्ट नहीं है: जिस पुद्गल ने कुशल-मूल का समुच्छेद किया है (४.७९), जो पुद्गल वीतराग है वह पृथग्जनत्व से समन्वागत हो सकता है। किन्तु काय-वाक्-कर्म रूप हैं।

पृथग्जनत्व और काय-वाक्-कर्म की सत्य से विप्रतिपत्ति नहीं है क्योंकि प्रथम १. क्लेशों से क्लिष्ट नहीं है, २. विज्ञान नहीं है, अनालम्बक है; क्योंकि द्वितीय अनालम्बक है। अतः दोनों में से कोई भी दर्शनहेय नहीं है।

पुनः यदि पृथग्जनत्व दर्शनहेय होता तो दुःखे धर्मज्ञानक्षान्ति में पृथग्जनत्व का प्रसंग होता जो अयथार्थ है।[1]

२. 'षष्ठ' से मनोधातु समझना चाहिए। 'अषष्ठज' उसे कहते हैं जो षष्ठ इन्द्रिय से भिन्न इन्द्रिय से उत्पन्न है अर्थात् जो चक्षुरादि पंचेन्द्रिय से उत्पन्न है। यहाँ चक्षुरादि विज्ञान इष्ट हैं। यह भी दर्शनहेय नहीं हैं।

चक्षुश्च धर्मधातोश्च प्रदेशो दृष्टिरष्टधा।
पंचविज्ञानसहजा धीर्न दृष्टिरतीरणात्॥४१॥

१८ धातुओं में कितने 'दृष्टि' हैं?

---

[1] पृथगजनत्व पर २.४० सी; ६.२६ ए, २८ सी-डी, सिद्धि ६३९ देखिए। विभाषा, ४५, १ में वसुमित्र, भदन्त और घोषक के विविध निर्देश।

[2] न दृष्टिहेयमक्लिष्टं न रूपं नाप्यषष्ठजम्। [व्या० ७८.७] २.१३, ४.११ ए-बी देखिए।

[1] प्रथम अवस्था आनन्तर्य मार्ग की है; दूसरी अवस्था विमुक्ति मार्ग की है, वह मार्ग जिसमें क्लेश विनष्ट होते हैं (६.२८)

४१ ए-बी. चक्षु और धर्मधातु के ८ भाग दृष्टि हैं।[२]

धर्मधातु के यह आठ भाग क्या हैं?

सत्कायदृष्टि आदिक पाँच दृष्टि—इनका व्याख्यान अनुशय कोश स्थान में (५.७) होगा। [८१]लौकिकी सम्यग् दृष्टि अर्थात् मनोविज्ञानसंप्रयुक्त कुशल सास्रव प्रज्ञा (२.२४)—शैक्षी दृष्टि अर्थात् शैक्ष की अनास्रव दृष्टि—अशैक्षी दृष्टि अर्थात् अशैक्ष (६.५०) की अनास्रव दृष्टि। यह ८ धर्म जो धर्मधातु में संगृहीत हैं 'दृष्टि' हैं। दृष्टान्त: यथा रात्रि को और दिन को, समेघ आकाश और अमेघ आकाश में, रूप-दर्शन होता है उसी प्रकार (१) क्लिष्ट लौकिकी दृष्टि से—५ दृष्टियों से, (२) अक्लिष्ट लौकिकी दृष्टि या सम्यक् लौकिकी दृष्टि से; (३) शैक्षी दृष्टि से; (४) अशैक्षी दृष्टि से, धर्म-दर्शन होता है। लौकिकी सम्यग्दृष्टि केवल मनोविज्ञानसंप्रयुक्त प्रज्ञा क्यों समझी जाती है?

४१ सी-डी. जो प्रज्ञा पंच विज्ञानकाय के साथ उत्पन्न होती है वह दृष्टि नहीं है क्योंकि वह उपनिध्यानपूर्वक संतीरण नहीं है।[१] 'दृष्टि' तीरण, संतीरण है अर्थात् उपनिध्यान-पूर्वक[२] निश्चयाकर्षण है। किन्तु पंचविज्ञानसहोत्पन्न प्रज्ञा का यह लक्षण नहीं है। अतः यह 'दृष्टि' नहीं है। अतएव मानसी प्रज्ञा भी चाहे क्लिष्ट हो या अक्लिष्ट, 'दृष्टि' नहीं है अर्थात् जब वह प्रत्यवेक्षणमात्र है (७.१)

किन्तु यह कहा जायगा कि चक्षुरिन्द्रिय उपनिध्यानपूर्वक संतीरण से समन्वागत नहीं है। आप यह कैसे कहते हैं कि यह दृष्टि है? यहाँ 'दृष्टि' का अर्थ रूपों का आलोचन है।

चक्षुः पश्यति रूपाणि सभागं न तदाश्रितम्।
विज्ञानं दृश्यते रूपं न किलान्तरितं यतः ॥४२॥

४२. चक्षु रूप देखता है जब वह सभाग है; यह तदाश्रित विज्ञान नहीं है जो देखता है [८२] क्योंकि अन्तरित रूप नहीं देखा जाता। ऐसा वैभाषिकों का मत है।[१]

---

[२] चक्षुश्च धर्मधातोश्च प्रदेशो दृष्टिरष्टधा। [व्या० ७९.१९]
विसुद्धिमग्ग, ५०९ में 'लौकिकी सम्मादिट्ठि' नहीं है: इसमें केवल वही सम्मादिट्ठि है जो 'मग्गंग', बोज्झंग है (कोश, ६.२९०)।

[१] पंचविज्ञानसहजा धीर्न दृष्टिरतीरणात्॥
छन्द के कारण 'प्रज्ञा' के स्थान में 'धी' (२.५७ डी)।

[२] उपनिध्यान, ८.१.

[१] चक्षुः पश्यति रूपाणि सभागं न तदाश्रितम्।
विज्ञानं दृश्यते रूपं न किलान्तरितम् यतः॥ [व्या० ८०.१५]
न्यायबिन्दुटीकाटिप्पणी, पृ० २६ देखिए; बोधिचर्यावतारपंजिका, पृ० ५२०; अत्थसालिनी पृ० ४००; वारेन (विसुद्धिमग्ग), पृ० २९७; बुद्धिस्ट साइकालोजी पृ० ३५१, टिप्पणी; स्पेन्स हार्डी, मैनुएल पृ० ४१९—
कथावत्थु, १८.९ में यह वाद कि 'चक्षु देखता है' महासांघिकों का बताया गया है। समयभेद, वैसीलीफ, पृ० २६२ से तुलना कीजिए। वैसीलीफ कोश के विवाद को पुनः आरंभ

१. विज्ञानवादी के अनुसार चक्षु नहीं देखता, चक्षुर्विज्ञान देखता है। वह कहता है कि "यदि चक्षु देखता है तो श्रोत्रविज्ञान या कायविज्ञान में व्यासक्त पुद्गल का चक्षु देखेगा (१.६ सी-डी)"। हम यह नहीं कहते कि सब चक्षु देखता है। चक्षु देखता है जब वह सभाग है (१.३९) अर्थात् जब वह चक्षुर्विज्ञानसमंगी है, चक्षुर्विज्ञान को सम्मुख करता है।

किन्तु तब जो देखता है वह चक्षुराश्रित विज्ञान है।

नहीं, क्योंकि कुडच या अन्य किसी व्यवधान से आवृत रूप दिखाई नहीं पड़ता। किन्तु [८३] विज्ञान अमूर्त है, अप्रतिघ (१.२९ बी) है। अतः यदि चक्षुर्विज्ञान देखता होता तो वह व्यवधान से आवृत रूप भी देखता।

विज्ञानवादी उत्तर देता है। आवृत रूप के प्रति चक्षुर्विज्ञान उत्पन्न नहीं होता; उनके प्रति उत्पन्न न होने से यह उनको नहीं देखता।

किन्तु इन रूपों के प्रति यह उत्पन्न क्यों नहीं होता? हम वैभाषिकों के लिए जिनका पक्ष है कि चक्षु देखता है और जो मानते हैं कि चक्षु के सप्रतिघ होने से व्यवहित रूप में चक्षु की वृत्ति का अभाव है यह बताना सुगम है कि चक्षुर्विज्ञान की अन्तरित रूप के प्रति उत्पत्ति क्यों नहीं होती: वास्तव में विज्ञान की प्रवृत्ति उसी एक विषय में होती है जिसमें उसके आश्रय की होती है। किन्तु यदि आपका मत है कि विज्ञान देखता है तो आप इसका कैसे व्याख्यान करते हैं कि व्यवहित रूप में विज्ञान की उत्पत्ति नहीं होती?

२. आचार्य विज्ञानवादी के पक्ष को लेकर कहते हैं और वैभाषिक के अन्तिम उत्तर का विसर्जन करते हैं।

क्या आपका मत है कि चक्षुरिन्द्रिय प्राप्त विषय को देखता है जैसे कायेन्द्रिय स्प्रष्टव्य का

करते हैं, पृ० ३०८ ("डास आगे निख्ट डास मास डे ज़िख्तबारेन ज़ीत" पाठ है, न कि "इस्ट")।

विभाषा, ९५, १. एक मत के अनुसार सब संस्कृत स्वभावतः 'दृष्टि' हैं। 'दृष्टि' से पटु प्रचार का अर्थ लिया जाता है। सब संस्कृतों का यह स्वभाव है। दूसरों का कहना है कि क्लेशों के निरोध और अनुत्पाद का ज्ञान (क्षयानुत्पादज्ञान, ७.१) दृष्टि है।

१३,१. धर्मत्रात कहते हैं कि चक्षुर्विज्ञान रूप देखता है। घोषक कहते हैं कि चक्षुर्विज्ञान-संप्रयुक्त प्रज्ञा रूप देखती है। दार्ष्टान्तिक कहते हैं कि सामग्री रूप देखती है। वात्सीपुत्रीय कहते हैं कि केवल एक चक्षु रूप देखता है......यदि चक्षुर्विज्ञान रूप देखता है तो विज्ञान का स्वभाव दर्शन होगा किन्तु ऐसा नहीं है: अतः यह मत सदोष है। यदि चक्षुर्विज्ञानसंप्रयुक्त प्रज्ञा रूप देखती है तो श्रोत्रविज्ञान से संप्रयुक्त प्रज्ञा शब्द श्रवण करेगी, किन्तु प्रज्ञा का श्रवणस्वभाव नहीं है। अतः यह मत सदोष है। यदि 'सामग्री' रूप देखती है तो रूप-दर्शन सदा होगा क्योंकि 'सामग्री' का सदा सम्मुखीभाव है। यदि एक चक्षु, दो चक्षु नहीं, रूप देखता है तो काय के अंग एक ही समय में स्प्रष्टव्य का प्रतिसंवेदन नहीं करेंगे। यथा दो बाहु में यद्यपि अन्तर है तथापि वह एक साथ स्प्रष्टव्य का अनुभव कर सकते हैं और एक कायविज्ञान का उत्पाद कर सकते हैं। उसी प्रकार इसमें क्या आपत्ति है कि दो चक्षु यद्यपि एक दूसरे से दूर हैं तथापि वह एक साथ देखते हैं और एक चक्षुर्विज्ञान का उत्पाद करते हैं?......

अनुभव करता है ? (१.४३ सी-डी) इस पक्ष में मैं मानूंगा कि चक्षुरिन्द्रिय के सप्रतिघ होने से वह व्यवहित रूप का ग्रहण नहीं करता। किन्तु आपका मत है कि चक्षुरिन्द्रिय दूर से देखता है। अतः आपको यह कहने का अधिकार नहीं है कि सप्रतिघ होने से यह व्यवहित रूप नहीं देखता। पुनः हम काच, अभ्रपटल, स्फटिक और जल से अन्तरित रूप कैसे देखते हैं ?—अतः मैं कहूँगा कि चक्षुर्विज्ञान देखता है ; यह आवृत रूपों के प्रति उत्पन्न होता है जहाँ आलोक में प्रतिबन्ध नहीं है; विपरीत अवस्था में यह नहीं उत्पन्न होता ।[1]

३. वैभाषिक सूत्र का प्रमाण देते हैं। सूत्र-वचन है कि "चक्षु से रूपों को देखकर"।[2] अतः चक्षु देखता है, न कि चक्षुर्विज्ञान ।

[८४] हमारा उत्तर है कि सूत्र का अभिप्राय यह कहने का है कि "चक्षुरिन्द्रिय के आश्रय से (तेन आश्रयेण), चक्षु को आश्रय बना (आश्रित्य), रूप देखकर"। वास्तव में यही सूत्र कहता है कि "मनस् से धर्मों को जान कर (विज्ञाय)": किन्तु अनन्तरातीत मनस् (१.१७) धर्मों को नहीं जानता; मनोविज्ञान से धर्म जाना जाता है। अतः यदि सूत्र-वचन है "मनस् से" तो सूत्र की अभिसन्धि यह कहने की है : "मनोविज्ञान के आश्रय, मन-इन्द्रिय का आश्रय लेकर"। इसी प्रकार दर्शन और चक्षु के लिए समझना चाहिए।

हम यह भी मान सकते हैं कि सूत्र आश्रय में, इन्द्रिय में, आश्रित विज्ञान के कर्म का उपचार करता है। यथा लोक में कहते हैं "मंच चिल्लाते हैं (मंचाः क्रोशन्ति)"। 'मंच' मंचस्थ पुरुष हैं। कहने का यह प्रकार प्रवचन में सामान्य है। सूत्र में पठित है कि "कान्त और अमनाप रूप चक्षु से विज्ञेय हैं।" किन्तु आपका यह मत नहीं है कि चक्षु देखता है। आप के अनुसार विज्ञान देखता है जिसका आश्रय चक्षु है।

सूत्र (संयुक्त, ९, २०) यह भी कहता है कि "हे ब्राह्मण ! रूपों के दर्शन के लिए चक्षुरिन्द्रिय द्वार है।" यह आगम समर्थन करता है कि विज्ञान चक्षुद्वार से देखता है। आपका यह मत नहीं है कि 'द्वार' आख्या का अर्थ 'दर्शन' है क्योंकि यह कहना अयुक्त होगा कि "चक्षुरिन्द्रिय रूपों के दर्शन के लिए दर्शन है।"

४. वैभाषिक का आक्षेप—यदि चक्षुर्विज्ञान देखता है (पश्यति) तो वह कौन है जो जानता है (विजानाति) (१.४८ ए) ? दर्शन और विज्ञान इन दो क्रियाओं में क्या अन्तर है जिसके कारण एक धर्म एक ही समय में देख और जान न सके ? क्या यह नहीं कहा जाता कि एक प्रज्ञाविशेष (दर्शनात्मिका, ७.१) देखता है (पश्यति) और जानता है (प्रजानाति)[1] ?

[८५] इसी प्रकार एक विज्ञान, चक्षुर्विज्ञान, देखता और जानता है। दो नाम से एक ही क्रिया प्रज्ञप्त है।

---

[1] यह भदन्त का वाद है (विभाषा, १३, ७)।

[2] चक्षुषा रूपाणि दृष्ट्वा......३.३२ डी में उद्धृत है [व्या० ८१.१३]। संयुक्त, १३, ४; विभंग, पृ० ३८१; मध्यमकवृत्ति, पृ० १३७; धम्मसंगणि, पृ० ५९७—महासांघिकों का यह तर्क है, कथावत्थु, १८.९.

[1] इस वाक्य से तुलना कीजिए : तस्यैवं जानत एवं पश्यतः....[व्या० ८२.९]

५. 'चक्षुर्विज्ञान देखता है' इस पक्ष के कतिपय वादी अर्थात् वात्सीपुत्रीय आक्षेप करते हैं : यदि चक्षुरिन्द्रिय देखता है तो वह अन्य दृष्टि-क्रिया क्या है जिसे आप इस क्रिया के कर्त्ता इस इन्द्रिय की बताते हैं ?

यह अचोद्य है। यथा आप कर्त्ता और क्रिया के भेद को बिना स्वीकार किए मानते हैं कि विज्ञान जानता है (विजानाति) उसी प्रकार हम कहते हैं कि चक्षु देखता है।

६. एक दूसरे मत के अनुसार अर्थात् धर्मगुप्तों के अनुसार चक्षुर्विज्ञान देखता है किन्तु क्योंकि चक्षुरिन्द्रिय इस विज्ञान का आश्रय है इसलिए कहते हैं कि चक्षु देखता है। यथा लोक में कहते हैं कि घंटा नाद करता है क्योंकि यह नाद का आश्रय है।

किन्तु इस नियम के अनुसार यह भी कहना चाहिए कि चक्षुरिन्द्रिय जानता है (विजानाति) क्योंकि चक्षुर्विज्ञान का यह आश्रय है। नहीं। क्योंकि लोक में दर्शन चक्षुर्विज्ञान के अर्थ में रूढ़ है। वास्तव में जब यह विज्ञान उत्पन्न होता है तब कहते हैं कि 'रूप दृष्ट है', यह कोई नहीं कहता कि रूप विज्ञात है। और विभाषा (९५, २) में भी यही अर्थ अभिहित है : 'दृष्ट' उसे कहते हैं जो चक्षुरिन्द्रिय से संप्राप्त है, जो चक्षुराभासगत है (चक्षुः संप्राप्त = चक्षुराभासगत) और विज्ञान से अनुभूत है। अतः लोक में कहते हैं कि चक्षु देखता है क्योंकि यह देखने वाले चक्षुर्विज्ञान का आश्रय है; यह नहीं कहते कि यह जानता है क्योंकि चक्षुर्विज्ञान की क्रिया दर्शन है, न कि विज्ञान। दूसरी ओर जब कहते हैं कि विज्ञान जानता है तो उनका यह अर्थ नहीं होता कि यह एक विज्ञान के आश्रय-भाव के योग से जानता है जिस तरह कहते हैं कि चक्षु देखता है क्योंकि यह चक्षुर्विज्ञान का आश्रय है। हम जानते हैं कि विज्ञान सान्निध्यमात्र से जानता है, यह स्वयं विज्ञान है। यथा कहते हैं कि सूर्य दिवसकर है।[1]

[८६] सौत्रान्तिक मत—यह निर्व्यापार है। सूत्र में उक्त है कि "चक्षु और रूप के कारण चक्षुर्विज्ञान उत्पन्न होता है" : न कोई इन्द्रिय है जो देखती है, न कोई रूप है जो देखा जाता है; न कोई दर्शन-क्रिया है, न कोई कर्त्ता है जो देखता है; हेतु-फलमात्र है। अपनी इच्छा के अनुसार व्यवहार के लिए उपचार करते हैं : "चक्षु देखता है, विज्ञान जानता है।" किन्तु इन उपचारों में अभिनिविष्ट न होना चाहिए। भगवद्-वचन है कि जनपद-निरुक्ति में अभिनिवेश न करो, लोक-संज्ञा का अतिसरण न करो।[1]

---

[1] भाष्य—विज्ञानं तु सान्निध्यमात्रेण यथा सूर्यो दिवसकर इति। व्याख्या—विज्ञानं तु सांनिध्यमात्रेणेति नाश्रयभावयोगेनेति दर्शयति। यथा सूर्यो दिवसकर इति। यथा सान्निध्यमात्रेण सूर्यो दिवसं करोतीति उच्यते तथा विज्ञानं विजानातीत्युच्यते। कस्मात्। लोके तथा सिद्धत्वात्। [व्या० ८२.२४]

[1] अथवा : "लोक में प्रचलित संज्ञा का त्याग इस कारण नहीं करना चाहिए कि वह असत् वस्तु हैं। [व्या० ८३.३] "जनपदनिरुक्तिं नाभिनिविशेत संज्ञां च लोकस्य नातिधावेत्। (मध्यम ४३, १८; संयुक्त, १३, १२)। मज्झिम, ३.२३० से तुलना कीजिए : जनपद-निरुत्तिं नाभिनिवेसेय्य समञ्ञं नातिधावेय्य; संयुत्त, ४.२३०:

८. काश्मीर वैभाषिकों के अनुसार चक्षु देखता है, श्रोत्र सुनता है, घ्राण सूंघता है, जिह्वा रस लेती है, काय स्पर्श करता है, मनस् जानता है।

उभाभ्यामपि चक्षुर्भ्यां पश्यति व्यक्तदर्शनात्।
चक्षुःश्रोत्रमनोऽप्राप्तविषयं त्रयमन्यथा ।।४३।।

एक चक्षु से या दो चक्षु से रूप देखे जाते हैं?

४३ ए-बी. दो चक्षु से भी रूप देखे जाते हैं क्योंकि दो से शुद्ध दर्शन होता है।[२] कोई नियम नहीं है: एक चक्षु से देखते हैं; दो चक्षु से भी देखते हैं। आभिधार्मिक कहते हैं: "दो चक्षु से भी दर्शन होता है; दो चक्षु जब विवृत हों तब दर्शन परिशुद्धतर होता है।" पुन:[३] जब एक चक्षु उन्मीलित है और दूसरा अर्धनिमीलित है तब दो चन्द्र के दर्शन होते हैं; न कि जब [८७] उन्मीलित चक्षु सर्वनिमीलित या अर्धनिमीलित होता है अथवा जब अर्धनिमीलित चक्षु को सर्वोन्मीलित या सर्वनिमीलित करते हैं।

आश्रय के द्वित्व होने से यह न समझना चाहिए कि दो चक्षुर्विज्ञान हैं क्योंकि रूप के समान विज्ञान रूपी नहीं है; अमूर्त होने से यह देशप्रतिष्ठित नहीं है।

हमने कहा है कि चक्षु देखता है, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, काय प्रत्येक अपने अपने विषय का ग्रहण करता है और मनस् जानता है। क्या यह इन्द्रिय अपने विषय को प्राप्त होते हैं [क्या यह अपने विषय के देश को प्राप्त होते हैं] ?

४३ सी-डी. चक्षु, श्रोत्र, मनस् अप्राप्त अर्थ का ग्रहण करते हैं। अन्य तीन इन्द्रियों के लिए अन्यथा है।[१]

यं च सामं ञ्ञातं तं च अतिधावन्ति, यं च लोके सच्चसंमतं तं च अतिधावन्ति।—इतिवुत्तक, ४९.

[२] उभाभ्यामपि [चक्षुर्भ्यां दर्शनम् शुद्धदर्शनात्]। [व्या० ८३.१०]
ज्ञानप्रस्थान, १, ८ के अनुसार; विभाषा, १३, २.
वात्सीपुत्रीयों के विरुद्ध—ऊपर १.४२ की टिप्पणी के अन्त में देखो।

[३] वसुबन्धु का तर्क, पंचवस्तुक, १.१०.

[१] [अप्राप्तार्थान्यक्षिमनःश्रोत्राणि] त्रयमन्यथा।
अत्थसालिनी, ६२९ से तुलना कीजिए।
विभाषा, १३ पृ. ६३, कालम, २, पंक्ति १३—कहते हैं कि दो अर्थ में प्राप्तविषयत्व होता है: या तो इसलिए कि यह विषयवत् गृहीत होता है या 'उपलब्ध' होता है, अथवा इसलिए कि विषय और इन्द्रिय का निरन्तरत्व है। प्रथम अर्थ में ६ इन्द्रियां विषय को प्राप्त होती हैं। दूसरे अर्थ में केवल तीन इन्द्रिय, घ्राण, जिह्वा और कायेन्द्रिय, विषय को प्राप्त होते हैं; इसके विपरीत तीन इन्द्रिय, चक्षु, श्रोत्र और मनस्, अप्राप्त अर्थ का ग्रहण करते हैं।
चक्षु आलोक के कारण रूप का ग्रहण करता है; जब रूप का इन्द्रिय-सान्निध्य होता है तब यह आलोक में प्रतिबन्ध होता है, तब चक्षु नहीं देखता। आकाश या आकाशधातु के कारण श्रोत्र शब्द का ग्रहण करता है; जब शब्द इन्द्रिय के समीप होता है तब यह आकाशधातु में प्रतिबन्ध नहीं होता: श्रोत्र सुनता है......घ्राणेन्द्रिय वायु के कारण ग्रहण करता है;

(१) १. चक्षु दूर से रूप देखता है; यह आँख के अंजन को नहीं देखता। श्रोत्र दूर के शब्द को सुनता है।

मनस् के अरूपी होने से वह अपने विषय के देश को प्राप्त नहीं होता।

[८८] २. यदि चक्षु और श्रोत्र का प्राप्तविषयत्व हो तो मनुष्यों में ध्यायियों के दिव्य चक्षु और श्रोत्र न हों जैसे उनके दिव्य घ्राण नहीं होता (७.४२)।

आक्षेप—यदि चक्षु अप्राप्तविषय का दर्शन करता है तो वह अतिदूरस्थ या तिरस्कृत रूपों को क्यों नहीं देखता ?[१]

उत्तर—अयस्कान्त सब अप्राप्त लोहे का क्यों नहीं आकर्षण करता ? पुनः प्राप्तविषयत्व में भी समान कठिनाई है : चक्षु संप्राप्त अंजन, शलाकादि अर्थों को क्यों नहीं देखता ? अथवा हम यह कहें कि चक्षु और घ्राण-जिह्वेन्द्रिय के लिए सामान्य नियम है : घ्राण प्राप्त गन्ध का ही ग्रहण करता है किन्तु वह सहभू गन्ध का ग्रहण नहीं करता; इसी प्रकार चक्षु दूरस्थ रूप को देखता है किन्तु सब दूरस्थ रूप को नहीं देखता।

कुछ आचार्यों के अनुसार क्योंकि कर्णाभ्यन्तर के शब्द सुन पड़ते हैं इसलिए यह परिणाम निकाला जा सकता है कि श्रोत्र प्राप्त शब्द सुनता है जैसे यह दूरस्थ शब्द भी सुनता है।[२]

३. अन्य तीन इन्द्रिय, घ्राण, जिह्वा, काय, प्राप्त विषय का ग्रहण करते हैं। घ्राण के लिए ऐसा इसलिए होता है क्योंकि गन्ध-ग्रहण के लिए उच्छ्वास आवश्यक है।[३]

(२) 'प्राप्त' का क्या अर्थ समझना चाहिए ? जब कहते हैं कि इन्द्रिय स्वविषय को 'प्राप्त' होता है, 'प्राप्तविषय होकर' अपने विषय को जानता है तो इस कहने का क्या अभिप्राय है ? 'प्राप्त होना' 'निरन्तरत्व में उत्पन्न होना' है, अविसंयोग की अवस्था में होना है।[४] विषय जो प्रतिक्षण पुनरुत्पन्न होता है (४.२ सी-डी),

---

अब्धातु के कारण जिह्वेन्द्रिय; पृथिवी के कारण कायेन्द्रिय; मनस्कार के कारण मन-इन्द्रिय।

फा-पाओ का कहना है कि चन्द्र का रूप चक्षु से निरन्तरत्व के लिए चन्द्र का त्याग नहीं करता।

आर्यदेव, शतक, २८८ से तुलना कीजिए।

[१] वैशेषिकों का आक्षेप।

[२] संघभद्र इस वाद का प्रतिषेध करते हैं; टाओ थाइ इसे साम्मितीयों का बताते हैं; फा पाओ इसे विभाषा के कुछ आचार्यों का बताते हैं।

[३] संघभद्र इस वाद का विचार करते हैं।

[४] यहां और नीचे (भदन्त का लक्षण, पृ० ९१) हमारे तिब्बती भाषान्तर का निरन्तर का अनुवाद दब्-छा-प है। किन्तु तिब्बती सिद्धान्त जिनका वर्णन वैसीलीफ (पृ० ३०७) ने किया है भदन्त के निरन्तर को अन्य वादियों के निरन्तर के विपक्ष में रखते हैं। बोधिचर्यावतार, पृ० ५१६ के अनुसार इन्द्रिय और विषय का न सान्तर (सव्यवधान) है, न निरन्तर।

[८९] इन्द्रिय के साथ निरन्तरत्व में उत्पन्न पाया जाता है और अन्योन्य।

[निरन्तरत्व से क्या समझना चाहिए? भदन्त के अनुसार, एक दूसरे के पास इस तरह होना जिसमें दोनों में अन्तर न हो; वैभाषिक के अनुसार, सांनिध्य, व्यवधान का अभाव[1]]।

(३) प्रश्न है कि परमाणु स्पर्श करते हैं या नहीं।

१. काश्मीर वैभाषिक (विभाषा, १३२, १) कहते हैं कि परमाणु स्पर्श नहीं करते: (१) यदि परमाणु साकल्येन स्पर्श करते तो द्रव्य अर्थात् विभिन्न परमाणु मिश्रीभूत होते अर्थात् एकदेशीय होते, (२) यदि परमाणु एक देश में स्पर्श करते तो उनके अवयव होते किन्तु परमाणु के अवयव नहीं होते।[2]

किन्तु यदि परमाणुओं में स्पर्श नहीं होता तो शब्द की अभिनिष्पत्ति कैसे होती है?

इसी कारण शब्द संभव है क्योंकि स्पर्श नहीं होता: यदि परमाणुओं का स्पर्श होता तो हाथ से अभ्याहत होने पर हाथ उसमें सक्त हो जाता; पत्थर से अभ्याहत होने पर पत्थर उसमें मिल जाता, जैसे लाक्षा लाक्षा में घुल-मिल जाती है। और शब्द की अभिनिष्पत्ति न होती। किन्तु यदि परमाणु स्पर्श नहीं करते तो संचित या परमाणुओं का संहात प्रत्याहत होने पर

[९०] विशीर्ण क्यों नहीं होता? क्योंकि वायुधातु संघात को संचित करता है या उसका संधारण करता है। एक वायुधातु का कार्य प्रसर्पण है यथा लोकसंवर्तनी वायु; एक वायुधातु का कार्य संचित करना है यथा विवर्तन काल की वायु (३.९१, १००)।[1]

---

[1] संघभद्र (२३.३, ४२ ए १): 'प्राप्त' का क्या अर्थ है? जब विषय की उत्पत्ति इन्द्रिय के सांनिध्य में होती है तब यह उसका ग्रहण करता है। इस प्रकार यदि द्रव्यों को समझना हो तो कह सकते हैं कि घ्राण, जिह्वा और काय प्राप्त विषय का ग्रहण करते हैं; जैसे कहते हैं कि चक्षु वर्त्म, शलाका और अन्य प्राप्त रूपों को नहीं देखता। वर्त्म चक्षु का स्पर्श नहीं करता किन्तु कहते हैं कि चक्षु उसको प्राप्त करता है। क्योंकि वर्त्म की उत्पत्ति चक्षु के सांनिध्य में होती है इसलिए कहते हैं कि यह इसको प्राप्त होता है। क्योंकि चक्षु इस प्रकार संप्राप्त रूप को नहीं देखता इसलिए कहते हैं कि चक्षु अप्राप्त का, न कि प्राप्त का, ग्रहण करता है। पुनः यह अतिदूरस्थ विषय का ग्रहण नहीं करता। इसी प्रकार यद्यपि घ्राण प्राप्त विषय का ग्रहण करता है तथापि यह अति आसन्न का ग्रहण नहीं करता।

[2] वसुबन्धु के विंशक, १२-१४ से तुलना कीजिए; बोधिचर्यावतार, पृ० ५०३; प्रशस्तपाद, पृ०.४३ इत्यादि।

[1] विभाषा, १३२, १ के अनुसार। क्या परमाणु अन्योन्य का स्पर्श करते हैं?—वह स्पर्श नहीं करते। यदि वह स्पर्श करते तो वह सर्वात्मना स्पर्श करते या एकदेशेन स्पर्श करते। यदि वह सर्वात्मना स्पर्श करते तो द्रव्यों का मिश्रीभाव होता। यदि एक देश में स्पर्श होता तो परमाणु के सावयव होने का प्रसंग होता। किन्तु परमाणु के अवयव नहीं होते। [व्या० ८५.२]

किस प्रकार संघात एक दूसरे को प्रत्याहत करते हुए एक दूसरे से वियुक्त नहीं होते? वह वियुक्त नहीं होते क्योंकि वायुधातु उनका संधारण करता है। किन्तु क्या वायुधातु वियुक्त नहीं करता?—कभी करता है, यथा कल्प के अन्त में। कभी

२. [वैभाषिक अपने वाद का उपाख्यान जारी रखते हैं]।[२]

तीन इन्द्रियों के बारे में कहा जाता है कि यह प्राप्तविषय हैं क्योंकि विषय का इनके साथ निरन्तरत्व है। निरन्तरत्व क्या है? निरन्तरत्व इसमें है कि इनके मध्य में कुछ नहीं है (तदेवैषां निरन्तरत्वम् यन् मध्ये नास्ति किंचित्)। यही 'प्राप्त' का भी अर्थ है। पुनः क्योंकि संघात के अवयव होते हैं इसलिए इसमें कोई दोष नहीं है कि संघात स्पर्श करते हैं। और इस दृष्टि से विभाषा के व्याख्यान (७३, १६) युक्त हैं : क्या स्पृष्ट स्पृष्टहेतुक है या अस्पृष्टहेतुक है?"

[९१] यही प्रश्न अस्पृष्ट के लिए है। "इसका आत्यन्तिक उत्तर नहीं हो सकता। कभी अस्पृष्ट स्पृष्टहेतुक होता है जब स्पृष्ट विशीर्ण होता है। कदाचित् स्पष्ट अस्पृष्टहेतुक होता है, जब अस्पृष्ट चय को प्राप्त होता है। कदाचित् स्पृष्ट स्पृष्टहेतुक होता है, जब संघातों का चय होता है। कदाचित् अस्पृष्ट अस्पृष्टहेतुक होता है। यथा गवाक्ष के आकाशधातु में अवलम्बमान रजः कण।"

भदन्त वसुमित्र कहते हैं:"यदि परमाणुओं का स्पृष्टि-योग होता तो उनका उत्तर क्षण में अवस्थान होता।"[१]

(४) वसुबन्धु के मत—१. भदन्त कहते हैं कि 'परमार्थ में स्पर्श नहीं होता। जब उनका निरन्तरत्व होता है तो उपचार से कहते हैं कि परमाणु स्पर्श करते हैं" (विभाषा, १३२, १ में उद्धत, पृ. ९० की टिप्पणी के अन्त में देखिए।) यह मत इष्ट है।[२] वास्तव में यदि परमाणुओं के बीच अन्तर, अवकाश होता तो अन्तरों के आकाशधातु होने से वह क्या है जो शून्य अन्तरों में सान्तर परमाणुओं की गति को प्रतिबद्ध करता? हम मानते हैं कि परमाणु सप्रतिघ हैं।[३]

यह संवारण करता है, यथा कल्प के आरंभ में।
यदि परमाणु स्पर्श नहीं करते तो प्रतिघात से शब्द की अभिनिष्पत्ति कैसे होती है?— इसी कारण शब्द की उत्पत्ति होती है। क्योंकि यदि परमाणुओं का स्पर्श होता तो शब्द की उत्पत्ति कैसे होती? यदि परमाणुओं का स्पर्श होता तो हाथ और जिस शरीर का यह अभिघात करता दोनों का मिश्रीभाव होता और कोई स्वतन्त्र प्रदेश न होता; उस अवस्था में शब्द की उत्पत्ति कैसे होती? वसुमित्र कहते हैं कि "परमाणु स्पर्श नहीं करते : यदि वह स्पर्श करते तो उत्तर क्षण तक उनका अवस्थान होता।" भदन्त कहते हैं : वास्तव में कोई स्पृष्टि नहीं है; जब परमाणुओं की उत्पत्ति निरन्तरत्व में होती है तब संवृतिसत्य के अनुसार स्पृष्ट संज्ञा होती है। क्या स्पृष्ट स्पृष्टहेतुक होता है? ......

[२] विभाषा, १३२, पृ० ६८४, कालम १, पंक्ति ११.

[१] उनको स्पृष्टि-योग के लिए (द्वितीय क्षण) उत्पन्न होना होता है (प्रथम क्षण)। वसुमित्र का मत कूई-की की विंशिका, ३.११ बी में उद्धृत हुआ है।

[२] वसुबन्धु का मत है कि भदन्त 'निरन्तरत्व' से यह समझते हैं कि परमाणुओं के बीच अन्तर नहीं होता। हम देखेंगे कि संघभद्र का भिन्न मत है।

[३] वसुबन्धु के लिए परमाणु का निरन्तरत्व है। उनका कभी मिश्रीभाव नहीं होता क्योंकि सप्रतिघ होने से वह निरन्तरत्व के होते हुए भी पृथक् अवस्थान करते हैं। पृ० २५ देखिए

[९२] २. संघात परमाणु से अन्य नहीं हैं। यह वही परमाणु हैं जो संघात की अवस्था में स्पृष्ट होते हैं यथा उनका रूपण होता है (१.१३)। (संघाते स्पृश्यन्ते यथा रूप्यन्ते।) अतः इसका निषेध करना कि परमाणु स्पृष्ट होते हैं और यह स्वीकार करना कि संघात स्पृष्ट होते हैं अयुक्त है।

३. यदि आप परमाणु के दिग्भागभेद की कल्पना करते हैं तो स्पृष्ट और अस्पृष्ट परमाणु के सावयत्व का प्रसंग होता है। यदि आप इसका निषेध करते हैं तो हम नहीं देखते कि स्पृष्ट परमाणु का भी सावयत्व क्यों हो।[1]

त्रिभिर्घ्राणादिभिस्तुल्यविषयग्रहणं मतम्।
चरमस्याश्रयोऽतीतः पंचानां सहजश्च तैः॥४४॥

(अनुवादक का नोट) यह संघभद्र का प्रधान व्याख्यान है।
न्यायानुसार, १.४३ सी-डी (फ़ोलिओ ४३ ए १७) : भदन्त कहते हैं कि "परमाणु स्पर्श नहीं करते; उपचार से कहते हैं कि वह स्पर्श करते हैं, क्योंकि उनका नैरन्तर्येण अवस्थान है।" सौत्रान्तिक (अर्थात् वसुबन्धु) यह सूचित करते हुए कि यह सुष्ठु वाद है कहते हैं कि "यह वाद सुष्ठु है। अन्यथा परमाणु सान्तर होंगे। यह सान्तर आकाशधातु हैं। अतः परमाणुओं की (एक दूसरे के प्रति) गति को कौन प्रतिबद्ध करेगा? हम मानते हैं कि वह सप्रतिघ हैं।" भदन्त के इस मत का न अभिनन्दन करना चाहिए न उसकी गर्हा करनी चाहिए। केवल इसकी परीक्षा होनी चाहिए कि स्पर्श के बिना सान्तर का अभाव कैसे हो सकता है : युक्ति के स्पष्ट न होने से इस वाद का समझना कठिन है। यदि यह कहते हैं कि परमाणुओं में सान्तर का सर्वथा अभाव होता है और वह कभी मिश्रित नहीं होते तो उनका सावयव होना आवश्यक है। यह अयथार्थ मत ह। पुनः यदि 'निरन्तर' का अर्थ 'बिना अन्तर' के (अनन्तर) है तो परमाणु कैसे स्पर्श नहीं करते? अतः 'निरन्तर' शब्द का अर्थ 'सांनिध्य' है। 'निस्' उपसर्ग का अर्थ 'निश्चय' है। क्योंकि निश्चित रूप से अन्तर है इसलिए परमाणु 'निरन्तर' हैं, 'अन्तरों के साथ' हैं : यथा निर्दहति "वह जलाता है"। अथवा 'निस्' उपसर्ग का अर्थ 'अभाव' ह। परमाणु 'निरन्तर' कहलाते हैं क्योंकि उनके बीच कोई परमाणु के परिमाण का स्पृष्ट रूप नहीं है। जब महाभूत के परमाणु एक दूसरे के सांनिध्य में बिना अन्तर के उत्पन्न होते हैं तो उपचार से कहते हैं कि वह स्पर्श करते हैं। यदि भदन्त का यह अर्थ है तो हम उसका अभिनन्दन करते हैं। ......

[1] संघभद्र इस परिच्छेद को उद्धृत करते हैं (सौत्रान्तिक कहता है कि "यदि तुम मानते हो ....) और पुनः कहते हैं : यह यथार्थ नहीं है। "सावयवत्व" 'दिग्भाग-भेदत्व' यह एक ही भाव के लिए दो शब्द हैं। जब कोई कहता है कि 'परमाणु निरवयव' है' तो इसी से यह भी उक्त होता है कि इसका दिग्भागभेद नहीं हो सकता। आप इस विषय में संदिग्ध कैसे हो सकते हैं और यह कैसे कह सकते हैं कि "यदि आप दिग्भाग-भेद की कल्पना करते हैं.. ....."? क्योंकि परमाणुओं का यह भाग नहीं हो सकता तो वह स्पृष्ट कैसे हो सकते हैं?
हमने बताया है कि स्पर्श सर्वात्मना हो सकता है या एकदेशेन हो सकता है। अतः परमाणु जिसका दिग्भागभेद नहीं हो सकता, स्पृष्ट नहीं हो सकता। अतः आप यह कैसे कह सकते हैं कि 'यदि तुम दिग्भागभेद का निषेध करते हो तो इसमें कोई दोष नहीं है कि परमाणु स्पृष्ट होते हैं।"—अतः परमाणु 'निरन्तर' कहलाते हैं क्योंकि उनके बीच परमाणु के परिमाण का कोई स्पृष्ट रूप नहीं है।"
२.२२ और भूमिका देखिए।
इस सारे विवाद पर संघभद्र, ७, डाकुमेण्ट्स आफ अभिधर्म देखिए।

क्या हम को यह मानना चाहिए कि इन्द्रिय आत्मपरिमाणतुल्य विषय का ही ग्रहण करते हैं—यदि हम यह मानते हैं कि पर्वत के समान महत् अर्थ का सकृत् ग्रहण भ्रम से होता है, तो यह ऐसा इसलिए लक्षित होता है क्योंकि हम पर्वत के प्रदेशों को आशुवृत्या देखते हैं: [९३] यथा अलात चक्र का ग्रहण होता है;—अथवा इन्द्रिय निरपेक्षभाव से आत्म-परिमाणतुल्य और स्वपरिमाण के अतुल्य अर्थ का ग्रहण करते हैं?

४४ ए-बी. घ्राणादि तीन इन्द्रिय तुल्य परिमाण के विषय का ग्रहण करते हैं।[1]

इन्द्रिय के नियतसंख्यक परमाणु विषय के समान संख्यक परमाणुओं को प्राप्त कर विज्ञान का उत्पाद करते हैं। घ्राण, जिह्वा, और काय के लिए ऐसा समझना चाहिए। किन्तु चक्षु और श्रोत्र के लिए कोई नियम नहीं है। कभी विषय इन्द्रिय से स्वल्प होता है, जब बालाग्र को देखते हैं; कभी इन्द्रियतुल्य होता है, जब द्राक्षाफल का दर्शन करते हैं। कभी इन्द्रिय से बड़ा होता है, जब उन्मिषितमात्र चक्षु से पर्वत को देखते हैं। शब्द के लिए यही है: कदाचित् मशक शब्द सुनते हैं, कदाचित् मेघ शब्द सुनते हैं इत्यादि। मन इन्द्रिय के लिए जो अरूपी है प्रश्न नहीं होता।

[यहां इन्द्रियसम्बन्धी कुछ प्रश्न उपस्थित होते हैं।]

१. विविध इन्द्रियों के परमाणुओं का सन्निवेश कैसे होता है? चक्षु के परमाणु अजाजीपुष्प (कालजीरकपुष्प) के समान चक्षुगोलक पर अवस्थित होते हैं अर्थात् एक तल में अवस्थित होते हैं। वह अच्छ वर्ण के चर्म से अवनद्ध होते हैं जो उनके प्रसर्पण में प्रतिबन्ध है। एक दूसरे मत के अनुसार वह एक गुटिका के तुल्य गंभीर संनिविष्ट हैं; स्फटिक के तुल्य अच्छ होने से वह दूसरे को अन्तरित नहीं करते।[2]

श्रोत्रेन्द्रिय के परमाणु भूर्ज के अभ्यन्तर में अवस्थित हैं। कर्ण के अभ्यन्तर में भूर्जपत्र के वर्ण और आकार का भूर्ज पाया जाता है। घ्राणेन्द्रिय के परमाणु घाटा (नासापुटी) के अभ्यन्तर में अवस्थित होते हैं।

[९४] यह पहले तीन इन्द्रिय मालावत् अवस्थित हैं।[1]

जिह्वेन्द्रिय के परमाणु अर्धचन्द्र के आकार में जिह्वा के ऊर्ध्व तल पर अवस्थित हैं। जिह्वा के मध्य में बालाग्र मात्र प्रदेश इन्द्रिय के परमाणुओं से अस्तृत (व्याप्त) नहीं है। आगम में यह मत व्यक्त किया गया है।[2]

---

[1] हम इस पंक्ति का उद्धार कर सकते हैं:
प्राणादिभिस्त्रिभिस्तुल्यविषयग्रहणं मतम्।
विभाषा, १३, ८ के अनुसार।

[2] पहला मत सर्वास्तिवादियों का है।

[1] मालावदवस्थित = मंडलेन समपंक्त्यावस्थित [व्या० ८६.७]

[2] भाष्य में 'किल' है। सामान्यतः वसुबन्धु 'किल' शब्द से वैभाषिकों के सदोष मत को घोषित करते हैं किन्तु यहां व्याख्या कहती है: आगमसूचनार्थः किल शब्दः। [व्या० ८६.८]

कायेन्द्रिय के परमाणु काय के संस्थान के होते हैं।

स्त्रीन्द्रिय के परमाणु भेरी तुल्य होते हैं।

पुरुषेन्द्रिय के परमाणु अंगुष्ठतुल्य होते हैं।

२. चक्षुरिन्द्रिय के परमाणु सर्वात्मना सभाग (१.३९) हो सकते हैं; सर्वात्मना तत्सभाग हो सकते हैं; कोई सभाग, कोई तत्सभाग हो सकते हैं। श्रोत्र, घ्राण और जिह्वेन्द्रिय के लिए भी यही है। किन्तु कायेन्द्रिय के परमाणु सब सभाग नहीं होते; जब प्रतपन नरक (३.५९) की ज्वाला से शरीर व्याप्त होता है तब भी अनन्त परमाणु तत्सभाग होते हैं क्योंकि सिद्धांत कहता है कि यदि काय के सब परमाणु एक ही समय क्रियाशील हों तो काय विशीर्ण हो जाय।

३. ऐसा नहीं होता कि विज्ञान का उत्पाद इन्द्रिय के एक परमाणु और विषय के एक परमाणु से हो। वास्तव में पांच प्रकार के विज्ञान के ५ आश्रय और आलम्बन संचित होते हैं।

इससे यह परिणाम निकलता है कि परमाणुओं का ग्रहण नहीं होता; इसलिए उन्हें 'अनिदर्शन' कहते हैं (१.२० ए-बी, ४.४ से तुलना कीजिए)।

पहले पांच विज्ञानों के विषय उनके सहभू हैं। षष्ठ विज्ञान का विषय उसके पूर्व का, सहोत्पन्न या अपर है। दूसरे शब्दों में यह अतीत, प्रत्युत्पन्न या अनागत (१.२३) है। विज्ञानों के आश्रय के सम्बन्ध में भी क्या ऐसा ही है?

[९५] ४४सी-डी. षष्ठ विज्ञान का आश्रय अतीत है; प्रथम पांच का आश्रय सहज भी है।[1]

मनोविज्ञान का एकमात्र आश्रय मनोधातु है अर्थात् अतीत विज्ञान है (१.१७)।

५ विज्ञानकायों का आश्रय उनका सहज भी है अर्थात् यह विज्ञान के पूर्व का और सहज दोनों है। वास्तव में ५ विज्ञानकायों का आश्रय द्विविध है: १. चक्षुरादि इन्द्रिय जो विज्ञान का सहभू है; २. मन-इन्द्रिय जो विज्ञानोत्पत्ति के क्षण में अतीत होता है।

अतः ५ विज्ञानकायों के दो आश्रय होते हैं।

प्रश्न है कि क्या चक्षुर्विज्ञान का आश्रय इस विज्ञान का समनन्तरप्रत्यय (२.६२) भी है। चार कोटि हैं: १. चक्षु जिसका केवल आश्रयभाव है; २. वेदनादि (२.२४) अतीत चैतसिक धर्मधातु: यह केवल समनन्तरप्रत्यय हैं; ३. अतीत विज्ञान या मनस् जो आश्रय और समनन्तरप्रत्यय इन उभय लक्षणों से युक्त है;

४. कोटित्रयनिर्मुक्त अन्य धर्म।

श्रोत्रविज्ञान, घ्राण०, जिह्वा० और कायविज्ञान के लिए भी ऐसा ही है। मनोविज्ञान का पूर्वपादक है: मनोविज्ञान का जो आश्रय होता है वह इस विज्ञान का सदा समनन्तरप्रत्यय

---

[1] चरमस्याश्रयोऽतीतः पंचानां सहजश्च तैः॥ [व्या० ८६.११]

होता है किन्तु जिसका समनन्तर-प्रत्ययभाव होता है उसका आश्रयभाव नहीं होता : अतीत चैतसिक धर्मधातु आश्रय नहीं हैं।

तद्विकारविकारित्वादाश्रयाश्चक्षुरादयः।
अतोऽसाधारणत्वाच्च विज्ञानं तैर्निरुच्यते ॥४५॥

चक्षुर्विज्ञान चक्षु और रूप पर आश्रित है। विषय को वर्जित कर इन्द्रिय को क्यों विज्ञान का आश्रय अवधारित करते हैं?

[९६] ४५ ए-बी. विज्ञान का आश्रय इन्द्रिय है क्योंकि इन्द्रिय के विकार से विज्ञान में विकार होता है।[1]

जब चक्षु का अनुग्रह होता है (अंजनादि प्रयोग), जब चक्षु का रेणु आदि से उपघात होता है, जब वह पटु होता है, जब वह मन्द होता है तब विज्ञान में उस विकार का अनुविधान होता है, वह सुख-दुःखोत्पाद से सहगत होता है, वह यथाक्रम पटु या मन्द होता है। इसके विपरीत विज्ञान की अवस्था पर विषय का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। अतः इन्द्रिय, न कि विषय, विज्ञान का आश्रय है (२.२ ए-बी)।

विज्ञान विषय को जानता है। उसे इन्द्रिय के नाम से क्यों संज्ञित करते हैं: चक्षुर्विज्ञान ......मनोविज्ञान; विषय के नाम से क्यों प्रज्ञप्त नहीं करते : रूपविज्ञान......धर्मविज्ञान?

४५ सी-डी. अतः और इसलिए भी क्योंकि यह 'असाधारण' है इन्द्रिय के नाम पर विज्ञान का नाम पड़ता है।[2]

इस हेतु से कि इन्द्रिय उसका आश्रय है विज्ञान का निर्देश इन्द्रिय से करते हैं।

क्योंकि इन्द्रिय 'असाधारण' है : एक पुद्गल का चक्षु केवल उस पुद्गल के चक्षुर्विज्ञान मात्र का आश्रय है। इसके विपरीत रूप साधारण है क्योंकि रूप का ग्रहण चक्षुर्विज्ञान और मनोविज्ञान से होता है, एक पुद्गल से और अन्य पुद्गल से होता है।—श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा और कायेन्द्रिय तथा शब्द, गन्ध, रस, स्प्रष्टव्य इन विषयों के लिए भी यही योजना होनी चाहिए। हम निष्कर्ष निकालते हैं कि विज्ञान का नाम इन्द्रिय से निर्दिष्ट होता है क्योंकि इन्द्रिय उसका आश्रय है, क्योंकि इन्द्रिय असाधारण है। विषय के लिए ऐसा नहीं है। लोक में कहते हैं :

'भेरी-शब्द', दण्ड-शब्द नहीं कहते; 'यवांकुर' कहते हैं, क्षेत्रांकुर नहीं कहते।

[९७] सत्त्व कामधातु या प्रथम ध्यानादि भूमि में उत्पन्न होता है। वह उस भूमि का होता है और उस का काय अमुक भूमिक होता है। वह चक्षु से रूप देखता है। प्रश्न है कि काय, चक्षु, रूप और विज्ञान एक ही भूमि के होते हैं या भिन्न भूमि के।

---

[1] **तद्विकारविकारित्वादाश्रयश्चक्षुरादयः।** [**व्या० ८६.३२**]
विभाषा, ७१, १४ के अनुसार।

[2] **अतोऽसाधारणत्वाच्च [तैर्विज्ञानम्......]। [व्याख्या ८७.१८]**

सब भिन्न भूमि के हो सकते हैं।

१. जब कामधातु में उपपन्न सत्त्व स्वभूमि के चक्षु से स्वभूमि के रूप देखता है तो काय, इन्द्रिय, रूप और विज्ञान एक ही भूमि के होते हैं।

जब यह सत्त्व प्रथमध्यानभूमिक चक्षु से स्वभूमिक रूप देखता है तो काय और रूप कामधातु के होते हैं तथा इन्द्रिय और विज्ञान प्रथमध्यानभूमिक होते हैं। यदि वह इसी चक्षु से प्रथमध्यानभूमिक रूप देखता है तो केवल काय कामधातु का होता है, अन्य तीन प्रथम-ध्यानभूमिक होते हैं।

जब यह सत्त्व द्वितीयध्यानभूमिक चक्षु से कामधातु के रूप देखता है तो काय और रूप कामधातु के होते हैं, इन्द्रिय द्वितीय ध्यान का और विज्ञान प्रथम ध्यान का होता है। यदि वह इसी चक्षु से द्वितीयध्यानभूमिक रूप देखता है तो काय कामधातु का होता है, इन्द्रिय और रूप द्वितीय ध्यान के तथा विज्ञान प्रथम ध्यान का होता है (८.१३ ए-सी)।

इसी प्रकार उन कोटियों की योजना करनी चाहिए जिनमें कामधातु में उपपन्न सत्त्व तृतीय-चतुर्थध्यानभूमिक चक्षु से तद्भूमिक या अधरभूमिक रूप देखता है।

२. जब प्रथम ध्यान में उपपन्न सत्त्व तद्भूमिक चक्षुसे तद्भूमिक रूप देखता है तो काय, इन्द्रिय, रूप और विज्ञान एक ही भूमि के होते हैं। यदि वह इसी चक्षु से अधरभूमिक रूप देखता है तो काय, इन्द्रिय और विज्ञान स्वभूमि के, प्रथम ध्यान के, होते हैं।

जब यह सत्त्व द्वितीय ध्यान-चक्षु से स्वभूमि के रूप देखता है तो तीन स्वभूमि (प्रथम ध्यान) के होते हैं, इन्द्रिय द्वितीय ध्यान का होता है। यदि वह इसी चक्षु से कामधातु के [९८] रूप देखता है तो काय और विज्ञान स्वभूमि के (प्रथम ध्यान) होते हैं, रूप अधरभूमिक होता है, इन्द्रिय द्वितीयध्यानभूमिक होता है। यदि वह इसी चक्षु से द्वितीयध्यानभूमिक रूप देखता है तो काय और विज्ञान स्वभूमि के (प्रथम ध्यान) होते हैं, इन्द्रिय और रूप द्वितीय ध्यान के होते हैं।

इसी प्रकार उन कोटियों की योजना होनी चाहिए जिनमें प्रथमध्यानोपपन्न सत्त्व तृतीय-चतुर्थ-ध्यान-चक्षु से तद्भूमिक या अधरभमिक रूप देखता है।

३. इन्हीं नियमों के अनुसार इनकी भी योजना होनी चाहिए : जब एक द्वितीय-तृतीय-चतुर्थध्यानोपपन्न सत्व स्वभूमि या भिन्न भूमि के चक्षु से स्वभूमि या भिन्न भूमि के रूप देखता है। नियम यह है:

न कायस्याधरं चक्षुरूर्ध्वं रूपं न चक्षुषः।
विज्ञानं चास्य रूपं तु कायस्योभे च सर्वतः॥४६॥

४६. चक्षु काय से अधर नहीं है; रूप चक्षु से ऊर्ध्व नहीं है; विज्ञान चक्षु से ऊर्ध्व नहीं है; रूप विज्ञान के सम्बन्ध में तथा रूप और चक्षुर्विज्ञान काय के सम्बन्ध में सर्व प्रकार

का है।[1] कय, चक्षु, रूप पंचभूमिक हैं : कामधातु, ४ ध्यान। चक्षुर्विज्ञान द्विभूमिक है : कामधातु और प्रथम ध्यान (८.१३ ए-सी)।

जिस चक्षु का उपयोग एक सत्त्व करता है वह उस सत्त्व के काय की भूमि का हो सकता है अर्थात् उस भूमि का हो सकता है जहां यह सत्त्व उपपन्न होता है ; यह ऊर्ध्वभूमि का हो सकता है ; यह अधर भूमि का नहीं होता। रूप और विज्ञान, इन्द्रिय के सम्बन्ध में, एक ही भूमि के होते हैं या अधर भूमि के होते हैं; ऊर्ध्व भूमि के कभी नहीं होते। ऊर्ध्वभूमिक रूप अधर भूमि के चक्षु से नहीं देखा जा सकता। ऊर्ध्वभूमिक चक्षुर्विज्ञान अधरभूमिक चक्षु से उत्पन्न नहीं हो सकता। रूप, चक्षुर्विज्ञान के सम्बन्ध में, सम, ऊर्ध्व और अधर होता है।

[९९] रूप और चक्षुर्विज्ञान काय के सम्बन्ध में वैसे ही हैं जैसा रूप विज्ञान के सम्बन्ध में है अर्थात् सम, ऊर्ध्व, अधर हैं।

४७ ए. श्रोत्र का भी ऐसा ही है।[1]

तथा श्रोत्रं त्रयाणां तु सर्वमेव स्वभूमिकम्।
कायविज्ञानमधरस्वभूम्यनियतं मनः ॥४७॥

श्रोत्रेन्द्रिय काय से अधर नहीं है, शब्द श्रोत्रेन्द्रिय से ऊर्ध्व नहीं है और न श्रोत्र-विज्ञान। शब्द विज्ञान के सम्बन्ध में, शब्द तथा विज्ञान काय के सम्बन्ध में, सर्व प्रकार के होते हैं :

४७ ए-बी. तीन इन्द्रियों के लिए सब स्वभूमिक हैं।[2]

घ्राण, जिह्वा और कायेन्द्रिय के लिए काय, इन्द्रिय, विषय और विज्ञान केवल स्वभूमिक हैं अर्थात् उस भूमि के हैं जहां सत्व उपपन्न हुआ है।

इस सामान्य नियम के बताने के पश्चात् आचार्य एक अपवाद सूचित करते हैं।

४७ सी-डी. कायविज्ञान स्वभूमिक या अधरभूमिक होता है।[3] काय, कामधातु और स्प्रष्टव्य सदा उस भूमि के होते हैं जहां सत्त्व उपपन्न होता है। किन्तु कायविज्ञान (१) स्वभूमिक होता है जब सत्व कामधातु में या प्रथम ध्यान में उपपन्न होता है ; (२) अधरभूमिक (प्रथम ध्यान) होता है जब सत्त्व द्वितीय ध्यान में या ऊर्ध्व उपपन्न होता है।

४७ डी. मन नियमित नहीं है।[4]

---

१ न कायस्याधरं चक्षुरूर्ध्वं रूपं न चक्षुषः।
विज्ञानं चास्य रूपं तु कायस्योभे च सर्वतः॥ [व्या० ८८.७]
७.१०७, ८.१५४ देखिए।

१ तथा श्रोत्रम् [व्या० ८९.११]

२ त्रयाणां तु सर्वमेव स्वभूमिकम्।

३ कायविज्ञानं अधरं स्वं चापि

४ अनियतं मनः॥ [व्या० ८९.३४]

कभी मन-इन्द्रिय काय, धर्मधातु और मनोविज्ञान के भूमि का होता है ; कभी यह अधर या ऊर्ध्व होता है। पंचभूमिक—कामावचर और चतुर्ध्यानिक—काय में मनोधातु, धर्मधातु [१००] और मनोविज्ञान, समापत्ति काल में या उपपत्ति काल में, सर्वभूमिक होते हैं—सब भूमियां प्रत्येक अवस्था में समान नहीं होतीं। समापत्ति कोशस्थान में (८.१९ सी-डी) इसका व्याख्यान होगा । हम यहां इसका वर्णन संक्षेप के लिए नहीं करते ; लाभ कम है, कष्ट अधिक है।

पंच बाह्या द्विविज्ञेया नित्या धर्मा असंस्कृताः।
धर्मार्धमिन्द्रियं ये च द्वादशाध्यात्मिकाः स्मृताः॥४८॥

१८ धातु और ६ विज्ञान हैं। किस विज्ञान से कौन धातु जाना जाता है ?

४८ ए. ५ बाह्यधातु दो विज्ञानों से विज्ञेय हैं।[१]

रूप, शब्द, गन्ध, रस और स्प्रष्टव्य चक्षुर्विज्ञान, श्रोत्र°, घ्राण°, जिह्वा° और काय-विज्ञान से यथाक्रम अनुभूत होते हैं। यह सब मनोविज्ञान से विज्ञेय हैं । अतः इन बाह्य धातुओं में से प्रत्येक दो विज्ञानों से विज्ञेय है।

शेष १३ धातु पंच विज्ञानकाय के विषय नहीं हैं; अतः वह एक मनोविज्ञान से विज्ञेय हैं।

कितने धातु नित्य हैं ?

कोई धातु सर्वात्मना नित्य नहीं है। किन्तु

४८ बी. असंस्कृत नित्य धर्म हैं।[२]

असंस्कृत (१.५ बी) धर्मधातु (१.१५ सी) में संगृहीत हैं। अतः धर्मधातु का एक देश नित्य है।

कितने धातु इन्द्रिय हैं (२.१) ?

४८ सी-डी. १२ आध्यात्मिक धातु और धर्मधातु का एक देश इन्द्रिय हैं।[३]

[१०१] सूत्र[१] में २२ इन्द्रिय उक्त हैं : १. चक्षुरिन्द्रिय, २. श्रोत्रेन्द्रिय, ३. घ्राणेन्द्रिय, ४. जिह्वेन्द्रिय, ५. कायेन्द्रिय, ६. मन-इन्द्रिय, ७. पुरुषेन्द्रिय, ८. स्त्रीन्द्रिय, ९. जीवितेन्द्रिय, १०. सुखेन्द्रिय, ११. दुःखेन्द्रिय, १२. सौमनस्येन्द्रिय, १३. दौर्मनस्येन्द्रिय, १४. उपेक्षेन्द्रिय,

---

[१] पंच बाह्या द्विविज्ञेयाः [व्या० ९०.१८]

[२] नित्या धर्मा असंस्कृताः। [व्या० ९०.२२]
असंस्कृत नित्य हैं क्योंकि उनका अध्व-संचार नहीं है (अध्वसंचाराभावात्, ५.२५)—असंस्कृत, नित्य, ध्रुव (४.९) और द्रव्य (१.३८) समानार्थक हैं।

[३] धर्मार्ध इन्द्रियं ये च द्वादशाध्यात्मिकाः स्मृताः ॥ [व्याख्या ९०.२४]
एक दूसरे पाठ के अनुसार (केचित् पठन्ति): धर्मार्धम् [व्या० ९१.९]
धम्मसंगणि, ६६१ देखिए।

[१] व्याख्या में ब्राह्मणजाति श्रोण और भगवत् का संवाद उद्धृत है : इन्द्रियाणीन्द्रियाणि भो गौतम उच्यन्ते। कति भो गौतम इन्द्रियाणि । कियता चेन्द्रियाणां संग्रहो भवति...... [व्या० ९०.२९]

१५. श्रद्धेन्द्रिय, १६. वीर्येन्द्रिय, १७. स्मृतीन्द्रिय, १८. समाधीन्द्रिय, १९. प्रज्ञेन्द्रिय, २०. अनाज्ञातमाज्ञास्यामीन्द्रिय, २१. आज्ञेन्द्रिय, २२. आज्ञातावीन्द्रिय (पृ.११७ देखिए)।

आभिधार्मिक (प्रकरणपाद, फ़ोलिओ .३१ बी) चक्षुरायतन, श्रोत्र, घ्राण०, जिह्वा, काय० और मन-आयतन इस षडायतन-व्यवस्था का अनादर करते हैं। वह मन-इन्द्रिय को जीवितेन्द्रिय के अनन्तर, न कि कायेन्द्रिय के अनन्तर, पढ़ते हैं क्योंकि मन-इन्द्रिय वेदनेन्द्रिय (१०-१४) के समान सालम्बन (१.२९ बी-सी) है और पंचविज्ञानेन्द्रिय (१-५) के समान केवल सविषय नहीं है।[२]

[१०२] २२ इन्द्रियों में ११ अर्थात् जीवितेन्द्रिय (९), ५ वेदनेन्द्रिय (१०-१४), श्रद्धादि ५ इन्द्रिय (१५-१९) और अन्तिम तीन का भाग धर्म धातु के एक देश हैं।[१]

(१) पंच विज्ञानेन्द्रिय जो पाँच धातु और ५ इन्द्रिय हैं (१-५), (२) मन-इन्द्रिय (१.१६ सी) अर्थात् षष्ठ इन्द्रिय जो सप्त चित्त-धातु है और (३) अन्तिम तीन इन्द्रिय का एक भाग—यह १२ आध्यात्मिक धातु हैं। शेष पाँच धातु और धर्मधातु का एक प्रदेश इन्द्रिय नहीं हैं।

धातुनिर्देश समाप्त

---

२ इन्द्रियों का क्रम २.६ में युक्त सिद्ध किया है।
विभंग, पृ.१२२, कथावत्थु, अनुवाद पृ.१६, विसुद्धिमग्ग, १६ में हमारे सूत्र का क्रम पाया जाता है। ज्ञानप्रस्थान के छठे ग्रन्थ इन्द्रियस्कन्धक में भी (ताकाकुसु, अभिधर्म लिटरेचर, जे० पी० टी० एस. १९०५, पृ.९३)।
अनुरुद्ध के क्षुद्र ग्रन्थ (काम्पेण्डियम पृ.१७५) का क्रम वही है जो प्रकरणपाद का है।
महाव्युत्पत्ति (१०८) की सूची में जीवितेन्द्रिय सब के अन्त में है।

१ अन्तिम तीन इन्द्रिय (१-३) तीन वेदनेन्द्रिय, (४-८) श्रद्धादि पांच इन्द्रिय, (९) मन-इन्द्रिय (२.४) हैं। १-८ धर्मधातु हैं।

अभिधर्मकोश

३

द्वितीय कोशस्थान

इन्द्रिय

[१०३] इन्द्रिय (१-२१), परमाणु (२२), चैत्त (२३-३४), चित्तविप्रयुक्त धर्म (३५-४८), हेतु-फल (४९-९३)

१. इन्द्रिय (१-२१)

धातुओं में (१.४८) हमने इन्द्रियों को परिगणित किया है।

'इन्द्रिय' शब्द का क्या अर्थ है ?

'इदि' धातु का अर्थ परमैश्वर्य है (धातुपाठ, १.६४)। जिसकी परमैश्वर्य की प्रवृत्ति होती है वह इन्द्रिय कहलाता है। अतः सामान्यतः इन्द्रिय का अर्थ 'अधिपति' है।[1]

चतुर्ष्वर्थेषु पंचानामाधिपत्यं द्वयोः किल।
चतुर्णां पंचकाष्टानां संक्लेशव्यवदानयोः ॥१॥

प्रत्येक इन्द्रिय के आधिपत्य का क्या विषय है ?

१. सिद्धान्त के अनुसार पाँच का आधिपत्य चार अर्थों में है; चार का दो अर्थों में; पाँच, आठ का संक्लेश और व्यवदान में।[2]

१. चक्षुरिन्द्रियादि ५ इन्द्रियों में से—५ विज्ञानेन्द्रियों में से—प्रत्येक (१) आत्मभावशोभा, (२) आत्मभाव-परिरक्षण,

[१०४] (३) विज्ञान और तद्विज्ञान-संप्रयुक्त चैतसिकों का उत्पाद, (४) असाधारणकारणत्व, इन विषयों में अधिपति है (विभाषा, १४२, १०)।

चक्षु और श्रोत्र (१) शोभा में अधिपति हैं क्योंकि जिस शरीर में उनका अभाव होता है वह सुरूप नहीं होता (१.१९); (२) परिरक्षण में अधिपति हैं क्योंकि देखकर और

---

[1] २.२ ए पर नीचे, आधिपत्य=अधिकप्रभुत्व।
सेन्ट पीटर्सबर्ग डिक्शनरी में उद्धृत सिद्धान्तकौमुदी देखिए;
गार्बे: सांख्य फिलासफी २५७। अत्थसालिनी, ३०४ इत्यादि में दिए हुए इन्द्रियों के व्याख्यान से तुलना कीजिए। 'इदि' के लिए जिस चीनी शब्द का प्रयोग हुआ है उसका अर्थ है 'अधि-पति'।

[2] [चतुर्ष्वर्थेषु पंचानाम् आधिपत्यम्] द्वयोः किल।
[चतुर्णां पंचकाष्टानां] संक्लेशव्यवदानयोः ॥
समयप्रदीपिका की कारिका २.१ में 'किल' शब्द नहीं है; वसुबन्धु इस शब्द से सूचित करते हैं कि वह वैभाषिक मत से सहमत नहीं हैं। कारिका २.२-४ जहाँ वसुबन्धु सौत्रान्तिक मत का व्याख्यान करते हैं समयप्रदीपिका में नहीं हैं।

सुनकर पुद्गल विषम-परिहार करता है; (३) चक्षुर्विज्ञान और श्रोत्रविज्ञान इन दो विज्ञानों के तथा उनके संप्रयोग चैतसिक धर्मों के उत्पाद में अधिपति हैं; (४) असाधारणकारणत्व में अधिपति हैं: रूपदर्शन, शब्दश्रवण।

घ्राण, जिह्वा और कायेन्द्रिय का (१) पूर्ववत् आत्मभावशोभा में आधिपत्य है; (२) कवडीकार-आहार (३.३९) के परिभोग से परिरक्षण में आधिपत्य है; (३) तीन विज्ञानों के उत्पाद में आधिपत्य है; (४) असाधारणकारणत्व में आधिपत्य है: गन्ध-घ्राण, रसों का आस्वादन, स्प्रष्टव्यों का स्पर्श।

२. चार इन्द्रिय अर्थात् पुरुषेन्द्रिय, स्त्रीन्द्रिय, जीवितेन्द्रिय और मन-इन्द्रिय इनमें से प्रत्येक का आधिपत्य दो अर्थों में है (विभाषा, १४७, १०)।

(१) पुरुषेन्द्रिय और स्त्रीन्द्रिय का आधिपत्य (१) सत्वभेद में है: इन दो इन्द्रियों के कारण सत्वों में स्त्री-पुरुष-भेद होता है; (२) सत्वविकल्प-भेद में है: इन दो इन्द्रियों के कारण स्त्री-पुरुष में संस्थान, स्वर और आचार का अन्यथात्व होता है।[1]

अन्य आचार्य[2] इस व्याख्यान को स्वीकार नहीं करते। वास्तव में रूप-धातु के देवों में जो पुरुषेन्द्रिय-स्त्रीन्द्रिय में समन्वागत नहीं होते (१.३०) सत्त्व-विकल्प-भेद होता है और इन भेदों के कारण सत्त्व स्त्री-पुरुष में विभक्त होते हैं।

[१०५] अतः यदि पुरुषेन्द्रिय और स्त्रीन्द्रिय का आधिपत्य दो दृष्टि से है तो वह संक्लेश और व्यवदान में अधिपति हैं: वास्तव में स्त्री-पुरुषेन्द्रिय से वियुक्त-विकल, षण्ढ, पण्डक और उभयव्यंजनों के (१) सांक्लेशिक धर्म नहीं होते: असंवर (४.१३ बी), आनन्तर्य (४.१०३), कुशलमूल-समुच्छेद (४.८०) और (२) वैयवदानिक धर्म यथा संवर (४.१३ बी), फलप्राप्ति (६.५१), वैराग्य (६.४५ सी) नहीं होते (२.१९ सी-डी देखिए)।

(२) जीवितेन्द्रिय का आधिपत्य (१) निकायसभाग (२.४२ ए) के सम्बन्ध में है अर्थात् निकायसभाग की उत्पत्ति में है; (२) निकायसभाग के संधारण में है अर्थात् जन्म से मृत्युपर्यन्त उसके अवस्थान में है।

(३) मन-इन्द्रिय का आधिपत्य (१) पुनर्भव-सम्बन्ध में है जैसा कि सूत्र में उक्त है: "जब गन्धर्व में, अन्तराभव के सत्व में, इन दो चित्तों में से एक चित्त, रागचित्त या द्वेषचित्त, उत्पन्न होता है ...." (३.१५); (२) वशीभावानुवर्तन में है: जैसा निम्न गाथा में उक्त है कि लोक और धर्म चित्त के वशीभूत हैं:—

---

[1] बुद्धघोष अत्थसालिनी (६४१) में बताते हैं कि बालकों के खेल बालिकाओं के खेल से भिन्न हैं इत्यादि। विभाषा, १४२ के अन्त में; अत्थसालिनी, ३२१—"स्त्रियों की आकृति स्त्रीन्द्रिय नहीं है। स्त्रीन्द्रिय के कारण आकृति का उत्पाद प्रवृत्ति-काल में होता है।"

[2] व्याख्या के अनुसार पूर्वाचार्य [व्या० ९४.१३]

"चित्त से लोक उपनीत होता है, चित्त से परिक्लिष्ट होता है: सब धर्म इस एक धर्म चित्त के वशानुवर्ती हैं।"[1]

३. पाँच वेदनेन्द्रिय अर्थात् सुख, दुःख, सौमनस्य, दौर्मनस्य, उपेक्षा (२.७), यह ५ वेदना और श्रद्धादि ८ इन्द्रिय अर्थात् श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञा (२.२४) और तीन अनास्रव इन्द्रिय (२.१०)—यह यथाक्रम संक्लेश और व्यवदान में अधिपति हैं।

[१०६] वेदनेन्द्रिय का संक्लेश में आधिपत्य है क्योंकि रागादि अनुशय वेदनाओं में व्यासक्त होते हैं, वहाँ अनुशयन करते हैं (तदनुशयित्वात्) । [व्या ९५.२४ में तदनुशायित्वात् पाठ है]। श्रद्धा तथा अन्य सात इन्द्रियों का आधिपत्य व्यवदान में है क्योंकि इनके कारण विशुद्धि का लाभ होता है[1] । अन्य आचार्यों के अनुसार (विभाषा, १४२, ११) वेदनेन्द्रियों का आधिपत्य व्यवदान में भी है क्योंकि सूत्र में कहा है: सुखितस्य चित्तं समाधीयते[2] [व्या ९६.१], दुःखोपनिषच्छ्रद्धा[3], षण्नैष्कम्याश्रिताः सौमनस्यादयः[4] [व्या ९६.१, ४] । यह वैभाषिकों का व्याख्यान है।

---

[1] चित्तेन नीयते लोकश्चित्तेन परिकृष्यते।
एकधर्मस्य चित्तस्य सर्वे धर्मा वशानुगाः॥ [व्या० ९५.२२]
संयुत्त, १.३९.
असंग (सूत्रालंकार, १८.८३, पृ. १५१, लेवी द्वारा संपादित) संस्कारों पर चित्त के आधिपत्य को प्रदर्शित करते हैं: चित्तेनायं लोको नीयते चित्तेन परिकृष्यते चित्तस्योत्पन्नस्य वशे वर्तते (अंगुत्तर, २.१७७)।
मनस् संक्लेश और व्यवदान में अधिपति है, विभाषा १४२, पृ० ७३१, ७३२ (भदन्त कुशवर्मन्); सिद्धि, २१४।

[1] शुआन् चाङः "क्योंकि सर्व अनास्रव धर्म उनके पश्चात् उत्पन्न और विपुलता को प्राप्त होते हैं।"

[2] "जो सुखावेदना का प्रतिसंवेदन करता है उसका चित्त समाहित होता है।" विमुक्त्यायतन सत्र से उद्धृत; यह व्याख्या, पृ. ५६ (पैट्रोग्राड संस्करण) [व्या० ५४.७] (१.२७) में उद्धृत है; महाव्युत्पत्ति, ८१.

[3] "श्रद्धा दुःखहेतुका ह," संयुत्त, २.३१—'उपनिषद्' शब्द के इस अर्थ के लिए (=हेतु) नीचे २.४९ (हेतु और प्रत्यय पर टिप्पणी) देखिए, अंगुत्तर, ४.३५१=सुत्तनिपात (द्वयतानुपस्सनासत्त) (...का उपनिसा सवनाय), सूत्रालंकार, ११.९ (योगोपनिषद् =योगहेतुक)—'तुलना' 'संयोग' के अर्थ में पाणिनि, १.४, ७९, वज्रच्छेदिका, ३५, १०, ४२, ७ और हार्नले मैनुस्क्रिप्ट रिमेन्स, १. पृ. १९२ (उपनिषां न क्षमते), सुखावती व्यूह, ३१, ९, महाव्युत्पत्ति, २२३, १५—'उपांशु' के अर्थ में यशोमित्र (२.४९ पर) दीघ, २.२५९ का उल्लेख करते हैं (सूर्योपनिषदो देवाः=सुरियस्सूपनिस्सा देवा) : उपनिषच्छब्दस्तु कदाचित् उपांशौ कदाचित् प्रामुख्ये तद्यथा सूर्योपनिषदो देवा इत्युपांशुप्रयोग उपनिषत्प्रयोग इति (ई० लाएमान, जेड डी एम जी० ६२, पृ. १०१ के अनुसार उपनिश्चा= उपनिस्सा=ग्रुण्डलागे, नाहे, जिससे विशेषण 'उपनिस्त' है)—मिनाएव, जापिस्की, २.३, २७७ देखिए; वोगिहारा, जेड डी एम जी० ५८, ४५४
(दानोपनिषदा शीलोपनिषदा......प्रज्ञया) और असंग की बोधिसत्वभूमि, पृ. २१; एस. लेवी, सूत्रालंकार, ११.९ पर

[4] सूत्र कहता है: चक्षुर्विज्ञेयानि रूपाणि प्रतीत्योत्पद्यते सौमनस्यं नैष्कम्याश्रितम् ।...मनः

[१०७] सौत्रान्तिक[1] इसकी आलोचना करते हैं: (१) चक्षुरादि इन्द्रिय का आधिपत्य आत्मभाव-परिरक्षण में नहीं है। यहाँ आधिपत्य चक्षुर्विज्ञान, श्रोत्रविज्ञान आदि विज्ञान का है अर्थात् जान कर ही विषम-परिहार होता है, जान कर ही कबडीकार-आहार का परिभोग होता है। (२) असाधारणकारणत्व अर्थात् रूप-दर्शन आदि विज्ञान से अन्य नहीं है, यह विज्ञान का (१.४२) है, इन्द्रिय का नहीं।—अन्य इन्द्रियों के आधिपत्य का व्याख्यान भी समान रूप से अयुक्त है।

अतः इन्द्रियों के आधिपत्य का क्या अर्थ है ?

स्वार्थोपलब्ध्याधिपत्यात् सर्वस्य च षडिन्द्रियम्।
स्त्रीत्वपुंस्त्वाधिपत्यात्तु कायात् स्त्रीपुरुषेन्द्रिये ॥२॥

२ ए-बी. (१) अपने अर्थ की उपलब्धि में (२) सर्वार्थ की उपलब्धि में आधिपत्य होने से ६ इन्द्रिय हैं।[2]

अर्थात् ६ विज्ञानकाय के सम्बन्ध में उनका आधिपत्य होने से। चक्षुरादि पाँच इन्द्रिय का चक्षुर्विज्ञानादि ५ विज्ञानकाय में आधिपत्य है। इनमें से प्रत्येक रूपादि का अर्थात् अपने-अपने अर्थ का ग्रहण करता है। मन-इन्द्रिय का आधिपत्य मनोविज्ञान पर है जो सब अर्थों की उपलब्धि करता है। इस प्रकार ६ इन्द्रिय अधिपति हैं। किन्तु क्या यह कहा जाएगा कि रूपादि इन्द्रिय-विषय का भी विज्ञान पर आधिपत्य है और इसलिए इन अर्थों को भी इन्द्रिय समझना चाहिए ? वास्तव में यह अधिपति नहीं हैं। 'आधिपत्य' का अर्थ 'अधिकप्रभुत्व' है। चक्षु का आधिपत्य है (१) क्योंकि सर्व रूपोपलब्धि का सामान्य कारण होने से यह रूपोपलब्धि की उत्पत्ति में इस अधिकप्रभुत्व का प्रयोग करता है किन्तु प्रत्येक रूप केवल एक विज्ञान की उत्पत्ति में ही कारण होता है; (२) चक्षु की पटुता या मन्दता के अनुसार उपलब्धि भी स्पष्ट या अस्पष्ट, पटु या मन्द होती है:

[१०८] रूप का ऐसा ऐश्वर्य नहीं है। अन्य विज्ञानेन्द्रिय और उनके अर्थ के लिए भी (१.४५ ए-बी) यही योजना करनी चाहिए।

२ सी-डी. पुंस्त्व और स्त्रीत्व पर उनका आधिपत्य होने से काय में पुरुषेन्द्रिय और स्त्रीन्द्रिय का विशेष करते हैं।[1]

प्रतीत्य धर्मांश्चोत्पद्यते सौमनस्यम्।...दौर्मनस्यम्...उपेक्षा [व्या० ९६.७] नैष्क्रम्य='अनास्रव या सास्रव मार्ग' अथवा 'निष्क्रमण अथवा धातु या संसार से वैराग्य'—४.७७ बी-सी भी देखिए। आश्रित='जिसका आलम्बन है' या 'अनुकूल'। अतः यह अर्थ है: "रूपादि के कारण ६ सौमनस्य, ६ दौर्मनस्य, ६ उपेक्षा हैं जो नैष्क्रम्य के अनुकूल हैं।" मज्झिम, ३.२१८, संयुत्त, ४.२३२, मज्झिम, ३.२१७, मिलिन्द, ४५ (नेक्खम्मसित) से तुलना कीजिए।

[1] वसुबन्धु कहते हैं: "अन्य आचार्य..."

[2] [स्व] सर्वार्थोपलब्धौ [त्वाधिपत्यादिन्द्रियाणि षट्]
[व्या० ९६.२३ में स्वार्थोपलब्ध्याधिपत्यात् पाठ है]

[1] [स्त्रीत्वे पुंस्त्वे चाधिपत्यात्] कायात् स्त्रीपुरुषेन्द्रिये॥ [व्या० ९७.५]

पुरुषेन्द्रिय और स्त्रीन्द्रिय कायेन्द्रिय के भाग हैं। यह दो इन्द्रिय कायेन्द्रिय से पृथक् नहीं हैं। यह स्प्रष्टव्य विज्ञान के जनक हैं। किन्तु कायेन्द्रिय के एक भाग को पुरुषेन्द्रिय या स्त्रीन्द्रिय कहते हैं क्योंकि इस भाग का पुंस्त्व या स्त्रीत्व पर अधिक ऐश्वर्य है। स्त्रीत्व[2] स्त्री की आकृति-स्वर-चेष्टा-अभिप्राय है। पुंस्त्व को भी इसी प्रकार समझना चाहिए। काय के इन दो भागों के कारण दो स्वभावों में भेद है। इसलिए हम जानते हैं कि इन दो भागों का इन दो स्वभावों पर आधिपत्य है। अतः वह इन्द्रिय हैं।

३. निकाय-स्थिति, संक्लेश और व्यवदान पर इनका आधिपत्य होने से जीवितेन्द्रिय, वेदनेन्द्रिय और श्रद्धादि पंचक की इन्द्रियता मानी जाती है।[3]

१. जन्म से मरणपर्यन्त निकायसभाग की स्थिति पर जीवितेन्द्रिय का आधिपत्य है। किन्तु इसका आधिपत्य निकायसभाग-सम्बन्ध पर नहीं है जैसा कि वैभाषिक कहते हैं। यह सम्बन्ध मनस् पर ही आश्रित है।

२. संक्लेश पर ५ वेदनाओं का आधिपत्य है क्योंकि सूत्र[4] कहता है कि "सुखावेदना [१०९] में राग अनुशयन करता है, दुःखावेदना में द्वेष, अदुःखासुखा में मोह[1]"—यहाँ सौत्रान्तिकों का वैभाषिकों के साथ ऐकमत्य है।

निकायस्थितिसंक्लेशव्यवदानाधिपत्यतः।
जीवितं वेदनाः पंच श्रद्धाद्याश्चेन्द्रियं मताः ॥३॥

३. श्रद्धादि पंचक—श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि, प्रज्ञा—का आधिपत्य व्यवदान में है क्योंकि उनके बल से क्लेश का विष्कंभन (विष्कम्भ्यन्ते) और आर्यमार्ग का आवाहन होता है (आवा ह्यते)[2]।

आज्ञास्याम्याख्यमाज्ञाख्यमाज्ञातावीन्द्रियं तथा।
उत्तरोत्तरसंप्राप्तिनिर्वाणाद्याधिपत्यतः ॥ ४ ॥

४. निर्वाणादि के उत्तरोत्तर-प्रतिलंभ में इनका आधिपत्य होने से अनाज्ञातमाज्ञास्यामीन्द्रिय, आज्ञेन्द्रिय, आज्ञातावीन्द्रिय उसी प्रकार इन्द्रिय हैं।[3]

---

[2] धम्मसंगणि, ६३३ और अत्थसालिनी, ६४१ से तुलना कीजिए।

[3] निकायस्थितिसंक्लेशव्यवदाना [धिपत्यतः।
(जीवितवित्तिश्रद्धादिपंचकेन्द्रियता मता] ॥

[4] जापानी संपादक मध्यमागम १७, ११ का हवाला देते हैं।—
संयुत्त, ४.२०८ से तुलना कीजिए: यो सुखाय वेदनाय रागानुसयो सो अनुसेति।

[1] सुखायां वेदनायां रागोऽनुशेते। दुःखायां द्वेषः। अदुःखा-सुखायां मोहः। 'सुखा' से सौमनस्य भी समझना चाहिए...... २.७ देखिए।
५.२३ और ५४ से तुलना कीजिए; योगसूत्र, २.७-८ से भी—सुखानुशयी रागः। दुःखानुशयी द्वेषः।

[2] लौकिकमार्गगत श्रद्धादिपंचक क्लेशों का विष्कम्भन करते हैं; निर्वेधभागीयगत (६.४५सी) श्रद्धादि से मार्ग का आवाहन होता है; जब यह अनास्रव हैं तब अनाज्ञातमाज्ञास्यामि आदि इन्द्रिय (२.९ बी, ६.६८) होते हैं।

[3] परमार्थ और शुआन् चाङ प्रथम पंक्ति का इस प्रकार अनुवाद करते हैं: "निर्वाणादि, उत्तरो-

"तथा" अर्थात् उसी प्रकार यह तीन इन्द्रिय माने जाते हैं। यह तीन अनास्रव इन्द्रिय हैं। इनका लक्षण २.१० ए-बी में बताया गया है।

१. द्वितीय के प्रतिलम्भ में प्रथम का आधिपत्य है।

तृतीय के प्रतिलम्भ में द्वितीय का आधिपत्य है।

निर्वाण अर्थात् निरुपधिशेषनिर्वाण के प्रतिलम्भ में तृतीय का आधिपत्य है। क्योंकि अविमुक्त चित्त का परिनिर्वाण नहीं होता।[४]

[११०] २. 'आदि' शब्द सूचित करता है कि एक दूसरा व्याख्यान है। प्रथम का उन क्लेशों के क्षय पर आधिपत्य है जो दर्शनहेय हैं (५.४)। द्वितीय का उन क्लेशों के क्षय पर आधिपत्य है जो भावनाहेय हैं (५.५ ए)। तृतीय का दृष्टधर्मसुखविहार के प्रति अर्थात् क्लेशविमुक्ति से प्रीति (=सौमनस्य)-सुख (=प्रश्रब्धि-सुख, ८.९ बी) के प्रतिसंवेदन के प्रति आधिपत्य है। (पृ० ११२ देखिए)

चित्ताश्रयस्तद्विकल्पः स्थितिः संक्लेश एव च।
संभारो व्यवदानं च यावता तावदिन्द्रियम् ॥५॥

केवल २२ इन्द्रिय क्यों परिगणित हैं? यदि आप 'इन्द्रिय' उसको मानते हैं जिसका आधिपत्य है तो अविद्या और प्रतीत्यसमुत्पाद (३.२१) के अन्य अंग इन्द्रिय होंगे क्योंकि हेतु (अविद्यादि) का आधिपत्य कार्य (संस्कारादि) पर है। इसी प्रकार वाक्-पाणि-पाद-पायु-उपस्थ का भी वचन, आदान, विहरण (=चंक्रमण), पुरीषोत्सर्ग, आनन्द के प्रति इन्द्रियत्व होगा।[१]

हमारा उत्तर है कि जिस अर्थ से भगवत् ने २२ इन्द्रियाँ कहीं हैं उस अर्थ से इस सूची में अविद्यादि का अयोग है। इन्द्रियों की संख्या नियत करने में भगवत् ने निम्न बातों का विचार किया है:—

५. चित्त का आश्रय, चित्त के आश्रय का विकल्प, स्थिति और संक्लेश, व्यवदान-संभार और व्यवदान—एतावत् इन्द्रिय है।[२]

त्तर मार्ग के प्रतिलम्भ में उनका आधिपत्य होने से"। तिब्बती=निर्वाणाद्युत्तरोत्तर-प्रतिलम्भेऽधिपत्यतः। धम्मसंगणि, २९६, ५०५, ५५३; नेत्तिप्पकरण, १५, ६०; काम्पेण्डियम, पृ० १७७.

[४] आज्ञातावीन्द्रिय अर्हत्व से मिश्रित है। इसमें क्षयज्ञान और अनुत्पादज्ञान संगृहीत हैं: यह ज्ञान कि क्लेशों का क्षय हो गया है और उनका अब और उत्पाद नहीं होगा, इत्यादि (६.४५, नेत्तिप्पकरण, पृ० १५)। वह क्लेशविमुक्ति और संतान-विमुक्ति से विमुक्त है: अतः उसका परिनिर्वाण या निरुपधिशेषनिर्वाण में आधिपत्य है।

[१] सांख्यों का आक्षेप—सांख्यकारिका, ३४.

[२] चित्ताश्रयस्तद्विकल्पः [स्थितिः संक्लेश एव च
संभारो व्यवदानं च यावदेतावदिन्द्रियम्] ॥ [व्या० ९८.१]
समयप्रदीपिका में इस कारिका की संख्या दो है।

१. चित्त का आश्रय अर्थात् ६ विज्ञानेन्द्रिय, चक्षु से आरम्भ करके यावत् मनस्। यह ६ आध्यात्मिक आयतन (१.३९, ३.२२) हैं जो मौल सत्त्व-द्रव्य हैं।[3]

[१११] २. यह षड्विध आश्रय पुरुषेन्द्रिय-स्त्रीन्द्रिय के कारण विशिष्ट होता है।

३. जीवितेन्द्रियवश यह एक काल के लिए अवस्थान करता है।

४. पांच वेदनाओं से यह संक्लिष्ट होता है।

५. श्रद्धादि पंचक से इसका व्यवदान-संभरण होता है।

६. तीन अनास्रव इन्द्रियों से इसका व्यवदान होता है। सत्त्व और द्रव्यसत्त्व के विकल्पादि के विषय में जिन धर्मों का अधिपतिभाव होता है वह इन्द्रिय माने जाते हैं। वाक् आदि अन्य धर्मों में इस लक्षण का अभाव होता है।

प्रवृत्तेराश्रयोत्पत्तिस्थितिप्रत्युपभोगतः ।
चतुर्दश तथान्यानि निवृत्तेरिन्द्रियाणि वा ॥६॥

अन्य आचार्यों का दूसरा कल्प है:

६. अथवा १४ इन्द्रिय प्रवृत्ति के आश्रय, इस आश्रय की उत्पत्ति, स्थिति और उपभोग हैं; अन्य इन्द्रियों का निर्वाण के प्रति यही उपयोग है।[१]

'वा' से अन्य आचार्यों के व्याख्यान का आरंभ सूचित होता है (अपरः कल्पः) [व्या० ९८. १२]

(१-६) चक्षुरायतन से यावत् मन-आयतन, यह षडायतन (३.२२), संसार के आश्रय हैं।[२]

(७-८) पुरुषेन्द्रिय-स्त्रीन्द्रिय से षडायतन की उत्पत्ति होती है।[3]

(९) जीवितेन्द्रिय से षडायतन की स्थिति होती है।

(१०-१४) ५ वेदनाओं से षडायतन का उपभोग होता है।

दूसरे पक्ष में :

[११२] (१५-१९) श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञा यह पंचेन्द्रिय निवृत्ति (= निर्वाण) (१.६ ए-बी) के आश्रय (प्रतिष्ठा) हैं ।

---

[3] यह शब्द हमको १.३५ में मिला है (पृ. १११ टिप्पणी २ भी देखिए)। इन्द्रिय के ६ अधिष्ठान (इन्द्रियाधिष्ठान) अर्थात् चक्षुरूप आदि और ६ विज्ञान-काय (षड् विज्ञानकायाः) भी सत्वद्रव्य हैं किन्तु मौल नहीं हैं क्योंकि वह षडिन्द्रिय के आधिपत्य से संभूत हैं।

[१] प्रवृत्तेराश्रयोत्पत्ति [स्थित्युपभोगतोऽथवा ।
चतुर्दश तथान्यानि निवृत्ताविन्द्रियाणि च] ॥ [व्या० ९८.१३]

[२] षडायतनं मूलसत्वद्रव्यभूतं संसरतीति प्रवृत्तेराश्रयः। [व्या० ९८.२१]—
षडायतन प्रधानतः सत्व है जिसके बारे में कहते हैं कि संसरण करता है; अतः यह प्रवृत्ति का आश्रय है।

[3] प्रतिसन्धि-काल में केवल दो आयतन, काय और मनस्, होते हैं (२.१४)।

(२०) प्रथम अनास्रव इन्द्रिय से अर्थात् अनाज्ञातमाज्ञास्यामीन्द्रिय से निर्वाण का प्रभव, आदिभाव होता है ।

(२१) द्वितीय अनास्रव इन्द्रिय-आज्ञेन्द्रिय–से निर्वाण की स्थिति, विपुलता होती है।

(२२) तृतीय अनास्रव इन्द्रिय-आज्ञातावीन्द्रिय–से निर्वाण का उपभोग होता है क्योंकि इस इन्द्रिय से विमुक्ति के प्रीति-सुख का प्रतिसंवेदन होता है (देखिए पृ० ११०) ।

अतः इन्द्रियाँ एतावत् ही हैं और इसीलिए सूत्र में इनका यह अनुक्रम है । वाक्-पाणि-पाद-पायु-उपस्थ का इन्द्रियत्व नहीं है ।

१. वचन पर वाक् का आधिपत्य नहीं है क्योंकि वचन शिक्षाविशेष की अपेक्षा करता है[1] । २-३. पाणि-पाद का आदान और विहरण में आधिपत्य नहीं है क्योंकि जिसे आदान और विहरण कहते हैं वह पाणि-पाद से अन्य नहीं है। पाणि-पाद का द्वितीय क्षण में अन्यत्र अन्यथा अर्थात् अभिनव संस्थान के साथ (४.२ बी-डी) उत्पन्न होना आदान-विहरण कहलाता है। इसके अतिरिक्त हम देखते हैं कि उरग प्रभृति का आदान-विहरण बिना पाणि-पाद के होता है।[2] पुरीषोत्सर्ग में पायु का आधिपत्य नहीं है क्योंकि गुरु द्रव्य का सर्वत्र आकाश (=छिद्र) में पतन होता है। पुनः वायुधातु इस अशुचि द्रव्य का प्रेरण करता है और उसका उत्सर्ग करता है। ५. उपस्थ का भी आनन्द में आधिपत्य नहीं है क्योंकि आनन्द स्त्री-पुरुषेन्द्रियकृत है ।[3]

[११३] यदि आप पाणिपादादि को इन्द्रिय मानते हैं तो आपको कंठ, दन्त, अक्षिवर्त्म, अंगुलिपर्व का भी अभ्यवहरण, चर्वण, उन्मेष-निमेष, संकोच-विकासक्रिया के प्रति इन्द्रियत्व मानना पड़ेगा। इसी प्रकार सर्वकारणभूत का जिसका जहां अपना पुरुषकार (२.५८) होता है उस क्रिया के प्रति इन्द्रियत्व हागा। किन्तु उसी का इन्द्रियत्व इष्ट है जिसका आधिपत्य होता है ।

हमने चक्षुरादि और स्त्री-पुरुषेन्द्रिय का निर्देश किया है (१.९–४४)। जीवितेन्द्रिय का निर्देश चित्तविप्रयुक्तों के साथ (२.३५) होगा जिनमें यह परिगणित है। श्रद्धादि पंचक चैत्त हैं, अतः चैत्तों (२.२४) में उनका निर्देश होता है। वेदनेन्द्रिय और अनास्रवेन्द्रिय जो अन्यत्र नहीं पाये जाते उनका हम यहाँ निर्देश करेंगे ।

दुःखेन्द्रियमसाता या कायिकी वेदना सुखम् ।
साता ध्याने तृतीये तु चैतसी सा सुखेन्द्रियम् ।।७।।

---

[1] जातमात्र बालक चक्षु से रूप देखता है किन्तु बोलता नहीं। वचन जिह्वेन्द्रिय के अधिष्ठान का कर्म है—सांख्यों के अनुसार कर्मेन्द्रिय विज्ञानेन्द्रिय के समान अतीन्द्रिय द्रव्य हैं। वाक वचन-सामर्थ्य है, पाणि आदान-सामर्थ्य है, इत्यादि । [व्या० ९८.३२]

[2] आप कहते हैं कि सर्प के सूक्ष्म पाणि-पाद होते हैं किन्तु इसे सिद्ध करना आवश्यक है।

[3] कायेन्द्रियैकदेशभूत पुरुषेन्द्रिय-स्त्रीन्द्रिय से व्यतिरिक्त उपस्थ कल्पित होता है।
(कायेन्द्रियैकदेशस्त्रीपुरुषेन्द्रियव्यतिरिक्तकल्पित)
'आनन्द' 'क्लिष्ट सौख्य' है। (व्या० ९९.११)

७ ए-बी. कायिकी असाता (उपघातिका) वेदना दुःखेन्द्रिय है ।[1]

'कायिकी' अर्थात् काय में होनेवाली,[2] जो चक्षुर्विज्ञानादि पाँच विज्ञानकाय से संप्रयुक्त है ।

'असाता' अर्थात् उपघातिका ।

जिस वेदना का पंचेन्द्रिय आश्रय है और जो उपघातिका है उसे दुःखेन्द्रिय कहते हैं ।

[११४] ७ बी-सी. जो साता (अनुग्राहिका) है वह सुखेन्द्रिय है ।[1]

'साता' अर्थात् अनुग्राहिका, जो अनुग्रह, उपकार करती है ।

साता कायिकी वेदना सुखेन्द्रिय कहलाती है ।

७ सी-डी. तृतीय ध्यान में चैतसी साता वेदना भी सुखेन्द्रिय है ।[2]

चैतसी वेदना मनोविज्ञानसंप्रयुक्त वेदना है ।

तृतीय ध्यान की चैतसी साता वेदना भी सुखेन्द्रिय कहलाती है । अन्यत्र यह नाम कायिकी साता वेदना के लिए सुरक्षित है । किन्तु तृतीय ध्यान में कायिकी वेदना नहीं होती क्योंकि वहां पंच विज्ञानकाय का अभाव है । अतः जब हम तृतीय ध्यान के सुख का उल्लेख करते हैं तब हमारा अभिप्राय चैतसी साता वेदना से होता है (८.९ देखिए) ।

अन्यत्र सा सौमनस्यम् असाता चैतसी पुनः ।
दौर्मनस्यम् उपेक्षा तु मध्योभय्यविकल्पनात् ॥८॥

८ ए. अन्यत्र यह सौमनस्य है ।[3]

अन्यत्र अर्थात् तृतीय ध्यान से अवर भूमियों में अर्थात् कामधातु और प्रथम दो ध्यानों में चैतसी साता वेदना सौमनस्य या सौमनस्येन्द्रिय है ।

तृतीय ध्यान से ऊर्ध्व चैतसी साता वेदना का अभाव है ।

तृतीय ध्यान में चैतसी साता वेदना क्षेम और शान्त है क्योंकि इस ध्यान में योगी प्रीति से वीतराग होता है (प्रीतिवीतरागत्वात्) [व्या १००.२६] । अतः यह सुखेन्द्रिय है, सौमनस्येन्द्रिय नहीं है ।[4]

---

[1] [दुःखेन्द्रियम्] असाता या कायिकी वेदना । [व्या० १००.११] विभंग, पृ. १२३ के लक्षणों से तुलना कीजिए ।

[2] चक्षुरादि ५ विज्ञानेन्द्रिय काय हैं : वास्तव में यह इन्द्रियाँ परमाणुसंचयात्मक हैं, परमाणु के काय हैं ।—'काय' में जो वेदना उत्पन्न होती है या जो आश्रयभूत काय-सहगत है वह कायिकी कहलाती है (कायप्रश्रब्धि पर २.२५ देखिए) ।

[1] सुखम् । साता (व्या० १००.१७)

[2] ध्याने तृतीये तु चैतसी सा सुखेन्द्रियम् ॥ (व्या० १००.२२)

[3] अन्यत्र सा सौमनस्यम्

[4] सुख सात है क्योंकि यह अनुग्रह करता है (सा सत्वाद्धि सुखमुच्यते); सौमनस्य में प्रीति भी है—इस प्रश्न का पुनः विचार ८.९ बी में किया गया है ।

[११५] तृतीय ध्यान से अधर चैतसी साता वेदना औदारिक (रूक्ष ?) और क्षुब्ध होती है क्योंकि तृतीय ध्यान से अधर भूमियों में योगी का प्रीति से विराग नहीं होता : अतः यह सौमनस्य है।—प्रीति जिसका स्वभाव संप्रहर्ष का है सौमनस्य से अन्य नहीं है ।

८ बी-सी. चैतसी असाता वेदना दौर्मनस्य है ।[1]

मनोविज्ञान से संप्रयुक्त जो वेदना उपघातिका है वह दौमर्नस्य या दौर्मनस्येन्द्रिय है ।

८ सी-डी. कायिकी और चैतसिकी मध्या वेदना उपेक्षा है क्योंकि यहां विकल्पन नहीं है।[2] मध्या वेदना जो न साता है, न असाता, अदुःखासुखा वेदना है। यह उपेक्षा वेदना या उपेक्षेन्द्रिय कहलाता है।

क्या यह वेदना कायिकी है, क्या यह चैतसिकी है ?

चाहे यह कायिकी हो या चैतसिकी, मध्या वेदना उपेक्षा वेदना है। अतः उपेक्षा वेदना द्विविध है किंतु यह एक ही इन्द्रिय है क्योंकि यहां कोई विकल्पन नहीं है।

१. कोई विकल्पन नहीं है। कायिकी और चैतसिकी उपेक्षा-वेदना भी विकल्प (=अभिनिरूपणाविकल्प, १.३३) से रहित है। प्रायेण[3] साता और असाता चैतसिकी वेदना प्रिय-अप्रियादि विकल्प से उत्पन्न होती है। इसके विपरीत कायिकी वेदना की उत्पत्ति चित्त की अवस्था से स्वतन्त्र विषयवश (विषयवशात्) होती है : अर्हत् राग-द्वेष से विनिर्मुक्त हैं; उन्होंने प्रिय-अप्रिय विकल्प का प्रहाण किया है। तथापि उनमें कायिक सुख-दुःख का उत्पाद होता है ।

[११६] अतः कायिक-चैतसिक और सुख-दुःख का इन्द्रियत्वेन भेद करना चाहिए ।

किन्तु उपेक्षा वेदना कायिकी हो या चैतसिकी, कायिकी वेदना के तुल्य स्वरसेन (अनभिसंस्कारेण)[1] उत्पन्न होती है। इसकी उत्पत्ति उस पुद्गल में होती है जो विकल्प से रहित है (अविकल्पयतः, अनभिनिरूपयतः) : अतः कायिकी और चैतसिकी इन दो उपक्षा-वेदनाओं के लिए एक ही इन्द्रिय मानते हैं।

२. कोई विकल्पन नहीं है। कायिकी और चैतसिकी, साता-असाता, वेदना अपनी अपनी विशेष वृत्ति के अनुसार अनुग्रह करती है या उपघात करती है । इनका अनुभव एक रूप से नहीं होता। उपेक्षा-वेदना न अनुग्रह करती है, न उपघात। उपेक्षा में ऐसा विकल्प नहीं है; अतः कायिकी और चैतसिकी के अनुभव में अभेद है ।

दृग्भावनाशैक्षपथे नव त्रीण्यमलं त्रयम् ।
रूपीणि जीवितं दुःखे सास्रवाणि द्विधा नव ॥९॥

---

[1] असाता चैतसी पुनः । दौर्मनस्यम् [व्या० १००.३१]

[2] उपेक्षा तु मध्योभय्यविकल्पनात् ॥ [व्या० १००.३३]

[3] समाधिज और विपाकज (विपाकफल) (२.५७) चैतसी साता वेदना का परिदजन करना चाहिए।

[1] यह केवल विपाकफल और नैष्यन्दिकी (२.५७ सी) है।

९ ए-बी. दर्शन मार्ग, भावना मार्ग और अशैक्ष पथ में ९ इन्द्रियों की तीन इन्द्रिय करते हैं ।[२]

मनस्, सुख, सौमनस्य, उपेक्षा, श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञा यह ९ द्रव्य दर्शन-मार्गस्थ आर्य में अनाज्ञातमाज्ञास्यामीन्द्रिय व्यवस्थापित होते हैं, भावनामार्गस्थ आर्य में आज्ञेन्द्रिय और अशैक्ष (=अर्हत्) मार्गस्थ आर्य में आज्ञातावीन्द्रिय व्यवस्थापित होते हैं ।[3]

[११७] दर्शनमार्गस्थ आर्य अनाज्ञात अर्थात् सत्यचतुष्टय के जानने में प्रवृत्त होता है (अनाज्ञातमाज्ञातुं प्रवृत्तः) [व्या १०१.३३] : "मैं जानूंगा" ऐसा यह विचार करता है। अतः उसकी इन्द्रिय अनाज्ञातमाज्ञास्यामीन्द्रिय कहलाती है ।[२]

भावनामार्गस्थ[3] आर्य के लिए कोई अपूर्व नहीं है जिसे उसे जानना हो; वह आज्ञ है। किन्तु शेष अनुशयों के प्रहाण के लिए वह आज्ञात सत्यों को पौनःपुन्येन जानता है। उसकी इन्द्रिय आज्ञेन्द्रिय कहलाती है—आज्ञ पुद्गल की इन्द्रिय या आज्ञ इन्द्रिय (आज्ञं एवेन्द्रियं इति वा) [व्या १०२.५] ।

अशैक्षमार्गस्थ योगी को यह अवगम होता है कि वह जानता है : उसको इसका अवगम (आव=अवगम)[४] होता है कि सत्य आज्ञात हैं (आज्ञातमिति)। जिसके आज्ञाताव है वह आज्ञातावी है और उसकी इन्द्रिय आज्ञातावीन्द्रिय कहलाती है।—अथवा वह आर्य आज्ञातावी

---

[२] दृग्भावनाशैक्षपथे [नव त्रीणि] [व्या० १०१.२०]

[3] वास्तव में तीन अनास्रव इन्द्रियों के कलाप में केवल सात इन्द्रियाँ संगृहीत हैं क्योंकि तीन वेदनाओं का साहचर्य नहीं होता। जब योगी मार्ग की भावना करने के लिए प्रथम-द्वितीय ध्यानभूमिक होता ह तब वह सौमनस्येन्द्रिय से ही समन्वागत होता है। जब वह तृतीय-ध्यानभूमिक होता है तब उसमें केवल सखेन्द्रिय होती है और जब वह अन्यभूमिक होता है (अनागम्य, ध्यानान्तर, चतुर्थ ध्यान, प्रथम तीन आरूप्य) तब वह केवल उपेक्षे-न्द्रिय से समन्वागत होता है।—२.१६ सी-१७ बी देखिए।

[१] दर्शनमार्ग में सत्याभिसमय के प्रथम १५ क्षण संगृहीत हैं। इन क्षणों में योगी वह देखता है जिसे उसने पूर्व नहीं देखा था (६.२८ सी-डी)।—यह केवल अनास्रव है, ६.१

[२] अलुक् समासः। आख्यातप्रतिरूपकश्चायम् आज्ञास्यामीतिशब्दः। अभिधम्म में अनञ्ञा-तञ्ञस्सामीतीन्द्रिय है (विभंग, पृ. १२४)। [व्या० १०२.२]

[3] 'भावना' शब्द के अनेक अर्थ हैं—'भावनामय' शब्द में भावना समाधिवाची है।—७.२७ में अन्य अर्थ दिए हैं (२.२५, २ से तुलना कीजिए)—'भावनामार्ग' में भावना का अर्थ 'पुनः पुनः दर्शन, ध्यान' है।
दो भावना मार्ग हैं :
ए. अनास्रव या लोकोत्तर भावनामार्ग। यहाँ यह भावनामार्ग इष्ट है: दर्शनमार्ग में जिन सत्यों का दर्शन हो चुका है उनकी यह भावना है। सत्याभिसमय (६.२८ सी-डी) के १६वें क्षण से इस मार्ग का आरम्भ होता है और अर्हत्व की प्राप्ति से इसकी परिसमाप्ति होती है।
बी. सास्रव या लौकिक भवनामार्ग। सत्य इसके विषय नहीं हैं (६.४९)।
यह बिना समुच्छेद किए क्लेशों का विष्कम्भन करता है। यह दर्शनमार्ग के पूर्व और पश्चात् दोनों हो सकता है।

[४] धातुपाठ, १.६३१.

है जिसका शील यह जानता है (अवितुम्) कि सत्य आज्ञात है। वास्तव में जब आर्य को क्षयज्ञान और अनुत्पाद-ज्ञान का लाभ होता है तब यह यथाभूत जानता है कि "दुःख आज्ञात है, मुझे और कुछ ज्ञेय नहीं है" इत्यादि ।[५]

[११८] हमने इन्द्रियों के विशेष लक्षणों का निर्देश किया है। अब उनके भिन्न स्वभाव को बताना चाहिए : क्या वह अनास्रव हैं (९ बी-डी), विपाकज हैं (१०-११ बी), कुशल हैं (११ सी-डी) ? वह किस धातु के हैं (१२) ? उनका प्रहाण कैसे होता है (१३) ?

कितने सास्रव हैं ? कितने अनास्रव हैं ?

९ बी-डी. तीन अमल हैं; रूपीन्द्रिय, जीवितेन्द्रिय और दो दुःख (दुःख और दौर्मनस्य) सास्रव हैं; ९ द्विविध हैं ।[१]

१. अन्तिम तीन इन्द्रिय एकान्त अमल या अनास्रव हैं। मल और आस्रव समानार्थक हैं ।[२]

रूपी इन्द्रियों की संख्या सात है : चक्षुरादि पांच इन्द्रिय और पुरुषेन्द्रिय-स्त्रीन्द्रिय, क्योंकि यह सात इन्द्रिय रूपस्कन्ध में संगृहीत हैं। जीवितेन्द्रिय, दुःखेन्द्रिय और दौर्मनस्येन्द्रिय के साथ मिलकर कुल दस इन्द्रिय एकान्त सास्रव हैं। मनस्, सुखेन्द्रिय, सौमनस्येन्द्रिय, उपेक्षेन्द्रिय, श्रद्धादि (श्रद्धा, वीर्यादि) पंचक, यह ९ इन्द्रिय सास्रव-अनास्रव दोनों हो सकते हैं।

२. अन्य आचार्यों के[३] अनुसार (विभाषा, २, पृ० ७, कालम ३) श्रद्धादि पंचक एकान्त अनास्रव हैं क्योंकि भगवत् ने कहा है कि "जिसमें इन सब श्रद्धादि ५ इन्द्रियों का सर्वथा सर्वप्रकारेण अभाव है उसको मैं बाह्य कहता हूँ, वह पृथग्जन के पक्ष में अवस्थित है।"[४] अतः जिसमें यह होते हैं वह आर्य है। अतः यह अनास्रव हैं।

[११९] यह वचन ज्ञापक नहीं है क्योंकि भगवत् यहां उस पुद्गल का उल्लेख करते हैं जिसमें अनास्रव श्रद्धादि पंचक का अभाव है। वास्तव में इस वचन के पूर्ववर्ती वचन में भगवत् श्रद्धादि पाँच इन्द्रियों की दृष्टि से[१] आर्य पुद्गल का व्यवस्थान करते हैं। अतः वह आर्यों के विशेष ५ इन्द्रियों का अर्थात् अनास्रव पंचेन्द्रिय का ही उल्लेख करते हैं। जिनमें इनका अभाव है

[५] ऐसा प्रतीत होता है कि परमार्थ का शुआन चाङ से मतभेद है।

[१] अमलं त्रयम्। [रूपाणि जीवितं दुःखे सास्रवाणि] नव द्विधा [व्या० १०२.११]

[२] जापानी संपादक इस विषय में हरिवर्मन् के ग्रंथ का (नैन्जियो १२७४) उल्लेख करते हैं।

[३] जापानी संपादक के अनुसार महीशासक। कथावत्थु, १९, ८ के हेतुवादिन् और महिंसासक। —३.६ से भी तुलना कीजिए।

[४] संयुत्त, ५.२०४: यस्स खो भिक्खवे इमानि पंचिन्द्रियाणि सब्बेन सब्बं सब्बथा सब्बं नत्थि तमहं बाहिरो पुथुज्जनपक्खे ठितो ति वदामि।—२.४० बी-सी देखिए।

[१] पंचेमानि भिक्षव इन्द्रियाणि। कतमानि पंच। श्रद्धेन्द्रियं यावत् प्रज्ञेन्द्रियम्। एषां पंचानां इन्द्रियाणां तीक्ष्णत्वात् परिपूर्णत्वादर्हन् भवति। ततस्तनुतरैर्मृदुतरैरनागामी भवति। ततस्तनुतरैर्मृदुतरैः सकृदागामी। ततस्तनुतरैर्मृदुतरैः स्रोत आपन्नः। ततोऽपि तनुतरैर्मृदुतरैर्धर्मानुसारी। ततस्तनुतरैर्मृदुतरैः श्रद्धानुसारी। इति हि भिक्षव इन्द्रियपारमितां प्रतीत्य

वह स्पष्ट ही पृथग्जन है। अथवा यदि इस वचन में पंचेन्द्रियों का सामान्यतः उल्लेख है तो हम कहेंगे कि पृथग्जन द्विविध हैं (विभाषा, २, पृ० ८, कालम २ और कालम १) : बाह्यक और आभ्यन्तरक। पहले ने कुशलमूल का समुच्छेद किया है (४.७९); दूसरे का कुशलमूल असमुच्छिन्न है।

प्रथम को लक्ष करके भगवत् कहते हैं कि "मैं उसको बाह्यक कहता हूँ, वह पृथग्जन-पक्ष में अवस्थित है।"[२]

पुनः सूत्र के अनुसार धर्मचक्र-प्रवर्तन (६.५४) के पूर्व भी लोक में तीक्ष्णेन्द्रिय, मध्येन्द्रिय, मृद्विन्द्रिय सत्व होते हैं।[3] अतः श्रद्धादि इन्द्रिय अवश्यमेव एकान्त अनास्रव नहीं हैं।

[१२०] अन्ततः भगवत् ने कहा है कि "यदि मैं श्रद्धादि पंचेन्द्रिय का प्रभव, अन्तर्धान, आस्वाद, आदीनव, निःसरण न जानता तो मैं सदेवक, समारक, सब्रह्मक लोक से और सश्रमण-ब्राह्मणिक प्रजा से मुक्त, निःसृत, विसंयुक्त, विप्रयुक्त न होता और विपर्यास से अपगत चित्त से विहार न करता . . . ."।[१] —किन्तु आस्वाद, आदीनव, निःसरण से विमुक्त अनास्रव धर्मों का यह परीक्षा-प्रकार नहीं है।

अतः श्रद्धादि पंचेन्द्रिय सास्रव-अनास्रव दोनों हैं।

विपाको जीवितं द्वेधा द्वादशान्त्याष्टकाद् ऋते।
दौर्मनस्याच्च तत्त्वेकं सविपाकं दश द्विधा ॥१०॥
मनोऽन्यवित्तिश्रद्धादीन्यष्टकं कुशलं द्विधा।
दौर्मनस्यं मनोऽन्या च वित्तिस्त्रेधान्यदेकधा ॥११॥

इन्द्रियों में कितने विपाक (२.५७ सी-डी) हैं, कितने विपाक नहीं हैं?[२]

१० ए. जीवितेन्द्रिय सदा विपाक है।[3]

केवल जीवितेन्द्रिय (२.४५ ए-बी) सदा विपाक है।

१. आक्षेप। जिस आयुः संस्कार (नीचे पृ. १२२ देखिए) का अर्हत् भिक्षु अधिष्ठान करता है, जिसकी स्थापना करता है (स्थापयति, अधितिष्ठति) वह स्पष्ट ही जीवितेन्द्रिय है। इस प्रकार अधिष्ठित, अवस्थित जीवितेन्द्रिय किस कर्म का विपाक है?[४]

फलपारमिता प्रज्ञायते। फलपारमितां प्रतीत्य पुद्गलपारमिता प्रज्ञायते। यस्येमानि पंचेन्द्रियाणि सर्वेण सर्वाणि न सन्ति तमहम् बाह्यम् पृथग्जनपक्षावस्थितं वदामि। [व्या० १०३.१] विज्ञानकाय, २३.९, फ़ोलिओ ६ ए-८ में वृद्धि के साथ यह सूत्र उद्धृत है। संयुत्त, ५,२०० से तुलना कीजिए।

[२] दो प्रकार के पृथग्जन, अन्ध और कल्याण पर सुमंगलविलासिनी, पृ. ५९ से तुलना कीजिए।

[3] ब्रह्मावोचत्। सन्ति भदन्त सत्वा लोके वृद्धास्तीक्ष्णेन्द्रिया अपि मध्येन्द्रिया अपि मृद्विन्द्रिया अपि [व्या० १०४.४]।—दीघ, २.३८, मज्झिम, १.१६९ से तुलना कीजिए। कथावत्थु में दीघ, २.३८ उद्धृत है (. . . . . . तिक्खिन्द्रियेमुदिन्द्रिये . . . . . .)
महावस्तु, ३.३१४; ललित, ३१५; दिव्य, ४९२; अत्थसालिनी, ३५।

[१] संयुक्तागम, २६, ४—संयुत्त, ५.१९३ और आगे से तुलना कीजिए।—विभाषा, २, १०.

[२] विभंग, पृ. १२५ से तुलना कीजिए; विभाषा, १४४, ९.

[3] विपाको जीवितम्—जीवन और मरण पर २.४५ देखिए।

[४] यदर्हन् भिक्षुरायुःसंस्कारान् स्थापयति तज्जीवितेन्द्रियं कस्य विपाकः।

मूल शास्त्र के अनुसार (ज्ञानप्रस्थान, १२, १४): "किस प्रकार एक भिक्षु आयुः संस्कार का अधिष्ठान करता है?—ऋद्धिमान् (=प्राप्ताभिज्ञः, ७.४२) अर्हत् जो चेतोवशित्व को प्राप्त है अर्थात् जो असमयविमुक्त (६.५६, ६४) है संघ को या किसी पुद्गल को चीवर, पात्रादि जीवित-परिष्कार देता है; देकर वह आयु का प्रणिधान करता है;[५] तदनन्तर वह प्रान्तकोटिक (७.४१) चतुर्थ ध्यान में समापन्न होता है; इस समाधि से व्युत्थान कर वह चित्त का उत्पाद करता है और यह वचन कहता है कि "जो मेरा भोगविपाक कर्म हो वह आयुर्विपाकदायी हो!"[६] तब वह कर्म (दान और समाधि) जिसका भोग-विपाक होता है आयुर्विपाक का उत्पाद करता है"।

[१२१] अन्य आचार्यों के अनुसार अर्हत् का अवस्थापित जीवित पूर्वकृत कर्म का विपाक फल है। उनके अनुसार यह जन्मान्तर-कर्म का विपाकोच्छेष है जिसके फल की परिसमाप्ति अकाल-मरण (२.४५) से न हो पाई और यह चतुर्थ ध्यान का भावना-बल है जो इस विपाकोच्छेष का आकर्षक है और जिसके कारण यह उच्छेष अब विपच्यमान और प्रतिसंवेदित होता है।

"एक भिक्षु आयुःसंस्कार का उत्सर्ग (त्यजति, उत्सृजति) कैसे करता है? एक ऋद्धिमान् अर्हत् चतुर्थध्यान में समापन्न होता है....; इस समापत्ति से व्युत्थान कर वह चित्त का उत्पाद करता है और यह वचन भाषित करता है: जिस कर्म का आयुर्विपाक होता हो वह भोगविपाकदायी हो! "तब आयुर्विपाकदायी कर्म भोग-विपाक का उत्पाद करता है।"

भदन्त घोषक कहते हैं कि "प्रान्तकोटिक ध्यान के भावनाबल से इस अर्हत् के काय में रूप-धातु के महाभूत आकृष्ट और सम्मुखीभूत होते हैं। यह महाभूत आयुःसंस्कार के अनुग्राहक या उपघातक होते हैं। इस प्रकार अर्हत् आयुःसंस्कार का अवस्थान या उत्सर्ग करता है। (दिव्य चक्षु के वाद से तुलना कीजिए, ७. १२३)

सौत्रान्तिकों के समान हम कहते हैं कि समाधिवशित्व के कारण अर्हत् इन्द्रिय-महाभूतों के स्थितिकाल के आवेध (स्थितिकालावेध) का जो पूर्वकर्मज है व्यावर्तन करते हैं (व्यावर्तयन्ते) [व्या १०४.३० में व्यावर्तयन्ति पाठ है]। इसके विपरीत वह अपूर्व समाधिज आक्षेप का उत्पाद करते हैं। अतः अर्हत् के अधिष्ठित आयुः संस्कार की अवस्था में जीवितेन्द्रिय विपाक नहीं है। अन्य अवस्थाओं में वह विपाक है।

२. प्रश्न से प्रश्नान्तर उत्पन्न होता है।

१. किस हेतु से अर्हत् आयुःसंस्कार का अधिष्ठान करता है?

दो हेतु से—परहितार्थ और शासन की चिरस्थिति[१] के लिए। वह देखता है कि उसके जीवन

---

[५] तत् प्रणिधाय। व्याख्या: तदायुः प्रणिधाय चेतसि कृत्वा [व्या० १०४.१५]—विभाषा, १२६, २.

[६] यद्धि भोगविपाकं कर्म तदायुर्विपाकदायि भवतु। [व्या० १०४.२१ में यद्धि के स्थान में यन्मे पाठ है।]

[१] व्याख्या: परहितार्थं बुद्ध भगवत्; शासनस्थित्यर्थं श्रावक—लेवी और शावन्ने: सिक्स अर्हत् प्रोटेक्टर्स आफ दी ला, जे. एएस.१९१६, २, ९ और आगे देखिए।

का अन्त होने जा रहा है; और वह देखता है कि दूसरे इन दो उद्देश्यों को पूरा करने में असमर्थ हैं।

[१२२] २. किस हेतु से अर्हत आयु:संस्कार का उत्सर्ग करता है ?

दो हेतुओं से : वह देखता है कि उसके इस लोक में अवस्थान करने से परहित साधित नहीं होता है और वह देखता है कि उसका आत्मभाव रोगादि से अभिभूत है।[1] जैसा गाथा में कहा है : ब्रह्मचर्य का भली प्रकार आचरण हुआ है, मार्ग सुभावित हुआ है : आयु के क्षय पर वह संतुष्ट है जैसे रोग के अपगम पर तुष्ट होते हैं।[2]

३. किसका आयु:संस्कार कहां अधिष्ठित या उत्सृष्ट होता है ?

तीन द्वीपों में (३.५३), स्त्री-पुरुष, असमयविमुक्त अर्हत् जो प्रान्तकोटिक (६.५६, ६४) ध्यानलाभी है : वास्तव में उसका समाधिवशित्व होता है और उसकी संतति क्लेशों से उपस्तब्ध नहीं होती।[3]

४. सूत्र के अनुसार जीवित संस्कारों को अधिष्ठित करने के अनन्तर भगवत् ने आयु: संस्कारों का उत्सर्ग किया।[4]

प्रश्न है कि १. जीवित के संस्कार और आयु के संस्कारों में क्या भेद है;

२. बहुवचन का क्या अर्थ है : संस्कारा: ?[5]

[१२३] प्रथम प्रश्न के संबंध में :[1]

ए. कुछ आचार्यों के अनुसार कोई भेद नहीं है। वास्तव में मूलशास्त्र (ज्ञानप्रस्थान, १४.१९, प्रकरणपाद, फ़ोलिओ १४ बी ६) कहता है कि "जीवितेन्द्रिय क्या है ?—यह त्रैधातुक आयु है।"

---

[1] रोगाद्यभिभूत [व्या० १०५.५ में रोगादिभूतम् तथा टिप्पणी में रोगाभिभूतम् पाठ है] —इससे रोग, गण्ड, शल्य समझना चाहिए जो त्रिदु:खता है, ६.३.
मिलिन्द, ४४ में यद्यपि अर्हत् का शरीर रोग से अभिभूत है तथापि वह निर्वाण में प्रवेश नहीं करता : नाभिनन्दामि जीवितम्...।

[2] ब्रह्मचर्यम् सुचरितम् मार्गश्चापि सुभावित: ।
आयु:क्षये तुष्टो भोति रोगस्यापगमे यथा ॥

[3] अक्षरार्थ : "उसकी सन्तति क्लेशों से अनुपस्तब्ध है (क्लेशैरनुपस्तब्धा सन्तति:): यह क्लेश हैं जो सन्तति का धारण और अवस्थान करते हैं।—समयविमुक्त अर्हत क्लेश से विनिर्मुक्त होता है किन्तु उसका समाधिवशित्व नहीं होता; दृष्टिप्राप्त में यद्यपि समाधिवशित्व होता है तथापि उसकी संतति क्लेशों से अनुपस्तब्ध नहीं होती (६.५६)। [व्या० १०५.९]

[4] जीवितसंस्कारान् अधिष्ठाय आयु:संस्कारान् उत्सृष्टवान्। दिव्यावदान, २०३ से तुलना कीजिए : अथ भगवांस्तद्रूपं समाधिं समापन्नो यथा समाहिते चित्ते जीवितसंस्कारान् अधिष्ठाय आयु:संस्कारान् उत्स्रष्टुं आरब्ध:—महावस्तु, १.१२५, १९ में एकवचन है।
दीघ, २.९९: यन् नूनाहं इमं आबाधं विरियेन पटिप्पणामेत्वा जीवितसंखारं अधिट्ठाय विहरेय्यं; २.१०६......आयुसंखारमोस्सजि। (संयुत्त, ५.१५२, अंगुत्तर, ४.३६१, उदान, ६.१ से तुलना कीजिए)—बर्नूफ़, लोटस, २९१.

[5] अन्य स्थलों में पालि में बहुवचन है, मज्झिम, १.२९५ (अञ्ञे आयुसंखारा अञ्ञे वेदनिया धम्मा), जातक, ४.२१५ (आयुसंखारा खीयन्ति)

[1] विभाषा, १२६, २ इस विषय में १४ मत गिनाती है।

बी. अन्य आचार्यों के अनुसार[२] 'आयुः संस्कार का अर्थ वह जीवन है जो पूर्व जन्म के कर्म का फल है; जीवित संस्कार का अर्थ वह जीवन है जो इस जन्म के कर्म का फल है (संघ को दान आदि पृ० १२०)।

सी. अन्य आचार्यों के अनुसार[३] जिससे निकायसभाग की स्थिति होती है वह आयुः-संस्कार है; जिससे कुछ काल के लिए जीवन का और अवस्थान होता है वह जीवित संस्कार है।

दूसरे प्रश्न के संबंध में :

ए. सूत्र में बहुवचन का प्रयोग है क्योंकि आर्य बहु संस्कारों का अधिष्ठान और उत्सर्जन करता है। एक क्षण के अधिष्ठान या उत्सर्जन से प्रयोजन सिद्ध नहीं होता: केवल क्षणप्रवाह से आर्य परकार्य का अभिनिष्पादन कर सकता है; दूसरी ओर एक क्षण पीड़ाकर नहीं होता।

बी. एक दूसरे मत के अनुसार बहुवचन का प्रयोग यह दिखाने के लिए है कि जीवित, आयु द्रव्य नहीं है जो कालान्तर में स्थावर हो[४]।

सी. एक दूसरे मत के अनुसार[५] बहुवचन का प्रयोग सर्वास्तिवादियों के वाद को सदोष बताने के लिए है जिसके अनुसार जीवित, आयु एक द्रव्य, एक धर्म है। जीवित,आयु की यह आख्याएं बहुसंस्कारों को प्रज्ञप्त करती हैं जो सहवर्तमान होते हैं और जो धातु के अनुसार चतुः स्कन्ध-स्वभाव या पंचस्कन्ध-स्वभाव होते हैं। अन्यथा सूत्र में संस्कार-ग्रहण न होता; सूत्र कहता कि "भगवत् ने जीवितों का अधिष्ठान किया, आयु का उत्सर्ग किया।"

५. भगवत् उसका उत्सर्ग क्यों करते हैं, उसका अधिष्ठान क्यों करते हैं ?

[१२४] मरणवशित्व के ज्ञापनार्थ वह उत्सर्ग करते हैं; जीवितवशित्व के ज्ञापनार्थ वह अधिष्ठान करते हैं —वह तीन मास के लिए (त्रैमास्य) न अधिक, न कम, अधिष्ठान करते हैं। क्योंकि तीन मास के ऊर्ध्व विनेय कार्य का अभाव होता है और बुद्धकार्य का सुभद्रावसान होता है; क्योंकि तीन मास से कम में कार्य का संपादन नहीं होगा।[१]

अथवा[२] प्रतिज्ञात के संपादन के लिए (प्रतिज्ञातसंपादनार्थम्) [व्या १०५. २९]।

"जिस भिक्षु ने चार ऋद्धिपादों (६.६९ बी) को सुभावित किया है वह यदि चाहे तो एक कल्प या एक कल्प से अधिक अवस्थान करेगा।"[३]

---

[२] विभाषा का ११ वाँ मत।

[३] विभाषा का ६ठा मत।

[४] जापानी सम्पादक के अनुसार साम्मितीयों का वाद।

[५] सौत्रान्तिक मत।

[१] जापानी संपादक के अनुसार यह आचार्य का मत है।

[२] विभाषा, १२६, ६, ६ मतों में से पाँचवाँ।

[३] कल्पं वा. . .कल्पावशेषं वा—अर्थात् परमार्थ के स्पष्ट भाषान्तर के अनुसार 'एक कल्प या एक कल्प से अधिक'। साधारणतः यह अनुवाद होता है : 'एक कल्प या कल्प का अवशिष्ट भाग' (विंडिश, राइस डैविड्स, आटो फ्रान्के)—दीघ, २.१०३, ११५; ३.७७; दिव्य, २०१—कथावत्थु, ११.५; सिद्धि, ८०३.

वैभाषिक[४] कहते हैं : भगवत् यह दिखाने के लिए उत्सर्ग और अधिष्ठान करते हैं कि उन्होंने स्कन्धमार और मरणमार पर विजय प्राप्त की है। बोधिवृक्ष के नीचे भगवत् ने प्रथम याम में देवपुत्र मार को निर्जित किया और तृतीय याम में क्लेश मार को निर्जित किया (एकोत्तरिका, ३९, १)[५]।

१० ए-बी. १२ दो प्रकार के हैं।

कौन १२ ?

१० बी-सी. अन्तिम आठ और दौर्मनस्य को वर्जित कर।[६]

[१२५] जीवितेन्द्रिय जो एकान्त विपाक है और ९ जिनका यहां निर्देश है (१० बी-सी) और जो सदा अविपाक हैं, इनसे अन्य १२ इन्द्रिय द्विविध हैं। वह कभी विपाक हैं, कभी अविपाक हैं। यह रूपी इन्द्रिय, मन-इन्द्रिय और दौर्मनस्येन्द्रिय से अन्यत्र चार वेदनेन्द्रिय हैं।

१. सात रूपी इन्द्रिय (चक्षु.....पुरुषेन्द्रिय) विपाक नहीं हैं क्योंकि वह औपचयिक (१.३७) हैं। अन्य विपाक हैं।

२. मन-इन्द्रिय और चार वेदनेन्द्रिय अविपाक हैं (१) जब वह कुशल-क्लिष्ट होते हैं क्योंकि विपाक अव्याकृत (२.५७) हैं; (२) जब अव्याकृत होते हुए भी वह यथायोग[१] ऐर्यापथिक, शैल्पस्थानिक या नैर्माणिक (२.७२) होते हैं। शेष विपाक हैं।

३. श्रद्धादि पंचक और अनाज्ञातमाज्ञास्यामीन्द्रियादि त्रय, यह अंतिम आठ, कुशल हैं और इसलिए अविपाक हैं।

४. किन्तु हम पूछते हैं कि यह प्रतिज्ञा कैसे हो सकती है कि दौर्मनस्य कभी विपाक नहीं होता ? वास्तव में सूत्र कहता है कि "एक कर्म है जो सौमनस्यवेदनीय है, एक कर्म है जो दौर्मनस्य-वेदनीय है, एक कर्म है जो उपेक्षावेदनीय है।"[२]

---

[४] यह विभाषा के छठे मत को मानते हैं।

[५] देवपुत्र मार, क्लेशमार, मरणमार, स्कन्धमार, धर्मसंग्रह, ८०. महावस्तु, ३. २७३, २८१; शिक्षासमुच्चय, १९८, १०, मध्यमकवृत्ति, ४९ टिप्पणी ४, २२.१०; बोधिचर्य्यावतार ९.३६ (भगवत् जिन हैं क्योंकि उन्होंने चार मार का धर्षण किया है); यु किया शे ति लूएन २९, एस० लेवी द्वारा अनूदित, सीज अर्हत्स पृ० ७ (जे० एस० १९१६, २)। मूर्तियों में (फूशर, एकोल दे आउत् एत्यूदे १३, २.१९) बुद्ध के पार्श्व भाग में चार मार, नील, पीत, लोहित और हरित हैं—कोशों में ४ मार की सूची, जकैरिए गेल. गति. एन्ज, १८८८, पृ० ८५३ चाइल्डर्स की भी सूची देखिए (अभिसंस्कार मार को संगृहीत कर ५ मार)। नेत्तिप्पकरण में किलेसमार और सत्तमार (=देवपुत्र) हैं।

[६] द्वेधा द्वादशाऽन्त्याष्टकाद् ऋते। दौर्मनस्याच्च [व्या० १०६.८]

[१] दुःखेन्द्रिय कभी ऐर्यापथिक आदि नहीं होता।

[२] एकोत्तरागम, १२.९—तिपिटक में 'सुखवेदनीय कर्मन्' है। (अंगुत्तर, ४.३८२ इत्यादि) (४.४५ देखिए); सुखवेदनीय, दौर्मनस्यवेदनीय स्पर्श (संयुत्त, ५.२११ इत्यादि...) —४.५७ डी देखिए।

वैभाषिक के अनुसार दौर्मनस्यवेदनीय से अर्थ 'उस कर्म से नहीं है जिसका प्रतिसंवेदन, जिसका विपाक दौर्मनस्य वेदना है' किन्तु यह "वह कर्म है जिससे दौर्मनस्य का संप्रयोग है"। वास्तव में सूत्र स्पर्श को सुखवेदनीय कहता है किन्तु सुख स्पर्श का विपाक नहीं है।[3] सब प्रमाण [१२६] इसका समर्थन करता है कि सुखवेदनीय स्पर्श वह स्पर्श है जिससे सुखवेदना का संप्रयोग है। अतः दौर्मनस्यवेदनीय कर्म वह कर्म है जिससे दौर्मनस्यवेदना का संप्रयोग है।

हमारा उत्तर है: आपको सौमनस्यवेदनीय और उपेक्षावेदनीय का भी उसी प्रकार व्याख्यान करना चाहिए जैसे आप दौर्मनस्यवेदनीय का करते हैं क्योंकि यह तीनों पद सूत्र की एक ही गणना में आते हैं। इससे यह परिणाम निकलता है कि सौमनस्यवेदनीय कर्म वह कर्म है 'जिससे सौमनस्यवेदना का संप्रयोग है, यह वह कर्म नहीं है जिसका विपाक सौमनस्य है' और इसलिए सौमनस्य विपाक नहीं है।

वैभाषिक—मैं संप्रयोग में भी द्वेष नहीं देखता, विपाक में भी नहीं देखता। जहां तक सौमनस्यवेदनीय का संबंध है यह 'विपाकत्वेन वेदनीय सौमनस्य' हो सकता है और वह भी हो सकता है जिससे सौमनस्य का संप्रयोग है'। किन्तु दौर्मनस्यवेदनीय के लिए वेदनीय का द्वितीय व्याख्यान ही युक्त है। यह वह कर्म है जिससे दौर्मनस्य का संप्रयोग है।

हमारा उत्तर है: यदि एक दूसरा प्रश्न न होता अर्थात् यदि युक्ति से यह परिच्छिन्न होता कि दौर्मनस्य विपाक नहीं है तो अगत्या हम आपके दिए हुए सूत्र के आख्यान को स्वीकार करते।[1]

वैभाषिक—दौर्मनस्य परिकल्प-विशेष से उत्पादित होता है: यथा जब कोई अनिष्ट-चिन्तन करता है; इसी प्रकार उसका व्युपशम होता है जब वह इष्ट-चिन्तन करता है। किन्तु विपाक के लिए ऐसा नहीं है। किन्तु हम कहेंगे कि सौमनस्य का भी ऐसा है। इसलिए वह विपाक न होगा।

वैभाषिक—यदि जैसा कि आपका मत है कि दौर्मनस्य विपाक होता है जब एक पुद्गल आनन्तर्य करता है और इस विषय में दौर्मनस्य का प्रतिसंवेदन करता है—यहां कौकृत्य (२.२९ डी) का अनुभव करता है—तो हम कह सकते हैं कि सावद्य सद्यः विपाक-फल देता है जो अयुक्त है (२.५६ ए)।

[१२७] किन्तु आप स्वीकार करते हैं कि सौमनस्य विपाक है और हम आपके सदृश तर्क करेंगे: एक पुद्गल पुण्य कर्म करता है और सौमनस्य का अनुभव करता है। अतः यह कर्म सद्यः विपाक-फल देता है।

---

[3] आचार्य की व्युत्पत्ति के अनुसार सौमनस्यवेदनीय कर्म वह कर्म है जिसका सौमनस्य विपाकत्वेन वेदनीय है (सौमनस्यं विपाकत्वेन वेदनीयमस्य) [व्या० १०७.७]। वैभाषिक के अनुसार 'वह कर्म जिसमें सौमनस्य वेदनीय है' (सौमनस्यं वेदनीयमस्मिन्) [व्या० १०७.६]: यह संप्रयोगवेदनीयता (४.४९) है।

[1] संप्रयोगेऽपि न दोषो विपाकेपि ॥ अगत्याप्येतदेवं गम्येत। का पुनरत्र युक्तिर्दौर्मनस्यं न विपाकः। [व्या० १०७.६ में अगत्यापि के स्थान में अगत्या हि पाठ है]

वैभाषिक—वीतराग पुद्गल दौर्मनस्येन्द्रिय का व्यावर्तन करते हैं[1] किन्तु उनमें चक्षुरादिक विपाकभूत इन्द्रियां होती हैं। अतः दौर्मनस्येन्द्रिय विपाक नहीं है।

किन्तु हम पूछेंगे कि वीतराग पुद्गल विपाकरूप सौमनस्य से कैसे समन्वागत होते हैं? निस्सन्देह वह समाधिज सौमनस्य से समन्वागत होते हैं : किन्तु यह सौमनस्य कुशल है और इसलिए विपाक नहीं है। उनके अन्य प्रकार का सौमनस्य नहीं होता।[2]

सच्ची बात यह है कि इस इन्द्रिय का चाहे जो कुछ भी स्वभाव क्यों न हो, चाहे वह विपाक हो या न हो,[3] वीतराग पुद्गल सौमनस्येन्द्रिय से समन्वागत होते हैं किन्तु उनमें दौर्मनस्य के विपाक का अवकाश नहीं है क्योंकि उनमें उसका सर्वथा असमुदाचार होता है।

अतः वैभाषिक यह सिद्ध करता है कि सौमनस्येन्द्रिय विपाक नहीं है।

५. आठ इन्द्रिय अर्थात् ५ विज्ञानेन्द्रिय, जीवितेन्द्रिय, पुरुषेन्द्रिय, स्त्रीन्द्रिय सुगति में कुशल कर्म का विपाक हैं; दुर्गति में अकुशल कर्म का विपाक हैं।

मन-इन्द्रिय सुगति-दुर्गति में कुशल-अकुशल का विपाक है।

सुखावेदना सौमनस्य और उपेक्षावेदना कुशल कर्म का विपाक हैं।

दुःखावेदना अकुशल कर्म का विपाक है।[4]

[१२८] हम कहते हैं कि सुगति में रूपीन्द्रिय कुशल कर्म का विपाक हैं। सुगति में उभय-व्यंजन के उभय व्यंजन कुशल के विपाक हैं किन्तु उस स्थान का प्रतिलम्भ अकुशल से होता है।[1]

२२ इन्द्रियों में कितने सविपाक हैं? कितने अविपाक हैं?

१०सी-११ए. केवल दौर्मनस्य सविपाक है; १० अर्थात् मन-इन्द्रिय, (दौर्मनस्य को वर्जित कर) चार वेदनेन्द्रिय और श्रद्धादि पंचक सविपाक-अविपाक हैं।[2]

१. दौर्मनस्य सदा सविपाक है क्योंकि एक ओर यह अव्याकृत नहीं है क्योंकि यह विकल्प-विशेष (=प्रिय, अप्रियादि) (२.८सी) से उत्पद्यमान विकल्प है और दूसरी ओर यह अनास्रव नहीं है क्योंकि यह समाहित अवस्था में उत्पन्न नहीं होता।

---

[1] सूत्र के अनुसार जो अवीतराग हैं उनके दो शल्य होते हैं—कायिक दुःख और चैतसिक दौर्मनस्य; 'वीतराग' चैतसिक दौर्मनस्य से विमुक्त हैं। [व्या० १०७.२०]

[2] अतः वीतराग पुद्गल सब विपाकभूत इन्द्रियों से समन्वागत नहीं होते।

[3] यादृशं तादृशमस्तु इति। अपरिच्छिद्यमानमपि तदस्त्येवेति दर्शयति। तस्यास्ति विपाकावकाशो न दौर्मनस्यस्य। [व्या० १०७.२६]

[4] शुआन् चाङ् ने इसे छोड़ दिया है।

[1] उभयव्यंजन-भाव अर्थात् दो व्यंजनों का प्रतिलम्भ चित्तविप्रयुक्त धर्म है, २.३५.

[2] तत् त्वेकं सविपाकं दश द्विधा॥ मनोन्यवित्तिश्रद्धादि। [व्या० १०८.३, १५]
इससे यह गमित होता है कि प्रथम आठ इन्द्रिय और इसी प्रकार अन्तिम तीन सदा अविपाक हैं। शुआन् चाङ इसको स्पष्ट करने के लिए कारिका की पूर्ति करते हैं।
कारिका में 'तत् त्वेकं सविपाकम्' हैः 'तु' 'एवं' के अर्थ में है और भिन्नक्रम दिखाता है। इस वाक्य का अर्थ इस प्रकार हैः तदेकं सविपाकमेव=केवल दौर्मनस्य एकान्त 'सविपाक' है।

२. प्रथम आठ इन्द्रिय (चक्षुरादि, जीवितेन्द्रिय, पुरुषेन्द्रिय-स्त्रीन्द्रिय) अविपाक हैं क्योंकि यह अव्याकृत हैं; अन्तिम तीन (अनाज्ञातमाज्ञास्यामीन्द्रिय आदि) अविपाक हैं क्योंकि वह अनास्रव हैं (४.६०)।

३. शेष १० इन्द्रियों के सम्बन्ध में:

मन-इन्द्रिय, सुख, सौमनस्य और उपेक्षावेदना सविपाक हैं जब यह अकुशल या कुशल सास्रव हैं; यह अविपाक हैं जब अव्याकृत या अनास्रव हैं।

[१२९] दुःखावेदना सविपाक है जब यह कुशल या अकुशल है; अविपाक है जब यह अव्याकृत है।

श्रद्धादि पंचक सविपाक हैं जब यह सास्रव हैं, अविपाक हैं जब अनास्रव हैं।

२२ इन्द्रियों में कितने कुशल, कितने अकुशल, कितने अव्याकृत हैं?

११सी-डी. आठ कुशल हैं; दौर्मनस्य द्विविध है : मन-इन्द्रिय और दौर्मनस्य को वर्जित कर अन्य वेदनाएँ तीन प्रकार की हैं; अन्य एक प्रकार की हैं।[1]

८ अर्थात् श्रद्धादि और अनाज्ञातमाज्ञास्यामि आदि आठ केवल कुशल हैं। यद्यपि इनको सूची के अन्त में जाना चाहिए तथापि यह पूर्व उक्त हैं क्योंकि पूर्व कारिका के यह अन्त्य हैं। दौर्मनस्य कुशल-अकुशल (२.२८) है।

मन-इन्द्रिय और चार वेदना कुशल, अकुशल, अव्याकृत हैं।

चक्षुरादि, जीवितेन्द्रिय, पुरुषेन्द्रिय-स्त्रीन्द्रिय अव्याकृत हैं।

२२ इन्द्रियों में से कौन-कौन किस किस धातु के हैं?

कामाप्तममलं हित्वा रूपाप्तं स्त्रीपुमिन्द्रिये ।
दुःखे च हित्वाऽरूप्याप्तं सुखे चापोह्य रूपि च ॥१२॥

१२. कामधातु में अमल इन्द्रियों का अभाव है; रूपधातु में इनके अतिरिक्त स्त्रीन्द्रिय-पुरुषेन्द्रिय और दो दुःखावेदना (दुःख-दौर्मनस्य) का भी अभाव है; आरूप्यधातु में इनके अतिरिक्त रूपी इन्द्रिय और दो सुखा (सुख-सौमनस्य) वेदना का भी अभाव है।[2]

[१३०] १. अन्तिम तीन अमल अर्थात् अनास्रव इन्द्रियों को छोड़कर शेष सब इन्द्रिय कामाप्त हैं : यह धातुओं से अप्रतिसंयुक्त हैं, अधातुपतित हैं। अतः अन्तिम तीन को छोड़कर १९ इन्द्रिय कामावचर हैं।

---

[1] कुशलमष्टकं द्विधा । दौर्मनस्यं मनोऽन्या च वित्तिस्त्रैधान्यद् एकधा ॥ [व्या० १०८.२३ में कुशलमष्टकं के स्थान में अष्टकं कुशलं तथा त्रैधा के स्थान में त्रेधा पाठ है।]
शुआन् चाङ: अन्तिम आठ केवल कुशल हैं; दौर्मनस्य कुशल-अकुशल है; मन और अन्य वेदना तीन प्रकार की हैं; प्रथम आठ केवल अव्याकृत हैं।
विभंग, पृ. १२५ से तुलना कीजिए।

[2] कामाप्तममलं हित्वा रूपाप्तं स्त्रीपुमिन्द्रिये ।
दुःखे च हित्वा रूप्याप्तम् सुखे चापोह्य रूपि च ॥ [व्या० १०९.९, १२, १५, ३३]

२. रूपधातु से, पूर्वोक्त इन्द्रियों के अतिरिक्त, स्त्रीन्द्रिय-पुरुषेन्द्रिय और दुःखवेदनास्वभाव की दुःख-दौर्मनस्य इन्द्रियों को वर्जित करते हैं : शेष १५ इन्द्रियाँ रहती हैं जो प्रथम दो धातुओं को सामान्य हैं (८.१२ ए-बी)।

(ए) रूपधातु में स्त्रीन्द्रिय-पुरुषेन्द्रिय का अभाव है (१) क्योंकि इस धातु में जो सत्व उपपन्न होते हैं उन्होंने काम-संभोग का परित्याग किया है, (२) क्योंकि यह इन्द्रिय कुरूप हैं (१.३०बी-डी)।

किन्तु सूत्रवचन है कि "इसका अवकाश नहीं है, इसका स्थान नहीं है कि स्त्री ब्रह्मा हो। इसका अवकाश है, इसका स्थान है कि पुरुष ब्रह्मा हो।"[1] ऐसा प्रतीत होता है कि यह सूत्र कठिनाई उत्पन्न करता है।

नहीं। रूपधातु के सत्व पुरुष होते हैं किन्तु पुरुषेन्द्रिय से समन्वागत नहीं होते। उनका अन्य पुरुषभाव होता है जो कामधातु के पुरुषों में होता है : काय-संस्थान, स्वरादि (२.२ सी-डी)।

(बी) दुःखेन्द्रिय (कायिक दुःख) रूपधातु में नहीं होता : (१) आश्रय के अच्छ (=भास्वर) होने से, जिसके कारण वहाँ अभिघातज दुःख नहीं होता; (२) अकुशल के अभाव से, जिसके कारण विपाकज दुःख भी नहीं होता।

(सी) दौर्मनस्येन्द्रिय का अभाव है : (१) क्योंकि रूपधातु के सत्वों का सन्तान शमथ-स्निग्ध होता है (शमथस्निग्धसन्तान), (२) क्योंकि सर्व आघातवस्तु का अभाव है।[2]

३. आरूप्यधातु से पाँच रूपीन्द्रिय (चक्षुरादि) (८.३ सी), सुख-सौमनस्येन्द्रिय को भी वर्जित करते हैं। मन-इन्द्रिय, जीवितेन्द्रिय, उपेक्षेन्द्रिय, श्रद्धेन्द्रिय पंचक शेष रह जाते हैं (१.३१)।

मनो वित्तित्रयं त्रेधा द्विहेया दुर्मनस्कता।
नव भावनया पंच त्वहेयान्यपि न त्रयम् ॥१३॥

[१३१] २२ इन्द्रियों में कितने दर्शनहेय हैं? कितने भावनाहेय? कितने अहेय हैं?

१३. मनस् और तीन वेदना त्रिविध हैं; दौर्मनस्य दर्शनहेय और भावनाहेय हैं; ९ केवल भावना-हेय हैं; ५ या तो भावनाहेय हैं या अहेय हैं; तीन हेय नहीं हैं।[1]

१. मन-इन्द्रिय, सुख, सौमनस्य और उपेक्षा त्रिविध हैं।

२. दौर्मनस्य दर्शनहेय और भावनाहेय है क्योंकि अनास्रव न होने से यह सर्वत्र हेय है।

३. ९ इन्द्रिय अर्थात् ५ विज्ञानेन्द्रिय, स्त्रीन्द्रिय-पुरुषेन्द्रिय, जीवितेन्द्रिय, और दुःखेन्द्रिय

---

[1] विभंग, पृ. ३३६ में तथागतबलों का लक्षण देखिए : अट्ठानमेतमनवकासो यं इत्थि सक्कत्तं कारेय्य मारत्तं कारेय्य ब्रह्मत्तं कारेय्य नेतं ठानं विज्जतिः....
लोटस, ४०७, शावाने, सैंक सांत कान्त, १.२६४ से तुलना कीजिए।

[2] दीघ, ३.२६२, अंगुत्तर, ४.४०८, ५.१५०.

[1] [मनो] वित्तित्रयं [त्रेधा] द्विहेया दुर्मनस्कता।
[नव भावनया पंच न हेयान्यपि न त्रयम्] ॥ [व्या० ११०.१२]
१.४० से तुलना कीजिए; विभंग, पृ. १३३.

केवल 'भावनाहेय' हैं क्योंकि (१) प्रथम आठ क्लिष्ट नहीं हैं; (२) नवाँ अषष्ठज (१.४०) है; (३) सब सर्वत्र सास्रव हैं।

४. श्रद्धादि पंचेन्द्रिय (१) क्लिष्ट नहीं हैं, अतः वह दर्शनहेय नहीं हैं; (२) अनास्रव हो सकते हैं, अतः 'अहेय' हो सकते हैं।

५. अन्तिम तीन (अनाज्ञातमाज्ञास्यामि आदि) 'अहेय' हैं (१) क्योंकि वह अनास्रव हैं, (२) क्योंकि आदीनव (अपक्षाल ?) से वियुक्त धर्म प्रहातव्य नहीं हैं।

कामेष्वादौ विपाकौ द्वे लभ्येते नोपपादुकैः।
तैः षड् वा सप्त वाष्टौ वा षड् रूपेष्वेकमुत्तरे ॥१४॥

विविध धातुओं के सत्व, आदि में, कितने विपाक स्वभाव इन्द्रियों का लाभ करते हैं ?

१४. काम में उपपादुकों को छोड़कर अन्य सत्त्व आदि में दो विपाकात्मक [१३२] इन्द्रियों का लाभ करते हैं : उपपादुक ६, ७ या ८ इन्द्रियों से समन्वागत होते हैं; रूप में ६ से; इसके उत्तर एक से[1] ।

कामधातु 'काम' कहलाता है क्योंकि इस धातु में कामगुणों का (१.२२ बी- डी. पृ० ४३) प्रधानत्व होता है। रूपधातु 'रूप' कहलाता है क्योंकि वहां रूप का प्रधानत्व है।[2] सूत्र इस भाषा का प्रयोग करता है : "यह शांत विमोक्ष रूपों का अतिक्रमण कर......।"[3]

१. कामधातु में जरायुज, अण्डज और संस्वेदज (३.८) सत्व, आदि में, प्रतिसन्धि-काल में, कायेन्द्रिय और जीवितेन्द्रिय इन दो विपाकात्मक इन्द्रियों का लाभ करते हैं। क्रमशः अन्य इन्द्रियों का उनमें प्रादुर्भाव होता है ।

मन-इन्द्रिय और उपेक्षेन्द्रिय (३.४२) को क्यों नहीं गिनाते ?

क्योंकि प्रतिसन्धि-काल में दोनों अवश्य क्लिष्ट होते हैं; अतः वह विपाक नहीं हैं (३. ३८) ।

२. उपपादुक सत्व (३.९) ६, ७ या ८ इन्द्रिय से समन्वागत होते हैं। यदि अव्यंजन यथा प्राथमकल्पिक सत्व (३.९८) होते हैं तो ६ से समन्वागत होते हैं : ५ विज्ञानेन्द्रिय और जीवितेन्द्रिय। जो एक व्यंजन होते हैं वह सात से समन्वागत होते हैं; उभय-व्यंजन ८ से समन्वागत होते हैं ।

---

[1] कामेष्वादौ विपाको द्वे लभ्येते नोपपादुकैः।
तैः षड् वा [सप्त वाष्टौ वा षड्] रूपेष्व् [एकमुत्तरम्] ॥
[व्या० ११०.१७, २४, २८ में विपाको के स्थान में विपाकौ पाठ है।]
कथावत्थु, १४.२, अभिधम्मसंगह (काम्पेण्डियम, पृ. १६५) से तुलना कीजिए।

[2] इसका यह अर्थ है: "क्योंकि रूप वहाँ अच्छ (= भास्वर) होते हैं" अथवा "क्योंकि रूपधातु कामगुण-प्रधान नहीं है, रूपमात्र-प्रधान है"। १.२२ ए-बी, ४ में भिन्न वाद है।

[3] येऽपि ते शान्ता विमोक्षा अतिक्रम्य रूपाण्यारूप्यास्तेऽप्यनित्या अध्रुवा अनाश्वासिका विपरिणामधर्माणः......संयुत्त, २.१२३ से तुलना कीजिए।
८, १४०, मज्झिम, १, ४७२ देखिए।

किन्तु क्या उपपादुक उभय-व्यंजन हो सकता है ?

हाँ, दुर्गति में ।

३. रूपधातु के सत्व प्रथमतः ६ विपाकात्मक इन्द्रियों से समन्वागत होते हैं यथा कामधातु के अव्यंजन उपपादुक ।

४. 'उत्तर' अर्थात् आरूप्यधातु में—यह धातु रूप (३.३) से ऊर्ध्व अवस्थित नहीं है किन्तु [१३३] यह उत्तर इसलिए कहलाता है क्योंकि समापत्ति की दृष्टि से यह रूपधातु से पर है : आरूप्यधातु की समापत्तियों की भावना रूपधातु की समापत्तियों के पश्चात् होती है ; क्योंकि यह उपपत्तितः प्रधानतर है ।

इस धातु में सत्व, आदि में, एक विपाकात्मक इन्द्रिय अर्थात् जीवितेन्द्रिय से समन्वागत होते हैं ।

निरोधयत्युपरमन्नारूप्ये जीवितं मनः ।
उपेक्षा चैव रूपेष्टौ कामे दश नवाष्ट वा ॥१५॥
क्रममृत्यौ तु चत्वारि शुभे सर्वत्र पंच च ।
नवाप्तिरन्त्यफलयोः सप्ताष्टनवभिर्द्वयोः ॥१६॥

हमने बताया है कि प्रतिसन्धिकाल में कितनी विपाकात्मक इन्द्रियों का लाभ होता है । प्रश्न है कि मरणकाल में कितनी इन्द्रियाँ विनष्ट होती हैं ।

१५-१६ बी. आरूप्यधातु में म्रियमाण जीवितेन्द्रिय, मन-इन्द्रिय, उपेक्षेन्द्रिय का निरोध करता है; रूपधातु में वह आठ इन्द्रियों का निरोध करता है; कामधातु में वह १०, ९ या ८ का निरोध करता है और जब क्रममृत्यु होती है तब चार का निरोध करता है । शुभ मृत्यु की अवस्था में सर्वत्र पंच इन्द्रिय और जोड़िए ।[1]

१. आरूप्यधातु का सत्व मरण-काल में कारिका में निर्दिष्ट तीन इन्द्रियों का प्रहाण अन्तिम क्षण में करता है ।

रूपधातु में चक्षुरादि पंचेन्द्रिय को जोड़ना चाहिए । वास्तव में सब उपपादुक समग्रेन्द्रिय के साथ उपपद्यमान होते हैं और मृत होते हैं ।

कामधातु में मृत्यु युगपत् होती है या क्रममृत्यु होती है । प्रथम प्रकार की मृत्यु में अव्यंजन आठ, एक व्यंजन ९, उभयव्यंजन १० इन्द्रियों का निरोध करता है । दूसरे प्रकार की मृत्यु में चार इन्द्रियों का अंतिम क्षण में निरोध होता है ; इनका पृथक् निरोध नहीं होता : कायेन्द्रिय, जीवितेन्द्रिय, मन-इन्द्रिय और उपेक्षेन्द्रिय । इन चार इन्द्रियों का निरोध एक साथ होता है ।

---

[1] **निरोधयत्युपरमन्नारूप्ये जीवितं मनः । [व्या० ११२.२]**
उपेक्षां च (इव) रूपेऽष्टौ कामे दश नवाष्ट वा ॥ [व्या० १११.२२, २६]
क्रममृत्यौ तु चत्वारि शुभे सर्वत्र पंच च । [व्या० १११.३१, ३४ में मृत्यौ तु के स्थान में मृत्योस्तु पाठ है ।]
अभिधम्मसंगह, काम्पेण्डियम पृ. १६६ से तुलना कीजिए ।

२. पूर्वोक्त मरण-विधि उस मरण-चित्त की है जो क्लिष्ट या अनिवृताव्याकृत है।

[१३४]यदि यह चित्त कुशल है तो तीन धातुओं में श्रद्धादि पंचाधिक को प्रक्षिप्त कीजिए।[1] कुशल चित्त में इनका अवश्य भाव होता है।

इन्द्रियप्रकरण[2] में सब इन्द्रियधर्मों का, उनकी अवस्थाविशेष और उनके कारित्र-विशेष का, विचार किया गया है। अतः हमारा प्रश्न है कि श्रामण्यफल (६.५२) के लाभ में कितनी इन्द्रियाँ आवश्यक हैं।

१६ सी डी. दो अन्त्यफल की प्राप्ति ९ इन्द्रियों से होती है; मध्य के दो फलों की प्राप्ति ७, ८ या ९ से होती है।[3]

अन्त्य फल स्रोत-आपत्ति फल और अर्हत्फल हैं क्योंकि यह दो फल प्रथम और अन्तिम हैं। मध्य में सकृदागामि-फल और अनागामिफल होते हैं क्योंकि यह दो फल प्रथम और अन्तिम के मध्य में होते हैं।

१. स्रोत-आपत्ति फल (६.३५ सी) की प्राप्ति ९ इन्द्रियों से होती है: मन-इन्द्रिय, उपेक्षेन्द्रिय,[4] श्रद्धादि पंचेन्द्रिय; अनाज्ञातमाज्ञास्यामीन्द्रिय, आज्ञेन्द्रिय (२.१० ए-बी)[5]।

[१३५] अनाज्ञातमाज्ञास्यामि आनन्तर्यमार्ग है (६.३० सी); आज्ञ विमुक्तिमार्ग है[6]: इन दो इन्द्रियों से स्रोत-आपत्ति-फल की प्राप्ति होती है क्योंकि प्रथम क्लेश-विसंयोग (२.५५ डी १, ६.५२) की प्राप्ति का आवाहक है और द्वितीय इस प्राप्ति का संनिश्रय, आधार है।[6]

२. अर्हत्वफल (६.४५) का लाभ ९ इन्द्रियों से होता है: मन-इन्द्रिय, सौमनस्य या सुख या उपेक्षेन्द्रिय, श्रद्धादि पंचेन्द्रिय, आज्ञेन्द्रिय और आज्ञातावीन्द्रिय।

---

[1] मरण-चित्त पर ३.४२-४३ बी. देखिए।—काय के किस भाग में मनोविज्ञान निरुद्ध होता है, ३.४३ सी-४४ ए—मर्म स्थान कैसे निरुद्ध होते हैं, ३.४४ बी.।

[2] इन्द्रियप्रकरणे। कुछ यह अर्थ देते हैं: "हम यहाँ इन्द्रियों का जो व्याख्यान दे रहे हैं उसमें"; दूसरों के अनुसार यह अर्थ है: "इन्द्रियस्कन्धक में" [व्या० ११२.१३] ज्ञानप्रस्थान के छठे ग्रंथ में [तकाकुसु, अभिधर्म लिटरेचर, पृ. ९३]।

[3] नवाप्तिरन्त्यफलयोः सप्ताष्टनवभिर्द्वयोः॥ [व्या० ११२. १५; ११४.२]

[4] क्योंकि जिस क्षण में योगी स्रोत-आपत्ति-फल का लाभ करता है उस क्षण में वह सदा अनागम्य (६.४८) समापत्ति की अवस्था में होता है; इस समापत्ति में उपेक्षावेदना होती है।

[5] स्रोत-आपत्ति-फल का लाभ सत्याभिसमय के १६ वें क्षण में होता है: पहले १५ आज्ञास्यामि हैं, १६ वाँ आज्ञ है।

[6] प्रथम क्षण आनन्तर्यमार्ग है, द्वितीय विमुक्तिमार्ग है और इसी प्रकार। किन्तु १६ वें क्षण की अपेक्षा पूर्व के १५ क्षण आनन्तर्यमार्ग समझे जासकते हैं।

[1] आनन्तर्यमार्ग क्लेश का निरोध करता है और क्लेश-विसंयोग की प्राप्ति का आवाहक है: वह चोर का निष्कासन करता है, विमुक्तिमार्ग कपाट को बंद करता है।—जापानी संपादक यहाँ विभाषा ९०, ११ उद्धृत करता है जहाँ अकाश्मीरक वाद के मानने वाले पश्चिम के आचार्यों से वचन उद्धृत किए गए हैं।

यहाँ आज्ञेन्द्रिय आनन्तर्यमार्ग है; आज्ञातावीन्द्रिय विमुक्तिमार्ग है।[2]

३. सकृदागामिफल (६.३६) की प्राप्ति या तो आनुपूर्वक (६.३३ ए) से होती है— वह योगी जिसने सकृदागामि-फल की प्राप्ति के पूर्व स्रोत-आपत्ति-फल का लाभ किया है—अथवा भूयोवीतराग (६.२९ सी-डी) से होती है– वह योगी जो अनास्रव मार्ग में अर्थात् सत्याभिसमय में प्रवेश करने के पूर्व लौकिक सास्रव मार्ग से प्रथम ६ प्रकार के कामक्लेशों को उपलिखित करता है। अतः जब वह दर्शनमार्ग की प्राप्ति करता है तब वह स्रोत-आपत्ति-फल को प्राप्त किए बिना ही सकृदागामी होता है।[3]

आनुपूर्वक जो स्रोत आपन्न है सकृदागामि-फल की प्राप्ति या लौकिक मार्ग से करता है जिसमें सत्यों की भावना नहीं होती अथवा अनास्रव, लोकोत्तर मार्ग से करता है। प्रथम अवस्था में सात इन्द्रियों से, मन-इन्द्रिय, उपेक्षेन्द्रिय, श्रद्धादि पंचेन्द्रिय से, फल की प्राप्ति होती है। दूसरी अवस्था में आठ इन्द्रियों से, पूर्वोक्त ७ और आज्ञेन्द्रिय से, फल की प्राप्ति होती है।

भूयोवीतराग जो पृथग्जन है ९ इन्द्रियों से सकृदागामि-फल की प्राप्ति करता है। वास्तव में उसको सत्याभिसमय का संमुखीभाव करना चाहिए। अतः अनाज्ञातमाज्ञास्यामीन्द्रिय और आज्ञेन्द्रिय की आवश्यकता है यथा स्रोत-आपत्ति-फल की प्राप्ति के लिए।

[१३६] ४. अनागामि-फल की प्राप्ति या आनुपूर्वक करता है—वह योगी जिसने पूर्व फलों की प्राप्ति कर ली है—या वीतराग करता है—वह योगी जो अनास्रव मार्ग में प्रवेश किए बिना कामधातु के ९ प्रकार के क्लेशों को उपलिखित करता है अथवा आकिंचन्यायतन पर्यन्त ऊर्ध्व भूमियों के क्लेशों को उपलिखित करता है।

आनुपूर्वक अनागामि-फल की प्राप्ति ७ इन्द्रियों से करता है यदि वह लौकिक मार्ग का अनुसरण करता है, ८ इन्द्रियों से करता है यदि वह लोकोत्तर मार्ग का अनुसरण करता है यथा पूर्वोक्त आनुपूर्वक सकृदागामि-फल की प्राप्ति करता है।

वीतराग दर्शनमार्ग से ९ इन्द्रियों द्वारा उसी प्रकार अनागामि-फल की प्राप्ति करता है जिस प्रकार पूर्वोक्त भूयोवीतराग सकृदागामि-फल की प्राप्ति करता है।

इन सामान्य लक्षणों के विशेष बताना चाहिए।

१. वीतराग अनागामि-फल की प्राप्ति दर्शनमार्ग से करता है। सत्याभिसमय के लिए वह या तो तृतीयध्यानस्थ होता है अथवा प्रथम या द्वितीयध्यानस्थ होता है अथवा अनागम्य, ध्याना-

---

[2] अर्हत्वफल की प्राप्ति वज्रोपमसमाधि (६.४४ सी-डी) की अवस्था में होती है। उस अवस्था में वज्रोपमसमाधि-कलाप आनन्तर्यमार्ग, आज्ञेन्द्रिय स्वभाव का होता है। अतः वहाँ आज्ञेन्द्रिय वर्तमान होता है। क्षयज्ञान-कलाप जो इस अवस्था में विमुक्तिमार्ग, आज्ञातावीन्द्रिय स्वभाव का है उत्पादाभिमुख होता है [व्या० ११३.२२]—सौमनस्येन्द्रियादि, उस समापत्ति के स्वभाव के अनुसार जिसमें योगी वज्रोपम-समाधि का संमुखीभाव करता है।

[3] लौकिक मार्ग का यह वाद कथावत्थु, १.५ और १८.५ में सदोष बताया गया है। बुद्धघोष इसको सम्मितीयों का बताते हैं।

तर समापत्ति में समापन्न होता है अथवा चतुर्थ ध्यान में समापन्न होता है : निश्चयविशेष से उसका वेदनेन्द्रिय सुखेन्द्रिय, सौमनस्येन्द्रिय, उपेक्षेन्द्रिय में से अन्यतम होता है ।

इसके विपरीत भूयोवीतराग उपेक्षेन्द्रिय से सकृदागामि-फल की प्राप्ति करता है।

२. जो आनुपूर्वक अनागम्य समापत्ति में अनागामि-फल की प्राप्ति के लिए प्रवेश करता है वह यदि तीक्ष्णेन्द्रिय है तो अनागम्य के नवें क्षण के लिए (नवम विमुक्तिमार्ग) व्युत्थान कर सकता है और प्रथम या द्वितीय ध्यान में प्रवेश कर सकता है ।

जब वह लौकिक मार्ग से क्लेशों का अपगम करता है तो वह ८ इन्द्रियों से, न कि ७ इन्द्रियों से, फल की प्राप्ति करता है : वास्तव में अनागम्य में जिसमें अन्तिम क्षण से पूर्व का क्षण (९वाँ आनन्तर्यमार्ग) संगृहीत है उपेक्षेन्द्रिय होता है और प्रथम तथा द्वितीय ध्यान में जिसमें अन्तिम क्षण संगृहीत है सौमनस्येन्द्रिय होता है। अतः क्लेश-विसंयोग उपेक्षेन्द्रिय और सौमनस्येन्द्रिय से होता है; जैसे हमने देखा है कि स्रोत आपन्न की व्यवस्था में विसंयोग आज्ञास्यामीन्द्रिय और आज्ञेन्द्रिय से होता है।

[१३७] जब वह लोकोत्तर मार्ग से अर्थात् भावनामार्ग से क्लेशों का अपगम करता है तब ९ इन्द्रियों से फल की प्राप्ति होती है; उक्त इन्द्रियों में आज्ञेन्द्रिय को जो नवम इन्द्रिय होती है जोड़ना चाहिए। आनन्तर्यमार्ग और विमुक्तिमार्ग दोनों मिलकर आज्ञेन्द्रिय हैं।[१]

एकादशभिरर्हत्वमुक्तं त्वेकस्य संभवात् ।
उपेक्षा जीवितमनोयुक्तोऽवश्यं त्रयान्वितः ॥१७॥

१७ ए-बी. यह कहा गया है कि अर्हत्व की प्राप्ति ११ इन्द्रियों से होती है क्योंकि किसी एक पुद्गल के लिए ही यह संभव है ।[२]

मूलशास्त्र (ज्ञानप्रस्थान, १५, १) में पठित है कि "कितनी इन्द्रियों से अर्हत्व की प्राप्ति होती है ?—११ से।"

वास्तव में अर्हत्व की प्राप्ति, जैसा हमने कहा है, ९ इन्द्रियों से होती है । शास्त्र कहता है "११ से" क्योंकि इसकी अभिसन्धि अर्हत्व की प्राप्ति से नहीं है किन्तु इसने पुद्गल के प्रति ऐसा कहा है जो इस भाव की प्राप्ति करता है ।

एक आर्य की परिहाणि अर्हत्व की प्राप्ति में बार बार हो सकती है और वह विविध समापत्ति से उसको पुनः प्राप्त कर सकता है; कभी सुखेन्द्रिय से (तृतीय ध्यान), कभी सौमनस्ये-

---

[१] केवल आनुपूर्वक समापत्ति का परिवर्तन करता है, वीतराग नहीं । वास्तव में यदि वीतराग अनागम्य का निश्रय ले सत्याभिसमय का आरंभ करता है तो षोडश चित्त-क्षण में वह मौल प्रथम ध्यान में नहीं प्रवेश करता है । उसका चतुः सत्यदर्शन के प्रति आदर है, ध्यानों के प्रति नहीं, क्योंकि उनको वह अधिगत कर चुका है । इसके विपरीत आनुपूर्वक ध्यानार्थी है क्योंकि उसने पूर्व इसको अधिगत नहीं किया है ।

[२] [अर्हत्वस्यै] कादशभिर् [उक्तम्] एकस्य संभवात् । [व्या० ११९.१९]

न्द्रिय से (प्रथम और द्वितीय ध्यान), कभी उपेक्षेन्द्रिय से (अनागम्य आदि)। किन्तु इन तीन इन्द्रियों का एक काल में समवधान संभव नहीं है।

किन्तु यह कैसी बात है कि अनागामिन् के लिए ऐसा प्रसंग नहीं होता? शास्त्र क्यों नहीं अनागामि-फल के लिए वही कहता है जो अर्हत्व-फल के लिए कहता है?

अवस्था भिन्न है। ऐसा नहीं होता कि आर्य अनागामि-फल से परिहीण हो सुखेन्द्रिय से उसकी प्राप्ति करता है।[3]

[१३८] दूसरे पक्ष में वीतरागपूर्वी जो कामधातु के सर्व क्लेशों से विरक्त है, जिसने अनागामिफल की प्राप्ति की है, इस फल से परिहीण नहीं हो सकता क्योंकि उसके वैराग्य की प्राप्ति दो मार्गों से हुई है; वैराग्य का उत्पाद लौकिक मार्ग से हुआ है और स्थैर्य लोकोत्तर मार्ग से (६.५१)।

अमुक अमुक इन्द्रिय से समन्वागत पुद्गल कितनी इन्द्रियों से समन्वागत होता है (ज्ञान-प्रस्थान, ६,५; विभाषा, ९०,२)?

१७ सी-डी. जो मन-इन्द्रिय, जीवितेन्द्रिय या उपेक्षेन्द्रिय से युक्त होता है वह अवश्य तीन इन्द्रियों से अन्वित होता है।[1]

जो इन तीन इन्द्रियों में से किसी एक से युक्त होता है वह अवश्य अन्य दो से युक्त होता है: जब इनमें से एक का अभाव होता है तो अन्य दो का भी अभाव होता है।[2] इनका एक दूसरे के बिना समन्वागम नहीं होता।

अन्य इन्द्रियों का समन्वागम नियत नहीं है। जो इन तीन इन्द्रियों से अन्वित होता है वह अन्य से युक्त या अयुक्त हो सकता है।

---

[3] जो अनागामी द्वितीय ध्यानभूमिपर्यन्त ऊर्ध्वभूमि-वैराग्य से परिहीण होता है वह इस कारण अनागामि-फल से परिहीण नहीं होता; वह अनागामी रहता है क्योंकि वह कामधातु से विरक्त रहता है। किन्तु जब वह प्रथम ध्यान से परिहीण होता है तब वह अनागामि-फल से परिहीण कहलाता है। इस प्रकार परिहीण होकर वह सुखेन्द्रिय से फल की पुनः प्राप्ति नहीं कर सकता क्योंकि यह इन्द्रिय तृतीय ध्यान की है और तृतीय ध्यान उसके लिए संभव नहीं है।

क्या यह कह सकते हैं कि सौमनस्येन्द्रिय से फल की पुनः प्राप्ति हो सकती है? ऐसा हो सकता यदि फलप्राप्ति के लिए अनागम्य समापत्ति में पुनः प्रवेश कर वह अन्तिम क्षण में प्रथम ध्यान में प्रवेश कर सकता। केवल वह योगी मौल ध्यान में प्रवेश कर सकता है जो तीक्ष्णेन्द्रिय है किन्तु यह योगी जिसका हम वर्णन करते हैं मृद्विन्द्रिय है क्योंकि वह परिहीण है। केवल वही योगी परिहीण होते हैं जिनकी इन्द्रियाँ मृदु हैं।

क्या परिहीण होकर योगी इन्द्रिय-संचार (६.४१ सी—६१ बी) कर सकता है और उनको तीक्ष्ण कर सकता है:—निस्सन्देह और जैसा हमने कहा है वह अनागामि-फल की प्राप्ति ८ इन्द्रियों से करता है यदि वह लौकिक मार्ग का अनुसरण करता है और ९ इन्द्रियों से यदि वह लोकोत्तर मार्ग का अवलम्बन करता है क्योंकि प्रत्येक अवस्था में वह सखेन्द्रिय से फल की पुनः प्राप्ति नहीं करता।

[1] उपेक्षाजीवितमनोयुक्तोऽवश्यं त्रयान्वितः॥ [व्या० ११८.१७]

[2] न ह्येषामन्योन्येन बिना समन्वागमः [व्या० ११८.१९]

१. आरूप्यधातु में उपपन्न सत्व चक्षु-श्रोत्र-घ्राण और जिह्वेन्द्रिय से युक्त नहीं होता। कामधातु का सत्व इन इन्द्रियों से समन्वागत नहीं होता यदि उसने (कललादि अवस्था में) उनको प्रतिलब्ध नहीं किया है या यदि वह (अन्धत्वादि अवस्था में, क्रममरण में) उनसे विहीन हो गया है।

२. आरूप्यधातु में उपपन्न सत्व के कायेन्द्रिय नहीं होता।

३. आरूप्यधातु और रूपधातु में उपपन्न सत्व स्त्रीन्द्रिय से समन्वागत नहीं होता। कामधातु में उपपन्न सत्व उससे समन्वागत नहीं होता यदि उसने उसे प्रतिलब्ध नहीं किया है या उससे विहीन हो गया है। यही पुरुषेन्द्रिय के लिए है।

[१३९] ४. चतुर्थ ध्यान में, द्वितीय ध्यान[2] में, आरूप्यों में उपपन्न पृथग्जन[1] सुखेन्द्रिय से समन्वागत नहीं होता।

५. चतुर्थ ध्यान, तृतीय ध्यान, आरूप्यों में उपपन्न पृथग्जन सौमनस्येन्द्रिय से समन्वागत नहीं होता।

६. रूपधातु और आरूप्यधातु में उपपन्न सत्व दुःखेन्द्रिय से समन्वागत नहीं होता।

७. कामवीतराग दौर्मनस्येन्द्रिय से समन्वागत नहीं होता।

८. समुच्छिन्नकुशलमूल (४.७९) पुद्गल श्रद्धादि पंचेन्द्रियों से समन्वागत नहीं होता।

९. न पृथग्जन, न फलस्थ आर्य, अनाज्ञातमाज्ञास्यामीन्द्रिय से समन्वागत होता है।

१०. पृथग्जन, दर्शनमार्गस्थ (६.३१ ए-बी) और अशैक्षमार्गस्थ आज्ञेन्द्रिय से असमन्वागत होते हैं।

११. पृथग्जन और शैक्ष आज्ञातावीन्द्रिय से असमन्वागत होते हैं।

अप्रतिषिद्ध अवस्थाओं में यथोक्त समन्वागम जानना चाहिए।

चतुर्भिः सुखकायाभ्यां पंचभिश्चक्षुरादिमान् ।
सौमनस्यी च दुःखी तु सप्तभिः स्त्रीन्द्रियादिमान् ॥१८॥
अष्टाभिरेकादशभिस्त्वाज्ञाज्ञातेन्द्रियान्वितः ।
आज्ञास्यामीन्द्रियोपेतस्त्रयोदशभिरन्वितः ॥१९॥

१८ ए. जो सुख या कायेन्द्रिय से समन्वागत है वह अवश्य चार इन्द्रियों से समन्वागत है।[3]

जो सुखेन्द्रिय से समन्वागत है वह जीवितेन्द्रिय, मन-इन्द्रिय, उपेक्षेन्द्रिय से भी समन्वागत होता है। जो कायेन्द्रिय से समन्वागत है वह इन्हीं तीन इन्द्रियों से भी समन्वागत होता है।

---

[1] आर्य 'अनास्रव' सुखेन्द्रिय से समन्वागत होता है क्योंकि भूमिसंचार से उसके अनास्रव सुख का त्याग नहीं होता। (पृ. १४१, टिप्पणी २ देखिए)

[2] शुआन् चाङ ने इसे छोड़ दिया है—८.१२ ए-बी देखिए।

[3] चतुर्भिः सुखकायाभ्याम् [व्या० ११९.८]

१८ बी. जो चक्षुरादि इन्द्रियों में से एक से समन्वागत होता है वह अवश्यमेव ५ इन्द्रियों से समन्वागत होता है ।[४]

जो चक्षुमान् होता है वह चक्षुरिन्द्रिय के अतिरिक्त जीवितेन्द्रिय, मन-इन्द्रिय, उपेक्षेन्द्रिय और कायेन्द्रिय से समन्वागत होता है। जो श्रोत्रादि से समन्वागत होता है उसके लिए भी इसी प्रकार योजना करनी चाहिए ।

[१४०] १८ सी. इसी प्रकार सौमनस्येन्द्रिय से समन्वागत को भी समझना चाहिए ।[१]

जो सौमनस्येन्द्रिय से समन्वागत होता है वह इसके अतिरिक्त जीवितेन्द्रिय, मन-इन्द्रिय, उपेक्षेन्द्रिय और सुखेन्द्रिय से भी समन्वागत होता है ।

किन्तु प्रश्न है[२] कि द्वितीय ध्यान में उपपन्न सत्व जो तृतीय ध्यान का अलाभी है किस प्रकार की सुखेन्द्रिय से समन्वागत है ?—उत्तर है कि वह तृतीयध्यानभूमिक क्लिष्ट सुखेन्द्रिय से समन्वागत है ।

१८ सी-डी. जो दुःखेन्द्रिय से समन्वागत है वह अवश्य सात इन्द्रियों से समन्वागत होता है।[३]

दुःखेन्द्रिय से समन्वागत यह सत्व स्पष्ट ही कामधातूपपन्न है । वह अवश्यमेव जीवितेन्द्रिय, मन-इन्द्रिय, कायेन्द्रिय और चार वेदनेन्द्रिय से समन्वागत होता है : दौर्मनस्येन्द्रिय का उसमें अभाव होता है यदि वह वीतराग है ।

१८ डी-१९ ए. जो स्त्रीन्द्रियादि से समन्वागत होता है वह अवश्य आठ इन्द्रियों से समन्वागत होता है ।[४]

इसका अर्थ इस प्रकार है : जो स्त्रीन्द्रिय, पुरुषेन्द्रिय, दौर्मनस्येन्द्रिय या श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञा इन पाँच में से किसी एक से समन्वागत होता है ।

[१४१] जो एक व्यंजन से समन्वागत होता है वह इस इन्द्रिय के अतिरिक्त सात इन्द्रियों से जो १८ सी-डी में निर्दिष्ट हैं समन्वागत होता है क्योंकि यह सत्व कामधातूपपन्न है ।

---

[४] **पंचभिश्चक्षुरादिमान् । [व्या० ११९.२८]**

[१] **सौमनस्यी च (व्या० ११९.३४)**

[२] **कामधातु में सुखेन्द्रिय पंचविज्ञानकायिक होता है । प्रथम ध्यान में यह त्रिविज्ञानकायिक (घ्राण और जिह्वा को वर्जित कर, १.३०६) होता है । द्वितीय ध्यान में सुखेन्द्रिय नहीं होता (८.१२) । ततीय ध्यान में सखेन्द्रिय मानस होता है (२.७ सी-डी) । अतः यदि द्वितीय ध्यान में उपपन्न सत्व तृतीय ध्यान-समापत्ति की भावना नहीं करता तो वह सुखेन्द्रिय से समन्वागत नहीं होता क्योंकि भूमिसंचार से अर्थात् द्वितीय ध्यान में उपपन्न होने से उसने अधरभूमियों के सुखेन्द्रिय का त्याग किया है।—उत्तर : वैभाषिक वाद (सिद्धान्त) के अनुसार अधरभूमि में उपपन्न सब सत्व उपरिभूमिक अप्रहीण क्लिष्ट इन्द्रिय से समन्वागत होते हैं ।**

[३] **दुःखी तु सप्तभिः [व्या० १२०.११]**

[४] **[स्त्रीन्द्रियादिमान् ।।अष्टाभिः] [व्या० १२०.१६ में अष्टाभिः के स्थान में अष्टादिभिः पाठ है ।]**

४.८० ए देखिए जहाँ ज्ञान प्रस्थान, १६,१ उद्धृत है। ४.७९ डी पर, प्रथम तीन द्वीपों में इन्द्रियों की संख्या ।

जो दौर्मनस्येन्द्रिय से समन्वागत होता है वह इस इन्द्रिय के अतिरिक्त अवश्य इन्हीं सात इन्द्रियों से समन्वागत होता है ।

जो श्रद्धादि पंचक में से किसी एक से समन्वागत होता है वह त्रैधातुक सत्व है। वह अवश्यमेव श्रद्धादि पंचेन्द्रिय से समन्वागत होता है क्योंकि इनका अविनाभाव है और जीवितेन्द्रिय, मन-इन्द्रिय तथा उपेक्षेन्द्रिय से भी समन्वागत होता है ।

१९ ए-बी. जो आज्ञेन्द्रिय या आज्ञातावीन्द्रिय से समन्वागत होता है वह अवश्य ११ इन्द्रियों से समन्वागत होता है ।[1]

अर्थात् : जीवितेन्द्रिय, मन-इन्द्रिय, सुख, सौमनस्य, उपेक्षेन्द्रिय,[2] श्रद्धादि पंचेन्द्रिय और ११ वाँ आज्ञेन्द्रिय या आज्ञातावीन्द्रिय ।

१९ सी-डी. जो आज्ञास्यामीन्द्रिय से समन्वागत होता है वह अवश्य १३ इन्द्रियों से समन्वागत होता है ।[3]

वास्तव में कामधातु में ही दर्शन मार्ग (६.५५) का आसेवन होता है। अतः इस इन्द्रिय से समन्वागत सत्व कामावचर सत्व है। वह अवश्य जीवितेन्द्रिय मन-इन्द्रिय, कायेन्द्रिय, चार वेदनेन्द्रिय, श्रद्धादि पंचेन्द्रिय और आज्ञास्यामीन्द्रिय से समन्वागत होता है । यह आवश्यक [१४२] नहीं है कि वह दौर्मनस्येन्द्रिय, चक्षुरादि इन्द्रिय से समन्वागत हो । वास्तव में वह 'वीतराग' हो सकता है। उस अवस्था में दौर्मनस्य का उसमें अभाव होता है । वह अन्धादि हो सकता है।[1]

---

[1] हम पाठ का इस प्रकार उद्धार कर सकते हैं: एकादशभिराज्ञाज्ञातावीसान्वयः ।

[2] आज्ञेन्द्रिय से समन्वागत अर्थात शैक्ष कैसे अवश्य सुखेन्द्रिय और सौमनस्येन्द्रिय से समन्वागत होता है ? वह वास्तव में चतुर्थ ध्यान या आरूप्यधातु में उपपन्न हो सकता है ।
जब आर्य का कामवैराग्य होता है तब वह अवश्य सौमनस्येन्द्रिय का प्रतिलाभ करता है। जब उसका द्वितीयध्यानवैराग्य होता है तब वह अवश्य सुखेन्द्रिय का प्रतिलाभ करता है। भूमिसंचार होने पर भी वह प्रतिलब्ध (४.४० के अनुसार) शुभ का त्याग नहीं करता। वह प्राप्त शुभ का त्याग करता है जब फल-प्राप्ति होती है या जब इन्द्रियोत्तापन (४.४०) होता है किन्तु यह इसी प्रकार के उत्कृष्ट शुभ की प्राप्ति के लिए होता है ।

[3] आज्ञास्यामीन्द्रियोपेतस्त्रयोदशभिरन्वितः ।। [व्या० १२१.१२]

[1] किन्तु क्या वह अव्यंजन हो सकता है ? इससे कठिनाई होती है क्योंकि हमने देखा है (पृ. १०५) कि स्त्री-पुरुषेन्द्रिय से वियुक्त-विकल सत्वों को संवर और फल की प्राप्ति नहीं होती तथा वैराग्य नहीं होता ।
एक मत के अनुसार । जिस पुद्गल ने संवर का प्रतिलाभ किया है उसको फल की प्राप्ति होती है । किन्तु व्यंजन-वैकल्य से संवर का त्याग नहीं होता क्योंकि अभिधर्म निर्दिष्ट करता है कि उभयव्यंजन के उदय से ही (४.३८ सी) प्रातिमोक्ष-संवर का त्याग होता है और यह निर्दिष्ट नहीं करता कि व्यंजन-वैकल्य से ऐसा होता है ।—अथवा क्रममरण से स्त्री-पुरुषेन्द्रिय के निरोध होने पर भी उसके लिए मरण-क्षण में दर्शन मार्ग की उत्पत्ति होती है जिसने निर्वेध-भागीयों का (६.१७) अभ्यास किया है ।
द्वितीय मत । आज्ञास्यामीन्द्रिय से समन्वागत पुद्गल स्त्री-पुरुषेन्द्रिय से वियुक्त-विल नहीं होता । किन्तु जब वह पुरुष होता है वह स्त्रीन्द्रिय से समन्वागत नहीं होता; वह जब स्त्री होता है तब पुरुषेन्द्रिय से समन्वागत नहीं होता । अतः दोनों इन्द्रियों से आवश्यक समन्वागम नहीं कहते । [व्या० १२१.२०]

सर्वाल्पैर्निःशुभोऽष्टाभिर्विन्मनःकायजीवितैः ।
युक्तो बालस्तथारूप्य उपेक्षायुर्मनःशुभैः ॥२०॥

जो पुद्गल सर्वाल्प इन्द्रियों से समन्वागत होता है वह कितनी इन्द्रियों से समन्वागत होता है (विभाषा, १५०, १३) ?

२० ए-बी. जो निःशुभ है वह कम से कम ८ इन्द्रियों से –कायेन्द्रिय, वेदनेन्द्रिय, जीवितेन्द्रिय, मन-इन्द्रिय से—समन्वागत होता है ।[२]

निःशुभ पुद्गल वह है जिसके कुशलमूल समुच्छिन्न हैं । वह अवश्य कामधातु का है (४. ७९); वह वीतराग नहीं हो सकता । अतः परिगणित इन्द्रियों से वह अवश्य समन्वागत होता है ।

कारिका में वेदना के लिए 'विद्' का प्रयोग है अर्थात् 'जो संवेदन करता है' (वेदयते इति कृत्वा)—इसमें 'कर्तरि क्विप्' है । अथवा विद् = 'वेदन'—भावसाधन है (औणादिकः क्विप्) ।

२० सी-डी. इसी प्रकार आरूप्योपपन्न बाल ८ इन्द्रियों से अर्थात् उपेक्षेन्द्रिय, जीवितेन्द्रिय, मन-इन्द्रिय और शुभ इन्द्रियों से समन्वागत होता है ।[३]

[१४३] पृथग्जन बाल कहलाता है क्योंकि उसने सत्यदर्शन नहीं किया है । शुभेन्द्रिय श्रद्धादि पंचेन्द्रिय हैं—क्योंकि बालाधिकार है, क्योंकि अष्टाधिकार है इसलिए आज्ञास्यामीन्द्रियादि अनास्रव इन्द्रियों के ग्रहण का प्रसंग नहीं होता ।

बहुभिर्युक्त एकान्नविंशत्याऽमलवर्जितैः ।
द्विलिंग आर्यरागयेकलिंगद्वयमलवर्जितैः ॥२१॥

जो अधिक से अधिक इन्द्रियों से समन्वागत होते हैं वह कितनी इन्द्रियों से समन्वागत होते हैं ?

२१ ए-सी. अधिक से अधिक १९ : उभयव्यंजन, अमलेन्द्रियों को वर्जित कर ।[१]

उभयव्यंजन अवश्य कामधातु का है । वह वीतराग नहीं है; वह श्रद्धादि पंचेन्द्रियों से समन्वागत हो सकता है; वह समग्रचक्षुरादिक हो सकता है । किन्तु वह पृथग्जन है : अतः आज्ञास्यामीन्द्रियादि अनास्रव इन्द्रियाँ उसमें अवश्य नहीं होतीं ।

कारिका में अनास्रव इन्द्रियाँ 'अमल' कही गई हैं । आज्ञास्यामि, आज्ञ और आज्ञाताविअनास्रव हैं क्योंकि वह न आलम्बनतः, न संप्रयोगतः (५.१७) सास्रव हैं ।

२१ सी-डी. रागी आर्य एक लिंग और दो अनास्रव इन्द्रियों को वर्जित कर सब इन्द्रियों से समन्वागत हो सकता है ।[२]

---

[२] [कायविज्जीवितमनः] सर्वाल्पैर्निःशुभोऽष्टभिः । [व्या० १२२.५ में अष्टभिः के स्थान में अष्टाभिः पाठ है जो छन्दोऽनुकूल नहीं है ।]

[३] [आरूप्येषु तथा बाल] उपेक्षायुर्मनःशुभैः ॥ [व्या० १२२.२२]

[१] [सर्वबहुभिर्] एकोनविंशत्यामल [वर्जितैः । द्विलिंगः]

[२] [राग्यार्यो लिंगैकामलद्वयवर्जितैः ॥]

जो आर्य रागी है, अतः शैक्ष है, अर्हत् नहीं, वह अधिक से अधिक १९ इन्द्रियों से समन्वागत होता है। पुरुषेन्द्रिय या स्त्रीन्द्रिय को वर्जित करना चाहिए; आज्ञातावीन्द्रिय को एकान्त वर्जित करना चाहिए; इसके अतिरिक्त आज्ञेन्द्रिय को, जब शैक्ष दर्शनमार्गस्थ है और आज्ञास्यामीन्द्रिय को, जब शैक्ष भावनामार्गस्थ है, वर्जित करना चाहिए।[3] (४.१ ए)

२. परमाणु (२२)

[१४४] जैसा कि हमने पूर्व कहा है, संस्कृत धर्म, (१.७ ए) रूप, वेदना, संज्ञादि भिन्न लक्षणों के हैं। प्रश्न है कि क्या इनका उत्पाद इसी प्रकार एक दूसरे से स्वतन्त्र होता है अथवा कुछ अवस्थाओं में इनका नियत सहोत्पाद भी होता है। कुछ संस्कृतों का सदा सहोत्पाद होता है।

सब धर्मों का संग्रह पंचवस्तुक नय से व्यवस्थापित करते हैं: रूप, चित्त, चैत्त या चित्तसंप्रयुक्त धर्म (२.२३-३४), चित्तविप्रयुक्त अर्थात् चित्तविप्रयुक्त-संस्कार (२.३५-४८) और असंस्कृत। यह अन्त्य उत्पन्न नहीं होते (१.५, २.५८): इनके प्रति सहोत्पाद-नियम का यहाँ विचार नहीं करना है।

पहले हम रूपी धर्मों के सहोत्पाद-नियम का विचार करते हैं।

कामेऽष्टद्रव्यकोऽशब्दः परमाणुरनिन्द्रियः।
कायेन्द्रियो नवद्रव्यो दशद्रव्योऽपरेन्द्रियः ॥२२॥

२२. कामधातु में जो परमाणु अशब्द, अनिन्द्रिय है वह अष्टद्रव्यक[1] है। जब इसमें कायेन्द्रिय होता है तब यह नवद्रव्यक होता है; जब इसमें अपरेन्द्रिय होता है तब यह दशद्रव्यक होता है।[2]

परमाणु से यहाँ द्रव्यपरमाणु, वह परमाणु जो एक वस्तु है, एक द्रव्य है (१.१३), इष्ट नहीं है किन्तु संघातपरमाणु अर्थात् सर्वसूक्ष्म रूपसंघात इष्ट है क्योंकि रूपसंघातों में इससे सूक्ष्मतर नहीं है।[3]

---

[3] उक्त इन्द्रियाणां धातुप्रभेदप्रसंगेन (१.४८ सी) आगतानां विस्तरेण प्रभेदः [व्या० १२३.१]।

[1] इस आख्या के अर्थ पर नीचे पृ० १४७ देखिए।

[2] कामेऽष्टद्रव्यकोऽशब्दः परमाणुर् [अनिन्द्रियः। [व्या० ३४.२७]
कायेन्द्रियो नवद्रव्यो दशद्रव्यो] ऽपरेन्द्रियः ॥
वसुबन्धु धर्मश्री (नँजियो, धर्मोत्तर १२८८), (फा शेंग), २.८, उपशान्त [नँजियो १२९४), २.९; धर्मत्रात (नँजियो १२८७), २.११ का अनुसरण करते हैं: "चार इन्द्रियों में अवस्थित परमाणु १० प्रकार के होते हैं; कायेन्द्रिय में ९ प्रकार के; अन्यत्र ८ प्रकार के जब गन्ध होता है (अर्थात् कामधातु में)"——उपशान्त :...... "बाह्य, ८ प्रकार के: उस भूमि में जहां गन्ध है"।
इसी प्रकार का वाद बुद्धघोष के अभिधम्म में (अत्थसालिनी, ६३४) और काम्पेण्डियम के अभिधम्म में (पृ. १६४)— ऊपर १.१३, ४३ सी और शरवात्स्की की 'दि सोल थियोरी ऑफ दि बुद्धिस्ट्स' पृ. ९५३ देखिए।

[3] संघभद्र के अनुसार (२३.३, फ़ोलिओ ५२ ए): सप्रतिघ रूपों का सर्वसूक्ष्म भाग जिसका पुनः

[१४५] १. काम धातु में जब परमाणु में शब्द (शब्दायतन) उत्पन्न नहीं होता, जब कोई इन्द्रिय उत्पन्न नहीं होती तब यह नियत रूप से अष्टद्रव्यक ही होता है, इससे न्यून द्रव्य का नहीं होता : अर्थात् चार महाभूत (१.१२ सी) और चार भौतिक रूप—रूप (१.१० ए), गन्ध, रस, स्प्रष्टव्य (२.५० सी-डी; ६५ ए-बी)

२. जब परमाणु में शब्द उत्पन्न नहीं होता किन्तु कायेन्द्रिय (कायायतन)[1] होता है तो इसमें एक नवाँ द्रव्य, कायेन्द्रिय द्रव्य होता है ।

३. जब परमाणु में शब्द उत्पन्न नहीं होता किन्तु कायेन्द्रिय को वर्जित कर अन्य इन्द्रिय (चक्षुरिन्द्रिय आदि) होता है तो इसमें एक १०वाँ द्रव्य, अपरेन्द्रिय (चक्षुरिन्द्रिय आदि) द्रव्य होता है क्योंकि चक्षुश्रोत्रादि इन्द्रिय कायेन्द्रियप्रतिबद्ध हैं और पृथक्वर्ती आयतन हैं ।

४. यदा पूर्वोक्त संघातपरमाणु सशब्द होते हैं तब यथाक्रम नव-दश-एकादश-द्रव्यक उत्पन्न होते हैं : वास्तव में जो शब्दायतन उपात्त (१.१० बी) महाभूतों से उत्पादित होता है वह इन्द्रिया-विनिर्भागी होता है ।[2]

[१४६] ५. यदि पृथिवीधातु आदि चार महाभूतों का अविनिर्भाग है, यदि वह संघात-परमाणु में सहवर्तमान होते हैं तो यह कैसे है कि एक संघात में कठिन, द्रव, उष्ण या समुदीरणा का ग्रहण होता है और उसमें इन चार द्रव्यों या स्वभावों का युगपत् ग्रहण नहीं होता ?

हम किसी संघात में (पृथिवीधातु आदि) द्रव्यों में से उस द्रव्य की उपलब्धि करते हैं जो वहाँ पटुतम (स्फुटतम) होता है, जो प्रभावतः उद्भूत होता है, अन्य द्रव्यों की नहीं । यथा जब हम सूचीतूलीकलाप[1] का स्पर्श करते हैं तो हम सूची की उपलब्धि करते हैं, यथा जब हम लवणयुक्त सक्तु-चूर्ण खाते हैं तो लवणरस की उपलब्धि करते हैं ।

विभाग नहीं हो सकता परमाणु कहलाता है अर्थात् परमाणु अन्य रूप से, चित्त से कई भागों में विभक्त नहीं हो सकता । इसे सर्वसूक्ष्म रूप कहते हैं । क्योंकि इसके भाग नहीं हैं इसलिए इसे 'सर्वसूक्ष्म' का नाम देते हैं । यथा सर्वसूक्ष्म काल को क्षण कहते हैं और यह अर्ध-क्षणों में विभक्त नहीं हो सकता (३.८६) ।

इन अणुओं का संघात जिसको असंहत नहीं कर सकते संघाताणु कहलाता है ।

काम में कम से कम आठ द्रव्यों का सहोत्पाद होता है और इनका अशब्द, अनिन्द्रिय संघाताणु होता है ।—यह द्रव्य क्या हैं ?—चार महाभूत, चार उपादाय अर्थात् रूप, रस, गन्ध, स्प्रष्टव्य ।

[1] जिन परमाणुओं में कायेन्द्रिय, चक्षुरादि होते हैं वह 'ऐटम' है; इनका यहाँ प्रश्न है, १.४४ ए-बी।

[2] एक शब्दपरमाणु में जो हस्त से उत्पादित होता है चार महाभूत, चार उपादाय रूप, शब्द और कायेन्द्रिय होते हैं: १० द्रव्य; जिह्वा से उत्पादित शब्द में ११ द्रव्य होते हैं। इसमें जिह्वेन्द्रिय की वृद्धि होती है, जिह्वेन्द्रिय के परमाणु अतीन्द्रिय जिह्वा पर अवस्थित होते हैं (अनुवादक की टिप्पणी) । संघभद्र १०, पृ० ३८३, कालम ३ ।

[1] तुल्यो वीरणादिपुष्पमूलदण्डाः, याः 'सिका' । इति प्राकृतजनप्रतीताः [व्या० १२४.६]। —जे० ब्लाक, फार्मेशन आफ दि मराठी लैंग्वेज, पृ० ४२ देखिए: सिक (शिक्य) 'वस्तुओं के लटकाने की रस्सी, छिक्का ।

आप कैसे जानते हैं कि एक संघात में महाभूत होते हैं जिनके सद्भाव की उपलब्धि नहीं होती है ?

सब महाभूतों का अस्तित्व उनके कर्मविशेष से अर्थात् धृति, संग्रह, पक्ति, व्यूहन से (१. १२ सी) गमित होता है ।[2]

एक दूसरे मत के अनुसार अर्थात् भदन्त श्रीलाभ के अनुसार संघातों में चार महाभूत होते हैं क्योंकि प्रत्यय-लाभ होने से कठिनादि का द्रवणादिभाव होता है ।[3] तेजोधातु का अस्तित्व जल में है क्योंकि जल में शैत्य का अतिशय है ।[4] यह तेज के अन्यतर-तमोत्पत्ति से होता है।

किन्तु हम कहेंगे कि शैत्य का पटु-पटुतरभाव यह सिद्ध नहीं करता कि शैत्य द्रव्य का उसके विपर्यय औष्ण्य से मिश्रीभाव (व्यतिभेद) होता है । यथा शब्द का द्रव्यान्तर से व्यतिभेद नहीं होता और अतिशय होता है; यथा वेदना का किसी द्रव्यान्तर से व्यतिभेद नहीं होता और तारतम्य से अतिशय होता है ।

(१४७) एक दूसरे मत के अनुसार अर्थात् सौत्रान्तिकों के अनुसार संघात में जिन महाभूतों की उपलब्धि नहीं होती वह बीजतः (शक्तितः, सामर्थ्यतः) वहां होते हैं, कार्यतः, स्वरूपतः नहीं होते । इस प्रकार भगवत्-वचन है (संयुक्तागम, १८, १०) : "इस दारु-स्कन्ध में विविध धातु हैं ।"[1] भगवत् का यह अभिप्राय है कि इस दारु में अनेक धातुओं के बीज, अनेक धातुओं की शक्तियां हैं क्योंकि दारु में सुवर्ण-रूप्यादि के स्वरूपतः होने का अवकाश नहीं है ।

सौत्रान्तिक एक दूसरा आक्षेप करते हैं : वायु में वर्ण के सद्भाव को कैसे व्यवस्थित करते हैं?[2]

वैभाषिक उत्तर देते हैं : यह अर्थ श्रद्धनीय है, अनुमान-साध्य (अनुमेय) नहीं है । अथवा वायु वर्णवान् है क्योंकि वायु का गन्धवान् द्रव्य से संसर्ग होने से गन्ध का ग्रहण होता है किन्तु यह गन्ध वर्ण के साथ व्यभिचार नहीं करता ।[3]

६. हम जानते हैं कि रूपधातु में गन्ध और रस का अभाव है (१.३०)। अतः वहां के परमाणुओं की संख्या को न्यून करना चाहिए । वहां के परमाणु षट्-सप्त-अष्टद्रव्यक होंगे और

---

[2] अब्धातु दारु में होता है : यह अब्धातु है जो उसका संग्रह करता है और विशीर्ण होने से उसे रोकता है । यह तेजोधातु है जिसके कारण काष्ठ में पक्ति होती है और उसका पूति-भाव होता है । वायुधातु में काष्ठ का व्यूहन, प्रसर्पण होता है ।—पृथिवीधातु जल में है क्योंकि जल में नौका प्रभृति की धृति होती है ।—ऊपर, पृ. २२, व्याख्या, पृ. ३४ देखिए ।

[3] कठिन लोहे का अग्नि से द्रवण होता है; अतः इसमें अब्धातु का अस्तित्व है । द्रव जल शैत्य से कठिन होता है, अतः इसमें पृथिवीधातु का अस्तित्व है । कठिन-संघर्ष से औष्ण्य की उप-लब्धि होती है, इससे जाना जाता है कि यहाँ तेजोधातु का अस्तित्व है इत्यादि ।

[4] अप्सु शैत्यातिशयादौष्ण्यं गम्यते । [व्या० १२४.२८]

सन्त्यस्मिन् दारुस्कन्धे विविधा धातवः [व्या० १२५.९]—धातु के अर्थ के लिए १.२० देखिए ।

[2] इस लक्षण से सद्भाव होता है : परमाणु अष्टद्रव्यक है ।

[3] वर्णवान् वायुर्गन्धवत्त्वाज्जातिपुष्पवत्—[व्या० १२५.२०]—१.१३ सी-डी भी देखिए ।

जब यह सशब्द होते हैं तो सप्त-अष्ट-नवद्रव्यक होते हैं। उक्त कल्प होने से हम पुनः विस्तार से व्याख्यान नहीं करते हैं।

७. आक्षेप—वैभाषिक कहते हैं कि कामधातु का परमाणु कम से कम अष्टद्रव्यक होता है। क्या उनका अभिप्राय उन द्रव्यों से है जो मुख्यवृत्या द्रव्य हैं (द्रव्यमेव), जिनका स्वलक्षण है[४] अथवा आयतन अभिप्रेत हैं जिन्हें द्रव्य कह सकते हैं क्योंकि उनका सामान्य-विशेष लक्षण है ?[५] —प्रथम पक्ष में संख्या अत्यल्प है। आप कहते हैं कि परमाणु में चार उपादायरूप होते हैं, प्रथम रूप है : हम कहते हैं कि परमाणु इसमें न केवल वर्णरूप (वर्ण, नील या लोहित द्रव्य, आदि) [१४८] है किन्तु संस्थानरूप (१.१०, ४.३ सी) भी है क्योंकि वहां कई अणुओं का संघात है। इसमें 'स्प्रष्टव्य' नामक 'भौतिक' रूप का सद्भाव है : हम कहते हैं कि यह गुरु या लघु, कर्कश या श्लक्ष्ण होगा; इसमें शीत, जिघत्सा, पिपासा की संभावना है। अतः इसमें गुरुत्व या लघुत्व, श्लक्ष्णत्व या कर्कशत्व, शीत, जिघत्सा और पिपासा नामक द्रव्य होंगे (१.१० डी)। अतः प्रस्तावित संख्या अत्यल्प है।—इसके विपरीत यदि वैभाषिक का अभिप्राय आयतनों से है तो संख्या अति बहु है क्योंकि महाभूत स्प्रष्टव्यायतन में (१.३५ ए) संगृहीत हैं। अतः यह कहना चाहिए कि परमाणु चतुर्द्रव्यक है—रूप, गन्ध, रस, स्प्रष्टव्य।

वैभाषिक उत्तर देता है—परमाणु का हमारा लक्षण सुष्ठु है। द्रव्य शब्द का अर्थ यथायोग मुख्यवृत्या द्रव्य और आयतन है। संघातपरमाणु के ८ द्रव्यों में (१) चार मुख्यवृत्या द्रव्य अर्थात् चार महाभूत हैं जो भौतिक रूप के आश्रयभूत हैं, (२) चार आयतन हैं जो महाभूतों के आश्रयीभूत, चार प्रकार के भौतिक रूप हैं : रूप, गन्ध रस और स्प्रष्टव्य (स्प्रष्टव्यायतन से आश्रयभूतों को निष्कृष्ट कर)।

उत्तर युक्त नहीं है क्योंकि इन चार भौतिक रूपों में से प्रत्येक का आश्रय भूतचतुष्क है। अतः संघातपरमाणु में २० द्रव्य होंगे।[१]

---

[४] यस्य स्वलक्षणमस्ति तद्द्रव्यम्। नील एक द्रव्य है। [व्या० १२५.३१]

[५] सामान्यविशेषलक्षणसद्भावात् [व्या० १२५.३२] —रूप में प्रतिघात का स्वभाव है (रूप्यते) जो वर्ण, संस्थान, नीलादि को सामान्य है।

[१] हमने देखा है (१.१३, पृ. २५) कि एक द्रव्यपरमाणु अकेला नहीं रहता। जापानी संपादक इस विषय में ह्वी-ह्वी की ६ अध्याय की टीका का उद्धरण देते हैं। एम० पी० पेलिओ ने इस उद्धरण को ताओ ८३.५, फ़ोलिओ ४१४ में पाया है; इसके साथ में एक विवृति है जो रूपादि संघातपरमाणु के लिए १३७९ परमाणु व्यवस्थित करती है।
इन विवृतियों का अर्थ इस प्रकार है किन्तु इसमें भूल हो सकती है:
द्रव्यपरमाणु अकेला नहीं रहता। कम से कम ७ द्रव्यों का संघात होता है: चार पार्श्व-ऊर्ध्व तल अर्थात् ६ पार्श्व और मध्य; अतः सात। यदि भौतिक रूप का (महाभूतान्युपादाय रूपम्) यथा रूप या गन्ध के संघातपरमाणु का विचार करें तो रूप या गन्ध के सात द्रव्य होते हैं।
इन सात द्रव्यों में से प्रत्येक सात द्रव्य-समुदाय का आश्रयीभूत होता है। इन सात द्रव्यों का स्वभाव भूतचतुष्क का होता है। यह वह सात द्रव्य हैं जहां भूतचतुष्क का अस्तित्व होता है।

[१४९] वैभाषिक कहते हैं—नहीं, क्योंकि हम काठिन्यादि भूतचतुष्क जाति का यहाँ ग्रहण करते हैं। जो एक भूतचतुष्क की जाति है उसका अन्य भूतचतुष्क अतिक्रमण नहीं करते चाहे यह उपादायरूप गन्ध के आश्रय हों या उपादायरूप भौतिक रूप, रस, स्प्रष्टव्य के आश्रय हों।

किन्तु आप इस प्रकार अस्पष्ट रीति से अपने को क्यों व्यक्त करते हैं और द्रव्य शब्द को दो भिन्न अर्थों में क्यों प्रयुक्त करते हैं ? वाणी की प्रवृत्ति छन्द के अनुसार होती है किन्तु अर्थ की परीक्षा करनी चाहिए ।[1]

३. चैत्त (२३-३४)

चित्तचैत्ताः सहावश्यं सर्वं संस्कृतलक्षणैः ।
प्राप्त्या वा पंचधा चैता महाभूम्यादिभेदतः ॥२३॥

२३ ए. चित्त-चैत्त का अवश्य सहोत्पाद होता है ।[2]

चित्त और चैत्त एक दूसरे के बिना उत्पन्न नहीं होते ।

२३ बी. सब अवश्य संस्कृतलक्षणों के साथ उत्पन्न होते हैं ।[3]

[१५०] सब संस्कृत धर्म, रूप, चित्त (२.३४), चैत्त, चित्तविप्रयुक्त संस्कार (२.३५) अपने संस्कृतलक्षणों के साथ अर्थात् जाति, स्थिति, जरा और अनित्यता (२.४६ ए) के साथ अवश्य उत्पन्न होते हैं ।

२३ सी. कभी प्राप्ति के साथ ।[4]

इन सात द्रव्यों में से प्रत्येक में पृथिवी, अप्, तेज, वायु यह चार द्रव्य होते हैं: पृथिवी द्रव्य में ७ पृथिवी द्रव्यपरमाणु होते हैं, इत्यादि ।
अतः (१) पृथिवी, अप्, तेज, वायु के सात द्रव्यपरमाणु, कुल २८ द्रव्यपरमाणु का एक भूतचतुष्क द्रव्यपरमाणु होता ह ।
(२) एक भूतचतुष्क द्रव्यपरमाणु अकेले नहीं रहता : भौतिक रूप के एक द्रव्यपरमाणु के आश्रयभूत सात का समुदाय होता है (७ × २८ = १९६ द्रव्यपरमाणु) ।
(३) भौतिक रूप का द्रव्यपरमाणु अपने आश्रयों के साथ अर्थात् भूतचतुष्क के द्रव्यपरमाणुओं के साथ [१ + १९६ = १९७ द्रव्यपरमाणु], अन्य ६ सदृश द्रव्यपरमाणुओं से मिलकर संघात बनाता है :
अतः भौतिक रूप के द्रव्यपरमाणु में १३७९ (७ × १९७) द्रव्यपरमाणु होते हैं ।
[किन्तु सर्व भौतिक में रूपत्व, गन्धत्व, रसत्व, स्प्रष्टव्यत्व होता है । अतः पृथग्भाव में अवस्थित रूप के अत्यल्प भाग के प्राप्त करने के लिए इस संख्या को चार से गुणा करना चाहिए ।]

[1] छन्दतो हि वाचां प्रवृत्तिः । अर्थस्तु परीक्ष्यः [व्या० १२६.२१]—अर्थात् छन्दत इच्छातः संक्षेपविस्तरविधानानुविधायिन्यो वाचः प्रवर्तन्ते । अर्थस्त्वाभ्याम् परीक्ष्यः ।

[2] चित्तचैत्ताः सहावश्यम् [व्या० १२७.३]
चित्त = मनस् = विज्ञान ।
चैत्त = चैतस = चैतसिक = चित्तसंप्रयुक्त ।

[3] सर्वम् संस्कृतलक्षणैः । [व्या० १२७.७]

[4] प्राप्त्या वा ।

संस्कृत धर्मों में जो सत्वाख्य (सत्वसंख्यात, १.१०) हैं वह अवश्य अपनी अपनी प्राप्ति (२.३७ बी) के साथ उत्पन्न होते हैं। अन्य की प्राप्ति नहीं होती। अतः कारिका में 'वा' शब्द विकल्प के अर्थ में कहा है।

चैत्त क्या हैं ?[२]

---

[२] ए. वसुबन्धु और सौत्रान्तिकों के अनुसार चैत्तों का वाद।
बी. प्रकरणपाद और धातुकाय
सी. अभिधम्म
ए. विज्ञप्तिमात्रशास्त्र की टीका कहती है कि सौत्रान्तिकों में दो सिद्धान्त हैं। एक अर्थात् दार्ष्टान्तिक का मत है कि केवल चित्त का अस्तित्व है, चैत्तों का अस्तित्व नहीं है। बुद्धदेव से इनका एकमत्य है (१.३५ टिप्पणी देखिए)। दूसरे स्वीकार करते हैं कि चैत्तों का अस्तित्व है किन्तु उनमें अवान्तर भेद हैं : कुछ तीन चैत्त मानते हैं : वेदना, संज्ञा, चेतना; कुछ चार (स्पर्श को जोड़कर), कुछ १० (दस महाभूमिक), कुछ १४ (लोभ, द्वेष, मोह, मान को जोड़कर) मानते हैं; इसके अतिरिक्त कुछ सौत्रान्तिक सर्वास्तिवादियों के सब चैत्त मानते हैं। (वैसिलीफ पृ. ३०९ की सूचनाएँ भिन्न ह; भट्टोपम के स्थान में 'भदन्त सौत्रान्तिक' पढ़िए)। वैसिलीफ, २८१ = ३०९ कहते हैं: "सौत्रान्तिकों में भदन्त दार्ष्टान्तिक (अर्थात् "भदन्त", १.३६) वेदना, संज्ञा और चेतना को द्रव्य मानते हैं किन्तु भदन्त बुद्धदेव में स्पर्श और मनसिकार अधिक हैं... । भदन्त दार्ष्टान्तिक श्रीलात..."। चैत्तों के प्रश्न पर कोश, १.६४, ८.१५९, ९. २५२, सिद्धि, ३९५; काम्पेंडियम, १२ भी।
२.२६ सी-डी; ३ ३२ ए-बी देखिए।
पंचस्कन्धप्रकरण में (नैञ्जियो, ११७६ एमडिओ ५८) वसुबन्धु ने चैत्तों के अपने वाद का व्याख्यान किया है।—चैत्त क्या हैं ? चित्त संप्रयुक्त धर्म अर्थात् (१) ५ सर्वग : स्पर्श, मनस्कार, वेदना संज्ञा, चेतना। (२) ५ प्रतिनियत विषय : छन्द, अधिमुक्ति, स्मृति, समाधि, प्रज्ञा। (३) ११ कुशलः श्रद्धा, ह्री, अपत्राप्य, अलोभ-कुशलमूल, अद्वेष कुशलमूल, अमोह कुशलमूल, वीर्य, प्रश्रब्धि, अप्रमाद, उपेक्षा, अहिंसा। (४) ६ क्लेश : राग, प्रतिघ, मान, अविद्या, दृष्टि, विचिकित्सा। (५) शेष उपक्लेश हैं: क्रोध, उपनाह, म्रक्ष, प्रदास, ईर्ष्या, मात्सर्य, माया, शाठ्य, मद, विहिंसा, आह्रीक्य, अनपत्राप्य, स्त्यान, औद्धत्य, आश्रद्धय कौसीद्य, अप्रमाद, मुषितस्मृतिता, विक्षेप, असंप्रजन्य। (६) चार अस्थिर स्वभाव के : कौकृत्य, मिद्ध, वितर्क, विचार।
बी. प्रकरणपाद (ग्रन्थ का आरम्भ) के अनुसार :
५ धर्म हैं: १. रूप २. चित्त, ३. चैत्तधर्म, ४. चित्त विप्रयुक्त संस्कार, ।
५. असंस्कृत......चित्त क्या है ? यह चित्त, मनस्, विज्ञान अर्थात् चक्षुर्विज्ञान आदि विज्ञान काय हैं। चैत्त क्या हैं ? चित्तसंप्रयुक्त सर्वधर्म। यह धर्म क्या हैं ? अर्थात् वेदना, संज्ञा, चेतना, स्पर्श, मनसिकार, छन्द, अधिमुक्ति, स्मृति, समाधि, प्रज्ञा, श्रद्धा, वीर्य, वितर्क विचार, प्रमाद, अप्रमाद, कुशलमूल, अकुशलमूल, अव्याकृतमूल, सब संयोजन, अनुशय, उपक्लेश, पर्यवस्थान (५.४७), सर्वज्ञान (७.१), सर्वदृष्टि, सर्वाभिसमय (६.२७) और इस जाति के सब धर्म जो चित्त से संप्रयुक्त हैं चैत्त हैं।
आगे चल कर (चतुर्थ अध्याय के आरंभ में, २३.१०, फोलिओ१८ बी = धातुकाय, आरंभ): "१८ धातु १२ आयतन, ५ स्कन्ध, ५ उपादानस्कन्ध, ६ धातु, १० महाभूमिक, १० कुशल-महाभूमिक, १० क्लेशमहाभूमिक, १० परीत्तक्लेशभूमिक, ५ क्लेश, ५ संस्पर्श, ५ दृष्टि, ५ इन्द्रिय, ५ धर्म, ६ विज्ञानकाय, ६ स्पर्शकाय, ६ वेदनाकाय, ६ संज्ञाकाय, ६ चेतनाकाय, ६ तृष्णाकाय—१८ धातु क्या हैं ?......६ धातु क्या हैं ? अर्थात् पृथिवीधातु...

[१५२] २३ सी-डी. चैत्त महाभूमिकादि भेद से पंचविध हैं।[1]

जो चैत्त सर्वचित्तसहगत हैं वह महाभूमिक हैं; जो सर्वकुशलचित्तसहगत हैं वह कुशलमहाभूमिक हैं; जो सर्वक्लिष्टचित्तसहगत हैं वह क्लेशमहाभूमिक हैं, जो सर्वअकुशलचित्तसहगत हैं वह अकुशलमहाभूमिक हैं; जिनकी भूमि परीत्तक्लेश है वह परीत्तक्लेशभूमिक हैं।

भूमि का अर्थ 'गतिविषय' (उत्पत्तिविषय) है। एक धर्म का उत्पत्ति-स्थान उस धर्म की भूमि है।

'महाभूमि' नाम इसलिए पड़ा क्योंकि यह महान् धर्मों की [अर्थात् अति विस्तृत धर्मों की जो सर्वचित्त में होते हैं] भूमि, उत्पत्ति-विषय है। महाभूमि में जो धर्म सहज है वह महाभूमिक कहलाता है अर्थात् यह वह धर्म है जो सर्व चित्त में सदा होता है।[2]

(कोश, १.२८)—१० महाभूमिक क्या हैं ? अर्थात् वेदना......प्रज्ञा।—१० कुशलमहाभूमिक क्या हैं ? अर्थात् श्रद्धा, वीर्य, ह्री, अपत्रपा, अलोभ, अद्वेष, प्रश्रब्धि, उपेक्षा, अप्रमाद, अहिंसा—१० क्लेशमहाभूमिक क्या हैं ? अश्राद्धच......प्रमाद (नीचे २.२६ ए-सी में यह सूची दी है)—१० परीत्तक्लेशभूमिक क्या हैं ? अर्थात् क्रोध, उपनाह, म्रक्ष, प्रदास, ईर्ष्या, मात्सर्य, शाठ्य, माया, मद, विहिंसा—
५ क्लेश क्या हैं ? अर्थात् कामराग, रूपराग, आरूप्यराग, प्रतिघ, विचिकित्सा (५.१)।
५ दृष्टि क्या हैं ? अर्थात् सत्कायदृष्टि, अन्तग्राहदृष्टि, मिथ्यादृष्टि, दृष्टिपरामर्श, शीलव्रतपरामर्श (५.३)—५ संस्पर्श क्या हैं ? अर्थात् प्रतिघ°, अधिवचन°, विद्या°, अविद्या°, नैवविद्यानाविद्यासंस्पर्श (३.३० सी-३१ ए)—५ इन्द्रिय क्या हैं ? अर्थात् सुखेन्द्रिय, दुःखेन्द्रिय, सौमनस्येन्द्रिय, दौर्मनस्येन्द्रिय, उपेक्षेन्द्रिय (२.७)—
५ धर्म क्या हैं ? अर्थात् वितर्क, विचार, विज्ञान, आह्रीक्य, अनपत्राप्य [कोश, २.२७ में वितर्क और विचार अनियत माने गए हैं; २.२६ डी में, आह्रीक्य और अनपत्राप्य अकुशल-महाभूमिक माने गए हैं; यह प्रकार बहुत आगे चल कर कल्पित हुआ है, ३.३२ ए-बी देखिए; प्रकरण और धातुकाय में यहाँ जो विज्ञान अभिप्रेत है वह निस्सन्देह ६ विज्ञानकाय हैं]—६ विज्ञानकाय क्या हैं ? अर्थात् चक्षुर्विज्ञान......मनोविज्ञान।—६ संस्पर्श-काय क्या हैं ? अर्थात् चक्षुःसंस्पर्श......मनःसंस्पर्श (३.३० बी.)—६ वेदनाकाय क्या हैं ? अर्थात् चक्षुःसंस्पर्शजवेदना......(३.३२ ए)—६ संज्ञाकाय क्या हैं ? अर्थात् चक्षुःसंस्पर्शजसंज्ञा......६ चेतनाकाय क्या हैं ? अर्थात् चक्षुःसंस्पर्शजचेतना ......६ तृष्णाकाय क्या हैं ? अर्थात् चक्षुःसंस्पर्शजतृष्णा......।

धातुकाय महाभूमिकों का व्याख्यान करता है: "वेदना क्या है ?" (२.२४ पृ. १५३ नोट १ सी. देखिए)

सी. कथावत्थु, ७.२-३, राजगिरिक और सिद्धत्थिक धर्मों के संप्रयोग, चैतसिकों के अस्तित्व का प्रतिषेध करते हैं; ९.८, उत्तरापथक वितर्क को महाभूमिक मानते हैं (पारिभाषिक शब्द नहीं है)—विसुद्धिमग्ग, १४.—अभिधम्मसंगह, २.
काम्पेंडियम, पृ० २३७ में एस० जेड० आँग और सी० ए० एफ० राइस डैविड्स की चैत-सिक वाद के विकास पर रोचक सूचनाएँ हैं। पञ्ञा और विञ्ञाण के संसर्ग का वाद, मज्झिम, १,२९३

[1] पंचधा चैत्ता महाभूम्यादिभेदतः॥

[2] जापानी संपादक द्वारा उद्धृत विभाषा (१६,१२ बी) के अनुसार: महाभूमिक धर्म का क्या अर्थ है ? ए. 'महान्' चित्त है; यह १० धर्म भूमि है अर्थात् चित्त के उत्पत्ति-विषय हैं; 'महान्' की भूमि

वेदना चेतना संज्ञा छन्दः स्पर्शो मतिः स्मृतिः।
मनस्कारोऽधिमोक्षश्च समाधिः सर्वचेतसि ॥२४॥

महाभूमिक कौन हैं ?

[१५३] २४. वेदना, चेतना, संज्ञा, छन्द, स्पर्श, मति, स्मृति, मनस्कार, अधिमोक्ष और समाधि सर्वचित्त में सहवर्तमान होते हैं।[1]

सिद्धान्त[2] के अनुसार यह दस धर्म सर्वचित्तक्षण में होते हैं।

१. वेदना त्रिविध अनुभव है : सुखा, दुःखा, अदुःखासुखा (१.१४)।

होने से उन्हें महाभूमिक कहते हैं। महाभूमि और धर्म होने से यह महाभूमिक धर्म हैं।
बी. कुछ का कहना है : चित्त महान् है क्योंकि उसका स्वभाव और उसका कारित्र उत्कृष्ट है। यह महान् है और भूमि है; इसलिए इसे महाभूमि कहते हैं क्योंकि यह चैत्तों का आश्रयभूत स्थान है। वेदनादि १० धर्म महाभूमिक धर्म कहलाते हैं क्योंकि यह महाभूमि में सर्वत्र पाए जाते हैं।
सी. कुछ का कहना है : वेदनादि १० धर्म सर्वत्र चित्त के साथ पाए जाते हैं। इसलिए इन्हें 'महान्' कहते हैं। इनकी भूमि चित्त है; इसलिए चित्त को महाभूमि कहते हैं। महाभूमि में वेदनादि सहज हैं; अतः वेदनादिक महाभूमिक धर्म कहलाते हैं।
वसुबन्धु तृतीय निर्वचन देते हैं।
हम देखेंगे (३.३२ ए-बी) कि श्रीलाभ महाभूमिक आख्या के इस लक्षण को नहीं स्वीकार करते।

[1] [वेदना चेतना संज्ञा छन्दः स्पर्शो] मतिः स्मृतिः।
[मनस्कारोऽधिमोक्षश्च समाधिः सर्वचेतसि] ॥
ए. शुआन्-चाङ शोधते हैं : वेदना संज्ञा चेतना स्पर्श छन्द प्रज्ञा स्मृति मनस्कार अधिमुक्ति समाधि।
अभिधर्म (प्रकरणपाद, धातुकाय) का क्रम इस प्रकार है : वेदना संज्ञा चेतना स्पर्श मनस्कार छन्द अधिमुक्ति स्मृति समाधि प्रज्ञा।—वसुबन्धु (पंचस्कन्धक) ५ सर्वगः स्पर्श मनस्कार वेदना संज्ञा चेतना और ५ प्रतिनियत विषय : छन्द अधिमुक्ति स्मृति समाधि प्रज्ञा मानते हैं। महाव्युत्पत्ति १०४ (जिसमें अधिमोक्ष पाठ है) का क्रम अन्य से भिन्न है।
'अधिमुक्ति' पाठ का समर्थन पृष्ठ १५४ टिप्पणी ५ में उद्धृत व्याख्या से होता प्रतीत होता है। बी. व्याख्या के सार को हम मूल में देते हैं।
सी. धातुकाय (२३.१०, फोलिओ २ ए) में दिये लक्षण अभिधम्म के प्रकार के हैं, यथा समाधि का यह लक्षण दिया है: "चित्त की स्थिति, संस्थिति, अभिष्ठिति, उपस्थिति, अविक्षेप, अघट्टन (महाव्युत्पत्ति, २४५, २२६), संधार, शमथ, समाधि, चित्तस्यैकाग्रता—इसे समाधि कहते हैं।" (विभंग, पृ. २१७, धम्मसंगणि, ११)।
इसी प्रकार वेदना वेदना, संवेदना, प्रतिसंवेदना, वेदित है। जो अनुभूत होगा वह वेदना के अन्तर्गत है।—स्मृति स्मृति, अनुस्मृति, प्रतिस्मृति, स्मरण, असंप्रमोषता.... चेतसोऽभिलाप है।

[2] 'किल' शब्द दिखाता है कि आचार्य सिद्धान्त के मत का (विभाषा, १२, १०) व्याख्यान कर रहे हैं। वह स्वमत का निर्देश पंचस्कन्धक में करते हैं [व्या० १२७.२०]। पंचस्कन्धक का उद्धरण कोशस्थान ३, कारिका ३२ की व्याख्या में है, इस वचन के लक्षणों की तुलना विंशिका, सिद्धि और अभिसमयालंकारालोक के लक्षणों से कीजिए।

[१५४] २. चेतना वह है जो चित्त का अभिसंस्कार, चित्त का प्रस्यन्द (१.१५, ४.१) करती है ।

३. संज्ञा संज्ञान है जो विषय-निमित्त (पुरुष, स्त्री आदि) का ग्रहण करता है (विषयनिमित्तग्रहण=विषयविशेषरूपग्राह) (१.१४; २.३४ बी-डी, पृ.१७७ टिप्पणी ५) ।

४. छन्द कार्य की इच्छा है ।

५. स्पर्श इन्द्रिय, विषय और विज्ञान के संनिपात से संजात स्पृष्टि है । अन्य शब्दों में यह वह धर्म है जिसके योग से (यद्योगात्) इन्द्रिय, विषय और विज्ञान अन्योन्य का मानों स्पर्श करते हैं (३.३०) ।

६. प्रज्ञा जिसे कारिका में 'मति' कहा है धर्मों का प्रविचय है (१-२) [२]

७. स्मृति (२.१६२, ६.२५८) आलम्बन का असंप्रमोष है । यह वह धर्म है जिसके योग से मन आलंबन को विस्मृत नहीं करता, जिसके योग से मानों यह उसकी अभिलाषा करता है (अभिलषतीव [व्या० १२७.३३]) ।[३]

८. मनस्कार चित्त का आभोग[४] है : दूसरे शब्दों में यह आलम्बन में चित्त का आवर्जन, अवधारण है (आलम्बने चेतस आवर्जनम् अवधारणम् [व्या १२८.१]) । [मनस्कार का निर्वचन इस प्रकार करते हैं : मनसः कारः अथवा मनः करोति आवर्जयति । व्या०१२८.१] (२.७२) । मनस्कार=चेतस आभोग आलम्बने चित्तधारणधर्मकः (अभिसमय) ।

९. अधिमुक्ति आलम्बन के गुणों का अवधारण है । [५]

---

[१] अत्थसालिनी, ३२९ से तुलना कीजिए : कत्तुकम्यता—पंचस्कन्धक के अनुसार: अभिप्रेते वस्तुनि अभिलाषः (२.५५ सी-डी, ३.१ देखिए जहाँ 'छन्द' का लक्षण 'अनागते प्रार्थना' दिया है) ।

[२] पंचस्कन्धकः उपपरीक्ष्ये वस्तुनि प्रविचयो योगायोगविहितोऽन्यथा च ।

[३] पंचस्कन्धकः संस्तुते वस्तुन्यसंप्रमोषः । चेतसोऽभिलपनता—१.३३ देखिए ।

[४] आभोग पर एस० लेवी सूत्रालंकार, १.१६ और मूसों १९१४ देखिए ।

[५] यह शब्द कठिनाई उत्पन्न करता है—व्याख्या : अधिमुक्तिस्तदालम्बनस्य गुणतोऽवधारणाद् [व्या० १२८.२] (णम् ?) रुचिरिति अन्ये । यथानिश्चयं धारणेति योगाचारचित्ताः "अधिमुक्ति आलम्बन के गुणों का अवधारण है; दूसरों के अनुसार यह रुचि है; योगाचारों के अनुसार यह यथानिश्चय आलम्बन की धारणा है ।" (२.७२ में, अधिमुक्ति मनस्कार के अधिकार में इस अन्तिम बात का व्याख्यान है ।)
पंचस्कन्धक के अनुसार अधिमोक्ष=निश्चिते वस्तुन्यवधारणम् ।
प्रकरणपाद, १३ बी, ९ के अनुसार : "अधिमुक्ति क्या है ? वेदना और स्पर्श में चित्त का आस्वाद ।
हमारे भाष्य के तिब्बती भाषान्तर में 'अधिमुक्तिरिच्छा' या रुचिः (?) ।
परमार्थ का अनुवाद: "अधिमुक्ति एक धर्म है जिसके योग से चित्त आलम्बन के लक्षणों के प्रति पटु होता है ।"—यह अनुवाद नहीं है किन्तु विवृति है ।
शुआन्-चाङ का अनुवाद: "अधिमुक्ति (=नेगयु किंग इन को) है = जिसके योग से आलम्बन के प्रति गुणावधारण की सूचना होती है ।" इन (=मुद्रा) को (संभव) को कई

[१५५] १०. समाधि चित्त की एकाग्रता है : (अग्र=आलम्बन, १.३३) यह वह धर्म है जिसके योग से चित्त प्रबन्धेन आलम्बन में एकत्र वर्तमान होता है (वर्तते) (८.१)[1]

[१५६] हम यह कैसे जानते हैं कि यह १० चैत्त जिनका भिन्न लक्षण है एक चित्त में सह वर्तमान होते हैं ? चित्त-चैत का विशेष निश्चय ही सूक्ष्म है। चित्त-चैत्तों का यह विशेष उनके प्रबन्धों में भी दुर्लक्ष्य है। फिर क्षणों का क्या कहना जिनमें उन सब का अस्तित्व होता है। यदि बहुरस वाले रूपी ओषधियों के भेद जो इन्द्रियग्राह्य हैं दुःपरिच्छेद (दुरवधान) [व्या १२८.१२—मूलमें दुरवधारा तथा पाद टिप्पणी में दुरवधाना पाठ है] होते हैं तो बुद्धि-ग्राह्य अरूपी धर्मों का क्या कहना ? (चैत्तों की सूक्ष्मता, मिलिन्द ६३.८७, अ थसालिनी, १४२, कोश, ९, २८४)

कोश में रोजेन बर्ग ने देखा है। एम० ए० वेली जिन्होंने जापानी विवृतियाँ देखी हैं इस प्रकार अनुवाद करते हैं: "जिस शिष्य ने अपने पाठ को अच्छी तरह समझ लिया है उसको अपने अनुमोदन की सूचना देना।" (अतः को कोइ) "यह संभव है" (ए. डेबेस्से)।—अधिमुक्ति आलम्बन का गुणावधारण है; यह वह धर्म है जिसके योग से आलम्बन का अवधारण होता है; यह मनस्कार की प्रथम अवस्था है।—श्वे ज़न आग काम्पेण्डियम पृ० १७ और २४१ की टिप्पणी अधिमोक्ख पर देखिए: "......दि सेटिल्ड स्टेट आफ ए माइन्ड..... इट इज डिसाईडिंग टु एटेन्ड टु दिस, नाट दैट, इर्रेस्पेक्टिव आफ मोर काम्पलीकेटेड प्रोसीजर ऐज टु ह्वाट दिस आर दैट अपीयर्स टु बी."

संघभद्र (५२ बी १६) : आलम्बन के गुणावधारण (चु को) को अधिमुक्ति कहते हैं। अन्य आचार्यों के अनुसार 'अधि' का अर्थ 'उत्कृष्टता, प्रभुत्व' है; मुक्ति का अर्थ विमोक्ष है। अधिमुक्ति वह धर्म है जिसके योग से चित्त आलम्बन में बिना बाधा के अपने प्रभुत्व का प्रयोग करता है; यथा अधिशील।—(५७ बी, ८) अधिमुक्ति एक पृथक् वस्तु है क्योंकि सूत्र कहता है: "अधिमुक्ति के कारण चित्त आलम्बन का गुणावधारण (इन को) करता है।" जब चित्तों का उत्पाद होता है तब सब आलम्बन का गुणावधारण करते हैं (चु); अतः अधिमुक्ति महाभूमिक है।—किन्तु स्थविर कहते हैं : "यह व्यवस्थित नहीं हुआ है कि अधिमुक्ति एक पृथक् वस्तु है क्योंकि हम देखते हैं कि उसका स्वभाव ज्ञान के स्वभाव से भिन्न नहीं बताया गया है: अधिमुक्ति का लक्षण यह है कि चित्त आलम्बन के प्रति निश्चित हो ज्ञान के लक्षण से कोई भेद नहीं है। अतः अधिमुक्ति एक पृथक् वस्तु नहीं है।"—यह यथार्थ नहीं है क्योंकि गुणावधारण (चु को) के कारण निश्चय है।

कुछ का कहना है: 'अधिमुक्ति अवधारण, निश्चय है।" निश्चय के हेतु (अधिमुक्ति में उसके कार्य का उपचार होता है।—यदि ऐसा है तो अधिमुक्ति और अवधारण का समवधान नहीं होगा।—नहीं, क्योंकि यह दो अन्योन्य का अभिसंस्कार करते हैं: प्रतिसंख्या के कारण अधिमुक्ति का उत्पाद होता है; अधिमुक्ति के कारण निश्चय की उत्पत्ति होती है। कोई विरोध नहीं है, अतः उनके सहभू होने में कोई बाधा नहीं है।—यदि सर्वचित्त में यह दो हों तो सर्वप्रकार के चित्त अधिमुक्ति और निश्चय होंगे।—यह आक्षेप सारहीन है क्योंकि ऐसा होता है कि अन्य धर्मों का प्रभुत्व होने से उनके कारित्र को उपघात पहुँचता है : अधिमुक्ति और निश्चय होने के लिए वह सूक्ष्म और दुर्लक्ष्य हैं।

[1] पंचस्कन्धक; उपपरीक्ष्ये वस्तुनि चित्तस्यैकाग्रता।

श्रद्धाऽप्रमादः प्रश्रब्धिरुपेक्षा ह्रीरपत्रपा ।
मूलद्वयमहिंसा च वीर्यं च कुशले सदा ॥२५॥

अतिविस्तृत कुशलधर्मों की भूमि कुशलमहाभूमि कहलाती है । जो चैत्त इस भूमि से उत्पन्न होते हैं वह कुशलमहाभूमिक कहलाते हैं : वह धर्म जो सर्व कुशलचित्त में पाये जाते हैं ।

२५. श्रद्धा, अप्रमाद, प्रश्रब्धि, उपेक्षा, ह्री, अपत्रपा, मूलद्वय, अविहिंसा, और वीर्य केवल कुशल चित्त में होते हैं, सर्व कुशल चित्त में होते हैं ।[२]

[१५७] १. श्रद्धा चित्त-प्रसाद है ।[३]—एक दूसरे मत के अनुसार[१] यह कर्मफल (६.७८ बी) (६ ७३. सी) और सत्य में अभिसंप्रत्यय है ।

२. अप्रमाद कुशल धर्मों की भावना है अर्थात् कुशल धर्मों का प्रतिलम्भ और निषेवण है ।[२]

आक्षेप । कुशल धर्मों का प्रतिलम्भ और निषेवण प्रतिलब्ध और निषेवित कुशल धर्मों से अन्य नहीं है । आप अप्रमाद को एक पृथक् चैतसिक धर्म कैसे कहते हैं ?

अप्रमाद कुशल धर्मों में अवहितता है । उपचार से कहते हैं कि यह भावना है । वास्तव में यह भावना-हेतु है ।

एक दूसरे निकाय[३] के अनुसार अप्रमाद चित्त की आरक्षा है ।

३. प्रश्रब्धि वह धर्म है जिसके योग से चित्त की कर्मण्यता, चित्त का लाघव होता है ।[४]

---

[२] श्रद्धाप्रमादः प्रश्रब्धिरुपेक्षा ह्रीरपत्रपा ।
मूलद्वयमविहिंसा वीर्यं च कुशले सदा ॥
कारिका २५ कोश ६. २९३, ७. १५८ : व्याख्या : क्लेशोपक्लेशकलुषितं चेतः श्रद्धा-योगात् प्रसीदति। उदकप्रसादकमणियोगादिवोदकम् । सत्यरत्नकर्मफलाभिसंप्रत्यय इत्यपरे। सत्येषु चतुर्षु. . .सन्त्येवैतानीत्यभिसंप्रात्ययोऽभिसंप्रतिपत्तिः श्रद्धा [व्या. १२८. १६] । विभाषा, ४२, ११ और प्रकरण के अनुसार : श्रद्धा, वीर्य, ह्री, अपत्रपा, अलोभ, अद्वेष, प्रश्रब्धि, उपेक्षा, अप्रमाद, अविहिंसा ।—महाव्युत्पत्ति (१०४) में तृतीय मूल (अमोह) का उल्लेख है और मूलों के पश्चात् वीर्य का स्थान है । पंच स्कन्धक भी तृतीय मूल का उल्लेख करता है और उसका क्रम वही है जो महाव्युत्पत्ति का है, इस अन्तर के साथ कि इसमें उपेक्षा के पहले अप्रमाद गिनाया गया है ।

[३] चेतसः प्रसादः [व्या० १२८.१६]—ज्ञानप्रस्थान , १, १९ के अनुसार—अन्य शब्दों में श्रद्धा वह धर्म है जिसके योग से (यद् योगात्) क्लेश-उपक्लेश से कलुषित चित्त निर्मल होता है: यथा उदकप्रसादक मणि के योग से कलुषित जल निर्मल होता है । अत्थसालिनी, ३०४ में यही उदाहरण है ।

[१] पंचस्कन्धक में दिया हुआ वसुबन्धु का व्याख्यान ।

[२] कुशलानां धर्माणां भावना [व्या० १२८.२०]—भावना का अर्थ 'प्रतिलम्भ, निषेवण है । यह ७.२७ के अनुसार है ।

[३] महासांघिक—अप्रमाद सांक्लेशिक धर्मों से चित्त की रक्षा करता है ।

[४] अभिधम्म में पस्सद्धि और लहुता में भेद किया है (धम्मसंगणि, ४०-४३) । अभिधर्म, ऐसा प्रतीत होता है, दोनों को एक मानता है ।—ध्यानों की प्रश्रब्धि का विवरण ८.९ में है । (अंगुत्तर, ५.३)

किन्तु सौत्रान्तिक[५] कहते हैं कि सूत्र में कायप्रश्रब्धि भी उक्त है।[६]

सूत्र कायप्रश्रब्धि का वर्णन करता है यथा कायिकी वेदना का करता है। सर्व वेदना स्वभाव में चैतसिक है। सूत्र सदा उस वेदना को कायिकी कहता है जिसका आश्रय परमाणुसंचयात्मक पंचेन्द्रिय है। यह वह वेदना है जो पाँच विज्ञानकाय (२.७ ए) से संप्रयुक्त होती है। इसी प्रकार पंचेन्द्रियों पर आश्रित चित्त-प्रश्रब्धि, ५ विज्ञानकायों की प्रश्रब्धि 'कायप्रश्रब्धि' कहलाती है।

[१५८] सौत्रान्त्रिक उत्तर देता है—इस कायप्रश्रब्धि को संबोध्यंगों में (६.६८) कैसे परिगणित करते हैं? वास्तव में पांच विज्ञानकाय कामावचर हैं क्योंकि वह असमाहित हैं अर्थात् समापत्ति की अवस्था में इनका उत्पाद नहीं होता और बोधि के अंग समाहित (६.७१ ए) होते हैं। अतः हमारे मत से जिस सूत्र का हमने उल्लेख किया है उसमें कायप्रश्रब्धि, कायकर्मण्यता (कायवैशारद्य) (८.९) है।

सर्वास्तिवादिन्—यह कायप्रश्रब्धि बोध्यंग कैसे है? वास्तव में कायकर्मण्यता सास्रव है।

सौत्रान्तिक—किन्तु यह चित्त-प्रश्रब्धि के—जो बोध्यंग है—अनुकूल है। इस कारण इसको बोध्यंग कहते हैं। सूत्र प्रायः इस प्रकार अपने को व्यक्त करता है। यथा सूत्र की शिक्षा है कि प्रीति और प्रीतिस्थानीयधर्म प्रीति-संबोध्यंग हैं (६.७१)।[१] सूत्र की शिक्षा है कि प्रतिघ और प्रतिघ-निमित्तव्यापादनीवरण (५.५९) हैं[२] सूत्र में उक्त है कि दृष्टि, संकल्प, व्यायाम, [१५९] प्रज्ञास्कन्ध हैं (७.७६)। किन्तु संकल्प जो वितर्क-स्वभाव है और व्यायाम जो वीर्यस्वभाव है प्रज्ञा-स्वभाव नहीं हैं किन्तु वह इस प्रज्ञा के अनुकूल हैं इस लिये प्रज्ञा स्कन्ध में उक्त हैं।[३] कायप्रश्रब्धि चित्त-प्रश्रब्धि में हेतु है; इस लिये तत्सदृश उसके साथ बोधि के अंगों में निर्दिष्ट हैं।

---

[५] जापानी संपादक के अनुसार—पंचस्कन्धक : "प्रश्रब्धि चित्त और काय की कर्मण्यता है; यह धर्म दौष्ठुल्य का प्रतिपक्ष है।" एस० लेवी सूत्रालंकार, ६.२, वोगिहारा पृ० २९).

[६] प्रश्रब्धि संबोध्यंग द्विविध है, चित्तप्रश्रब्धि, कायप्रश्रब्धि (प्रकरणपाद, ३.१)—संयुक्तागम, २७, ३ :.........तत्र यापि कायप्रश्रब्धिस्तदपि प्रश्रब्धिसंबोध्यंगमभिज्ञायै संबोधये निर्वाणाय संवर्तते। यापि चित्तप्रश्रब्धिस्तदपि संबोध्यंगम्......संयुत्त, ५.३ में अधिक संक्षिप्त पाठ है। सौत्रान्तिक कहते हैं कि इस सूत्र के होते आप प्रश्रब्धि को इस एक प्रकार की ही 'चित्त-कर्मण्यता' कैसे कह सकते हैं?

[१] व्याख्या सूत्र को उद्धृत करती है : तीर्थिकाः किल भगवच्छ्रावकानेवमाहुः। श्रमणो भवन्तो गौतम एवमाह। एवं यूयं भिक्षवः पंच नीवरणानि प्रहाय चेतस उपक्लेशकराणि प्रज्ञा दौर्बल्यकराणि सप्त बोध्यंगानि भावयतेति वयमपि एवं ब्रूमः। तत्रास्माकं श्रमणस्य च गौतमस्य को विशेषो धर्मदेशनायाः। तेभ्यो भगवता एतदुपदिष्टम्-पंच सन्ति दश भवन्ति। दश सन्ति पंच व्यवस्थाप्यन्ते।......तथा सप्त सन्ति चतुर्दश भवन्ति। चतुर्दश सन्ति सप्त व्यवस्थाप्यन्ते। [व्या० १२९.९]—संयुत्त, ५.१०८ से तुलना कीजिए।

[२] भगवत् ने कहा है कि ९ आघातवस्तु (अंगुत्तर, ४.४०८) व्यापाद-नीवरण हैं। [व्या० १२९.१४]

[३] जब त्रिस्कन्ध-मार्ग का विचार होता है—शीलस्कन्ध, समाधिस्कन्ध, प्रज्ञास्कन्ध—तब संकल्प और व्यायाम प्रज्ञास्कन्ध में दृष्टि के साथ, जो अकेले प्रज्ञास्वभाव है, उक्त

४. उपेक्षा चित्त-समता है। यह वह धर्म है जिसके योग से चित्त समभाव में अनाभोग में वर्तमान होता है।[२]

सौत्रान्तिक—यदि सर्व चित्त मनस्कार से संप्रयुक्त है जो आभोग-स्वभाव है तो सर्व कुशल चित्त उपेक्षा से जो अनाभोग-स्वभाव है कैसे संप्रयुक्त हो सकता है ?

वैभाषिक—हमने पहिले ही कहा है कि चित्त चैत्तों के विशेष को जानना कठिन है (दुर्ज्ञान)।

सौत्रान्तिक—दुर्ज्ञान भी जाना जाता है। किन्तु यह अति दुर्ज्ञान है कि विरोध में अविरोध हो। यह अयुक्त है कि एक ही चित्त-क्षण, आभोग और अनाभोग, सुख और दुःख इन अन्योन्य विरुद्ध चैत्तों से संप्रयुक्त हो।[३]

वैभाषिक[४]—एक आलम्बन के प्रति आभोग है, अन्य आलम्बन के प्रति अनाभोग है। अतः आभोग-अनाभोग के सहभाव में अविरोध है।

[१६०] सौत्रान्तिक—यदि ऐसा है तो संप्रयुक्त चैतसिक का एक ही आलम्बन नहीं होता और यह आपके बताए हुए संप्रयुक्त धर्मों के लक्षण [२.३४ डी) के विरुद्ध है। हमारे लिए विरोध-जातीय धर्मों का सद्भाव, यहाँ मनस्कार और उपेक्षा का, पश्चात् वितर्क और विचार का (२.३३) एकत्र नहीं होता किन्तु पर्याय से उनकी वृत्ति होती है।

५–६. ह्री और अपत्राप्य का निर्देश हम पीछे (२.३२) करेंगे।

७-८. कुशल मूलद्वय अलोभ और अद्वेष (४.८) हैं। तृतीय कुशलमूल अमोह प्रज्ञात्मक है : अतः यह महाभूमिकों में पूर्व ही निर्दिष्ट हो चुका है। [१]यह कुशलमहाभूमिक नहीं कहलाता।

९. अविहिंसा अविहेठना है।[२]

होता है। [व्या० १२९.१९] प्रज्ञास्कन्ध निर्देश में उक्त है : प्रज्ञास्कन्धः कतमः। सम्यग् दृष्टिः सम्यक्संकल्प : सम्यग्व्यायामः [व्या०१२९.२०]।

[२] यह संस्कारोपेक्षा है; वेदनोपेक्षा (१.१४, २.८ सी-डी) और अप्रमाणोपेक्षा (८.२९) से भिन्न है। अत्थसालिनी (३९७) में १० उपेक्षा परिगणित हैं; झानुपेक्खा का लक्षण इस प्रकार है: मज्झत्तलक्खणा अनाभोगरसा अव्यापारपच्चुपट्ठाना...... (पृ. १७४,२)।

[३] अक्षरार्थः दुर्ज्ञान भी जाने जा सकते हैं। किन्तु यह जानना (स्वीकार करना) कठिन है कि विरोधी धर्मों में कोई विरोध (सहभाव का असंभव होना) नहीं होता : अस्ति हि नाम दुर्ज्ञानमपि ज्ञायते। इदं तु खलु अतिदुर्ज्ञानं यद् विरोधेऽप्यविरोधः। [व्या० १२९.२७]

[४] शुआन्-चाङ और जापानी संपादक की विवृतियों के अनुसार :
वैभाषिक—इसमें क्या विरोध है कि मनस्कार चित्त का आभोग है और उपेक्षा चित्त का अनाभोग है ? वास्तव में हम मनस्कार और उपेक्षा को पृथक् धर्म मानते हैं।
सौत्रान्तिक—तब मनस्कार और उपेक्षा का एक ही आलम्बन न होगा अथवा यह मानना पड़ेगा कि सर्व चैत्त (लोभ, द्वेषादि) संप्रयुक्त होते हैं।
हम विरोधजातीय अन्य धर्म (वितर्क, विचार) भी पाएँगे।......

[१] पंचस्कन्धक में 'अमोह' कुशलमहाभूमिकों में पठित है। (वास्तव में प्रज्ञा 'समोह' हो सकती है) —अलोभ लोभ, उद्वेग और अनासक्ति का प्रतिपक्ष है।—अद्वेष द्वेष का प्रतिपक्ष है, अर्थात् मैत्री (८.२९) है।—अमोह मोह का प्रतिपक्ष है, सम्यक् संकल्प है (६.६९)।

[२] पंचस्कन्धकः "अविहिंसा करुणा (८.२९) है, यह विहिंसा का प्रतिपक्ष है"।

१०. वीर्य चित्त का अभ्युत्साह (चेतसोऽभ्युत्साहः)[3] है [व्या १३०.११]। यह चैत्त सर्वकुशलचित्त से संप्रयुक्त होते हैं।

मोहः प्रमादः कौसीद्यमाश्रद्धयं स्त्यानमुद्धवः।
क्लिष्टे सदैवाकुशले त्वाह्रीक्यमनपत्रपा ॥२६॥

महाक्लेश धर्मों की भूमि को महाक्लेशभूमि कहते हैं।

[१६१] इस भूमि के चैत्त अर्थात् जो सर्वक्लिष्ट चित्त में होते हैं क्लेशमहाभूमिक हैं।

२६ ए-सी. मोह, प्रमाद, कौसीद्य, आश्रद्धय, स्त्यान और उद्धति सर्वदा और एकान्ततः क्लिष्ट चित्त में होते हैं।[1]

१. मोह अर्थात् अविद्या (३.२९), अज्ञान, अन्धकार।[2]

२. प्रमाद, अप्रमाद का प्रतिपक्ष, भावना-विपक्ष, कुशलधर्मों का अप्रतिलम्भ और अनिषेवण।

३. कौसीद्य, वीर्य का विपक्ष।

४. आश्रद्धय[3], श्रद्धा का विपक्ष।

५. स्त्यान, कर्मण्यता का विपक्ष (७.११ डी)।

अभिधर्म में (ज्ञानप्रस्थान, २, ९) कहा है: "स्त्यान क्या है? काय-गुरुता, चित्त-गुरुता, काय-अकर्मण्यता चित्त-अकर्मण्यता। कायिक-स्त्यान और चित्त-स्त्यान स्त्यान कहलाते हैं।"

किन्तु स्त्यान 'चैतसिक' है। कायिक स्त्यान कैसे हो सकता है?

यथा कायिकी वेदना (पृ.१५७ देखिए)।

६. औद्धत्य चित्त का अत्युपशम (७.११ डी) है[4]।

यही ६ धर्म हैं जो क्लेशमहाभूमिक हैं।

---

[3] कुशल क्रिया में अभ्युत्साह; क्योंकि अकुशल क्रिया में चित्त का अभ्युत्साह वीर्य नहीं है किन्तु इसका प्रतिपक्ष कौसीद्य है। भगवत् ने कहा है: "बाह्यकी (इतो बाह्यक) का वीर्य कौसीद्य ही है" (२.२६ ए)।—पंचस्कन्धक: "वीर्य कुशल क्रिया में चित्त का अभ्युत्साह है; यह कौसीद्य का प्रतिपक्ष है।" [व्या० १३०.१४]

[1] [मोहः प्रमादः कौसीद्यं आश्रद्धयं स्त्यानमुद्धतिः।—सर्वदा क्लिष्टे] हमारे सोर्सेज का पाठ 'सदा' है।

[2] जापानी संपादक की विवृति के अनुसार दर्शनमार्ग से अविद्या का अपगम, भावनामार्ग से अज्ञान का अपगम और अशैक्षमार्ग से अंधकार का अपगम होता है।

[3] हस्तलिखित पोथियों में अश्रद्धय, अश्राद्धय और आश्रद्धय पाठ मिलते हैं। वोगिहारा की महाव्युत्पत्ति देखिये।

[4] नृत्यगीतादिशृंगारवेषालंकारकार्यौद्धत्यसंनिश्रयदानकर्मकश्चैतसिको धर्मः [व्या० १३०.२२]।—धम्मसंगणि, ४२९ से तुलना कीजिये।

किन्तु मूल अभिधर्म[५] कहता है कि १० क्लेशमहाभूमिक हैं किन्तु उसमें स्त्यान पठित नहीं हैं।

[१६२] यह १० क्या हैं?

अश्राद्धच, कौसीद्य, मुषितस्मृतिता, विक्षेप, अविद्या, असंप्रजन्य, अयोनिशोमनस्कार, मिथ्याधिमोक्ष, अर्थात् क्लिष्ट-अधिमोक्ष, औद्धत्य और प्रमाद।

आप मूर्ख (देवानां प्रियः)[१] हैं जो पाठ प्रामाण्यमात्र से प्राप्ति को जानते हैं किन्तु आचार्यों की इच्छा को नहीं जानते (प्राप्तिज्ञो नत्विष्टिज्ञः)[२] [व्या १३०.२४]।
इच्छा क्या है?

अभिधर्मोक्त ५ क्लेशमहाभूमिक धर्म, अर्थात् मुषितस्मृतिता, विक्षेप, असंप्रजन्य, अयोनिशोमनस्कार और मिथ्याधिमोक्ष महाभूमिक की सूची में पूर्वनिर्दिष्ट हो चुके हैं। उनको पुनः क्लेशमहाभूमिकों में परिगणित करने का स्थान नहीं है। यथा कुशलमूल अमोह यद्यपि कुशलमहाभूमिक है तथापि कुशलमहाभूमिक रूप में इसका अवधारण नहीं होता क्योंकि प्रज्ञास्वभाव होने से यह महाभूमिक व्यवस्थापित होता है (ऊपर पृ० १५४ टिप्पणी २ देखिए)।

वास्तव में क्लिष्ट स्मृति ही मुषितस्मृतिता है। क्लिष्ट समाधि ही विक्षेप (४.५८) है। क्लिष्ट प्रज्ञा ही असंप्रजन्य है। क्लिष्ट मनस्कार ही अयोनिशोमनस्कार है। क्लिष्ट अधिमोक्ष ही मिथ्याधिमोक्ष है।

इसी लिये मूल अभिधर्म महाभूमिकों को क्लिष्ट में पठित कर दस क्लेशमहाभूमिक परिगणित करता है।

क्या महाभूमिक क्लेशमहाभूमिक भी है?

[१६३] चार कोटि हैः—१. वेदना, संज्ञा, चेतना, स्पर्श और छन्द केवल महाभूमिक हैं; २. अश्राद्धच, कौसीद्य, अविद्या, औद्धत्य और प्रमाद केवल क्लेशमहाभूमिक हैं; ३. स्मृति, समाधि, प्रज्ञा,

---

[५] ऊपर पृ० १५१ देखिए।

[१] कोऽयं देवानांप्रियो नाम। ऋजुकजातीयो देवानांप्रिय इत्येके व्याचक्षते। अशठो हि देवानांप्रियो भवति। मूर्खो देवानांप्रिय इत्यपरे। यो हि ईश्वराणामिष्टः स न ताडनेन शिक्षत इति मूर्खो भवति [व्या० १३०.२७]।—जापानी संपादक अनेक अर्थ देते हैं।

[२] पाठप्रामाण्यमात्रेण दश क्लेशमहाभूमिकाः प्राप्ता इत्येतामेव प्राप्तिं जानीते [व्या० १३०.२५]। वसुबन्धु, २.४, ५६ (वैयाकरण और सारथि की कथा) पर महाभाष्य का वाक्य उद्धृत करते हैं।
एस० लेवी, जे० ए० एस० १८९१, २.५४९ (नोट्स आन इण्डियन क्रानालाजी देवानांप्रिय, अशोक एण्ड कात्यायन)—कर्न, मैनुएल ११३ के अनुसार 'मूर्ख' अर्थ 'अशठ देवपूजक' से निकला है: बहुत समानता नहीं मालूम पड़ती। बुलेटिन दे ल एकडेमी दे ब्रुसेल्स १९२३ में मेरी टिप्पणी देखियें।

मनस्कार और अधिमुक्ति महाभूमिक और क्लेशमहाभूमिक दोनों हैं; ४. इन आकारों को स्थापित कर अन्य धर्म (कुशलमहाभूमिक आदि) न महाभूमिक हैं, न क्लेशमहाभूमिक हैं।

कुछ आचार्यों (विभाषा, ४२, १७) का मत है कि विक्षेप मिथ्या-समाधि नहीं है। उनके अनुसार अन्यथा चतुष्कोटिक है: वह द्वितीय कोटि में विक्षेप को प्रक्षिप्त करते हैं और तृतीय से समाधि को निराकृष्ट करते हैं।

२. यह जो कहा कि "मूल अभिधर्म में क्लेशमहाभूमिकों में स्त्यान पठित नहीं है", तो हम कहते हैं कि स्त्यान इष्ट है (इष्यते) क्योंकि इसका सर्वक्लेश से संयोग होता है।

यदि स्त्यान का अपाठ है तो यह किसका अपराध है, मेरा या अभिधर्मकार का (आभिधार्मिक = अभिधर्मकार)?

आभिधार्मिक[1] स्त्यान के अपाठ का कारण हैं: स्त्यान का उल्लेख होना चाहिए था; यह [१६४] पठित नहीं है क्योंकि यह समाधि के अनुगुण है। वास्तव में उनका कहना है कि स्त्यानचरित पुद्गल औद्धत्यचरित पुद्गल की अपेक्षा समाधि का संमुखीभाव क्षिप्रतर करता है।[1]

किन्तु औद्धत्य के बिना कौन स्त्यानचरित है? स्त्यान के बिना कौन औद्धत्यचरित है? स्त्यान और औद्धत्य कभी सहचरधर्मता का त्याग नहीं करते।

हाँ, स्त्यान और औद्धत्य सहचरिष्णु हैं। तथापि जो जिस पुद्गल का अधिमात्र होता है तच्चरित वह पुद्गल कहलाता है। जिस पुद्गल में स्त्यान का अधिमात्र है वह स्त्यानचरित कहलाता है यद्यपि उसमें औद्धत्य भी है।

---

[1] एवं तु आहुः—आभिधार्मिकाः [व्या० १३१.२३]
मेरा विश्वास है कि बहुवचन (आहुः) के प्रयोग से वसुबन्धु यहाँ धर्मत्रात को जो नैञ्जियो १२८७ का ग्रंथकार है और उसके अनुयायियों को प्रज्ञप्त करते हैं। आगे के परिच्छेदों से (नैञ्जियो १२८७ चैप० २.५ और साल० = २३, १२, २८ बी) यह परिणाम निकलता है :
......क्लेशमहाभूमिकों का व्याख्यान करना चाहिये।
२.५. मिथ्याधिमोक्ष, असंप्रजन्य, अयोनिशोमनस्कार, अश्राद्धय, कौसीद्य, विक्षेप, अविद्या, औद्धत्य, प्रमाद।
मिथ्याधिमोक्ष से यह समझना चाहिये......
२.६. १० क्लेशमहाभूमिक सर्वक्लिष्ट चित्त में पाये जाते हैं। अह्री और अत्रपा अकुशल-महाभूमिक कहे गये हैं।
१० क्लेशमहाभूमिक सर्वक्लिष्ट चित्त में पाये जाते हैं। मिथ्याधिमोक्षादि १० धर्म सर्वक्लिष्ट-चित्त सहगत होते हैं; कामधातु, रूपधातु, आरूप्यधातु के ५ विज्ञानकाय और मनोविज्ञान सहगत होते हैं। अतः वह क्लेशमहाभूमिक हैं—प्रश्न : स्त्यान सर्वक्लिष्ट चित्त में पाया जाता है; यह क्लेशमहाभूमिकों में क्यों परिगणित नहीं होता?—उत्तर : क्योंकि यह समाधि के अनुकूल है। अर्थात् स्त्यानचरित पुद्गल क्षिप्रता के साथ समाधि का संमुखीभाव करता है। अतः स्त्यान सूची में पठित नहीं है। क्या महाभूमिक धर्म क्लेशमहाभूमिक भी है? चार कोटि हैं : १. महाभूमिक बिना क्लेशमहाभूमिक हुए......

[1] आचार्य इस मत को ग्रहण नहीं करते। स्त्यान (लय) और औद्धत्य जो क्लिष्ट धर्म हैं समाधि नामक शुक्ल धर्म के परिपन्थी हैं।

हम इसे भली प्रकार जानते हैं किन्तु धर्मों की व्यवस्था स्वभाववश विविध प्रकारों में की जाती है। अतः यह व्यवस्थापित होता है कि ६ धर्म्म क्लेशमहाभूमिक हैं क्योंकि वही सर्व क्लिष्ट चित्त के साथ उत्पन्न होते हैं।

२६ सी-डी. आह्रीक्य और अनपत्राप्य सदा और एकान्ततः अकुशलचित्त में पाये जाते हैं।[२]

यह दो धर्म जिनका व्याख्यान नीचे (२.३२) होगा सर्वदा अकुशल चित्त में पाये जाते हैं। अतः इन्हें अकुशलमहाभूमिक कहते हैं।[३]

क्रोधोपनाह-शाठ्येर्ष्या-प्रदास-म्रक्ष-मत्सराः।
माया-मद-विहिंसाश्च परीत्तक्लेशभूमिकाः ॥२७॥

२७. क्रोध, उपनाह, शाठ्य, ईर्ष्या, प्रदास, म्रक्ष, मत्सर, माया, मद, विहिंसा आदि परीत्तक्लेशभूमिक हैं।[४]

[१६५] इन्हें ऐसा कहते हैं क्योंकि परीत्तक्लेश इनकी भूमि है। परीत्तक्लेश (परीत्त-अल्पक) रागादि से असंप्रयुक्त अविद्यामात्र है (३.२८ सी-डी)। (केवला, आवेणिकी अविद्या, ५.१४)

यह भावनाहेय मनोभूमिक अविद्यामात्र से ही संप्रयुक्त होते हैं। अत एव इन्हें परीत्तक्लेश-भूमिक कहते हैं।[१]

पाचवें कोशस्थान में (५.४६ आदि) हम इनका निर्देश उपक्लेशों में करेंगे।

हम ५ प्रकार के चैतसिकों का निर्देश कर चुके हैं। अन्य भी चैत्त हैं जो अनियत हैं, जो कभी कुशल, कभी अकुशल या अव्याकृत चित्त में होते हैं: कौकृत्य (२.२८), मिद्ध (५.४७, ७.११ डी), वितर्क (२.३३), विचार आदि।[२]

---

२ अकुशले त्वाह्रीक्यमनपत्रपा ॥ [व्या० १३१.३२]

३ विभाषा, ४२, १७ के अनुसार ५ अकुशलमहाभूमिक हैं : अविद्या, स्त्यान, औद्धत्य, अह्री, अनपत्राप्य—३.३२ ए-बी और ऊपर पृ० १५१ देखिये।

४ [क्रोधोपनाहशाठ्येर्ष्याप्रदासम्रक्षमत्सराः।
माया मदो विहिंसेति] परीत्तक्लेशभूमिकाः ॥
शुआन्-चाङ् का अनुवाद :"......इस स्वभाव के (=इति) धर्म परीत्तक्लेशभूमिक कहलाते हैं।"
संघभद्र : भाष्य कहता है: 'इस स्वभाव के धर्म' क्योंकि वह अक्षान्ति, अरति, आघात आदि को संगृहीत करना चाहता है।

१ धर्मत्रात : वह भावनाहेय हैं, दर्शनहेय नहीं हैं। वह मनोभूमिक हैं, पंचविज्ञानकायिक नहीं हैं। वह सर्वचित्त में उत्पन्न नहीं होते और उनका पृथक्भाव है अत एव वह परीत्तक्लेश-भूमिक हैं।

२ ५.४६ देखिये। चीनी भाषान्तर के अनुसार—जापानी संपादक अन्तिम 'आदि' शब्द से राग (५.२), प्रतिघ, मान (५.१०) विचिकित्सा का ग्रहण करते हैं।
व्याख्या (१३३.१४) में पठित है : "कौकृत्य, मिद्ध, आदि और 'आदि' शब्द से वह अरति विजृंभिता, तन्द्री, भक्तेऽसमता आदि का ग्रहण करती है।—व्याख्या में पुनः कहा है कि रागादि क्लेश अनियत हैं क्योंकि यह पाँच प्रकार में से किसी में भी नियत नहीं हैं। यह

सवितर्कविचारत्वात् कुशले कामचेतसि।
द्वाविंशतिश्चैतसिकाः कौकृत्यमधिकं क्वचित् ॥२८॥

प्रत्येक प्रकार के प्रत्येक चित्त के साथ, कुशल, अकुशल, अव्याकृत चित्त के साथ, कितने चैत्त अवश्य उत्पन्न होते हैं ?

[१६६] २८. कुशल कामचित्त में सदा २२ चैतसिक होते हैं क्योंकि यह सवितर्क सविचार होता है। कभी कौकृत्य अधिक होता है।[1]

कामावचर चित्त पंचविध है : (१) कुशल चित्त एक है; (२-३) अकुशल द्विविध है—यह आवेणिकी है अर्थात् अविद्यामात्र से संप्रयुक्त है और रागादि अन्य क्लेश से संप्रयुक्त है; (४-५) अव्याकृत चित्त भी द्विविध है—निवृताव्याकृत अर्थात् सत्कायदृष्टि और अन्तग्राहदृष्टि[2] (५.३) से संप्रयुक्त और अनिवृताव्याकृत अर्थात् विपाकजादि (१.३७, २.७१)।

कामावचर चित्त सदा सवितर्क सविचार (२.३३ ए-बी) होता है। इस चित्त में जब यह कुशल होता है २२ चैत्त होते हैं: १० महाभूमिक, १० कुशलमहाभूमिक और दो अनियत अर्थात् वितर्क और विचार।

जब कुशल चित्त में कौकृत्य होता है तब पूर्ण संख्या २३ होती है।

कौकृत्य आख्या का क्या अर्थ है ?[3]

[१६७] कौकृत्य का शब्दार्थ कुकृतभाव है किन्तु यहाँ कौकृत्य से एक चैतसिक धर्म का बोध होता है। जिसका आलम्बन कौकृत्य अर्थात् कुकृतसम्बन्धी चित्त का विप्रतिसार है।—यथा विमोक्षमुख जिसका आलम्बन शून्यता या नैरात्म्य है, शून्यता कहलाता है (८.२४-२५); यथा अलोभ जिसका आलम्बन अशुभा (६.२सी-डी) है, अशुभा कहलाता है। यथा लोक में कहते हैं कि सर्वग्राम सर्वदेश, सर्वलोक आया है। इस प्रकार स्थान (आश्रय) से स्थानियों (आश्रयी) का अतिदेश होता है। कौकृत्य विप्रतिसार का स्थानभूत है। अतः विप्रतिसार के लिए कौकृत्य का निर्देश युक्त है। क्योंकि फल में हेतु का उपचार होता है यथा इस वचन में: "यह ६ स्पर्शायतन पौराण कर्म हैं।"[4]

महाभूमिक नहीं हैं क्योंकि यह सर्वचित्त में नहीं पाये जाते। यह कुशलमहाभूमिक नहीं हैं क्योंकि इनका कुशलत्व से अयोग है। यह क्लेशमहाभूमिक नहीं हैं क्योंकि सर्वत्र क्लिष्ट में इनका अभाव है : क्योंकि सप्रतिघ चित्त में राग नहीं होता।

आचार्य वसुमित्र का यह संग्रह श्लोक है: "स्मृत है कि आठ अनियत हैं अर्थात् वितर्क, विचार, कौकृत्य, मिद्ध, प्रतिघ, सक्ति (= राग), मान, विचिकित्सा।" किन्तु हम इस अष्ट अनियत-वचन को नहीं समझते। दृष्टियों को (५.३ ए) भी क्यों अनियत नहीं मानते ? सप्रतिघ या सविचिकित्स चित्त में मिथ्यादृष्टि प्रवर्तित नहीं होती।

[1] सवितर्कविचारत्वात् कुशले कामचेतसि।
द्वाविंशतिश्चैतसिकाः कौकृत्यमधिकं क्वचित् ॥

[2] कथावत्थु, १४.८ से तुलना कीजिये।

[3] धम्मसंगणि, ११६१, अत्थसालिनी, ७८४-७८७.

[4] १.३७ से तुलना कीजिये।

किन्तु जिस विप्रतिसार का आलम्बन अकृत कर्म है उसको कौकृत्य कैसे कह सकते हैं?

क्योंकि लोक में कहते हैं: "मैंने यह अच्छा नहीं किया जो उसे नहीं किया", इस प्रकार 'अकृत' की भी 'कृत' आख्या होती है।

कौकृत्य कब कुशल होता है?

जब कुशल न करके संताप होता है, जब अकुशल करके संताप होता है। यह अकुशल है जब अकुशल न करके संताप होता है, जब कुशल करके संताप होता है। इस उभय कौकृत्य का उभय अधिष्ठान होता है।

आवेणिके त्वकुशले दृष्टियुक्ते च विंशतिः।
क्लेशैश्चतुर्भिः क्रोधाद्यैः कौकृत्येनैकविंशतिः ॥२९॥

२९. आवेणिक और दृष्टियुक्त अकुशल चित्त में २० चैत्त होते हैं; जब यह क्रोधादि चार क्लेशों में से किसी एक से, या कौकृत्य से संप्रयुक्त होता है तब २१ होते हैं।[२]

१. आवेणिक चित्त अविद्या (५.१) मात्र से संप्रयुक्त और रागादि से पृथग्भूत चित्त है।[३]

दृष्टियुक्त अकुशल चित्त मिथ्यादृष्टि अथवा दृष्टिपरामर्श, अथवा शीलव्रतपरामर्श (५.३) से सं-प्रयुक्त चित्त है। सत्कायदृष्टि और अन्तग्राहदृष्टि से संप्रयुक्त चित्त अकुशल नहीं है किन्तु निवृताव्याकृत है।

इन दो अवस्थाओं में अकुशल चित्त में १० महाभूमिक, ६ क्लेशमहाभूमिक, २ अकुशल महाभूमिक और दो अनियत अर्थात् वितर्क और विचार होते हैं।

दृष्टि की कोई पृथक् संख्या नहीं है क्योंकि दृष्टि प्रज्ञाविशेष है और प्रज्ञा महाभूमिक है।[४]

२. राग, प्रतिघ, मान, विचिकित्सा (५.१) से संप्रयुक्त अकुशल चित्त में २१ चैत्त होते हैं—पूर्वोक्त २० और राग प्रतिघ आदि में से[१]

[१६८] क्रोधादि से अर्थात् पूर्ववर्णित उपक्लेशों में से किसी एक से (२.२७) संप्रयुक्त।

निवृतेऽष्टादशान्यत्र द्वादशाऽव्याकृते मताः।
मिद्धं सर्वाविरोधित्वाद् यत्र स्यादधिकं हि तत् ॥३०॥

३० ए-बी. निवृताव्याकृत चित्त में १८ चैतसिक होते हैं; अन्यत्र १२।[१]

कामधातु का अव्याकृत चित्त निवृत्त अर्थात् क्लेशाच्छादित होता है जब वह सत्कायदृष्टि या अन्तग्राहदृष्टि से संप्रयुक्त होता है। इस चित्त में १० महाभूमिक, ६ क्लेशमहाभूमिक और वितर्क-विचार होते हैं।

---

[२] **आवेणिके त्वकुशले दृष्टियुक्ते च विंशतिः।** [व्या० १३२.३३-३४]
क्लेशैश्चतुर्भिः क्रोधाद्यैः कौकृत्येनैकविंशतिः ॥ [व्या० १३४.४]

[३] **आवेणिक = रागादि पृथग्भूत।** [व्या० १३३.३३]

[४] **सर्वदृष्टि संतीरिका प्रज्ञा है** (१.४१ सी-डी, ७.१) [व्या० १३४.२]।

[१] **[निवृतेऽष्टादश] अन्यत्र द्वादशाव्याकृते मताः।**

अनिवृताव्याकृत चित्त में १२ चैत्त होते हैं : १० महाभूमिक, वितर्क, विचार।

बहिर्देशकों को यह इष्ट है कि कौकृत्य भी अव्याकृत है, यथा स्वप्न में।—अव्याकृत कौकृत्य से संप्रयुक्त अनिवृताव्याकृत चित्त में १३ चैत्त होंगे।

३० सी-डी. मिद्ध सर्व अविरुद्ध है। जहां यह होता है वहां संख्या अधिक हो जाती है।[२]

मिद्ध (५.४७, ७.११ डी) कुशल, अकुशल, अव्याकृत है। जिस चित्त से यह संप्रयुक्त होता है उसमें २२ के स्थान में २३ चैत्त होते हैं जब यह कुशल और कौकृत्य विमुक्त होता है। २३ के स्थान में २४ चैत्त होते हैं जब यह कुशल ओर कौकृत्य सहगत होता है, इत्यादि।

कौकृत्यमिद्धाकुशलान्याद्ये ध्याने न सन्त्यतः।
ध्यानान्तरे वितर्कश्च विचारश्चाप्यतः परम् ॥३१॥

३१. अतः प्रथम ध्यान में कौकृत्य और मिद्ध यह अकुशल चैतसिक सर्वथा नहीं होते; इससे ऊर्ध्व, ध्यानान्तर में, वितर्क भी नहीं होता; इससे ऊर्ध्व विचार भी नहीं होता।[३]

[१६९]प्रथम ध्यान में (१) प्रतिघ (५.१), (२) शाठ्य, माया, मद को वर्जित कर क्रोधादि (२.२७), (३) आह्रीक्य और अनपत्राप्य (२.३२) यह दो अकुशलमहाभूमिक तथा (४) कौकृत्य, क्योंकि दौर्मनस्य (२.८ बी-सी) का वहां अभाव होता है और (५) मिद्ध क्योंकि कवडीकार आहार (३.३८ डी) का वहाँ अभाव होता है, नहीं होते। कामधातु के अन्य सर्व चैत्त प्रथम ध्यान में होते हैं।[१]

द्वितीय ध्यान में ध्यानान्तर में वितर्क भी नहीं होता। और उससे ऊर्ध्व यावत् आरूप्यधातु में विचार, शाठ्य और माया भी नहीं होते।[२] मद त्रैधातुक (५.५३ सी-डी) है।

सूत्र[३] के अनुसार शाठ्य और माया ब्रह्मलोक पर्यन्त होते हैं और उन लोकों से ऊर्ध्व नहीं होते जहां के सत्वों का पर्षत्-सम्बन्ध होता है। महाब्रह्मा अपने पर्षत् में बैठे थे। अश्वजित् भिक्षु ने उनसे प्रश्न पूछा : "कहां चार महाभूतों का अपरिशेष निरोध होता है?" उत्तर न दे सकने के कारण उन्होंने क्षेप किया : "मैं ब्रह्मा हूँ, महाब्रह्मा हूँ,[४] ईश्वर, कर्ता, निर्माता, स्रष्टा, पालक

---

[२] हम उद्धार कर सकते हैं :
मिद्धं सर्वाविरुद्धत्वादस्ति यत्राधिकं भवेत्।

[३] कौकृत्यमिद्धाकुशलान्याद्ये ध्याने न सन्त्यतः।
ध्यानान्तरे वितर्कश्च विचारश्चाप्यतः परम् ॥ [व्या० १३५.१५]

[१] अतः प्रथम ध्यान के कुशलचित्त में २२ चैत्त होते हैं; आवेणिक और दृष्टियुक्त निवृताव्याकृत में १८ चैत्त होते हैं; राग-मान-विचिकित्सा संप्रयुक्त चित्त में १९ होते हैं; .....

[२] अक्षरार्थ : 'अपि' शब्द से प्रदर्शित होता है कि विचार के अतिरिक्त शाठ्य और माया को भी वर्जित करना चाहिये।

[३] जापानी संपादक के अनुसार सद्धर्मस्मृति [उपस्थान] सूत्र, ३३, १० (नैञ्जियो ६७९, एम डी ओ २४-२७)—विभाषा, १२९, १।

[४] यह कह कर कि "मैं महाब्रह्मा हूँ" वह अपने को अन्य ब्राह्मणों से विशिष्ट करता है।

सबका पिता हूँ।" पश्चात् अश्वजित् को पर्षत् से जाने के लिए कहकर उनको परामर्श दिया कि शास्ता के पास जा कर पूछो।[५]

हमने देखा है कि कितने चैत्त तीन धातुओं के प्रत्येक प्रकार के चित्त से संप्रयुक्त होते हैं। हमें पूर्वोक्त चैत्तों का लक्षण बताना है।

अह्रीरगुरुतावद्ये भयादर्शित्वमत्रपा ।
प्रेम श्रद्धा गुरुत्वं ह्रीस्ते पुनः कामरूपयोः ॥३२॥

[१७०] अह्री और अनपत्राप्य में क्या भेद है ?

३२ ए. अह्री अगुरुता है।[१]

स्व-पर-सान्तानिक (मैत्री-करुणादि) गुणों के प्रति तथा गुणवान् पुद्गलों के प्रति (आचार-गोचरगौरवादिसंपन्न) अगौरवता अर्थात् अप्रतीशता[२], अभयवशवर्तिता आह्रीक्य, अह्री है। यह गौरव—(सगौरवता, सप्रतीशता, सभयवशवर्तिता)—प्रतिद्वन्द्व चैतसिक धर्म है।

३२ ए-बी. अनपत्राप्य या अत्रपा वह धर्म है जिसके योग से एक पुद्गल अवद्य का अनिष्ट फल नहीं देखता।[३]

'अवद्य' वह है जो सत्पुरुषों से गर्हित है।

'अनिष्ट फल' को कारिका में 'भय' कहा है क्योंकि यह अनिष्ट फल भय उत्पन्न करते हैं।

उस पुद्गल का भाव जो अवद्य में भय नहीं देखता—वह धर्म जो इस भाव को उत्पन्न करता है—अनपत्राप्य या अत्रपा है।

आक्षेप—आप 'अभयदर्शित्व' का क्या अर्थ समझते हैं ? चाहे आप 'अभयस्य दर्शित्वम्' या 'भयस्य अदर्शित्वम्' जो अर्थ करें इन दो व्याख्यानों में से कोई भी संतोषप्रद नहीं है। प्रथम विकल्प में क्लिष्ट प्रज्ञा है; दूसरे विकल्प में अविद्या मात्र है।

अभयदर्शित्व से न 'दर्शन' (क्लिष्ट प्रज्ञा) प्रदर्शित होता है और न 'अदर्शन' (अविद्या)। यह एक विशेष धर्म को सूचित करता है जिसकी गणना उपक्लेशों में (५.४६) है, जो मिथ्या-दृष्टि और अविद्या का निमित्त है और जिसे अनपत्राप्य (विभाषा, ३४, १९) कहते हैं।

[१७१] अन्य आचार्यों[१] के अनुसार आह्रीक्य अवद्य-करण में आत्मापेक्षया लज्जा का अभाव है;

---

५ दीघ, १.२१९ और नीचे ४.८ ए, ५.५३ ए-बी से तुलना कीजिये।

१ अह्रीरगुरुता—ज्ञानप्रस्थान; १.५ (तकाकुसु पृ० ८७ के अनुसार)

२ प्रतीश = गुरु, क्योंकि शिष्यं प्रतीष्टः [व्या० १३६.१३]

३ अवद्येऽभयदर्शित्वम् अत्रपा। [व्या० १३६.२०]
अधिशील के लक्षण से तुलना कीजिये......अणुमात्रेष्वपि अवद्येषु भयदर्शी.....

१ यह आचार्य कहते हैं कि 'ह्री' और 'त्रप्' (धातुपाठ, ३.३ और १.३९९) यह दो धातु एकार्थवाचक हैं और इनका अर्थ लज्जा है: इससे हम नहीं समझते कि किस प्रकार अह्री अवद्यकरण में अगौरवता है और अत्रपा अभयदर्शित्व है। ह्री और अपत्राप्य ललित, ३२

अनपत्राप्य परापेक्षया[2] लज्जा का अभाव है।—किन्तु इस पक्ष में भी दो अपेक्षा युगपत् कैसे होंगी ?—हम यह नहीं कहते कि आत्मापेक्षा और परापेक्षा युगपत् होती हैं।

किसी को जब आत्मा की अपेक्षा करते हुए भी लज्जा प्रवृत्त नहीं होती तब आह्रीक्य होता है जो राग-निष्यन्द है। जब पर की अपेक्षा करते हुए भी लज्जा प्रवृत्त नहीं होती तब अनपत्राप्य होता है जो मोह-निष्यंद है।

इन दो अकुशल धर्मों का विपर्यय ह्री और अपत्राप्य हैं। प्रथम कल्प के अनुसार इनका लक्षण 'सगौरवता, सप्रतीशता, सभयवशवर्तिता,' और 'भयदर्शिता' है; दूसरे कल्प के अनुसार इनका लक्षण 'आत्मापेक्षया लज्जा', 'परापेक्षया लज्जा' है।

कुछ का मत है कि प्रेम और गौरव एक ही वस्तु हैं।

३२ सी. प्रेम श्रद्धा है।[3]

प्रेम द्विविध है : क्लिष्ट, अक्लिष्ट, (विभाषा, २९, १२)।

प्रथम राग है यथा पुत्र कलत्र के लिए प्रेम। द्वितीय श्रद्धा है यथा शास्ता के लिए, सत्पुरुषों के लिए प्रेम।

१. एक श्रद्धा है, प्रेम नहीं है अर्थात् दुःख-समुदय सत्यों में श्रद्धा।

[१७२] २. एक प्रेम है, श्रद्धा नहीं है अर्थात् क्लिष्ट प्रियता, प्रियतारूपा तृष्णा।

३. एक श्रद्धा और प्रेम उभय है अर्थात् निरोध-मार्ग सत्यों में श्रद्धा।

४. इन आकारों को छोड़कर अर्थात् अन्य चैत्तसिक, चित्तविप्रयुक्तादि धर्म, न श्रद्धा हैं न प्रेम।

हमारे मत के अनुसार श्रद्धा गुणसंभावना है : प्रियता गुणसंभावनापूर्विका होती है। अतः प्रेम श्रद्धा नहीं है किन्तु श्रद्धा का फल है।

३२ सी. गुरुत्व ह्री है।[1]

हमने पूर्व (३२ ए) बताया है कि गुरुत्व, गौरव सप्रतीशता आदि है।

१. प्रत्येक ह्री गौरव अर्थात् दुःख-समुदय सत्य के प्रति ह्री नहीं है।[2]

२. निरोध-मार्ग सत्य के प्रति ह्री गौरव भी है।

एक दूसरे मत के अनुसार गौरव सप्रतीशता है; गौरव से लज्जा उत्पन्न होती है जिसे ह्री कहते हैं। अतः गौरव जो ह्री का निमित्त है वह ह्री नहीं है।

प्रेम और गौरव के सम्बन्ध में चार कोटि हैं :

---

[2] पंचस्कन्धक में वसुबन्धु इस लक्षण को स्वीकार करते हैं।

[3] प्रेम श्रद्धा—ज्ञानप्रस्थान, १.४ (तकाकुसु पृ. के ८७ के अनुसार) [व्या० १३७.२०]

[1] गुरुत्वम् ह्रीः—विभाषा, २९, १३. [व्या० १३८.७]

[2] क्योंकि सास्रव धर्मों के लिये गौरव नहीं हो सकता। (जापानी संपादक की टिप्पणी)

१. पुत्र, कलत्र, सार्धविहारी, अन्तेवासी के लिए प्रेम होता है, गौरव नहीं ।

२. परशास्ता, गुणवान् आदि के लिए गौरव होता है, प्रेम नहीं ।

३. स्वशास्ता, स्व पिता-माता आदि के लिए गौरव और प्रेम उभय होता है ।

४. अन्य जनों के लिए न गौरव, न प्रेम ।

३२ डी. कामधातु और रूपधातु में उभय ।[3]

आरूप्यधातु में प्रेम और गौरव का अभाव है ।

[१७३] किन्तु आपने कहा है कि प्रेम श्रद्धा है, गौरव ह्री है । किन्तु श्रद्धा और ह्री कुशलमहाभूमिक हैं (२.२५) । अतः प्रेम और गौरव का अस्तित्व आरूप्यधातु में है ।

प्रेम और गौरव द्विविध हैं : धर्मों के प्रति और पुद्गलों के प्रति । शास्त्र की अभिसन्धि द्वितीय प्रकार से है । जिन श्रद्धा और ह्री का आलम्बन पुद्गल है वह आरूप्यधातु में नहीं होते । प्रथम प्रकार त्रैधातुक है ।

वितर्कविचारावौदार्यसूक्ष्मते मान उन्नतिः ।
मदः स्वधर्मे रक्तस्य पर्यादानं तु चेतसः ॥३३॥

३३ ए-बी. वितर्क और विचार चित्त के औदार्य और सूक्ष्मता हैं ।[1]

चित्त की औदारिकता अर्थात् स्थूलभाव वितर्क कहलाता है । चित्त की सूक्ष्मता अर्थात् सूक्ष्मभाव विचार कहलाता है ।

वितर्क और विचार इन दोनों का एक चित्त में योग (संप्रयुक्त) कैसे होता है ? क्या चित्त एक ही काल में औदारिक और सूक्ष्म दोनों हो सकता है ?

एक मत के अनुसार[2] विचार की तुलना शीतोदक से, चित्त की इस शीतोदक पर तैरते हुए सर्पि से और वितर्क की सर्पि पर पड़ने वाले आतप से करनी चाहिये । आतप और उदक के कारण सर्पि न अति द्रवीभूत होता है, न अति घनीभूत होता है । इसी प्रकार वितर्क और विचार चित्त से युक्त होते हैं : चित्त विचार के कारण न अति सूक्ष्म होता है और न वितर्क के कारण अति औदारिक होता है ।

किन्तु हम कहेंगे कि इस व्याख्यान से यह सिद्ध होता है कि वितर्क और विचार चित्त की औदारिकता-सूक्ष्मता नहीं हैं किन्तु औदारिकता-सूक्ष्मता के यह निमित्त हैं : शीतोदक और आतप सर्पि का स्त्यानत्व, विलीनत्व नहीं है किन्तु यह इन दो भावों के निमित्तभूत हैं ।

दोषान्तर कहते हैं ।--चित्त की औदारिकता और सूक्ष्मता आपेक्षिक है । इनमें अनेक भूमि-भेद

---

[3] **उभयं कामरूपयोः ॥**

[1] **वितर्कविचारावौदार्यसूक्ष्मते--यह लक्षण एक सूत्र पर आश्रित है जिसका नामोल्लेख हमारे ग्रन्थों में नहीं है--१.३३ देखिये ।**

[2] **विभाषा, ४२, १४ का सातवाँ मत ।**

और प्रकार-भेद हैं। प्रथम ध्यान का चित्त कामावचर चित्त की अपेक्षा सूक्ष्म है और द्वितीय ध्यान के चित्त की अपेक्षा औदारिक है।

[१७४] एक ही भूमि में प्रकार-भेद होता है। गुण और क्लेश आपेक्षिक रूप से औदारिक और सूक्ष्म होते हैं क्योंकि वह ९ प्रकारों में विभक्त हैं। अतः यदि वितर्क और विचार चित्त की औदारिकता और सूक्ष्मता स्वभाव हैं तो हमको स्वीकार करना पड़ेगा कि इनका अस्तित्व भवाग्र पर्यन्त होता है।[१] किन्तु द्वितीय ध्यान से ऊर्ध्व यह नहीं होते।—पुनः औदारिकता और सूक्ष्मता का जातिभेद युक्त नहीं है : अतः वितर्क और विचार का स्वभाव-भेद युक्त नहीं है।

एक दूसरे मत के अनुसार अर्थात् सौत्रान्तिकों के अनुसार वितर्क और विचार 'वाक्-संस्कार' हैं।[२] वास्तव में सूत्र कहता है कि 'वितर्क और विचार करके (वितर्क्य, विचार्य) भाषण होता है, बिना वितर्क-विचार के नहीं।'[३] जो औदारिक वाक्-संस्कार होते हैं उन्हें वितर्क और जो सूक्ष्म होते हैं उन्हें विचार कहते हैं। [इस व्याख्यान के अनुसार वितर्क और विचार दो पृथग्भूत धर्म नहीं हैं किन्तु समुदायरूप हैं, यह चित्त-चैत्त के कलाप हैं जो वाक्-समुत्थापक हैं और जो पर्याय से औदारिक और सूक्ष्म होते हैं।]

वैभाषिक—यदि एक चित्त में एक औदारिक धर्म वितर्क और अपर सूक्ष्म धर्म विचार हो तो इसमें विरोध क्या है?

सौत्रान्तिक—कोई विरोध न हो यदि इन दो धर्मों का जाति-भेद हो। यथा वेदना और संज्ञा—यद्यपि प्रथम औदारिक है और द्वितीय सूक्ष्म (१.२२) हैं—एकत्र होते हैं। किन्तु एक ही जाति की दो अवस्थाएं, मृदु-अधिमात्रता, औदारिक-सूक्ष्मता, युगपत् संभव नहीं है।

वैभाषिक—वितर्क और विचार में जाति-भेद है।

[१७५] सौत्रान्तिक—यह भेद क्या है?

वैभाषिक—यह भेद अवक्तव्य है किन्तु यह चित्त की मृदु-अधिमात्रता से व्यक्त होता है।[१]

सौत्रान्तिक—चित्त की मृदु-अधिमात्रता भिन्न जाति के दो धर्मों के अस्तित्व को सिद्ध नहीं करती क्योंकि एक ही जाति कभी मृदु, कभी अधिमात्र होती है।

---

१ यह युक्तिविभाषा, ५२, ६ में वर्णित है, और दार्ष्टान्तिकों की बतायी गई है।

२ अर्थात् वाक् समुत्थापक। [व्या० १३९.९]

३ वितर्क्य विचार्य वाचं भाषते नावितर्क्य नाविचार्य [व्या० १३९.१०]—मज्झिम, १.३०१, संयुत्त, ४.२९३ से तुलना कीजिये : पुब्बे खो वितक्केत्वा विचारेत्वा पच्छा वाचं भिन्दति—दूसरी ओर—विभंग, १३५ : वाची संचेतना = वाची संखारो।

१ संघभद्र कहते हैं कि चित्त में वितर्क और विचार के एकत्र होने में कोई विरोध नहीं है किन्तु एक ही काल में यह दो धर्म समुदाचार नहीं करते, उनकी वृत्ति उद्भूत नहीं होती : जब सर्वदा वर्तमान वितर्क की वृत्ति उद्भूत होती है तब चित्त-चैत्त औदारिक होते हैं......। यथा राग और मोह का युगपद्भाव है किन्तु जब राग की वृत्ति उद्भूत होती है तो पुद्गल रागचरित व्यपदिष्ट होता है......[व्या० १४०.१]

एक दूसरे मत-के अनुसार अर्थात् आचार्य के अनुसार वितर्क और विचार चित्त में एकत्र नहीं होते। यह पर्यायवर्ती हैं।[२] वैभाषिक यह दोष दिखाते हैं कि प्रथम ध्यान के पांच अंग पंचाङ्ग (८.७) कैसे हैं जिसमें वितर्क और विचार भी हैं। हमारा उत्तर है कि प्रथम ध्यान में ५ अंग इस अर्थ में होते हैं कि ५ अंग भूमितः हैं, न कि क्षणतः; ५ अंग प्रथम ध्यानभूमिक हैं किन्तु प्रथम ध्यान के एक क्षण में केवल चार अंग होते हैं : प्रीति, सुख, समाधि और वितर्क या विचार।

[१७६] मान और मद में क्या भेद हैं (विभाषा, ४२, ८) ?

३३ बी. मान उन्नति है।[१]

पर के प्रति चित्त की उन्नति (चेतस उन्नतिः) मान है [व्या १४०.२८]। दूसरे की अपेक्षा अपने भूत या अभूत गुणों के उत्कर्ष के परिकल्प से वह अपना उत्कर्ष और दूसरे का अपकर्ष करता है (५.१० ए)।

३३ सी-डी. इसके विपरीत स्वधर्मों में अनुरक्त पुद्गल के चित्त का पर्यादान मद है।[२]

मद राग-निष्यन्द है। स्वधर्म में अनुरक्त होने के कारण चित्त उन्मत्त होता है, चित्त में दर्प होता है और वह संनिरुद्ध होता है।[३] अन्य आचार्यों के अनुसार यथा मद्य संप्रहर्ष विशेष का

---

[२] वितर्क और विचार युगपत् नहीं होते किन्तु पर्याय से होते हैं। वितर्क और विचार में क्या विशेष है ? पूर्वाचार्य कहते हैं : "वितर्क क्या है ?—यह पर्येषक मनोजल्प है जो अनभ्यूहावस्था और अभ्यूहावस्था में यथाक्रम चेतना और प्रज्ञा का निश्चय लेता है। यह चित्त की औदारिकता है।—विचार क्या है ? यह प्रत्यवेक्षक मनोजल्प है जो अनभ्यूहावस्था और अभ्यूहावस्था में यथाक्रम चेतना और प्रज्ञा का निश्चय लेता है। यह चित्त की सूक्ष्मता है।" इस पक्ष में वितर्क और विचार एक स्वभाव के दो समुदायरूप हैं : इनमें भेद इतना ही है कि एक पर्येषणाकार है, दूसरा प्रत्यवेक्षणाकार है। कोई एक उदाहरण देते हैं। बहुत से घटों के अवस्थित होने पर यह जानने के लिये कि कौन दृढ़ है, कौन जर्जर, मुष्टि अभिघात से ऊह करते हैं। यह ऊह वितर्क है। अन्त में वह जानता है कि 'इतने दृढ़ हैं, इतने जर्जर' : यह विचार है। १.३३ की व्याख्या वसुबन्धु के पंचस्कन्धक को उद्धृत करती है। यह पूर्वाचार्यों के मत के बहुत निकट है। वितर्कः कतमः। पर्येषको मनोजल्पश्चेतनाप्रज्ञाविशेषः। या चित्तस्यौदारिकता ॥ विचारः कतमः। प्रत्यवेक्षको मनोजल्पश्चेतनाप्रज्ञाविशेषः। या चित्तस्य सूक्ष्मता ॥ व्याख्या पुनः कहती है। अनभ्यूहावस्थायां चेतना अभ्यूहावस्थायां प्रज्ञेति व्यवस्थाप्यते। [व्या० १४०.१२] ८, १५९ देखिये। व्याख्या, ६७ का पाठ अत्यूह है। धम्मसंगणि, ७-८, काम्पेण्डियम, पृ. १०-११, मिलिन्द, ६२-६३ देखिये—अत्थसालिनी, २९६-२९७ वितर्क का लक्षण ऊहन बताती है और उसे औदारिक (ओळारिक) और विचार को सूक्ष्म (सुखुम) बताती है—योगसूत्र, १.१७ पर व्यासभाष्य : वितर्कश्चित्तस्यालम्बने स्थूल आभोगः। सूक्ष्मो विचारः; १.४२-४४.

[१] मान उन्नतिः।

[२] मदः स्वधर्मरक्तस्य पर्यादानं तु चेतसः। [व्या० १४०. ३०]

[३] पर्यादीयते = संनिरुध्यते [व्या० १४१.१]: शिक्षासमुच्चय, १७७.१५, दिव्य, सूत्रालंकार, १.१२ देखिये।
संघभद्र का लक्षण : यः स्वधर्मेषु एव रक्तस्य दर्पश्चेतसः पर्यादानं कुशलान्यक्रियाभ्युपपत्तिसंहारो मदः :

उत्पाद करता है जिसे मद कहते हैं। उसी प्रकार पुद्गल का स्वधर्म में अनुराग है।[४]

हम चित्त (१.१६) और चैत्त का वर्णन कर चुके हैं। हमने बताया है कि किस प्रकार में कौन चैत्त व्यवस्थापित होते हैं, कितनी संख्या में उनका सहोत्पाद होता है और उनका स्वलक्षण और परस्पर विशेषण क्या है। शास्त्र में चित्त-चैत्त के भिन्न नाम हैं।

चित्तं मनोऽथ विज्ञानमेकार्थं चित्तचैतसाः।
साश्रयालम्बनाकाराः संप्रयुक्ताश्च पंचधा ॥३४॥

३४ ए-बी. चित्त, मनस्, विज्ञान, यह नाम एक अर्थ के वाचक हैं।[५]

[१७७] जो संचय करता है (चिनोति) वह चित्त है। यही[१] मनस् है क्योंकि यह मनन करता है (मनुते)।[२] यही विज्ञान है क्योंकि यह अपने आलम्बन को जानता है (आलम्बनं विजानाति)।

कुछ कहते हैं: चित्त 'चित्त' कहलाता है क्योंकि यह शुभ-अशुभ धातुओं से चित्रित (चित्र) है।[३] क्योंकि यह अपर चित्त का आश्रयभूत है इस लिये यह मन (१.१७) है। क्योंकि यह इन्द्रिय और आलम्बन पर आश्रित है—इस लिये विज्ञान है।

अतः इन तीन नामों के निर्वचन में भेद है किन्तु यह एक ही अर्थ को प्रज्ञप्त करते हैं। यथा

३४ बी-डी. चित्त और चैत्त साश्रय, सालम्बन, साकार और संप्रयुक्त हैं।[४]

साश्रयादि यह चार भिन्न नाम एक ही अर्थ को प्रज्ञप्त करते हैं।

चित्त-चैत्त 'साश्रय' कहलाते हैं क्योंकि वह (चक्षु.... मन-इन्द्रिय) इन्द्रिय पर आश्रित हैं। वह 'सालम्बन' (१.३४) हैं क्योंकि वह स्वविषय का ग्रहण करते हैं। वह 'साकार' हैं क्योंकि वह आलम्बन के प्रकार से[५] आकार-ग्रहण करते हैं। वह 'संप्रयुक्त' हैं क्योंकि वह अन्योन्य सम और अविप्रयुक्त हैं।

---

४ अर्थात् मद 'क्लिष्ट सौमनस्य' वेदना है। वैभाषिक इस अर्थ को नहीं स्वीकार करते : वास्तव में द्वितीय ध्यान से ऊर्ध्व सौमनस्य नहीं होता, किन्तु ५.५३ सी के अनुसार मद त्रैधातुक है।

५ चित्तं मनो (ऽथ) विज्ञानमेकार्थम्।—दीघ, १.२१, संयुत्त, २.९४ से तुलना कीजिये। चित्त, मनस् पर अत्थसालिनी १४० से तुलना कीजिये (क्योंकि उसका स्वभाव विचित्रित है)। —'हृदय और मनस् एक हैं ....।

१ यह कुशल और अकुशल का संचय करता है, ऐसा अर्थ है (व्याख्या) [व्या० १४१.१५]—तिब्बती भाषान्तर : क्योंकि यह जानता है।—अत्थसालिनी, २९३: आलम्बनं चिन्तेति इति चित्तम्।

२ 'मन ज्ञाने' इत्यस्य औणादिकप्रत्ययः [व्या० १४१.१६] (धातुपाठ, ४, ६७)।

३ 'चित्रं शुभाशुभैर्धातुभिरिति चित्तम्। व्याख्या में यह अधिक है : भावनासंनिवेशयोगेन सौत्रान्तिकमतेन योगाचारमतेन वा।
परमार्थ का पाठ : चितं शुभाशुभैर्धातुभिस्तान् वा चिनोतीति चित्तम्।—इसी प्रकार तिब्बती अनुवाद है : "क्योंकि यह कुशल और अकुशल धातुओं से चित है।" [व्या० १४१.१८]

४ चित्तचैतसाः। साश्रयालम्बनाकाराः संप्रयुक्ताश्च पंचधा॥ [व्या० १४१.२४]

५ साकारास्तस्यैवालम्बनस्य प्रकारेण (?) आकरणात्। [व्या० १४१.२९]—विज्ञान नीलादि वस्तु को जानता है, वेदना सातादि आलम्बन वस्तु का अनुभव करती है, संज्ञा उसके

[१७८] वह संप्रयुक्त अर्थात् सम और अविप्रयुक्त कैसे हैं ?

३४ डी. पाँच प्रकार से।

चित्त और चैत्त आश्रय-आलम्बन-आकार-काल-द्रव्य इन पाँच समताओं से संप्रयुक्त हैं। अर्थात् (वेदनादि) चैत्त और चित्त संप्रयुक्त हैं (१-३) क्योंकि उनके आश्रय, आलम्बन और आकार एक ही हैं, (४) क्योंकि वह सहभू हैं, (५) क्योंकि इस संप्रयोग में प्रत्येक जाति का एक ही द्रव्य होता है: यथा एक काल में एक ही चित्त द्रव्य उत्पन्न होता है तथा इस एक चित्त-द्रव्य के साथ एक वेदनाद्रव्य, एक संज्ञाद्रव्य और प्रत्येक जाति का एक एक चैत संप्रयुक्त होता है (२.५३ सी-डी देखिये)।

हमने चित्त-चैत्त का उनके प्रभेदों के साथ सविस्तर निर्देश किया है।[1]

४. चित्तविप्रयुक्त धर्म (३५-४८)।

विप्रयुक्तास्तु संस्काराः प्राप्त्यप्राप्ती सभागता।
आसंज्ञिकं समापत्ती जीवितं लक्षणानि च ॥३५॥
नामकायादयश्चेति प्राप्तिर्लाभः समन्वयः।
प्राप्त्यप्राप्ती स्वसन्तानपतितानां निरोधयोः ॥३६॥

चित्त-विप्रयुक्त संस्कार कौन हैं ?

३५-३६ ए. 'चित्त-विप्रयुक्त' यह हैं :—प्राप्ति, अप्राप्ति, सभागता, आसंज्ञिक, दो समापत्ति जीवितेन्द्रिय, लक्षण, नामकायादि और एवंजातीयक धर्म।[2]

निमित्तादि का उद्ग्रहण करती है इत्यादि [व्या० १४२.१]।—अथवा विज्ञान उसी आलम्बन की सामान्यरूपेण उपलब्धि है क्योंकि यह उपलभ्यतारूप का ग्रहण करता है (उपलभ्यतारूपं गृह्णाति)। चैत्त विशेषरूपेण इसकी उपलब्धि करते हैं। वेदना अनुभवनीयतारूप का ग्रहण करती है; संज्ञा परिच्छेद्यतारूप का ग्रहण करती है, इत्यादि (१.१६ ए)।

[1] निर्दिष्टाश्चित्तचैत्ताः सविस्तरप्रभेदाः—अर्थात् सह विस्तरप्रभेदाभ्यामथवा सह विस्तरप्रभेदेन। [व्या० १४८.१६, १९] कुई-की, विंशिका, १. १४ बी से तुलना कीजिये।

[2] विप्रयुक्तास्तु संस्काराः प्राप्त्यप्राप्ती सभागता। आसंज्ञिकं समापत्ती जीवितं लक्षणानि च ॥ नामकायादयश्चेति। [व्या० १४२.२८]
'इति' शब्द सूचित करता है कि इस सूची में संघभेद (४.९९) आदि अन्य विप्रयुक्तों को प्रक्षिप्त करना चाहिये। (२.३०४, ४.२०६, सिद्धि, ७१) संघभद्र के अनुसार ह्हो-होसिंग को प्रक्षिप्त कीजिये।—प्रकरण कहता है : येऽप्येवंजातीयकाः : "वह धर्म भी चित्त-विप्रयुक्त है जो इस जाति के हैं।" स्कन्धपंचक में यही वाक्य है।
प्रकरण के अनुसार चित्त-विप्रयुक्त संस्कार यह हैं: प्राप्ति, असंज्ञिसमापत्ति, निरोधसमापत्ति, आसंज्ञिक, जीवितेन्द्रिय, निकायसभाग, आश्रयप्राप्ति, द्रव्यप्राप्ति (?), आयतनप्राप्ति, जाति, जरा, स्थिति, अनित्यता, नामकाय, पदकाय, व्यंजनकाय और अन्य सब धर्म जो चित्त-विप्रयुक्त जाति के हैं।
प्राप्ति का लक्षण इस प्रकार है : धर्माणां प्राप्तिः; आश्रयप्राप्तिः = आश्रयायतन प्राप्तिः;

[१७९] यह धर्म चित्त से संप्रयुक्त नहीं होते; यह रूपस्वभाव नहीं हैं; यह संस्कार-स्कन्ध में (१.१५) संगृहीत हैं: अतः इन्हें चित्त-विप्रयुक्त संस्कार कहते हैं (१) क्योंकि यह चित्त से विप्रयुक्त हैं, (२) क्योंकि अरूपी होने के कारण यह चित्त के समानजातीय है।

३६ बी. प्राप्ति लाभ और समन्वय है।[1]

प्राप्ति द्विविध है: (१) अप्राप्त और विहीन का लाभ (प्रतिलम्भ), (२) प्रतिलब्ध और अविहीन का समन्वागम (समन्वय)।

अप्राप्ति इसका विपर्यय है।

३६ सी-डी. स्वसन्तानपतित धर्मों की और दो 'निरोधों' की प्राप्ति और अप्राप्ति होती है।[2]

[१८०] १. स्वसन्तानपतित संस्कृत धर्मों की प्राप्ति और अप्राप्ति होती है; पर-सत्व-सन्तति-पतित धर्मों की नहीं होती क्योंकि कोई परकीय धर्मों से समन्वागत नहीं होता। असंतति-पतित धर्मों की भी प्राप्ति अप्राप्ति नहीं होती क्योंकि कोई असत्वसंख्यात (१.१० बी) धर्मों से समन्वागत नहीं होता।[1]

२. असंस्कृत धर्मों में प्रतिसंख्यानिरोध और अप्रतिसंख्यानिरोध (१.६, २.५५) की प्राप्ति होती है।

द्रव्यप्राप्ति (?) = स्कन्धानां प्राप्तिः; आयतनप्राप्तिः = आध्यात्मिकबाह्यायतनप्राप्ति (२३.१०, १४ बी ५)।
प्रकरणपाद १४ बी ५—प्राप्ति क्या है? धर्मों की प्राप्ति—असंज्ञि-समापत्ति क्या है? जो पुद्‌गल शुभकृत्स्न देवों के क्लेश से विनिर्मुक्त है, ऊर्ध्वलोकों के क्लेश से नहीं, उसका निःसरण मनस्कारपूर्वक चित्त-चैत्त निरोध।—निरोध-समापत्ति क्या है? आकिंचन्यायतन के क्लेश से विनिर्मुक्त पुद्‌गल का शान्तविहार संज्ञापूर्वक चित्त-चैत्त निरोध।—आसंज्ञिक क्या है? असंज्ञि सत्वों में उपपन्न सत्वों के चित्त-चैत्तों का निरोध।—जीवितेन्द्रिय क्या है? त्रैधातुक आयु।—निकायसभाग क्या है? सत्वों का सादृश्य।

[1] प्राप्तिर्लाभः समन्वयः [व्या० १४३.९]।—१.३८ सी-डी, २.५९ बी देखिये। शास्त्र के अनुसार : प्राप्तिः कतमा? यः प्रतिलम्भो यः समन्वागमः।
अभिधर्म और कथावत्थु, ९.१२ में लाभ और समन्वागम का एक अर्थ नहीं है।—थेरवादी के लिये लाभ 'प्रतिलम्भ (पजेशन) है, यथा आर्यों का यह सामर्थ्य कि अपनी इच्छा के अनुसार वह उस उस समापत्ति का संमुखीभाव करें; समन्वागम का अर्थ संमुखीभाव है। अन्यत्र (४.४) पटिलाभसमन्वागम और समंगिभावसमन्वागम में विशेष किया है: सामर्थ्य रखना (अभिधर्म का समन्वागम), वर्तमान में संमुखीभाव, (अभिधर्म का संमुखीभाव)——१९, ४ भी देखिये।

[2] प्राप्त्यप्राप्ती स्वसन्तानपतितानां निरोधयोः॥ [व्या० १४४.३]
मेरे क्लेश, मेरे कर्म......के प्रति मेरी संतान में प्राप्ति-अप्राप्ति होती है अर्थात् मुझको अपने अनागत या अतीत क्लेश की प्राप्ति या अप्राप्ति है......। किन्तु मेरी सन्तान और परकीय क्लेश के बीच प्राप्ति या अप्राप्ति का सम्बन्ध नहीं होता।

[1] क्लेश को सत्वाख्य अवधारण करना चाहिये क्योंकि वह रूपीन्द्रियों से संबद्ध है।

ए. सब सत्व उन धर्मों के अप्रतिसंख्यानिरोध से समन्वागत होते हैं जिनकी उत्पत्ति प्रत्यय-वैकल्य के कारण नहीं होगी।

बी. अभिधर्म (ज्ञानप्रस्थान, १९, ९) इस प्रकार कहता है: "कौन अनास्रव धर्मों से समन्वागत है?—सकलबन्धनादिक्षणस्थ को वर्जित कर सब सत्व प्रतिसंख्यानिरोध से समन्वागत होते हैं। सकलबन्धनादिक्षणस्थ वह आर्य हैं जिनके सब प्रकार के क्लेश-बन्धन अप्रहीण हैं और जो मार्ग के आदि क्षण में स्थित हैं। इनमें सकल-बन्धन-बद्ध पृथग्जन भी नहीं संगृहीत हैं। अन्य आर्य और पृथग्जन प्रतिसंख्यानिरोध से समन्वागत होते हैं"।[२]

सी. आकाश से कोई समन्वागत नहीं होता। अतः आकाश की प्राप्ति नहीं होती।

वैभाषिकों के अनुसार प्राप्ति और अप्राप्ति एक दूसरे के विपक्ष हैं। जिसकी प्राप्ति होती है उसकी अप्राप्ति भी होती है। क्योंकि यह गमित है इसलिये कारिका इसे व्यक्त रूप से नहीं कहती।

[१८१] सौत्रान्तिक प्राप्ति नामक धर्म के अस्तित्व को नहीं मानते।

१. सर्वास्तिवादिन्-वैभाषिक प्राप्ति नामक द्रव्यधर्म[१] के अस्तित्व को कैसे सिद्ध करते हैं?

सर्वास्तिवादिन्—सूत्र में (मध्यमागम, ४९, १६) उक्त है: "१० अशैक्ष धर्मों के उत्पाद, प्रतिलम्भ और समन्वागम से आर्य 'प्रहीण-पंचांग' होता हैं।"[२]

सौत्रान्तिक—यदि आप इस सूत्र से यह परिणाम निकालते हैं कि प्राप्ति का अस्तित्व है तो हम कहेंगे कि असत्वाख्य और परकीय सत्व के धर्मों का भी 'समन्वागम' होता है। वास्तव में सूत्र (चक्रवर्तिसूत्र) वचन है कि "हे भिक्षुओ! जानो कि चक्रवर्ती राजा सात रत्नों से समन्वागत होता है.....।"[३] किन्तु रत्नों में चक्ररत्न, स्त्रीरत्न आदि हैं।

सर्वास्तिवादिन्—इस सूत्र में 'समन्वागत' शब्द का अर्थ 'वशित्व' है। चक्रवर्ती राजा का रत्नों के विषय में वशित्व है क्योंकि वहाँ उसका कामचार है। उसकी इच्छा के अनुसार उनका

---

२ सकलबन्धन पुद्गल वह है जिसने लौकिक मार्ग से काम धातु के ९ प्रकार के क्लेशों में से एक प्रकार के भी प्रतिसंख्यानिरोध का लाभ नहीं किया है। आर्य ने प्रथम क्षण में (आदि-क्षण = दुःखे धर्मज्ञानक्षान्तिः) मार्गहेय (६.७७) क्लेशों के प्रहाण का लाभ नहीं किया है।—वह पुद्गल एकप्रकारोपलिखित कहलाता है जिसने एक प्रकार के क्लेश के प्रहाण का लाभ किया है (६.३० ए)।

१ द्रव्यधर्मः = द्रव्यतो धर्मः, अथवा द्रव्यं च तद्धर्मश्च स द्रव्यधर्मः। अर्थाद् विद्यमानस्वलक्षणो धर्मः [व्या० १४८.१८]।—नीचे पृ० १८६ देखिये।

२ १० धर्म यह हैं: आर्य मार्ग के अष्टांग, सम्यग्विमुक्ति, सम्यग्ज्ञान (अंगुत्तर, ५.२२२); ५ प्रहीण अंग सत्कायदृष्टि, शीलव्रतपरामर्श, विचिकित्सा, कामच्छन्द, व्यापाद नहीं है क्योंकि अनागामि-फल की प्राप्ति पर यह अंग प्रहीण हो चुके हैं। यह पंचांग ऊर्ध्वभागीय हैं—रूपराग, आरूप्यराग, औद्धत्य, मान, अविद्या [व्या० १४५.२]।

३ दीघ, ३.५९: दल्हनेमि......सत्तरतनसमन्नागतो।
संघभद्र सौत्रान्तिक का खण्डन करते हैं, १२, पृ० ३९७; सिद्धि, ५४-५८–अर्हत् के १० धर्म, ६.२९५।

अनुविधान होता है । किन्तु दशाशैक्षधर्मसमन्वागमसूत्र में 'समन्वागम' शब्द एक द्रव्यधर्म को सूचित करता है ।[४]

२. सौत्रान्तिक—यदि 'समन्वागम' शब्द का अर्थ चक्रवर्तिसूत्र में वशित्व है तो फिर आप यह कैसे कहते हैं कि एक दूसरे सूत्र में इसी शब्द का अर्थ प्राप्ति नामक एक द्रव्यान्तर है ? वास्तव में (१) इस प्राप्ति की प्रत्यक्ष उपलब्धि नहीं होती यथा रूप-शब्दादि की होती है, यथा राग-द्वेषादि की होती है; (२) उसके कृत्य से प्राप्ति का अस्तित्व अनुमित नहीं होता, यथा चक्षुश्रोत्रादि (१.९) ज्ञानेन्द्रिय अनुमानग्राह्य हैं : क्योंकि सदृश कृत्य की उपलब्धि नहीं होती । अतः द्रव्य-धर्म के संभव न होने से अयोग है ।

[१८२] सर्वास्तिवादिन्—यह आपकी भूल है ! प्राप्ति का कृत्य है । यह धर्मों का उत्पत्ति-हेतु है ।[१]

सौत्रान्तिक—प्रश्न-विसर्जन अयुक्त है : (१) आप मानते हैं कि दो निरोधों की प्राप्ति हो सकती है किन्तु यह असंस्कृत हैं और असंस्कृत अनुत्पाद्य हैं : केवल संस्कृत 'हेतु' (१.७ डी) होते हैं। (२) संस्कृत धर्मों के संबन्ध में हमें यह कहना है कि अप्राप्त धर्मों की प्राप्ति नहीं होती।[२] और उन धर्मों की भी प्राप्ति नहीं होती जो भूमि-संचार या वैराग्य के कारण त्यक्त हो चुके हैं।[३] प्रथम की प्राप्ति अनुत्पन्न है, द्वितीय की प्राप्ति निरुद्ध हुई है । अतः इन धर्मों की कैसे उत्पत्ति हो सकती है यदि उनकी उत्पत्ति का हेतु प्राप्ति है ?

सर्वास्तिवादिन्—इन धर्मों की उत्पत्ति में सहज-प्राप्ति हेतु है (सहजप्राप्तिहेतुक) । [व्या० १४६.४]

सौत्रान्तिक—अयुक्त उत्तर ! यदि धर्मों की उत्पत्ति प्राप्ति के योग से होती है तो (१) जाति और जाति-जाति (२.४५ सी) क्या करते हैं; (२) 'असत्वाख्य' धर्मों की उत्पत्ति नहीं होती; (३) सकलबन्धन पुद्‌गलों में मृदु-मध्य-अधिमात्र क्लेशों का प्रकार-भेद कैसे युक्त होगा क्योंकि प्राप्ति का अभेद है : सब पुद्‌गल कामावचर क्लेश की उन्हीं प्राप्तियों से समन्वागत हैं । क्या आप कहते हैं कि यह भेद प्राप्ति के भिन्न हेतुओं के कारण होता है : हमारा उत्तर है कि यह हेतु ही मृदु-मध्य-अधिमात्र क्लेश की उत्पत्ति में एकमात्र हेतु है । जिस कारण से यह भेद होता है उसी कारण से इनकी उत्पत्ति भी हो सकती है । इसलिये प्राप्ति उत्पत्ति-हेतु नहीं है ।

[१८३] ३. सर्वास्तिवादिन्—कौन कहता है कि प्राप्ति धर्मों की उत्पत्ति का हेतु है ? हम उसका यह कारित्र नहीं बताते । हमारे अनुसार प्राप्ति वह हेतु है जो सत्वों के भाव की व्यवस्था करता है । हम इसका व्याख्यान करते हैं । मान लीजिये कि प्राप्ति का अस्तित्व नहीं है: लौकिक

---

[४] प्रवचन के अनुसार वस्तु द्रव्यसत् है या प्रज्ञप्तिसत् । [व्या० १४५.२३]

[१] लोभचित्त के उत्पाद का हेतु इस अनागत लोभचित्त की 'प्राप्ति' है ।

[२] अनास्रव धर्म, दुःखे धर्मज्ञानक्षान्ति आदि ।

[३] यथाक्रम कामधातु के अक्लिष्ट और क्लिष्ट धर्म ।

मानस आर्य और पृथग्जन का क्या व्यवस्थान होगा ? भेद केवल इसमें है कि आर्य में कतिपय अनास्रव धर्मों की प्राप्ति तब भी होती है जब उनका लौकिक मानस होता है ।

सौत्रान्तिक—हमारे मत से यह व्यवस्थान हो सकता है कि पहला प्रहीण क्लेश है, दूसरा अप्रहीण क्लेश है (प्रहीणाप्रहीणक्लेशताविशेष [व्या० १४६.२९]) ।

सर्वास्तिवादिन्—निस्संदेह; किन्तु प्राप्ति के अस्तित्व को न मानकर यह कैसे कह सकते हैं कि इनका क्लेश प्रहीण है, इनका अप्रहीण है ? प्राप्ति के होने पर यह व्यवस्थान होता है। क्लेश प्रहीण तभी होते हैं जब क्लेश-प्राप्ति का विगम होता है । जब तक उसकी प्राप्ति रहती है तब तक क्लेश प्रहीण नहीं होता ।

४. सौत्रान्तिकवाद—हमारे मत में क्लेशों का प्रहाण-अप्रहाण आश्रयविशेष (२.५ और ६, ४४ डी) से सिद्ध होता है। आर्यों में मार्ग-बल से (सत्यदर्शन, भावना) आश्रय-परावृत्ति होती है, उनके आश्रय का अन्यथाभाव होता है (तथापरावृत्त, अन्यथाभूत) । जो क्लेश एक बार मार्ग-बल से प्रहीण हो चुका है उसकी पुनरुत्पत्ति नहीं हो सकती । यथा अग्निदग्ध व्रीहि का अन्यथा-भाव होता है, वह अबीजीभूत होता है उसी प्रकार आर्य प्रहीण-क्लेश कहलाता है क्योंकि उसका आश्रय क्लेशों के लिए अबीजीभूत हो गया है। लौकिक मार्ग से क्लेशों का आत्यंतिक प्रहाण नहीं होता। यह उन्हें उपहत या विष्कम्भित करता है : पृथग्जन को जो केवल लौकिक मार्ग का अभ्यास करता है प्रहीण-क्लेश कह सकते हैं यदि उसके आश्रय में क्लेश-बीज का उपघात मात्र होता है। विपर्ययरूपेण उसे अप्रहीण-क्लेश कहते हैं यदि बीज अनिर्दग्ध या अनुपहत होते हैं।—जो उक्त विधि से 'अप्रहीण' है उसे क्लेश से समन्वागत कहते है; जो प्रहीण है उसे असमन्वागत कहते हैं। समन्वागम-असमन्वागम द्रव्यसत् नहीं हैं किन्तु प्रज्ञप्ति-धर्म हैं।

[१८४] यह क्लेश की प्राप्ति-अप्राप्ति के विषय में है । कुशल धर्मों की प्राप्ति-अप्राप्ति के सम्बन्ध में दो प्रकार हैं: (१) अयत्नभावी औपपत्तिक (उपपत्तिलाभिक) कुशल धर्म, (२) प्रायोगिक (प्रयोगलाभिक) कुशल धर्म (२.७१ बी)।

जब किसी के आश्रय में उत्पत्तिलाभिक कुशलों के बीजभाव का अनुपघात होता है (आश्रयस्य तद्बीजभावानुपघातात्) तब कहते हैं कि वह प्रथम से समन्वागत है। जब यह बीजभाव उपहत होता है तब कहते हैं कि वह कुशल धर्मों से असमन्वागत है।—वास्तव में यदि क्लेश, बीज का अत्यन्त समुद्घात (अपोद्धरण) हो सकता है जैसा कि आर्य में होता है तो कुशल धर्मों के बीजभाव का अत्यन्त समुद्घात नहीं होता । इस अवधारण के साथ मिथ्यादृष्टि से समुच्छिन्न-कुशलमूल (४.७९ सी) पुद्गल के लिये कहते हैं कि उसने इन मूलों का प्रहाण किया है क्योंकि उसके आश्रय के कुशलमूल के बीजभाव का मिथ्यादृष्टि से उपघात हुआ है।

जब किसी पुद्गल में प्रायोगिक धर्म—श्रुत-चिन्ता-भावना से उत्पन्न प्रायोगिक कुशल धर्म के उत्पन्न होने पर उनको [पुनः] उत्पन्न करने के सामर्थ्यविशेष (वशित्व) का अविघात

होता है तब उस पुद्गल के लिये कहते हैं कि वह द्वितीय प्रकार के कुशल धर्मों से समन्वागत है।[1]

[१८५] अतः जो समन्वागम की आख्या का लाभ करता है, वह अन्य द्रव्यधर्म (नान्यद् द्रव्यम्) नहीं है अर्थात् सर्वास्तिवादियों की कल्पित 'प्राप्ति' नहीं है किन्तु आश्रय (=नामरूप) की एक विशेष अवस्था है [व्या १४७.३३]: १. क्लेश-बीज आर्य मार्ग से अनपोद्धृत हैं: २. क्लेश-बीज लौकिक मार्ग से अनुपहत हैं; ३. औपपत्तिक कुशल-बीज मिथ्यादृष्टि से अनुपहत हैं; ४. कुशल-प्रयोग के बीज का परिपुष्ट-वशित्व है। अतः अनपोद्धृत, अनुपहत, परिपुष्ट-वशित्व काल में बीज ही प्राप्ति की आख्या का लाभ करते हैं।[1] [व्या १४७.३१]

किन्तु यह बीज क्या है? सर्वास्तिवादिन् प्रश्न करता है।

बीज से अभिप्रेत नामरूप (३.३०) अर्थात् पंचस्कन्धात्मक रूप है जो सन्ततिपरिणाम-विशेष के द्वारा साक्षात् या पारंपर्येण फलोत्पत्ति में समर्थ है।

सन्तति हेतु-फलभूत त्रैयध्विक संस्कार हैं जो नैरन्तर्येण प्रवृत्त होते हैं।

परिणाम सन्तति का अन्यथात्व अर्थात् सन्तति का प्रतिक्षण अन्यथोत्पाद है।

विशेष अथवा इस परिणाम का परमोत्कर्ष सन्तति का वह क्षण है जो साक्षात् फलोत्पत्ति में समर्थ है।[2]

वैभाषिक दोष दिखाते हैं—सूत्र में उक्त है कि "जो लोभ से समन्वागत है वह चार स्मृत्युपस्थानों का उत्पाद (६.१४) करने में असमर्थ है।"

[१८६] सौत्रान्तिक—इस सूत्र में लोभ के 'समन्वागम' से लोभ का अधिवासन (अभ्यनुज्ञान) अथवा लोभ का अविनोदन (अव्युपशम) समझना चाहिये। सूत्र यह नहीं कहता कि जिस पुद्गल में लोभ का बीज होता है वह स्मृत्युपस्थानों के उत्पादन में असमर्थ है। वह कहता है कि लोभ का समुदाचार एक पुद्गल को इन स्मृत्युपस्थानों के तत्काल उत्पादन के लिये अयोग्य कर देता है।

संक्षेप में जिस किसी अर्थ में हम 'समन्वागम' को लें, चाहे उत्पत्ति-हेतु के अर्थ में, व्यवस्था-हेतु के अर्थ में, आश्रयविशेष या अधिवासन के अर्थ में, समन्वागम सर्वथा प्रज्ञप्ति-धर्म है, द्रव्य-धर्म नहीं है। इसी प्रकार असमन्वागम जो समन्वागम का प्रतिषेधमात्र है प्रज्ञप्ति-धर्म है।

---

[1] तैरुत्पन्नैस्तदुत्पत्तिवशित्वाविघातात् समन्वागमः। [व्या० १४७.२६]

[1] परमार्थ, ३, पृ० १८१, कालम २ शुआन्-चाङ: "आश्रय में अनपोद्धृत, अनुपहत, वशित्वपरिपुष्ट बीज होते हैं: इस अवस्था के प्रति 'प्राप्ति' शब्द का व्यवहार होता है।"

[2] यह लक्षण वैभाषिकों के प्रश्नों का विसर्जन है: "क्या बीज चित्त से भिन्न या अभिन्न एक द्रव्यान्तर है?", "क्या सन्तति एक अवस्थित द्रव्य है जिसमें धर्मान्तर की निवृत्ति होने पर धर्मान्तर का प्रादुर्भाव होता है?", "क्या परिणाम सांख्यों का परिणाम है?" २.५४ सी-डी देखिये—सन्ततिपरिणामवाद ४.३ सी में पुनः व्याख्यात है।

वैभाषिक कहते हैं कि प्राप्ति और अप्राप्ति द्रव्यसत् हैं।—क्यों ?—क्योंकि यह हमारा सिद्धान्त है। [1]

त्रैयध्विकानां त्रिविधा शुभादीनां शुभादिका।
स्वधातुका तदाप्तानामनाप्तानां चतुर्विधा ।।३७।।

३७ ए. त्रैयध्विक धर्मों की प्राप्ति त्रिविध है। [2]

अतीत धर्मों की प्राप्ति अतीत, प्रत्युत्पन्न, अनागत, त्रिविध होती है। इसी प्रकार प्रत्युत्पन्न और अनागत धर्मों को समझना चाहिये [3]।

[१८७] ३७ बी. शुभादि धर्मों की शुभादिक प्राप्ति। [1]

कुशल, अकुशल, अव्याकृत धर्मों की प्राप्ति यथाक्रम कुशल, अकुशल, अव्याकृत होती है।

३७ सी. धात्वाप्त धर्मों की प्राप्ति स्वधातुक होती है। [2]

धात्वाप्त धर्म सास्रव धर्म हैं। कामावचर धर्म की प्राप्ति स्वयं कामधातुपतित होती है; इसी प्रकार अन्य को जानिये।

३७ डी. अधातुपतित धर्मों की प्राप्ति चतुर्विध है। [3]

समासेन अनास्रव धर्मों की प्राप्ति चतुर्विध है : यह त्रैधातुक है, यह अनास्रव है। किन्तु इनके अवान्तर भेदों को व्यवस्थापित करना है।

१. अप्रतिसंख्यानिरोध (पृ. १८० देखिये) की प्राप्ति उस धातु की होती है जिसमें वह पुद्गल उपपन्न होता है जो उसकी प्राप्ति करता है।

२. प्रतिसंख्यानिरोध की प्राप्ति रूपावचरी, अरूपावचरी और अनास्रव होती है। [4]

---

[1] तिब्बती भाषान्तर और परमार्थ—शुआन्-चाङ "दोनों मार्ग (सौत्रान्तिकवाद, वैभाषिकवाद) कुशल हैं—कैसे ?—प्रथम युक्तिविरुद्ध नहीं है; दूसरा हमारा सिद्धान्त है।"
पंचस्कन्धक : प्राप्तिः कतमा ? प्रतिलम्भः समन्वागमः।......बीजं वशित्वं संमुखीभावो यथायोगम् (तिब्बती भाषान्तर के अनुसार)

[2] [त्रैयध्विकानां त्रिविधा]

[3] अतीत धर्मों की प्राप्ति (१) अतीत है अर्थात् 'जो उत्पन्न-निरुद्ध है' : यह इन धर्मों की अग्रज, पश्चात्कालज या सहज होती है; (२) अथवा अनागत है अर्थात् "जो अनुत्पन्न है"; यह इन धर्मों की पश्चात् कालज होगी; अथवा प्रत्युत्पन्न है अर्थात् "जो उत्पन्न और अनिरुद्ध है" : यह इन धर्मों की पश्चात्कालज है। इसी प्रकार अन्य की योजना कीजिये।
प्रत्येक धर्म की यह त्रिविध प्राप्ति नहीं होती। यथा 'विपाकज' धर्मों की प्राप्ति केवल इन धर्मों की सहज (२.३८ सी) होती है। इनके उत्पन्न होने के पूर्व और निरुद्ध होने के पश्चात् इन धर्मों की 'प्राप्ति' नहीं होती।

[1] शुभादीनां शुभादिका।

[2] स्वधातुका तदाप्तानाम्—सास्रव-धर्म धात्वाप्त, धातुपतित होते हैं।

[3] अनाप्तानां चतुर्विधा [व्या० १५१.३] ।।—यह अभिधम्म के अपरियापन्न हैं।

[4] प्रतिसंख्यानिरोध का प्रतिलंभ या 'क्लेशविसंयोग' (१.६ ए-बी, २.५७ डी) पृथग्जन और आर्य दोनों कर सकते हैं। प्रथम अवस्था में प्राप्ति रूपावचरी है यदि निरोध रूपावचर

३. मार्ग सत्य (६.२५ डी) की प्राप्ति अनास्रव ही होती है।

[१८८] शैक्षधर्मों (६.४५ बी) की प्राप्ति शैक्षी है, अशैक्ष धर्मों की प्राप्ति अशैक्षी है।[1] किन्तु

त्रिधा न शैक्षाशैक्षाणामहेयानां द्विधा मता।
अव्याकृताप्तिः सहजाऽभिज्ञानैर्माणिकाद् ऋते ॥३८॥

३८ ए. नशैक्षाशैक्ष धर्मों की प्राप्ति त्रिविध है।[2]

यह नैवशैक्षनाशैक्ष [६.४५ बी] धर्म सास्रव और असंस्कृत धर्म हैं; इनकी यह संज्ञा इस लिये है क्योंकि यह शैक्ष और अशैक्ष धर्मों से भिन्न हैं।

समासेन इन धर्मों की प्राप्ति त्रिविध है। विशेष व्यवस्थापित करना है :

१. सास्रव धर्मों की प्राप्ति नैवशैक्षीनाशैक्षी है;

२. इसी प्रकार अनार्य से प्राप्त अप्रतिसंख्यानिरोध की प्राप्ति और प्रतिसंख्यानिरोध की प्राप्ति;[3]

३. प्रतिसंख्यानिरोध की प्राप्ति शैक्षी है यदि निरोध शैक्षमार्ग से प्राप्त होता है; अशैक्षी है यदि यह निरोध अशैक्षमार्ग से प्राप्त होता है।

दर्शनहेय-भावनाहेय धर्मों की प्राप्ति का छेद यथाक्रम दर्शन और भावना से होता है। अत: प्रहाण की दृष्टि से यह इन धर्मों के जाति की है (२.१३)।

अहेय धर्मों का प्राप्ति-भेद है।

३८ बी. अहेय धर्मों की प्राप्ति द्विविध है।[4]

यह धर्म अनास्रव धर्म (१.४०बी, २. १३ डी) हैं।

[१८९] अप्रतिसंख्यानिरोध की प्राप्ति भावनाहेय है।

इसी प्रकार अनार्य से प्राप्त प्रतिसंख्यानिरोध की प्राप्ति।

(लौकिक) मार्ग से प्राप्त होता है, आरूप्यावचरी है यदि आरूप्यावचर (लौकिक) मार्ग से प्राप्त होता है। द्वितीय अवस्था में यह रूपावचरी और अनास्रव है यदि रूपावचर (लौकिक) मार्ग से निरोध प्राप्त होता है : यह आरूप्यावचरी और अनास्रव है यदि आरूप्यावचर मार्ग से प्राप्त होता है; यह अनास्रव है यदि (६.४६ में वर्णित नियम के अनुसार) अनास्रव मार्ग से निरोध प्राप्त होता है।

[1] बौद्ध धर्म शैक्ष के, उस आर्य के जो अर्हत् नहीं है, अनास्रव-धर्म हैं। अशैक्ष के धर्म अर्हत् के अनास्रव-धर्म हैं।

[2] [त्रिधा न शैक्षाशैक्षाणाम्]

[3] परमार्थः "इसी प्रकार अनार्य से प्राप्त अप्रतिसंख्यानिरोध और प्रतिसंख्यानिरोध की प्राप्ति।" शुआन्-चाङ : "........अनार्य मार्ग से प्राप्त प्रतिसंख्यानिरोध की प्राप्ति।"

[4] [अहेयानां द्विधा मता]

किन्तु आर्यमार्ग से प्राप्त प्रतिसंख्यानिरोध की प्राप्ति अनास्रव, अहेय है। इसी प्रकार मार्गसत्य की प्राप्ति को जानना चाहिए।[1]

हमने यह सामान्य नियम व्यवस्थापित किया है कि त्रैयध्विक धर्म की प्राप्ति त्रिविध हो सकती है (२.३७ ए)। विशेष कहना है।

३८ सी. अव्याकृत की प्राप्ति सहज है।[2]

अनिवृताव्याकृत धर्मों की प्राप्ति सहज है : उसकी प्राप्ति होती है यदि वह प्रत्युत्पन्न है, नहीं होती यदि वह अतीत या अनागत है। यदि वह अतीत है तो प्राप्ति अतीत है; यदि वह अनागत है तो प्राप्ति अनागत है। इस धर्म की दुर्बलता के कारण।[3]

३८ डी. दो अभिज्ञा और निर्माण वर्जित हैं।[4]

यह नियम सर्व अनिवृताव्याकृत धर्मों को लागू नहीं है। चक्षुरभिक्षा और श्रोत्राभिज्ञा (७.४५) और निर्माणचित (२.७२) बलवत् होते हैं क्योंकि प्रयोग-विशेष से उनकी निष्पत्ति होती है : अतः इनकी पूर्व-पश्चात्-सहज प्राप्ति होती है।—कुछ आचार्यों[5] का मत है कि शैल्प-स्थानिक और ऐर्यापथिक (२.७२) प्रकार के अनिवृताव्याकृत धर्मों की प्राप्ति पूर्वज और पश्चात् कालज होती है यदि उनका अत्यर्थ अभ्यास किया गया है (अत्यर्थमभ्यस्तम् = भृशमात्मनः कृतम् [व्या० १५२.१७ आत्मनः के स्थान में आत्मसात् पाठ है।])।

निवृतस्य च रूपस्य कामे रूपस्य नाग्रजा।
अक्लिष्टाऽव्याकृताऽप्राप्तिः सातीताजातयोस्त्रिधा ॥३९॥

[१९०] ३९ ए. इसी प्रकार निवृतरूप की प्राप्ति।[1]

निवृताव्याकृत रूप की प्राप्ति केवल सहज होती है। यह रूप निवृताव्याकृत चित्त से उत्थापित काय-वाग्-विज्ञप्ति रूप है। यह विज्ञप्ति यदि अधिमात्र चित्त से उत्थापित होती है तो इस विज्ञप्ति-चित्त के समान अविज्ञप्ति (४.७ ए) को उत्थापित नहीं करती : अतः यह दुर्बल है। अतः उसकी सहज प्राप्ति होती है, पूर्वज और पश्चात् कालज नहीं।

क्या कुशल और अकुशल धर्मों की प्राप्ति के त्रैयध्विक स्वभाव में कुछ अवधारण हैं यथा अव्याकृत धर्मों की प्राप्ति के लिये हैं?

---

[1] एक अवस्था वर्णित नहीं है: आर्य द्वारा लौकिक मार्ग से प्राप्त प्रतिसंख्यानिरोध की प्राप्ति। यह प्राप्ति, जैसा हम ६.४६ में देखेंगे, सास्रव और अनास्रव दोनों है। [व्या० १५२.३]

[2] अव्याकृताप्तिः सहजा [व्याख्या १५५.२५]

[3] दुर्बलत्वात् : अनभिसंस्कारवत्वात्, क्योंकि यह यत्न का फल नहीं है। [व्या० १५२.८]

[4] [अभिज्ञानिर्माणवर्जिता ॥]

[5] व्याख्या : वैभाषिक—यथा विश्वकर्मा की शैल्पस्थानिकों की प्राप्ति पूर्व-पश्चात्-सहज होती है : स्थविर अश्वजित् ऐर्यापथिकों से समन्वागत है। [व्या० १५२.१६]

[1] निवृतस्य च रूपस्य [व्या० १५२.१९]

३९ बी. कामधातु के रूप की प्राप्ति इस रूप से अग्रज नहीं है। [२]

इस कुशल-अकुशल रूप, यथा प्रातिमोक्षसंवर (४. १९ आदि.), की अग्रजा प्राप्ति सर्वथा नहीं होती, प्राप्ति सहजा, पश्चात् कालजा होती है, पूर्वजा नहीं।

क्या प्राप्ति के समान अप्राप्ति कुशल, अकुशल, अव्याकृत हो सकती है?

३९ सी. अप्राप्ति अनिवृताव्याकृत है। [३]

सर्व अप्राप्ति अनिवृताव्याकृत ही होती है (२.६६)।

३९ डी. अतीत, अजात धर्मों की अप्राप्ति त्रिविध है। [४]

[१९१] अतीत, अनागत धर्मों की अप्राप्ति त्रैयध्विकी अर्थात् अतीत, अनागत, प्रत्युत्पन्न हो सकती है। किन्तु प्रत्युत्पन्न धर्मों की प्राप्ति अवश्य होती है: अतः प्रत्युत्पन्न धर्मों की अप्राप्ति केवल अतीत, अनागत हो सकती है।

कामाद्याप्ताऽमलानां च मार्गस्याप्राप्तिरिष्यते।
पृथग्जनत्वं तत्प्राप्तिभूसंचाराद् विहीयते ॥४०॥

४० ए. कामादि धातुओं में आप्तधर्मों की अप्राप्ति और अमल धर्मों की अप्राप्ति त्रिविध है। [१]

कामधातु में उपपन्न सत्व की काम-रूपारूप्यावचर धर्मों की अप्राप्ति कामावचरी है; रूपधातु में उपपन्न सत्व की अप्राप्ति रूपावचरी है; आरूप्यधातु में उपपन्न सत्व की अप्राप्ति आरूप्यावचरी है। इसी प्रकार अनास्रव धर्मों की अप्राप्ति की योजना होनी चाहिये।

वास्तव में अप्राप्ति कभी अनास्रव नहीं होती।

क्यों?

४० बी-सी. निकाय के अनुसार पृथग्जन वह है जिसने मार्ग का लाभ नहीं किया है [२]।

१. जैसा मूलशास्त्र (ज्ञानप्रस्थान, २, २१, विभाषा, ४५,५) में कहा है: "पृथग्जनत्व क्या है?—आर्य धर्मों का अलाभ (आर्यधर्माणामलाभः)"। किन्तु पृथग्जनत्व अनास्रव नहीं है; अतः अप्राप्ति (=अलाभ) अनास्रव नहीं है।

---

[२] **कामे रूपस्य नाग्रजा। [व्या० १५२.२७ 'कामे रूपस्य' के स्थान में 'कामरूपस्य' पाठ है।]**

[३] **अक्लिष्टाऽव्याकृताऽप्राप्तिः**
क्लेशों की अप्राप्ति क्लिष्ट नहीं है क्योंकि इस विकल्प में क्लेशविनिर्मुक्त पुद्गल में इसका अभाव होगा: यह कुशल नहीं है क्योंकि कुशलमूलसमुच्छिन्न पुद्गल में इसका अभाव होगा। (विभाषा, १५७, ११)

[४] **[सातीता जातयोः(स्)] त्रिधा॥**

[१] **कामाद्याप्तामलानां च [व्या० १५३.१४]**

[२] **[अलब्धमार्गः पृथग्जनः। इष्यते)—**
यदि अप्राप्ति अनास्रव हो सकती तो यह अनास्रव धर्मों की अप्राप्ति होती किन्तु पृथग्जन के लक्षण से सिद्ध होता है कि अनास्रव धर्मों की अप्राप्ति अनास्रव नहीं होती।
पृथग्जन पर १.४०,४१ ए, २.९ बी-डी, ३.४१ सी-डी, ९५ ए, ६.२६ ए,२८ डी, ४५ बी.।

हम इस लक्षण की परीक्षा करते हैं—जब शास्त्र का उपदेश है कि पृथग्जनत्व आर्यधर्मों का अलाभ है तो किन आर्यधर्मों का अलाभ इसको अभिप्रेत है ? दुःखे धर्मज्ञानक्षान्ति से आरम्भ कर सर्व अनास्रव मार्ग या आर्य मार्ग (६.२५) आर्यधर्म हैं।

सर्वास्तिवादिन्—अविशेष वचन होने से शास्त्र का अभिप्राय इन सब धर्मों से है।

सावधान ! यदि ऐसा है तो दुःखे धर्मज्ञानक्षान्ति के उत्पन्न होने पर भी वह पृथग्जन होगा यदि परिशिष्ट आर्यधर्मों का अलाभ हो।

[१९२] सर्वास्तिवादिन्—शास्त्र उस अप्राप्ति का उल्लेख करता है जो लाभ के बिना है : यद्यपि आपके पुद्गल को अन्य आर्य धर्मों का लाभ नहीं है तथापि वह पृथग्जन नहीं है क्योंकि इन अन्य धर्मों का अलाभ क्षान्तिलाभ सहगत है। यह प्रत्यक्ष है क्योंकि अन्यथा बुद्ध भगवत् का श्रावक प्रत्येकबुद्ध (६.२३) सन्तानिक आर्यधर्मों से असमन्वागम होने के कारण वह अनार्य होंगे।

बहुत अच्छा। किन्तु तब शास्त्र में 'एव' शब्द पठित होना चाहिये और उसे "पृथग्जनत्व आर्यधर्मों का अलाभ ही है (अलाभ एव)" ऐसा कहना चाहिये "......अलाभ" नहीं।

सर्वास्तिवादिन्—शास्त्र सुष्ठु कहता है क्योंकि एकपद (निरुक्त, २, २) भी अवधारणार्थ (अवधारणानि) होते हैं और 'एव' शब्द की आवश्यकता नहीं है : अब्भक्ष का अर्थ है जो केवल जल खाता है, वायुभक्ष, "जो वायु का ही भक्षण करता है।"

२. एक दूसरे मत के[1] अनुसार पृथग्जनत्व दर्शनमार्ग की प्रथम अवस्था का, दुःखे धर्मज्ञानक्षान्ति और उसके सहभू धर्मों का (६.२५), अलाभ है।

आक्षेप—इस पक्ष में, १६ वें क्षण में (मार्गेऽन्वयज्ञान) आर्य पथग्जन होगा, आर्य नहीं : क्योंकि इस क्षण में पूर्व क्षान्ति का त्याग होता है[2]। —इस त्याग से अनार्यत्व का प्रसंग नहीं होता क्योंकि क्षान्ति का अलाभ जो पृथग्जनत्व है प्रथम अवस्था में अत्यन्त हत होता है।

आक्षेप—यह क्षान्ति त्रिगोत्र है—श्रावक-प्रत्येकबुद्ध-बुद्धगोत्र की है (६.२३)। पृथग्जनत्व का आपका लक्षण इन तीन गोत्रों में से किसके अलाभ का उल्लेख करता है ?

हमको तीनों प्रकार की क्षान्ति अभिप्रेत है।

सावधान ! इसमें भी वही दोष है। क्षान्ति के त्रिगोत्र के अलाभ से बुद्ध पृथग्जन होंगे।

[१९३] इसका भी वही परिहार है। हम उस क्षान्ति के अलाभ का उल्लेख करते हैं जो लाभ के बिना है.....पूर्ववत् प्रपंच यावत् यथा 'अब्भक्ष', 'वायुभक्ष'।

अतः "सावधान। यदि ऐसा है तो दुःखे क्षान्ति का लाभी पुद्गल पृथग्जन होगा......" इस दोष के परिहार के लिये जो यत्न है वह व्यर्थ है। सौत्रान्तिकों का व्याख्यान सुष्ठु है। उनके

---

[1] विभाषा के द्वितीय आचार्य।

[2] कथावत्थु, ४.४ से तुलना कीजिये।

अनुसार पृथग्जनत्व वह सन्तति है जिसमें आर्यधर्म अनुत्पन्न हैं (अनुत्पन्नार्यधर्मा सन्ततिः) [व्या० १५४.२८]।

अप्राप्ति का कैसे विगम होता है ?

४० सी-डी. इसकी विहानि प्राप्ति और भूमिसंचार से होती है।[1]

यथा (१) आर्य मार्ग के लाभ से[2] और (२) भूमिसंचार से(३) पृथग्जनत्व जो आर्य-मार्ग का अलाभ है विहीन होता है। अन्य धर्मों की अप्राप्ति की योजना भी इसी प्रकार करनी चाहिये।[4]

[१९४] आक्षेप—अप्राप्ति विहीन होती है (विहीयते) (१) जब अप्राप्ति—अप्राप्ति का उत्पाद होता है—अर्थात् जब भूमिसंचार से पृथग्जनत्व की प्राप्ति की विहानि होती है; (२) जब अप्राप्ति की प्राप्ति का छेद होता है अर्थात् जब आर्यमार्ग के लाभ से पृथग्जनत्व का छेद होता है। क्या कहने का यह अभिप्राय है कि प्राप्ति और अप्राप्ति की प्राप्ति होती है तथा प्राप्ति और अप्राप्ति की अप्राप्ति होती है।

हाँ : प्राप्ति और अप्राप्ति की प्राप्ति और अप्राप्ति होती है। इन्हें 'अनुप्राप्ति', 'अनु-अप्राप्ति' कहते हैं। अतः दो प्राप्ति हैं : मूल प्राप्ति और अनुप्राप्ति या प्राप्ति-प्राप्ति।

क्या इस वाद में प्राप्तियों का अनवस्था-प्रसंग नहीं होता ?

नहीं, क्योंकि परस्पर समन्वागम होता है। प्राप्ति-प्राप्ति (=अनुप्राप्ति) के योग से प्राप्ति से समन्वागम होता है और प्राप्ति के योग से प्राप्ति-प्राप्ति से समन्वागम होता है।—हम इसका व्याख्यान करते हैं। जब एक सन्तति में एक धर्मविशेष का उत्पाद होता है तो तीन

---

[1] [सा प्राप्त्या] भूमिसंचाराच् [च] विहीयते ॥ [व्या० १५५.१२]

[2] अप्राप्ति या अलाभ के धातु की व्यवस्था उपपत्ति के आश्रयवश होती है (२.४० ए)। अतः कामावचर सत्व का पृथग्जनत्व (जो अप्राप्ति है, २.४० बी-सी) कामावचर होता है। अतः यह नहीं कह सकते कि आर्यमार्ग के लाभ से यह सत्व त्रधातुक पृथग्जनत्व का त्याग करता है।—आर्यमार्ग के लाभ से सर्व पृथग्जनत्व, चाहे जिस धातु का क्यों न हो, सदा असंभव हो जाता है। अतः यह कह सकते हैं कि यह भाव (कामावचरादि) अपने आकार में विहीन होता है यद्यपि सत्व को एक ही प्रकार के पृथग्जनत्व की प्राप्ति होती है। त्याग के दो आकार हैं—विहानि और प्रहाण। इनमें विशेष है।

[3] एक पृथग्जन कामधातु से विरक्त हो प्रथम ध्यान में संचार करता है : उसका कामावचर पृथग्जनत्व विहीन होता है किन्तु वह इससे आर्य नहीं होता : क्योंकि प्रथम ध्यानभूमिक अन्य पृथग्जनत्व का प्रादुर्भाव होता है। अन्य भूमियों के लिये अर्थात् अधर से ऊर्ध्व और ऊर्ध्व से अधर भूमियों में संचार के लिये इसी प्रकार योजना करनी चाहिये।

[4] कामावचर श्रुत-चिन्तामय कुशल धर्मों के प्राप्ति-लाभ से अप्राप्ति विहीन होती है। उपपत्ति लाभिक कुशल धर्मों (२.७१ बी) की प्राप्ति से समुच्छिन्नकुशल की अप्राप्ति विहीन होती है।—जब कोई सत्व कामधातु से च्युत हो प्रथम ध्यान में उपपन्न होता है तब वह प्रथम ध्यानभूमिक धर्मों की अप्राप्ति से विहीन होता है......इस वाद से कठिन प्रश्न समुत्थापित होते हैं जिनकी परीक्षा संक्षेप से व्याख्या में की गई है।[व्या० १५५.१९]

धर्मों का सहोत्पाद होता है अर्थात् (१) यही धर्म जिसे मूलधर्म कहते हैं, (२) मूलधर्म की प्राप्ति, (३) इस प्राप्ति की प्राप्ति। प्राप्ति के उत्पादवश वह सत्व मूलधर्म से और प्राप्ति-प्राप्ति से समन्वागत होता है; प्राप्ति-प्राप्ति की उत्पत्ति से वह प्राप्ति से समन्वागत होता है[1]। अतः अनवस्थाप्रसंग नहीं होता।—जब कुशल या क्लिष्ट[2] धर्म की उत्पत्ति होती है तो उसी क्षण में तीन धर्मों का सहोत्पाद होता है। इनमें यह 'कुशल' या क्लिष्ट धर्म संगृहीत है। तीन धर्म यह हैं: मूलधर्म, उसकी प्राप्ति, इस प्राप्ति की प्राप्ति (प्राप्ति-प्राप्ति)[3]। द्वितीय क्षण में ६ धर्मों का सहोत्पाद होता है—अर्थात् मूल धर्म की प्राप्ति, प्रथम क्षण की प्राप्ति-प्राप्ति, प्रथम क्षण की प्राप्ति-प्राप्ति की प्राप्ति तथा तीन अनुप्राप्ति जिनके योग से पूर्वोक्त तीन प्राप्तियों से समन्वागत होता है। तृतीय क्षण में १८ धर्मों का सहोत्पाद होता है अर्थात् ९ प्राप्ति : प्रथम क्षणोत्पन्न तीन धर्मों की प्राप्ति; द्वितीय क्षणोत्पन्न ६ धर्मों की प्राप्ति तथा ९ अनुप्राप्ति जिनके योग से पूर्वोक्त ९ प्राप्तियों के योग से समन्वागत होता है।

[१९५] इस प्रकार प्राप्तियों का उत्तरोत्तर वृद्धि-प्रसंग होता है[1]। अनादि-अनन्त संसार में पर्यापन्न अतीत-अनागत क्लेशों की (क्लेश और उपक्लेश) प्राप्तियां और संप्रयोग (२.५३ सी-डी) तथा सहभू धर्मों (२. ५० बी) के सहित उत्पत्तिलाभिक (२.७१ बी) कुशल धर्मों की प्राप्तियाँ प्रतिक्षण अनन्त संख्या में उत्पन्न होती हैं। यदि संसरण करते हुए एक प्राणी की सन्तति का विचार करें तो क्षण २ पर उत्पद्यमान प्राप्तियों की संख्या अनन्त होती है। पुनः यदि बहुप्राणियों का विचार किया जाय तो अप्राप्तियाँ अनन्त अप्रमेय होती हैं। यह प्राप्तियों का अति उत्सव है कि यह अरूपिणी हैं: इसलिये यह अवकाश का लाभ करती हैं। यदि यह प्रतिघातिनी होतीं तो एक प्राणी की प्राप्तियों को नीलाकाश में स्थान न मिलता। दो प्राणियों की प्राप्तियों को तो और भी कम।

'निकाय सभाग' (सभागता) क्या है[2]?

सभागता सत्त्वसाम्यमासंज्ञिकमसंज्ञिषु।
निरोधश्चित्तचैत्तानां विपाकस्ते बृहत्फलाः ॥४१॥

---

[1] २.४५ सी-डी. में वर्णित जाति-क्रीडा और जातिजाति की क्रीड़ा से तुलना कीजिये।

[2] यहाँ अव्याकृत धर्म की परीक्षा नहीं करते क्योंकि इसकी प्राप्ति सहज ही होती है (तस्य सहजैव प्राप्तिः) : संख्या भिन्न है। [व्या० १५६.१०]

[3] जापानी संपादक का कहना है कि इन तीन धर्मों में से प्रत्येक के लिये चार लक्षण तथा चार अनुलक्षण (२.४५ सी-डी) अधिक होना चाहिये। इस प्रकार प्रथम क्षण में २७ धर्म होते हैं।

[1] चतुर्थ क्षण में २७ प्राप्ति होती हैं अर्थात् प्रथम-द्वितीय-तृतीय क्षण में उत्पन्न धर्मों की ३,६,१८ प्राप्तियाँ, तथा २७ अनुप्राप्तियाँ: इस प्रकार ५४ धर्म। पाँचवें क्षण में ८१ प्राप्ति और इतनी ही अनुप्राप्ति।

[2] सभागता सत्त्वसाम्यम्—प्रकरण, १४ बी ६ : "निकायसभाग क्या है ?"—सत्वों की स्वभावसमता। [व्या० १५३.३]

४१ ए. सभागता वह है जिसके योग से सत्वों का साम्य होता है[3]।

[१९६] १. सभागता नाम का एक द्रव्य है, एक धर्म है जिसके योग से सत्व तथा सत्व-संख्यात धर्मों (१.१०) का परस्पर सादृश्य (सभाग, सम, समान, सदृश) होता है। (विभाषा, २७, ४)।

२. शास्त्र में (ज्ञानप्रस्थानादि) इस द्रव्य की निकायसभाग संज्ञा है : आचार्य श्लोकबन्ध के कारण सभागता संज्ञा का प्रयोग करते हैं।

३. सभागता दो प्रकार की है—अभिन्न और भिन्न।

प्रथम सभागता सर्वसत्ववर्तिनी है : उसके योग से प्रत्येक सत्व का सब सत्वों के साथ सादृश्य होता है। उसे सत्वसभागता कहते हैं।

द्वितीय में अनेक अवान्तर भेद हैं : इन प्रभेदों में से प्रत्येक केवल कुछ सत्वों में पाया जाता है।—सत्व धातु, भूमि, गति (३.४), योनि (३.९), जाति (ब्राह्मणादि), व्यंजन, उपासकत्व (४.१४), भिक्षुता, शैक्षत्व, अर्हत्व आदि[1] के अनुसार भिन्न होते हैं। इतनी ही सभागता होती हैं जिनके योग से एक विशेष प्रकार का प्रत्येक सत्व उस प्रकार के सत्वों के सदृश होता है।

४. पुनः सत्वसंख्यात धर्मों के लिये एक सभागता है : धर्मसभागता। यह स्कन्ध-आयतन-धातुतः है : स्कन्धसभागता आदि, रूपस्कन्धसभागता आदि।

५. सभागता (सत्वसभागता) नामक अविशिष्ट द्रव्य के अभाव में अन्योन्यविशेषभिन्न सत्वों के लिये सत्वादि अभेद बुद्धि और प्रज्ञप्ति कैसे होंगी ? इसी प्रकार धर्मसभागता के योग से ही स्कन्ध, धातु आदि बुद्धि और प्रज्ञप्तियुक्त हैं[2]।

[१९७] ६. क्या सत्वसभागता (मनुष्यत्व आदि) का परित्याग और प्रतिलाभ किये बिना गतिसंचार, च्युति-उपपत्ति होती है ?—चार कोटि हैं :

१. एक स्थान से च्युत होना (यथा कामधातु से) और उसी स्थान में उपपद्यमान होना : गतिसंचार के होने पर भी सभागता उसी अवस्था में रहती है; वह सत्वसभागता का न त्याग करता है, न प्रतिलाभ करता है;

२. नियमावक्रान्ति (६.२६ ए) में प्रवेश करना : गतिसंचार के बिना पृथग्जनत्व-स्वभाव की सभागता का त्याग और आर्यत्व-स्वभाव की अपर सभागता (आर्य-सभागता)

---

[3] प्रत्येक सत्व में अन्य अन्य होते हुए भी सत्वसभागता अभिन्न कहलाती है क्योंकि सादृश्य है। उसको एक और नित्य मानना वैशेषिकों की भूल है।

[1] 'आदि' से उपासिका, भिक्षुणी, नैवशैक्षनाशैक्ष आदि का ग्रहण होता है। [व्या० १५७.१६]

[2] दो पाठ हैं : एवं स्कन्धादिबुद्धिप्रज्ञप्तयोऽपि योज्याः [व्या० १५७.१९] और एवं धात्वादि-बुद्धिप्रज्ञप्तयोऽपि योज्याः : "धर्मसभागता के कारण धातु, कामधातु के होते हैं. . . ."। [व्या० १५७.२१]

का प्रतिलाभ होता है; ३. मनुष्यादि गति से च्युत होना और अन्य गति में (गतिसंचार) उपपद्यमान होना; ४. इन आकारों को वर्जित कर अन्य आकार।

सौत्रान्तिक सभागता नामक धर्म को स्वीकार नहीं करते और अनेक दोष दिखाते हैं।

१. यदि पृथग्जनसभागता नाम का कोई द्रव्य है तो फिर आर्यधर्म-अलाभस्वभाव (२.४० सी) पृथग्जनत्व की कल्पना से क्या प्रयोजन ? पृथग्जनसभागता से ही पृथग्जन होगा यथा मनुष्यसभागता से ही मनुष्य होता है क्योंकि वैभाषिक मनुष्यसभागता से अन्य मनुष्यत्व की कल्पना नहीं करते।

२. लोकसभागता को प्रत्यक्ष नहीं देखता। वह प्रज्ञा से सभागता का परिच्छेद नहीं करता (परिच्छिनत्ति) क्योंकि सभागता का कोई व्यापार नहीं है जिससे उसका ज्ञान हो : यद्यपि लोक सत्वसभागता को नहीं जानता तथापि उसमें सत्वों के जात्यभेद की प्रतिपत्ति होती है (प्रतिपद्यते)। अतः सभागता के होने पर भी उसका व्यापार क्या होगा ?

३. निकाय को शालि, यव, सुवर्ण, लौह, आम्र, पनस आदि की असत्वसभागता भी क्यों नहीं इष्ट है ? किन्तु उनके लिये सामान्य प्रज्ञप्तियों का उपयोग होता है।

४. जिन विविध सभागताओं की अर्थात् सत्वसभागता, धातुसभागता, गतिसभागता आदि की प्रतिपत्ति निकाय को है वह अन्योन्य भिन्न हैं। किन्तु सब के लिये सामान्य बुद्धि और प्रज्ञप्ति होती है: सब सभागता है।

[१९८] ५. सर्वास्तिवादिन् वैशेषिकों के वाद का समर्थन करता है (द्योतयति)। यह भी सामान्यपदार्थवादी है जिस सामान्य के योग से वस्तुओं के लिये सामान्य बुद्धि और प्रज्ञप्ति का उत्पाद होता है। वह विशेष नामक एक दूसरा द्रव्य भी मानते हैं जिससे विविध जाति के लिये विशेष बुद्धि और प्रज्ञप्ति प्रवृत्त होती है।

वैभाषिक इसका विरोध करता है और कहता है कि उसका वाद वैशेषिकों के वाद से भिन्न है। वैशेषिक मानते हैं कि सामान्य एक पदार्थ है जो एक होते हुए भी अनेक में वर्तमान है (एकोऽप्यनेकस्मिन् वर्तते [व्या० १५९.२]। अतः वह कहता है कि यदि मैं वैशेषिकों के सामान्य को द्योतित करता हूँ तो मैं उनके बताये हुए निरूपण को दूषित करता हूँ।—सभागता द्रव्य है क्योंकि भगवत् नरक में उपपन्न प्राणातिपातकारी का वर्णन करते हुए कहते हैं कि "यदि वह इत्थंत्व को प्राप्त होता है, यदि वह मनुष्यों की सभागता को प्राप्त होता है......" (मध्यम, २४, ३)[१]।

---

[१] व्याख्या में सूत्र उद्धृत है : प्राणातिपातेनासेवितेन भावितेन बहुलीकृतेन [व्या० १५९.६] (अंगुत्तर, ४.२४७, आदि से तुलना कीजिये) नरकेषूपपद्यते। स चेद् इत्थंत्वमागच्छति मनुष्याणां सभागतां प्राप्नोति प्राणातिपातेनाल्पायुर्भवति......। दशभूमक में स चेद्... इस वाक्य के स्थान में 'अथ चेत् पुनर्मनुष्येषूपपद्यते' है।
दिव्य, १९४, ३० : मनुष्याणां सभागतायामुपपन्न इति (महाव्युत्पत्ति, २४५, ५४);

सौत्रान्तिक उत्तर देता है—इस वचन से सूत्र सभागता नामक द्रव्यान्तर का उपदेश नहीं देता।—सूत्र सभागता शब्द से क्या प्रज्ञप्त करता है ?—सत्वसभागतादि शब्दों से सूत्र को स्वजाति-सादृश्य अभिप्रेत है : इसी प्रकार शालि, यव, मुद्ग, माषादि की सभागता को जानिये।

यह मत वैभाषिकों को स्वीकृत नहीं है[२]।

आसंज्ञिक कौन है ?

[१९९] ४१ बी-सी. आसंज्ञिक वह है जो असंज्ञि सत्वों में चित्त-चैत्तों का निरोध करता है[१]।

जो सत्व असंज्ञि या असंज्ञि देवों में उपपन्न होते हैं उनमें एक धर्म होता है जो चित्त-चैत्तों का निरोध करता है और जिसे 'आसंज्ञिक' कहते हैं। इस धर्म से अनागत अध्व के चित्त-चैत्त कालान्तर के लिये संनिरुद्ध होते हैं। और उत्पत्ति का लाभ नहीं करते। यह धर्म उस धर्म के सदृश है जो नदीतोय का निरोध करता है (नदीतोयनिरोधवत्) अर्थात् सेतु के सदृश है।

यह धर्म एकान्ततः

४१ डी. विपाक है।

यह एकान्ततः असंज्ञि समापत्ति (२.४२ ए) का विपाक है[२]।

असंज्ञि देव किस स्थान में निवास करते हैं ?

४१ डी. वह बृहत्फल में निवास करते हैं।

बृहत्फल देवों का एक ऊर्ध्व प्रदेश है जो असंज्ञि सत्वों का वासस्थान है; यथा ब्रह्मपुरोहित देवों का (३.२ सी[3] ; विभाषा, १५४, ८) ध्यानान्तरिका एक उच्छ्रित प्रदेश है जो महाब्रह्मों का वासस्थान है।

क्या यह असंज्ञि सत्व इसलिये कहलाते हैं क्योंकि यह सदा असंज्ञी होते हैं अथवा क्या यह कदाचित् संज्ञी होते हैं ?

उपपत्तिकाल और च्युतिकाल में (३.४२, विभाषा, १५४, ९)[४] वह संज्ञी होते हैं।

१२२, १६ : ब्रह्मलोकसभागतायां चोपपन्नो महाब्रह्मा संवृत्तः। शिक्षासमुच्चय, १७६, ९ : स [वं] निकायसभागे देवमनुष्याणां प्रियो भवति।

[२] शुआन्-चाङ का अनुवाद : "यह मान्य नहीं है क्योंकि यह हमारे सिद्धान्त के विरुद्ध है" । वह इस वाक्य को छोड़ देते हैं : "वैभाषिक कहते हैं" (वैभाषिक कहते हैं: "यह अयुक्त है......")

[१] आसंज्ञिकमसंज्ञिषु । निरोधश्चित्तचैत्तानां विपाकस्तु बृहत्फले ॥ [व्या० १५९.१३] —प्रकरण, फाल० १४ बी ६—दीघ, ३.२६३ : सन्तावुसो सत्ता असञ्ञिनो अप्पति-संवेदिनो सेय्यथापि देवा असञ्ञसत्ता—१.२८, ३.३३...सञ्ञुप्पादा च पन ते देवा तम्हा काया चवन्ति—९ सत्वावासों में से एक अंगुत्तर, ४,४०१; कोश, ३.६ सी.

[२] विभाषा, १५८, ९, ५ मत।

[3] बहिर्देशक का इसके विपरीत कहना है कि चतुर्थ ध्यान के लोक के ९ विभाग हैं—बृहत्फल (वेहप्फल) पर ब्यूनाफ, इन्ट्रोडक्शन पृ० ६१४.

[४] अन्यकों के मत का कथावत्थु, ३.२ में प्रतिषेध है।

[२००] वह असंज्ञि कहलाते हैं क्योंकि दीर्घ काल तक उसकी संज्ञा स्थगित रहती है। जब इस दीर्घ काल के पश्चात् वह पुनः संज्ञा का उत्पाद करते हैं तो उनकी च्युति होती है। जैसा सूत्र में कहा है कि "जब वह पुनः संज्ञा का उत्पाद करते हैं तब उस सत्व के सदृश जो निद्रा से जगता है उनकी च्युति होती है।"

असंज्ञि सत्वों के लोक से च्युत हो वह अवश्य कामधातु में पुनः उपपन्न होते हैं, अन्यत्र नहीं। (१) वास्तव में जिस के योग से यह सत्व असंज्ञियों में उपपन्न होते हैं उस असंज्ञिसमापत्ति (२.४२ ए) के संस्कार का परिक्षय होता है। असंज्ञि सत्वों में निवास करते हुए वह अपूर्व का उपचय नहीं करते और असंज्ञि-समापत्ति का पुनः अभ्यास करने के अयोग्य होते हैं: अतः उनकी च्युति होती है यथा क्षीणवेग बाण पृथिवी पर पतित होते हैं।[२] (२) दूसरे पक्ष में असंज्ञि सत्वों में उपपन्न सत्व 'काम धातु में विपच्यमान' और 'अपर पर्याय वेदनीय' (४.५० बी) कर्म से अवश्य समन्वागत होते हैं। इसी प्रकार उत्तरकुरु (३.९० सी-डी) में जो सत्व उपपन्न होते हैं वह उत्तरकुरु-भव के अनन्तर की देवगति में विपच्यमान कर्म से अवश्य समन्वागत होते हैं।

मूलशास्त्र कहता है: "दो समापत्ति क्या है[१] ?—असंज्ञि-समापत्ति, निरोध-समापत्ति।"[२]

असंज्ञि-समापत्ति क्या है ?

यथा आसंज्ञिक एक धर्म है जो चित्त और चैत्तों का निरोध करता है।

तथासंज्ञिसमापत्तिर्ध्यानेऽन्त्ये निःसृतीच्छया ।

शुभोपपद्यवेद्यैव नार्यस्यैकाध्विकाप्यते ॥४२॥

४२ ए. उसी प्रकार असंज्ञि-समापत्ति है[३]।

[२०१] असंज्ञि-समापत्ति असंज्ञि सत्वों की समापत्ति है (असंज्ञिनां समापत्तिः), अथवा वह समापत्ति है जिसमें संज्ञा नहीं होती।

'तथा' शब्द से यह प्रदर्शित होता है कि यह समापत्ति आसंज्ञिक की तरह चित्त-चैत्तों का निरोध करती है।

यह किस भूमि की है ?

---

[१] समापत्ति शब्द के अर्थ पर पृ. २१३ देखिये।

[२] पूरा नाम संज्ञावेदितनिरोधसमापत्ति है, पृ. २११ देखिये।
प्रकरण (१४ बी ५): असंज्ञि-समापत्ति निःसरणमनसिकारपूर्वक चित्त-चैत्त का निरोध है। शुभकृत्स्नों के क्लेशों से, ऊर्ध्व क्लेशों से नहीं, विनिर्मुक्त पुद्गल इसका लाभ करता है। निरोधसमापत्ति शान्तविहार संज्ञापूर्वक चित्त-चैत्तों का निरोध है और इसका लाभ वह पुद्गल करता है जो आकिंचन्यायतन के क्लेशों से विनिर्मुक्त है।— पंचस्कन्धक में वसुबन्धु ने इन लक्षणों से सहायता ली है।

[३] तथा [असंज्ञिसमापत्तिर्] ध्यानेऽन्त्ये [मोक्षमिच्छता]।
[शुभो] पपद्यवेद्यैव (नायर्) एकाध्विकाप्यते ॥

४२ बी. अन्त्य ध्यान की।

इस समापत्ति के अभ्यास के लिये योगी को चतुर्थ ध्यान में समापन्न होना चाहिये।

किस उद्देश्य से वह उसका अभ्यास करता है?

४२ बी. मोक्ष की इच्छा से।

योगी की यह मिथ्या कल्पना होती है कि आसंज्ञिक जो सहस्र कल्प की असंज्ञा है और जो असंज्ञि-समापत्ति का फल है यथार्थ मोक्ष है।

आसंज्ञिक विपाक है। अतः यह अवश्य अव्याकृत है। असंज्ञि-समापत्ति—

४२ सी. कुशला है। इसका विपाक असंज्ञिदेव का पंचस्कन्ध है जो, जैसा कि हम जानते हैं, उपपत्तिकाल और च्युतकाल में संज्ञी होते हैं।

विपाक की दृष्टि से वह किस प्रकार का है?

४२ सी. केवल उपपद्यवेदनीय है।

यह 'दृष्ट-धर्म-वेदनीय', 'अपर-पर्याय-वेदनीय' नहीं है, यह 'अनियत-वेदनीय' (४.५० भी नहीं है।

निस्सन्देह योगी इस समापत्ति का लाभ कर इस समापत्ति से परिहीण (परिहा) हो सकता है किन्तु वैभाषिकों के अनुसार वह पुनः उसका उत्पादन कर असंज्ञि सत्वों में उपपन्न होता है। इसका यह अर्थ है कि जो योगी इस समापत्ति का लाभी होता है वह अवश्य 'नियाम' (६.२६ ए) में अवक्रान्ति नहीं करता[1]।

[२०२] केवल पृथग्जन इस समापत्ति का अभ्यास करते हैं।

४२ डी. आर्य नहीं।

यह इस समापत्ति को विनिपात-स्थान, अपाय-स्थान (अर्थात् अपाय-स्थान या गिरितट विनिपात स्थान) देखते हैं और उसमें समापन्न होने का यत्न नहीं करते।

इसके विपर्यय पृथग्जन आसंज्ञिक को यथार्थ मोक्ष मानते हैं। उसके प्रति उनकी निःसरण संज्ञा मोक्षसंज्ञा होती है। अतः वह मोक्षोपनायिका समापत्ति में समापन्न होते हैं। किन्तु आर्य जानते हैं कि सास्रव यथार्थ मोक्ष नहीं हो सकता। अतः वह इस समापत्ति की भावना नहीं करते।

जब आर्य चतुर्थ ध्यान में प्रवेश करते हैं तो क्या वह अतीत और अनागत उस समापत्ति की प्राप्ति का प्रतिलाभ करते हैं यथा वह चतुर्थ ध्यान के लाभ से अतीत और अनागत चतुर्थ ध्यान की प्राप्ति का प्रतिलाभ करते हैं[1]।

---

[1] नियामावक्रान्ति से आर्य अपायगति, आसंज्ञिक, महाब्रह्मोपपत्ति, कौरवोपपत्ति, अष्टंभव के अप्रतिसंख्यानिरोध का प्रतिलाभ करता है। असंज्ञि-समापत्ति से परिहाणि नहीं होती, विभाषा, १५२, पृ० ७७३, कालम ३।

[1] जो कोई चतुर्थ ध्यान में प्रवेश करता है वह उन सब चतुर्थ ध्यानों की प्राप्ति का सकृत् लाभ करता है जिनकी उसने अनादिमान् संसार में भावना की है या जिनकी वह भविष्य में भावना करेगा।

अनार्य भी अतीत-अनागत असंज्ञि-समापत्ति की प्राप्ति का प्रतिलाभ नहीं करते।

क्यों? अभ्यस्त होने पर भी महाभिसंस्कार साध्य और अचित्तक होने से यह समापत्ति

४२ डी. एक अध्व में प्राप्त होती है।

[२०३] न अतीत, न अनागत किन्तु एकाध्विक अर्थात् प्रत्युत्पन्न असंज्ञि-समापत्ति का लाभ होता है (आप्यते, लभ्यते) यथा प्रातिमोक्ष संवर का होता है। इस समापत्ति के द्वितीय क्षण में, लब्ध समापत्ति के सब उत्तर क्षणों में वह अतीत और प्रत्युत्पन्न उस समापत्ति से समन्वागत होता है यावत् वह उस समापत्ति का त्याग नहीं करता। —दूसरी ओर अचैत्तिक होने से अनागत भावना की प्राप्ति का लाभ असंभव है (नानागता भाव्यते)[१]। [व्या० १६०.२२]

निरोधाख्या तथैवेयं विहारार्थं भवाग्रजा।
शुभा द्विवेद्याऽनियता चार्यस्याप्या प्रयोगतः ॥४३॥

निरोध-समापत्ति क्या है[२]।

४३ ए. निरोधाख्या समापत्ति तथैव है[३]।

अर्थात् निरोध-समापत्ति, आसंज्ञिक, असंज्ञि-समापत्ति के सदृश है। यह एक धर्म है जो चित्त-चैत्तों का निरोध करता है।

असंज्ञि-समापत्ति और निरोध-समापत्ति में क्या भेद हैं?

४३ बी-डी. शान्तविहार के लिए भवाग्रज, शुभ, द्विविपाकात्मक और अनियत; आर्य द्वारा प्रयोग से प्राप्त[४]।

१. आर्य इस समापत्ति की भावना करते हैं क्योंकि वह शान्तविहार-संज्ञापूर्वक मनसिकार से उसका ग्रहण करते हैं[५]। असंज्ञि-समापत्ति की भावना निःसरण (= मोक्ष) संज्ञापूर्वक मनसिकार से असंज्ञा का ग्रहण करने से होती है।

२. यह भवाग्रज है अर्थात् नैवसंज्ञानासंज्ञायतन (८.४) समापत्ति से आरंभ कर इसमें प्रवेश होता है जब कि असंज्ञि-समापत्ति चतुर्थध्यानभूमिक है।

३. यह शुभ है; यह न अव्याकृत है, न क्लिष्ट क्योंकि इसका समुत्थापकहेतु (४.९ बी) शुभ है।

---

१ अनागत कुशल चित्त पूर्व प्राप्ति का आलम्बन है।

२ निरोधसमापत्ति, संज्ञावेदितनिरोधसमापत्ति (नीचे पृ. २११ देखिये) पर ६. ४३ सी-डी, ८.३३ ए (विमोक्ष), कथावत्थु, ६.५, १५.७ देखिये।—महाविभाषा, १५२, १४ में इस समापत्ति पर अनेक मत हैं: कुछ के विचार से यह एक द्रव्यमात्र है—निरोधसाक्षात्कार; दूसरों के मत से, ११ द्रव्य: १० महाभूमिक और चित्तनिरोध; दूसरों के मत से, २१ द्रव्यः महाभूमिक, कुशलमहाभूमिक और चित्तनिरोध...... निरोधसमापत्ति, सिद्धि, ६१, २०४, २११-२१४, २४७, २६८, २८३, ४०५-४०९, ७५१।

३ निरोधाख्या तथैवा [पि] [व्या० १६०.२५]

४ [विहाराय भवाग्रजा। शुभा द्विवेद्या नियतार्यैः प्रयोगत आप्यते ॥]

५ शान्तविहारसंज्ञापूर्वकेण मनसिकारेण [व्या० १६०.२८] —विहार=समाधिविशेष।

[२०४] ४. इसके दो प्रकार के विपाक हैं—उपपद्यवेदनीय या अपरपर्यायवेदनीय (४.५०)[1]। यह 'अनियत' भी है क्योंकि जिस योगी ने इस समापत्ति का उत्पाद किया है वह दृष्टधर्म में निर्वाण का लाभ कर सकता है।

इसका विपाक क्या है ?

यह समापत्ति भवाग्र के चार स्कन्ध अर्थात् भवाग्र-भव (३.३) का उत्पाद करती है।

५. केवल आर्य—पृथग्जन नहीं—इसका उत्पाद करते हैं। यह उसका उत्पाद नहीं कर सकते (१) क्योंकि यह उच्छेदभीरु हैं (उच्छेदभीरुत्वात् [व्या० १६१. ७][2]), (२) क्योंकि इस समापत्ति का उत्पादन केवल आर्यमार्ग के बल से होता है : वास्तव में जो आर्य दृष्ट-निर्वाण है उसकी उसमें अविमुक्ति होती है [3]।

६. यद्यपि आर्य इसका लाभ करते हैं। तथापि इसका लाभ वैराग्यमात्र से नहीं होता। यह प्रयोगलभ्य, महाभिसंस्कारसाध्य ही है।

अतीत, अनागत का लाभ नहीं होता। असंज्ञि-समापत्ति-निर्देश में इसका व्याख्यान हुआ है।

बोधिलभ्या मुनेर्न प्राक् चतुस्त्रिंशत्क्षणाप्तितः
कामरूपाश्रये तूभे निरोधाख्यादितो नृषु ॥४४॥

[२०५] ४४ ए-बी. मुनि के लिए बोधिलभ्य है, पूर्व नहीं, क्योंकि मुनि ३४ क्षण में बोधि-जय करते हैं[1]।

बुद्ध निरोध-समापत्ति का लाभ बुद्ध होने के क्षण में अर्थात् क्षयज्ञान (६.६७) काल में करते हैं। बुद्धों का कोई प्रायोगिक कुशल नहीं है। उनके सब कुशल वैराग्य से प्रति-

---

[1] यह 'अपर पर्याय वेदनीय' है यदि आर्य कामधातु में निरोध-समापत्ति का उत्पाद करता है जिसका फल भवाग्रोत्पत्ति है किन्तु रूपधातु में उपपन्न होकर कालान्तर में भवाग्र का लाभ कर भवाग्र में उपपन्न होता है। [व्या १६१.१]

[2] यह समापत्ति भवाग्रभूमिक है जहां रूप का अभाव होता है। पृथग्जनों का विश्वास है कि इन अवस्थाओं में चित्त-चैत्त का निरोध उच्छेद है। असंज्ञि-समापत्ति के विषय में उनको उच्छेद-भय नहीं होता क्योंकि वह चतुर्थध्यानभूमिक है जहां रूप का सद्भाव है। वास्तव में निरोध-समापत्ति में निकायसभाग, जीवितेन्द्रियादि चित्तविप्रयुक्त संस्कार होते हैं किन्तु पृथग्जनों के लिये विप्रयुक्त अदृश्य हैं। [व्या १६१.८]

[3] दृष्टनिर्वाणस्य तदधिमुक्तितः [व्या १६१.१९]—पाठभेद है जिसका अनुसरण चीनी अनुवादक करते हैं, दृष्टधर्मनिर्वाणस्य. . .अर्थात् "आर्य इस समापत्ति के द्वारा, इस समापत्ति में, दृष्टधर्म में ही निर्वाण का लाभ चाहता है।" : दृष्टधर्मनिर्वाणस्य तदधिमुक्तितः [व्या १६१.१५]। दृष्टे जन्मनि निर्वाणं दृष्टधर्मनिर्वाणम्। तस्य तदधिमुक्तितः। तदित्यधिमुक्तिस्तदधिमुक्तिः। तेन वाऽधिमुक्तिस्तदधिमुक्तिः। तदधिमुक्तेस्तदधिमुक्तितः। दृष्टे जन्मन्येतन्निर्वाणमित्यार्यस्तमधिमुच्यते।

[1] बोधिलभ्या मुनेर् [न प्राक् चतुस्त्रिंशत्क्षणाप्तितः।] [व्या १६१.३१] ६.२४ ए-बी. देखिये—कथावत्थु, १.५, १८.५ से तुलना कीजिये।

लब्ध होते हैं : ज्यों ही उनका छन्द होता है उनकी इच्छामात्र से ही गुण-समूह उद्भूत होते हैं [२]।

यह कैसे है कि भगवत् पूर्व निरोध-समापत्ति का बिना उत्पाद किये क्षयज्ञान काल में 'उभयतो-भागविमुक्त' होते हैं अर्थात् क्लेशावरण और समापत्त्यावरण (६.६४) से विमुक्त होते हैं ?

वह 'उभयतोभागविमुक्त' होते हैं मानों उन्होंने पूर्व ही इस समापत्ति का उत्पाद किया हो क्योंकि इसमें उनका वशित्व है, उसके सम्मुखीकरण की सामर्थ्य है (विभाषा, १५३.१०)।

पाश्चात्यों[३] का मत है कि शैक्षावस्था में बोधिसत्व पहले ही इस समापत्ति का उत्पाद करते हैं और पश्चात् बोधि का लाभ करते हैं। इस मत को क्यों नहीं स्वीकार करते ?

यह स्थविर उपगुप्त के नेत्रीपदशास्त्र के इस वाक्य के अनुकूल होगा : "जो निरोध-समापत्ति का उत्पाद कर क्षयज्ञान का उत्पाद करता है उसको तथागत कहना चाहिये[४]।"

काश्मीर वैभाषिक इसका प्रतिषेध करते हैं कि बोधिसत्व क्षयज्ञान के उत्पाद के पूर्व निरोध-समापत्ति का उत्पाद करता है।

[२०६] निकाय वास्तव में स्वीकार करता है (विभाषा १५३, १०-११) कि बोधिसत्व ३४ क्षण में सत्याभिसमय (६.२७) के १६ चित्त-क्षणों में और भवाग्र-(= नैवसंज्ञानासंज्ञायतन) वैराग्य के १८ क्षणों में अर्थात् ९ प्रकार के भावाग्रिक क्लेशों के प्रहाण के लिये ९ आनन्तर्यमार्ग और ९ विमुक्तिमार्ग (६.४४) में बोधि का लाभ करता है। १८ वाँ क्षण क्षयज्ञान है। —यह ३४ क्षण पर्याप्त हैं क्योंकि 'सत्याभिसमय' में प्रवेश करने के पूर्व बोधिसत्व पृथग्जनत्व की अवस्था में (३.४१) लौकिक मार्ग द्वारा भवाग्र से अन्य सर्व भूमियों से विरक्त हो चुका है, उसे अधोभूमिक क्लेशों का पुनः प्रहाण नहीं करना है।—१८ क्षणों का एक मार्ग है जिसमें आर्य भिन्न स्वभाव का चित्त अर्थात् लौकिक, सास्रव चित्त उत्पन्न नहीं करता यथा निरोध-समापत्ति में समापन्न होने का चित्त। अतः बोधिसत्व शैक्षावस्था में अर्थात् अर्हत् होने के पूर्व सत्याभिसमय और भवाग्र-वैराग्य के १८ वें क्षण के मध्य में निरोध-समापत्ति का उत्पाद नहीं करता।

बहिर्देशक[१] कहते हैं : इसमें क्या दोष है यदि बोधिसत्व इस सास्रवचित्त का उत्पाद करते हैं ?

---

[२] व्याख्या स्तोत्रकार मातृचेट का एक श्लोक उद्धृत करती है (वर्णनार्हवर्णन, ११८ : एफ० डब्ल्यू० टामस, इण्डियन एण्टिक्वेरी, जिल्द ३२, पृ० ३४५) : न ते प्रायोगिकं किंचित् कुशलं कुशलानुग। [व्या १६२.५] दो पाद नामसंगीति में उद्धृत हैं—व्यवसायद्वितीयेन प्राप्तं पदमनुत्तरम्।

[३] जापानी संपादक कोश की प्राचीन टीकाओं में दिये विविध अर्थ उद्धृत करते हैं : 'पाश्चात्य' गान्धार के सर्वास्तिवादी या सौत्रान्तिक या इन्दु देश के आचार्य हैं। यह पाश्चात्य कहलाते हैं क्योंकि कश्मीर मण्डल से पश्चिम के हैं। यह बहिर्देशक कहलाते हैं क्योंकि कश्मीर के बाहर के हैं।—नीचे, पृ० २०६, एन० १ देखिये।

[४] निरोधसमापत्तिमुत्पाद्य क्षयज्ञानमुत्पादयतीति वक्तव्यं तथागत इति [व्या १६२.१९]।

[१] इन्दु देश के आचार्यों का वही मत है जो पाश्चात्यों का है। ६. १७६ देखिये।

इस पक्ष में बोधिसत्व व्युत्थानाशय होता है (व्युत्थानाशयः स्यात् [व्या० १६३.१][२]) किन्तु बोधिसत्व व्युत्थानाशय नहीं होता ।

सत्य ही वह अव्युत्थानाशय है किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि एक सास्रव-चित्त के सम्मुखी-करण के लिये वह अनास्रव मार्ग का व्युत्थान नहीं करता ।

इस विकल्प में वह कैसे अपने आशय का व्युत्थान नहीं करेगा ?

उसका यह प्रणिधान है (मध्यमागम, ५६, ६) कि "मैं इस उत्कुटुकासन[३] का परित्याग न करूँगा जब तक सर्व क्लेश के क्षय का मैं लाभ न करूँ।"—किन्तु वह इस आशय का उल्लंघन [२०७] नहीं करता क्योंकि एक ही आसन में (६.२४ ए-बी) वह अपने उद्देश्य का सम्मुखी-भाव करता है[१] ।

यद्यपि असंज्ञि-समापत्ति और निरोध-समापत्ति में बहुप्रकार के विशेष हैं तथापि इनमें यह साम्य है :

४४ सी. किन्तु यह दो समापत्ति काम और रूपाश्रय में होती हैं[२] ।

इसका प्रतिषेध करना कि असंज्ञि-समापत्ति का उत्पाद रूपधातुमें होता है मूलशास्त्र[३] का विरोध करना है। "एक रूपभव है जो पंचस्कन्धक[४] नहीं है अर्थात् (१) रूपावचर संज्ञि

---

[२] व्युत्थानाशय [व्या १६३.१]=व्युत्थानाभिप्राय "ऐसा अभिप्राय रखना जिसका व्युत्थान, त्याग हो सके ।" एक दूसरा अर्थ : आशय=कुशल=कुशलमूल । अतः "ऐसे कुशलमूलों का होना जिनका व्युत्थान, समुच्छेद हो सके ।" किन्तु बोधिसत्व के कुशलमूल ऐसे होते हैं कि यदि एक बार उनका संमुखीभाव आरंभ होता है तो सम्यक्संबोधि की प्राप्ति के पूर्व उनका व्युत्थान नहीं होता ।
'व्युत्थान' का अर्थ 'समापत्ति से उठना' भी है (संयुत्त, ३.२६५ इत्यादि)

[३] विभाषा, १६, १६ : "सब आसन शुभ हैं। बोधिसत्व उत्कुटुकासन का क्यों ग्रहण करते हैं ?"

[१] शुआन् चाङ्ग में इतना अधिक है : "प्रथमवाद सुष्ठु है क्योंकि यह हमारा सिद्धांत है ।"

[२] कामरूपाश्रये तूभे [व्या १६३.१४]
विभाषा, १५२, २—तीन मत : केवल कामधातु में, तीन अधर ध्यानों में भी, चतुर्थ ध्यान में भी ।
विभाषा के अनुसार निरोध-समापत्ति सात अहोरात्र से अधिक नहीं रह सकती ।

[३] ज्ञानप्रस्थान, १९, १७ में चतुर्विध प्रश्न है : क्या ऐसा रूपभव है जो पंचस्कन्धक नहीं है ? क्या ऐसा भव है जिसमें पंचस्कन्ध हों और वह रूपधातु के न हों ? क्या ऐसा रूपभव है जो पंचस्कन्धक है ? क्या ऐसा भव है जो रूपभव नहीं है और जो पंचस्कन्धक नहीं है ?

[४] ज्ञानप्रस्थान और कोश में 'स्कन्ध' शब्द का प्रयोग नहीं है किन्तु एक पर्यायवाची शब्द का व्यवहार है। व्याख्या की हस्तलिखित पोथियों में इस पर्याय के व्यवकार और व्यवचार यह दोनों रूप पाये जाते हैं।—शुआन्-चाङ्ग का चीनी अनुवाद 'हिंग' है जिसके लिये संस्कृत शब्द संस्कार, विहरण आदि है। परमार्थ का अनुवाद 'पान' है जो संस्कृत में नीति, नय है। पालि के अनुसार 'व्यवकार' पाठ निश्चित मालूम पड़ता है ।
ए. पालि—वोकार=खन्ध (चाइल्डर्स); विभंग, १३७ : सञ्ञाभवो असञ्ञाभवो नेव-सञ्ञानासञ्ञाभवो एकावोकारभवो चतुवोकारभवो पंचवोकारभवो; यमक, कथावत्थु, अनुवाद, पृ० ३८ के अनुसार : कथावत्थु, ३.११ : क्या असंज्ञिसत्व के भव में एक

[२०८] देवों का भव जो असंज्ञि-समापत्ति या निरोध-समापत्ति में समापन्न होते हैं,[1] (२) रूपावचर असंज्ञि देवों का भव जिन्होंने आसंज्ञिक का प्रतिलाभ किया है ।"

इस वचन से यह सिद्ध होता है कि कामावचर और रूपावचर सत्व इन दो समापत्तियों की भावना करते हैं ।

दो समापत्तियों में यह विशेष सदा होता है ।

४४ डी. निरोध-समापत्ति प्रथम मनुष्यों में[2] ।

जिस आश्रय ने असंज्ञि-समापत्ति का कभी उत्पाद नहीं किया है वह इस समापत्ति को कामधातु या रूपधातु में उत्पन्न कर सकता है । किन्तु निरोध-समापत्ति के प्रथम उत्पाद के लिये इस आश्रय को अवश्य मनुष्य होना चाहिये । एक मनुष्य, एक आर्य जिसने इस समापत्ति का उत्पाद किया है प्राप्ति-त्याग से वहाँ से परिहीण हो सकता है । वह रूपधातु में पश्चात् उत्पन्न हो सकता है और वहाँ पुनः इस समापत्ति का उत्पाद कर सकता है ।

किन्तु प्रश्न है कि क्या निर्वाणसदृश निरोध-समापत्ति से परिहाणि होती है ।

वैभाषिक कहते हैं—हाँ, परिहाणि का निषेध करना उदायिसूत्र[3] का विरोध करना है "आयुष्मन् ! एक भिक्षु शील-सम्पन्न, समाधि-सम्पन्न, और प्रज्ञा-सम्पन्न होता है । वह संज्ञा-

---

वोकार होता है या पांच वोकार । (बुद्धघोस का निरूपण : विविधेन विसुं विसुं करीयति) ।
बी. व्याख्या—काश्यप तथागत की स्कंधों के लिये संज्ञा व्यवकार है—व्यवकार (विशेषणावकार) का अर्थ पाणिनि, ५.२.१२७ के अनुसार सव्यवकार है; अतः—'जो अपनी अनित्यता से, अन्यथाभाव से, विसंवादिनी है ।' यह लक्षण इस श्लोक के अनुसार स्कन्धों में घटित होता है : "रूप फेनपिंडोपम है. . .।" [व्या १६३.२७—३१] व्यवकार के स्थान में वहाँ व्यवचार पाठ है (संयुत्त, ३.१४२) ।
सी. विभाषा, १९२, ४—पूर्व तथागत सम्यक्सम्बुद्ध स्कन्धों को व्यवकार की संज्ञा देते हैं किन्तु तथागत सम्यक्संबुद्ध शाक्यमुनि व्यवकारों को स्कंध की संज्ञा देते हैं । पूर्व तथागत ५ व्यवकारों का वर्णन करते हैं; शाक्यमुनि ५ उपादानस्कन्धों का वर्णन करते हैं । यहाँ अभिधर्म में 'सपंचव्यवकार' भव का उल्लेख यह दिखाने के लिये है कि ५ स्कन्ध जिनका वर्णन शाक्यमुनि करते हैं पूर्वबुद्धों के ५ व्यवकार हैं ।—पूर्वबुद्ध व्यवकार आख्या का क्यों प्रयोग करते हैं जब कि प्रत्युत्पन्न बुद्ध स्कन्ध आख्या का प्रयोग करते हैं ? क्योंकि बुद्ध जानते हैं कि विनेयजन को क्या उपयुक्त है. . .। व्यवकार शब्द क्यों है ? प्रवृत्तिवश (संचार ?) : पूर्वोत्पन्न स्कन्ध पश्चादुत्पन्न स्कन्धों के कारण वृद्धि को प्राप्त होते हैं अथवा पश्च दुत्पन्न स्कन्ध पूर्वस्कन्धों के कारण वृद्धि को प्राप्त होते हैं. . .

[1] यह सत्व जो स्वभाव से संज्ञी हैं विसभागचित्त में स्थित होते हैं जब वह इन दो समापत्तियों में से किसी एक में समापन्न हो असंज्ञि होते हैं । उदायिसूत्र, ८. १४०, सिद्धि, ४०७ ।

[2] निरोधः प्रथमं नृषु ॥

[3] इस सूत्र का उपदेश शारिपुत्र ने किया है । इस सूत्र का नाम उदायिसूत्र है क्योंकि शारिपुत्र का विबंधक उदायि है । संस्कृत रूपान्तर पालि पाठ के अत्यंत समीप है ।—मध्यमागम ५, ४ और अंगुत्तर, ३.१९२ ।
श्रावस्त्यां निदानम् । तत्रायुष्मान् शारिपुत्रो भिक्षूनामन्त्रयते स्म । इहायुष्मन्तो भिक्षुः

[२०९] वेदितनिरोध-समापत्ति में अभीक्ष्ण समापन्न होता है और उससे व्युत्थान करता है। इसका स्थान है। यदि दृष्टधर्म में वह पूर्वमेव आज्ञा[1] तक नहीं पहुँचता और मरणकाल में भी नहीं तो काय के भेद के अनन्तर कवडीकारभक्ष देवों का अतिक्रमण कर वह किसी दिव्य मनोमय काय में उत्पन्न होता है। वहाँ उपपन्न हो वह संज्ञावेदितनिरोध-समापत्ति में अभीक्ष्ण समापन्न होता है और उससे व्युत्थान करता है। इसका स्थान है।"

यह सूत्र वस्तुतः प्रदर्शित करता है कि निरोध-समापत्ति से परिहाणि होती है।

एक ओर जिस मनोमय काय का वर्णन शारिपुत्र करते हैं उसे बुद्ध रूपावचर[2] बताते हैं। दूसरी ओर निरोध-समापत्ति भावाग्रिकी है जो आरूप्यधातु का सर्वोच्च स्थान है। जो भिक्षु इसका लाभी (तल्लाभिन्) होता है उसकी उपपत्ति रूपधातु में नहीं होती यदि उसकी वहाँ से परिहाणि नहीं होती, यदि वह उसका त्याग नहीं करता[3]।

[२१०] एक दूसरे निकाय[1] के अनुसार निरोध-समापत्ति चतुर्थध्यानभूमिक भी है और इसकी परिहाणि नहीं होती।

शीलसम्पन्नश्च भवति समाधिसम्पन्नश्च प्रज्ञासम्पन्नश्च। सोऽभीक्ष्णं संज्ञावेदितनिरोधं समापद्यते च व्युत्तिष्ठते च। अस्ति चैतत् स्थानम् इति यथाभूतं प्रजानाति। स नेहैव दृष्ट एव धर्मे प्रतिपत्त्यैव आज्ञामाराधयति नापि मरणसमये भेदाच्च कायस्यातिक्रम्य देवान् कवडीकारभक्षान् अन्यतमस्मिन् दिव्ये मनोमये काय उपपद्यते। स तत्रोपपन्नो....[व्या १६४.१२]

व्याख्या : प्रतिपत्त्यैव=पूर्वमेव [व्या० १५६.२८ में प्रतिपद्येव पाठ है।]

इस सूत्र का विचार ८.३ सी. में किया गया है (आरूप्यधातु में रूप-सद्भाव का वाद)—दीघ, १.१९५ से तुलना कीजिये।

[1] आज्ञामाराधयति, [व्या १६४.१६] यथा महावस्तु, ३.५३.९ में है।—परमार्थ : "वह आज्ञातावीन्द्रिय का लाभ नहीं करता।" शुआन्-चाङः "वह अर्हत्व के लाभ के लिये यथोचित प्रयोग नहीं करता......।"

[2] उसे मनोमय कहते हैं क्योंकि शुक्र-शोणित के बिना उसका प्रादुर्भाव होता है किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि वह संज्ञामय काय है (दीघ, १. १९५) और आरूप्यावचर है जैसा उदायि का मत था।
महावस्तु के बोधिसत्व के 'मनोमय काय' पर 'ओपिनियन्स ऑन हिस्ट्री आफ़ दि डाग्मा' पृ० २५८ देखिये।

[3] जापानी संपादक की टिप्पणी : १ मनोमय काय के देव जिनका सूत्र में उल्लेख है (ए) सर्वास्तिवादिन् के लिये (यही मत दीघ, १.१९५ में है) रूपधातु के हैं; (बी) सौत्रान्तिक के लिये रूपधातु और आरूप्यधातु के हैं, (सी) उदायिन् के लिये असंज्ञिसत्व हैं।—
२. सर्वास्तिवादिन् के अनुसार निरोधसमापत्ति से परिहाणि, सौत्रान्तिक और उदायिन् के अनुसार परिहाणि नहीं।
किन्तु व्याख्या के अनुसार सौत्रान्तिक समापत्ति-परिहाणि मानते हैं। वह सदा इसका प्रतिषेध करते हैं कि आर्य को आर्यमार्ग से परिहाणि होती है (यह सर्वास्तिवादिन् के विरुद्ध है)। अतः व्याख्या को कठिनाइयों का समाधान करना पड़ता है। [व्या १६६.२]

[1] फू-कुआंग के अनुसार महासांघिक आदि।

यह मत अयुक्त है। यह समापत्ति चतुर्थध्यानभूमिक नहीं है क्योंकि सूत्र की शिक्षा है कि योगी ९ अनुपूर्व समापत्ति का लाभ करता है[२]।

अतः व्युत्क्रान्तक (८.१८ सी) नामक समापत्ति का जिसमें योगी समापत्ति की विविध अवस्थाओं का उल्लंघन करता है कैसे व्याख्यान करें ?

अनुपूर्व समापत्ति के उत्पाद का नियम प्राथमकल्पिक[3] के प्रति है। जिसने वशित्व का लाभ किया है वह इच्छानुसार समापत्तियों का उल्लंघन करता है।

अतः दो समापत्तियों में विशेष है।

१. भूमितः। प्रथम चतुर्थध्यानभूमिक है, द्वितीय भावाग्रिकी है (नैवसंज्ञानासंज्ञायतन);

२. प्रयोगतः। प्रथम मिथ्यारूप से आसंज्ञिक को मोक्ष समझ कर निःसरण संज्ञा से प्रवृत्त होता है, द्वितीय शान्तविहार की संज्ञा से प्रवृत्त होता है;

३. सन्तानतः। प्रथम का उत्पाद पृथग्जन में होता है, द्वितीय का आर्य में;

४. विपाकस्वभावतः। प्रथम असंज्ञि-सत्वों में उपपत्ति का उत्पादन करता है, द्वितीय भवाग्रोपपत्ति का उत्पाद करता है (कथावत्थु, १५.१०);

५. विपाकप्रकारतः। प्रथम का विपाक नियतवेदनीय है, उपपद्यवेदनीय है। द्वितीय का विपाक अनागामी के लिये नियतवेदनीय है, अर्हत् के लिये अनियतवेदनीय है। यदि विपाक होता है तो यह उपपद्यवेदनीय या अपरपर्यायवेदनीय होता है;

[२११] ६. प्रथमोत्पादनतः। प्रथम का उत्पाद दो धातुओं में से किसी में होता है, द्वितीय का केवल मनुष्यों में।

इन दो समापत्तियों का साधर्म्य इसमें है कि दोनों का स्वभाव सर्व चित्त-चैत्त का निरोध है (चित्तचैत्तानां निरोधः)। प्रथम को 'असंज्ञि-समापत्ति' और दूसरे को 'संज्ञावेदितनिरोध-समापत्ति' क्यों कहते हैं ?

क्योंकि प्रथम समापत्ति का प्रयोग केवल संज्ञा[१] के प्रतिकूल है और द्वितीय का प्रयोग केवल संज्ञा और वेदना के प्रतिकूल है। परचित्तज्ञानवचनवत्। यथा परचित्तज्ञान (७.५ बी) दूसरे के चैत्तों को आलम्बन बनाता है, किन्तु इसका नाम संक्षिप्त है क्योंकि इसका प्रयोग केवल पर-चित्त को लक्ष्य करता है[२]।

---

[२] दीर्घ, १७, ११; दीघ, ३.२६६; महाव्युत्पत्ति, ६८, ७ : नवानुपूर्वसमापत्तयः [व्या० १६६.९] : चार ध्यान, चार आरूप्य और निरोधसमापत्ति।

[३] प्राथमकल्पिकः = आदितः समापत्तिविधायकः [व्या १६६.१०]

[१] असंज्ञि-समापत्ति का प्रयोग इस प्रकार है : संज्ञा रोग है, संज्ञा शल्य है, संज्ञा गण्ड है; संज्ञानिरोध शान्त है, प्रणीत है।"

[२] प्रयोग में यह प्रणिधान होता है : "मैं परचित्त को जानूंगा।"

दोनों समापत्तियों में चित्त बहुकाल के लिये निरुद्ध होता है[3] । समापत्ति-व्युत्थान के समय बहुकालनिरुद्ध चित्त से एक अन्य चित्त का कैसे उत्पाद होता है[४] ?

वैभाषिक मत से कोई कठिनाई नहीं है : अतीत धर्मों का अस्तित्व है (५.२५) । अतः समापत्ति से पूर्व का चित्त, समापत्ति-चित्त, समापत्ति से पश्चात् के चित्त का, व्युत्थान-चित्त का समनन्तरप्रत्यय (२.६२) होता है (विभाषा , १५२, १०) ।

[२१२] सौत्रान्तिकों की यह युक्ति है । जब एक सत्व आरूप्यधातु में उपपन्न होता है तब रूप एक दीर्घकाल के लिये (३.८१ बी) समुच्छिन्न होता है : यदि पश्चात् यह सत्व पुनः कामधातु या रूपधातु में उपपन्न होता है तो इसका नवीन रूप बहुकाल-निरुद्ध रूप-सन्तति से संजात नहीं होता किन्तु चित्त से ही होता है । यथा व्युत्थानचित्त का हेतु समापत्ति से पूर्व का चित्त नहीं होता: यह सेन्द्रियकाय से उत्पन्न होता है । इसीलिये पूर्वाचार्य कहते हैं कि "दो धर्म अन्योन्यबीजक हैं : यह दो धर्म चित्त और सेन्द्रियकाय हैं ।"

परिपृच्छाशास्त्र[१] में स्थविर वसुमित्र कहते हैं : जो निरोध-समापत्ति को अचित्तक मानते हैं उन्हीं के लिय यह दोष है कि किस प्रकार समापत्ति के अनन्तर चित्त की उत्पत्ति होती है। किन्तु मेरा मत है कि यह समापत्ति एक सूक्ष्म चित्त से सहगत होती है। मेरे लिये इसमें दोष नहीं है[२] ।

भदन्त घोषक इस मत को दूषित मानते हैं। वास्तव में यदि कोई विज्ञान इस समापत्ति में होता है तो विज्ञान, इन्द्रिय और विषय इस त्रिक के सन्निपात से वहाँ संस्पर्श होना चाहिये; संस्पर्श-वश वहाँ वेदना और संज्ञा (३.३० बी) होगी । यथा भगवत् का उपदेश है : "मन-इन्द्रिय और धर्मों के कारण मनोविज्ञान की उत्पत्ति होती है; त्रिकसन्निपात, संस्पर्श; वेदना, संज्ञा, चेतना

---

[3] सिद्धांत-भेद है। वैभाषिकादि के मत से यह २ समापत्ति और आसंज्ञिक अचित्तक हैं (अचित्तकान्येव...[व्या १६७.५]); स्थविर वसुमित्रादि के अनुसार वह अपरिस्फुट मनोविज्ञानवश सचित्तक हैं; योगाचार के अनुसार आलयविज्ञानवश वह सचित्तक हैं। (व्याख्या)

[४] यह प्रश्न सौत्रान्तिकों का है । उनके अनुसार समनन्तरनिरुद्ध और बहुकालनिरुद्ध चित्त का समान रूप से अभाव है : सदा समनन्तरनिरुद्ध चित्त से चित्तान्तर उत्पन्न होता है : तुलादण्डोन्नामावनामवत् [व्या० १६७.१३] (बोधिचर्यावतार, ४८३. ३ में शालिस्तम्ब से तुलना कीजिये) ।

[१] आचार्य शास्त्र के नाम का उल्लेख करते हैं क्योंकि वसुमित्र ने (इनके नाम के पूर्व कभी स्थविर और कभी भदन्त आता है) पंचवस्तुक आदि अन्य शास्त्रों की रचना की है [व्या १६७.२२] ।—धर्मत्रात की लिखी पंचवस्तुक की एक टीका है, नैञ्जियो १२८३; जापानी संपादक सूचित करते हैं कि यह विभाषा के वसुमित्र नहीं हैं किन्तु कोई सौत्रान्तिक हैं ।—(पू-कुआंग २६, १० देखिये) । सिद्धि, २११—सौत्रान्तिक निकायों पर ।

[२] विभाषा, २५२, ४ : "दार्ष्टान्तिक और विभज्यवादिन् का मत है कि निरोध-समापत्ति में एक सूक्ष्म चित्त का उच्छेद नहीं होता । वह कहते हैं कि "कोई ऐसे सत्व नहीं हैं जो अचित्तक और अरूपक दोनों हों; कोई ऐसा समाहित नहीं है जो अचित्तक हो। यदि समाहित अचित्तक होता तो जीवितेन्द्रिय का समुच्छेद होता । उसको कहते कि नहीं है : समाधिस्थ है किन्तु मत है ।"

का सहोत्पाद होता है[3] ।" अतः यदि यह स्वीकार किया जाय कि इस समापत्ति में विज्ञान [२१३] (चित्त) रहता है तो वेदना और संज्ञा का निरोध नहीं होगा। किन्तु इस समापत्ति को संज्ञा- वेदितनिरोध कहते हैं।

वसुमित्र उत्तर देते हैं—सूत्र-वचन है कि "वेदनाप्रत्ययवश तृष्णा होती है" किन्तु यद्यपि अर्हत् वेदना का अनुभव करते हैं तथापि अर्हत् में तृष्णा नहीं उत्पन्न होती। उसी प्रकार यहाँ भी : सब संस्पर्श वेदनाप्रत्यय नहीं हैं।

यह युक्ति कुछ सिद्ध नहीं करती। वास्तव में सूत्र में यह विशेष है कि "अविद्यासंहित संस्पर्श से उत्पन्न वेदना के कारण तृष्णा की उत्पत्ति होती है" (३.२७)[1] किन्तु सूत्र कहता है कि "संस्पर्श-वश वेदना उत्पन्न होती है।" वेदनोत्पत्ति में स्पर्श को विशेषित नहीं किया है। अतः वैभाषिक कहते हैं कि निरोधसमापत्ति में चित्त का निरोध होता है।

वसुमित्र : यदि यह समापत्ति सर्वथा अचित्तिका है तो अचित्तिका का समापत्तित्व कैसे है?

उसे समापत्ति कहते हैं क्योंकि वह महाभूतों का समतापादन[2] करती है, चित्तोत्पत्ति-प्रातिकूल्य का समवस्थान करती है अथवा क्योंकि योगी चित्त-बल से वहाँ समागमन करते हैं (समागच्छन्ति, समापद्यन्ते)। इस कारण ध्यानादि का भी समापत्तित्व होता है।

क्या इन दो समापत्तियों का द्रव्यतः (स्वलक्षणतः) अवधारण करना चाहिये?

सर्वास्तिवादिन् का उत्तर है—हाँ, क्योंकि यह चित्तोत्पत्ति में प्रतिबन्ध हैं (चित्तोत्पत्ति-प्रतिबन्धनात्)। [व्या० १६८.७]

[२१४] सौत्रान्तिक का उत्तर है कि नहीं। जिसे आप 'समापत्ति' कहते हैं यह वह नहीं है जो चित्तोत्पत्ति में प्रतिबन्ध है किन्तु यह 'समापत्ति-चित्त' है, वह चित्त जो समापत्ति-अवस्था के पूर्व का है : यह चित्त चित्तान्तर के विरुद्ध है; इसके कारण कालान्तर के लिये अन्य चित्तों का

---

[3] संयुक्तागम, २.८; संयुत्त, २.७२ और कोश, ३.३० बी में उद्धृत ग्रन्थों से तुलना कीजिये।

[1] संयुक्तागम, १२, १४; संयुत्त, ३.९६

[2] महाभूतसमतापादनम् [व्या १६८.१]—महाव्युत्पत्ति, ६८,९ में यह वाक्य आ गया है। विभाषा, १५४.१ : जो निरोधसमापत्ति में समापन्न होता है उसे अग्नि दग्ध नहीं कर सकती, जल उसे क्लिन्न नहीं कर सकता, क्षुर उसे छिन्न नहीं कर सकता, कोई उसका घात नहीं कर सकता, (संजीव, खाणु कोण्डञ्ञ के वस्तु से तुलना कीजिये : इनका उल्लेख विसुद्धि, १२. जे पी टी एस. १८९१, ११२ में है)। इस गुण से वह क्यों समन्वागत है? वसुमित्र कहते हैं : क्योंकि इस समापत्ति को आघात नहीं पहुँच सकता अतः जो इस समापत्ति में समापन्न होता है वह आहत नहीं हो सकता।—अन्यत्र : समापत्ति का अर्थ चित्त-समता का आपादन है। यहाँ जब चित्त हो नहीं है तो समापत्ति की कैसे बात हो सकती है?—समापत्ति दो प्रकार की है : एक जो चित्त-समता का आपादन करती है; दूसरी जो महभूत-समता का आपादन करती है। यद्यपि यह दो समापत्ति चित्त-समता का समुच्छेद करती हैं क्योंकि यह चित्त का निरोध करती हैं तथापि यह महाभत-समता का आपादान करती हैं। विभाषा. १५२, पृ० ७७५ भी।

उत्पाद नहीं होता। समापत्ति-चित्त के कारण चित्तविरुद्ध आश्रय[1] या सन्तान का आपादन होता है। जिसे 'समापत्ति' कहते हैं कि वह कालान्तर के लिये चित्त की अप्रवृत्तिमात्र है; यह द्रव्यधर्म नहीं है किन्तु एक 'प्रज्ञप्तिधर्म' है।

सर्वास्तिवादिन्—यदि समापत्ति द्रव्यधर्म नहीं है तो यह संस्कृत कैसे है ?

यह 'अप्रवृत्तिमात्र' समापत्ति-चित्त के पूर्व न था और उत्तर काल में व्युत्थित (व्युत्थान-चित्त) योगी के नहीं होता। अतः संव्यवहारतः उसे 'संस्कृत' प्रज्ञप्त करते हैं (प्रज्ञप्यते) क्योंकि इसका आदि-अन्त है।—अथवा जिसे हम 'समापत्ति' आख्या से प्रज्ञप्त करते हैं वह आश्रय का अवस्थाविशेष है जो समापत्ति-चित्त से जनित है।

इसी प्रकार आसंज्ञिक (२.४१ बी-सी) को जानना चाहिये। आसंज्ञिक एक द्रव्यान्तर नहीं है जो चित्तोत्पत्ति में प्रतिबन्ध है; इस आख्या से हम असंज्ञि देवों की असंज्ञावस्था को, चित्त के अप्रवृत्तिमात्र को प्रज्ञप्त करते हैं जो चित्त-विशेष-जनित अवस्था है।

वैभाषिक इस मत को स्वीकार नहीं करते। उनका मत है कि आसंज्ञिक और दो समापत्ति द्रव्यसत् है[2]।

जीवितेन्द्रिय क्या है ?

४५ ए. जीवित आयु है[3]।

[२१५] वास्तव में अभिधर्म[1] कहता है : "जीवितेन्द्रिय क्या है ?—त्रैधातुक आयु।"

आयुर्जीवितमाधार उष्मविज्ञानयोर्हि यः।
लक्षणानि पुनर्जातिर्जरा स्थितिरनित्यता ॥४५॥

आयु किस प्रकार का धर्म है ?

४५ ए-बी. उष्म और विज्ञान का आधार[2]।

क्योंकि भगवत् कहते हैं कि "जब आयु, उष्म और विज्ञान काय का परित्याग करते हैं तो अपविद्ध काय शयन करता है जैसे अचेतन काष्ठ[3]।"

---

[1] २.५-६ में आश्रय की व्याख्या हुई है; पृ० १८३ भी देखिये।

[2] शुआन् चाङ् का अनुवाद : "यह वाद सुष्ठु नहीं है क्योंकि यह हमारे सिद्धांत के विरुद्ध है।"—हम इतना अधिक कहते हैं : "वैभाषिक ऐसा कहते हैं।" ऊपर पृ० १९८, नोट २ देखिये।

[3] आयुर्जीवितम्
बुद्धघोस अभिधर्म के इस वाद को पुब्बसेलिय और सम्मितियों का बताते हैं : जीवितेन्द्रिय एक चित्तविप्पयुत्त अरूपधम्म है। कथावत्थु, ८.१०, काम्पेण्डियम पृ० १५६ देखिये; विभंग, पृ० १२३, धम्मसंगणि, १९, ६३५, अत्थसालिनी, ६४४ ए।

[1] ज्ञानप्रस्थान, १४, १९ (इन्द्रियस्कन्धक, १), प्रकरण, १४ बी ६; पृ० १७९।

[2] आधार उष्मविज्ञानयोर्हि यः।

[3] आयुरूष्माथ विज्ञानं यदा कायं जहत्यमी।
अपविद्धस्तदा शेते यथा काष्ठमचेतनः ॥
संयुक्त, २१, १४, मध्यम, ५८, ४, संयुत्त, ३.१४३ (विविध पाठ); मज्झिम, १.२९६ से तुलना कीजिये।—नीचे ४.७३ ए-बी में उद्धृत।
आयुः और उष्मन्, ३, १०७; ८, १३७; विभाषा, पृ० ७७१, कालम १

अतः एक पृथक् धर्म है जो उष्म और विज्ञान का आधार है, जो सन्तान की स्थिति का हेतु है और जिसे आयु कहते हैं[४]।

(१) सौत्रान्तिक जीवितेन्द्रिय (जीवित, आयु) के द्रव्यतः अस्तित्व का प्रतिषेध करते हैं।

१. सौत्रान्तिक--यदि आयु उष्म और विज्ञान का आधार है तो उसका कौन आधार है ?

वैभाषिक—इसका आधार उष्म और विज्ञान है।

सौत्रान्तिक—यदि आयु, उष्म और विज्ञान यह तीन धर्म एक दूसरे के आधार हैं और इस अन्योन्य आधार से सन्तान की प्रवृत्ति होती है तो इनका अन्त कैसे होगा ? कौन [२१६] पहले निरुद्ध होगा जिसके निरोध से अन्य का भी निरोध हो ? क्योंकि यदि इनमें से एक का निरोध पहले नहीं होता तो यह तीन धर्म नित्य होंगे और इनकी अनिवृत्ति का प्रसंग होगा।

वैभाषिक—आयु का आधार कर्म है; कर्म से आयु का आक्षेप हुआ है और आयु की स्थिति उतने काल के लिये होती है जितने काल के लिये कर्म का आक्षेप होता है।

सौत्रान्तिक—यदि ऐसा है तो क्यों नहीं स्वीकार करते कि उष्म और विज्ञान का आधार कर्म है और आयु का कोई प्रयोजन नहीं है।

वैभाषिक—जिसका कर्म आधार है वह विपाक-स्वभाव है। यदि विज्ञान का आधार कर्म होता तो गर्भावस्था से लेकर मरणपर्यन्त सर्व विज्ञान विपाक होता जो अयथार्थ है। अतः आयु जिसका आधार कर्म है उष्म और विज्ञान का अवश्य आधार है।

सौत्रान्तिक—अतः कहिये कि कर्म उष्म का आधार है और उष्म विज्ञान का आधार है। आयु निष्प्रयोजन है।

वैभाषिक—आयु आवश्यक है क्योंकि आरूप्यधातु में उष्म का अभाव है। यदि आयु न हो तो आरूप्यधातु में विज्ञान का क्या आधार हो ?

सौत्रान्तिक—आरूप्यधातु में विज्ञान का आधार कर्म है।

वैभाषिक—आपको क्या मत-परिवर्तन का अधिकार है ? कभी आप मानते हैं कि विज्ञान का आधार उष्म है, कभी कर्म को इसका आधार मानते हैं।[१] –पुनः आपने इसे स्वीकार कर लिया है : इस दोष के परिहार की आवश्यकता है कि गर्भावस्था से लेकर मरणपर्यन्त सर्व विज्ञान विपाक है। अतः आयु का अस्तित्व है और यह उष्म और विज्ञान का आधार है।

---

[४] विभाषा, १५१, ८: विभज्यवादिन् इस सूत्र को यह सिद्ध करने के लिये उद्धृत करते हैं कि यह तीन धर्म, आयु, उष्म और विज्ञान, सदा युगपत् होते हैं: इनका अविनिर्भाग है। किन्तु वसुमित्र का कहना है कि सूत्र आश्रय-सन्तान को लक्ष करता है. . . आयुसंस्कारस्कन्ध धर्मधातु, धर्मायतन में संगृहीत है; उष्म रूपस्कन्ध और स्प्रष्टव्यायतन में; विज्ञान विज्ञानस्कन्ध, सप्तधातु और मन आयतन में : अतः सूत्र का अक्षरार्थ नहीं लेना चाहिये। पुनः यदि यह तीन धर्म सदा युगपत् होते हैं तो आरूप्यधातु में उष्म होगा; असत्वाख्य में आयु और विज्ञान होंगे और असंज्ञिसमापत्ति में विज्ञान होगा।

[१] शुआन्-चाङ् : "हमने जो कहा है उसके अतिरिक्त—आपने क्या कहा है ?—इस दोष के परिहार के लिये. . ."।

२. सौत्रान्तिक—मैं आयु के अस्तित्व का प्रतिषध नहीं करता। मैं केवल इतना कहता हूँ कि आयु द्रव्य नहीं है।

वैभाषिक—अतः आयु नाम से प्रज्ञप्त धर्म क्या है ?

[२१७] सौत्रान्तिक–यह एक आवेध, सामर्थ्यविशेष है जिसे पूर्वजन्म का कर्म प्रतिसन्धि-क्षण में सत्व में आहित करता है। इस सामर्थ्यवश एक नियत काल के लिये निकाय-सभाग (२.४१) के स्कन्ध-प्रबन्ध का अवस्थान होता है। यथा बीज अंकुर में एक सामर्थ्य-विशेष आहित करता है जिससे पाककाल-पर्यन्त सस्य-सन्तान की स्थिति होती है। यथा क्षिप्त शर में एक सामर्थ्य-विशेष आहित होता है जिसके कारण एक काल तक उसके सन्तान की अनुवृत्ति, उसकी स्थिति होती है[1]।

वैशेषिक मत है कि शर में वेगाख्य-संस्कार नामक गुणविशेष उत्पन्न होता है। इस गण के बल से पतन-पर्यन्त शर का विना प्रतिरोध के गमन होता है।[2]

संस्कार का एकत्व है; दूसरी ओर शर के लिये प्रतिबन्धक का अभाव है : अतः शर की देशान्तर-प्राप्ति में शीघ्र-शीघ्रतर-शीघ्रतम ऐसा काल-भेद नहीं है[3]; पुनः शर का पतन नहीं होता। क्या आप कहेंगे कि वाय संस्कार में प्रतिबन्धक है ? जो वायु प्रतिबन्धक है वह अविशेष है, यथा समीप में है वैसे ही दूर में है। या तो शर के अर्वाक् पतन का प्रसंग होगा अथवा शर का कभी पतन न होगा।

वैभाषिकों का मत है कि आयु द्रव्यसत है[4]।

(२) मरण कैसे होता है ?

क्या केवल आयुःक्षय से मरण होता है ?

प्रज्ञप्तिशास्त्र[5] कहता है कि "ऐसा होता है कि एक सत्व आयुःक्षय से, बिना पुण्यक्षय के, [२१८] मृत होता है। चार कोटि हैं १. आयुर्विपाक कर्म के क्षय से मरण; २. भोगविपाक[6] कर्म के क्षय से मरण; ३. उभयक्षय से (उभयक्षयात्) मरण; ४. विषम के अपरिहार से मरण, यथा अत्यशन।"

---

[1] सस्यानां पाककालावेधवत् क्षिप्तेषु स्थितिकालावेधवच्च। [व्या १६५.५,७]

[2] वैशेषिकदर्शन, ५,१,.१६; एच० उइ, वैशेषिक फिलासफी, पृ० १६३—शर का दृष्टांत वैशेषिक के लिये महत्व नहीं रखता क्योंकि वह वेग को द्रव्य मानता है। अतः आचार्य वैशेषिकवाद का प्रतिषेध करते हैं।

[3] शीघ्रतरतमप्राप्तिकालभेदानुपपत्तिः [व्या १६९.२०]

[4] शुआन्-चाङ : "आयु एक द्रव्य है जो उष्म और विज्ञान का आधार है : यह वाद सुष्ठु है।" जापानी संपादक की टिप्पणी : आचार्य का मत सर्वास्तिवादियों का है—किन्तु यह मानना पड़ेगा कि शुआन्-चाङ इन शब्दों को छोड़ देते हैं : "वैभाषिक कहते हैं"..., क्योंकि पंचस्कन्धक में वसुबन्धु सौत्रान्तिकवाद को स्वीकार करते हैं।

[5] कर्मप्रज्ञप्तिशास्त्र, अध्याय ११ एम डी ओ ७२, फ़ोलियो २४० बी०

[6] कर्म के विविध फल पर ४. ८५ और आगे देखिए।—'भोग' पर योगसूत्र, २.१३

आयु : संस्कार के उत्सर्ग (२.१०) से भी मरण है[२]।

जब आयु क्षीण होती है तब भोगविपाक कर्म के क्षय का मरण में सामर्थ्य नहीं होता और अन्योन्य। अतः तृतीय कोटि को इस प्रकार समझना चाहिये : "उभयक्षय के होने पर मरण"।

(३) अकालमरण (३.८५ सी)

ज्ञानप्रस्थान (१५, १२) कहता है : "क्या आयु के विषय में यह कहना चाहिये कि यह 'सन्तानवर्ती' है अथवा यह कि 'सकृत् उत्पन्न होकर यह अवस्थान करती है' (सकृदुत्पन्नं तिष्ठति) ?—कामधातु के जो सत्व (असंज्ञि-समापत्ति, निरोध-समापत्ति) दो समापत्तियों में से किसी एक में भी समापन्न नहीं हैं उनकी आयु प्रथम प्रकार की है। कामधातु के जो सत्व इन दो समापत्तियों में समापन्न हैं उनकी और रूपधातु तथा आरूप्यधातु के सत्वों की आयु द्वितीय प्रकार की है।"

इस वचन का क्या अर्थ है ?

यदि आश्रय के उपघात से आयु का उपघात होता है तो यह आयु आश्रयसन्ततिप्रतिबद्ध है। यदि आश्रय का उपघात न होने से आयु की स्थिति उस काल तक होती है जिस काल के लिये उसका उत्पाद हुआ है तो कहते हैं कि सकृत् उत्पन्न हो आयु की स्थिति होती है[३]।

काश्मीर मत यह है कि प्रथम प्रकार की आयु सान्तराय है, द्वितीय प्रकार की निरन्तराय है। अतः अकालमरण होता है।[४]

---

२ परमार्थ में नहीं है। । ऊपर पृष्ठ १२२ देखिये।—विभाषा, २०, १५।

३ बहिर्देशकों का यह मत है—काश्मीर मत भी यही है, शब्दमात्र भिन्न है। अथवा इनका यह मत है कि प्रथम प्रकार की आयु 'स्वसन्तत्युपनिबद्ध' है किन्तु निरुद्ध हो सकती है। [व्या १७०.९] विभाषा, १५१, पृ० ७७१।

४ कथावत्थु, १७.२ के अनुसार राजगिरिक और सिद्धित्थिक अर्हत् की अकाल-मृत्यु का प्रतिषेध करते हैं (कोश, २.१०)—राकहिल (लाइफ आफ बुद्ध, पृष्ठ १८९) और वैजीलीफ, पृष्ठ २४४ के अनुसार प्रज्ञप्तिवादी अकाल-मृत्यु का प्रतिषेध करते हैं—बोधिचर्यावतार (२.५५) एक काल-मरण और शत अकाल-मृत्यु मानता है। इनमें से प्रत्येक मृत्यु वात-पित्त-श्लेष्मकृत और तत्संनिपातकृत होती है; इस प्रकार ४०४ मृत्यु होती हैं। (१) समुच्छेदमरण, अर्हत् की मृत्यु, (२) खणिकमरण, अनित्यताभक्षित धर्मों का निरन्तर अभाव और (३) सम्मुतिमरण, वृक्षादि के कारण मृत्यु इन तीन के अतिरिक्त अभिधम्म में हैं (१) कालमरण (ए) पुण्यक्षय से (पुञ्ञ), (बी) आयुक्षय से, (सी) उभयक्षय से; (२) अकालमरण उपच्छेदक कर्मवश (उपच्छेदककम्मणा), यथा दूसीमार, कलभू आदि, यथा पूर्वकृत कर्मविपाकवश] वध (विसुद्धिमग्ग, ८. वारेन, पृ० २५२; अंगुत्तर की अट्ठकथा, पी. टी. एस. पृ० १११; नेत्तिप्पकरण, पृष्ठ २९; मिलिन्द, पृ० ३०१)—अभिधम्मसंगह, काम्पेण्डियम पृ० १४९।
जैनमत, उमास्वाति, तत्वार्थाधिगमसूत्र, २.५२ : द्विविधान्यायुंसि...

[२१९] सूत्र में भी कहा है कि चार आत्मभाव-प्रतिलम्भ[1] हैं : वह आत्मभाव जिसका मारण अपने से होता है, पर से नहीं, इत्यादि[2]। चार कोटि हैं : १. आत्म-संचेतना : कामधातु के कुछ सत्व यथा क्रीड़ा-प्रदूषिकदेव और मनः-प्रदूषिकदेव[3] अपने हर्षातिरेक या क्रोधातिरेक से स्वयं आत्मभाव का मारण करते हैं । बुद्धों को भी गिनाना चाहिये क्योंकि उनकी स्वयं मृत्यु होती है, वह स्वयं निर्वाण में प्रवेश करते हैं। २. पर-संचेतनाः जरायुज और अण्डज । ३. आत्म-पर-संचेतना : प्रायेण कामधातु के सत्व । नारक, अन्तराभविक (३.१२) आदि का परिवर्जन करना चाहिये । ४. न आत्म-संचेतना और न पर-संचेतना : अन्तराभविक सत्व, रूपधातु और आरूप्यधातु के सब सत्व, कामधातु के सत्वों का एक भाग : नारक (३.८२), उत्तरकुरु के निवासी (३.७८ सी), दर्शनमार्गस्थ (६.२८), [२२०] मैत्रीभावनास्थ (८.२९), असंज्ञि-निरोध-समापत्तियों में समापन्न (२. ४२, कथा-वत्थु, १५.९), राजर्षि अर्थात् जिस चक्रवर्ती राजा ने प्रव्रज्या ली है, जिनदूत[1], जिनोद्दिष्ट[2]:

---

[1] अक्षरार्थ : आत्मभावप्रतिलम्भ—मज्झिम, ३.५३ में दो प्रकार वर्णित हैं : सब्यापज्झ और अब्यापज्झ ।

[2] दीघ, ३.२३१, अंगुत्तर, २.१५९ : अत्थावुसो अत्तभावपटिलाभो यस्मि अत्तभावपटिलाभे अत्तसंचेतना येव कमति नो परसंचेतना.....कोश, ६.५६ देखिये—व्याख्या : आत्म-संचेतना = आत्मना मारणम्; परसंचेतना = परेणमारणम् [व्या० १७०.१५] । ६ २५३, २५५, २६२ देखिये ।

[3] दीघ, १.१९, ३.३१—विभाषा, १९९, १५ । इसमें ऐकमत्य नहीं है कि यहाँ चातुर्महाराज और त्रयस्त्रिंश अथवा कामधातु के अन्य प्रकार के देव इष्ट हैं ।

[1] जिनदूत—यथा भगवत् ने आम्रपाली के पास एक शुक भेजा था । लिच्छवि योग्या कर रहे थे । उन्होंने उसे देखा और शरजाल से उसे ढक दिया । किन्तु जिनदूत जब तक दूतकृत्य संपादित नहीं करता तब तक उसका मारण नहीं हो सकता । [व्या १७०.२०]

[2] जिनोद्दिष्ट = इयन्तं कालमनेन जीवितव्यमिति य आदिष्टो भगवता । [व्या० १७०.२४ में जिनोद्दिष्ट के स्थान में जिनादिष्ट पाठ है ।]
कदाचित् यह अर्थ करना चाहिये : "जिनको बुद्ध यह जानते हुए आदेश देते हैं कि यह इतने काल तक जीवित रहेंगे ।" यश और जीवक पर एम० जे० प्रिजीलुस्की की जो टिप्पणियाँ हैं वह इस अर्थ को संभव बताती हैं ।
"महावग्ग, १.७ में §४ अत्यन्त दुरूह है । यश का आक्रोश है "यह क्या भय है ! किन्तु हम नहीं जानते कि किस भय का वह उल्लेख करता है । सर्वास्तिवाद विनय के समकक्ष परिच्छेद में यह स्पष्ट किया गया है : "तब यश नगर-द्वार को लाँघ कर वाराणसी की नदी के समीप पहुँचा । उस समय भगवत् इस नदी के तट पर चंक्रमण कर रहे थे । जल को देख-कर यश पूर्ववत् चिल्लाया । इसको सुनकर बुद्ध ने कुमार से कहा : इस स्थान में भय का कोई कारण नहीं है । स्रोत को पार करो और आओ ।" (टोक. १७, ३, २६ ए) ।
"सुभद्र की गर्भवती स्त्री (दिव्यावदान, २६२-२७० से तुलना कीजिये) पुत्रप्रसव के पूर्व मर जाती है; उसका शरीर जलाया जाता है किन्तु शिशु नहीं जलता । बुद्ध जीवक से कहते हैं कि जाओ और शिशु को प्रज्वलित अग्नि से निकाल लाओ । जीवक आदेश को मानते हैं और बिना किसी उपघात के वापिस आते हैं (१७.१, ६ ए)।"

धर्मिल[3], उत्तर[4], गंगिल[5], वणिक्पुत्र यशकुमार, जीवकादि, चरमभविक बोधिसत्व, बोधिसत्व की माता जब बोधिसत्व गर्भ में हैं, चक्रवर्तिन्, चक्रवर्तिमाता जब चक्रवर्तिन् गर्भ में हैं।

आक्षेप—सूत्र शारिपुत्र के एक प्रश्न का और भगवत् के दिये हुए विसर्जन का उल्लेख करता है : "भदन्त ! वह कौन सत्व हैं जिनके आत्मभाव-प्रतिलम्भ का मारण न अपने से होता है, न पर से ?"—"शारिपुत्र ! नैवसंज्ञानासंज्ञायतन में उपपन्न सत्व" अर्थात् आरूप्यधातु के सर्वोच्च स्थान भवाग्र में उपपन्न।—इस सूत्र के होते आप कैसे कह सकते हैं कि रूपधातु [२२१] और आरूप्यधातु के सब सत्वों के आत्मभाव-प्रतिलम्भ की आत्मसंचेतना और परसंचेतना दोनों नहीं होतीं ?

निकाय (विभाषा, १५१, १२) निरूपण करता है : रूपधातु के सत्व और आरूप्यधातु की प्रथम तीन भूमियों के सत्वों के आत्मभाव-प्रतिलम्भ की आत्मसंचेतना होती है अर्थात् स्वभूमिक मार्ग से उनका मारण होता है, परसंचेतना भी होती है अर्थात् उपरिभमि (६.४८, ८.२२) सामन्तक के मार्ग से उनका मारण होता है। किन्तु आरूप्यधातु के उच्चतम स्थान में स्वभूमिक आर्यमार्ग और उपरि भूमिक आर्यमार्ग दोनों नहीं होते। अतः वहाँ के सत्वों के आत्मभाव-प्रतिलम्भ की न आत्मसंचेतना होती है और न परसंचेतना।

हमको उत्तर दुर्बल प्रतीत होता है। वास्तव में आरूप्यधातु की अन्तिम भूमि में परभूमिक (आकिंचन्यायतन ८.२०) आर्यमार्ग का अभ्यास हो सकता है। अतः एक दूसरा व्याख्यान स्वीकार करना चाहिये (विभाषा, वही)। शारिपुत्रके प्रश्न के उत्तर में बुद्ध नैवसंज्ञानासंज्ञायतन के सत्वों का उल्लेख कर रूपधातु और आरूप्यधातु के सब सत्वों को प्रज्ञप्त करना चाहते हैं क्योंकि पर्यन्त के ग्रहण से उसके आदि का संप्रत्यय होता है। हम सिद्ध कर सकते हैं कि यह अन्यत्र भी देखा जाता है। कभी प्रवचन आदि से उसके पर्यन्त का ग्रहण करता है यथा "प्रथम सुखोपपत्ति (३.७२), तद्यथा ब्रह्मकायिक देव।" पर्यन्तग्रहण से "ब्रह्मकायिक, ब्रह्मपुरोहित, महाब्रह्म" प्रथम सुखोपपत्ति हैं। कभी प्रवचन पर्यन्त से उसके आदि का ग्रहण करता है : "द्वितीय सुखोपपत्ति, तद्यथा आभास्वर देव।" आदिग्रहण से "परीत्ताभ, अप्रमाणाभ और आभास्वर" द्वितीय सुखोपपत्ति हैं।

किन्तु इस व्याख्यान का विरोध हो सकता है। इन दो पूर्वोक्त वचनों में 'तद्यथा' शब्द पाया जाता है जो दृष्टान्तवाचक है। अनुवाद 'अर्थात्' न होना चाहिये किन्तु 'यथा' होना चाहिये। दृष्टान्तों का यह धर्म है कि उस प्रकार के एक का निर्देश करने से सर्व शेष का संप्रत्यय होता है। और हम यह स्वीकार करते हैं कि सुखोपपत्तियों पर जो दो वचन हैं उनमें प्रवचन आदि या पर्यन्त का निर्देश कर सूची की सब आख्याओं को प्रज्ञप्त करता है। किन्तु भगवत् ने शारिपुत्र को जो उत्तर दिया उसमें 'तद्यथा' शब्द नहीं है।

---

[3] व्याख्या का यह पाठ है—तिब्बती : चू लेन

[4] तिब्बती : म्छोग कैन

[5] चीनी भाषान्तर में गंजिल है; गंगिक की असफल आत्महत्या, अवदानशतक, ९८।

[२२२] हम कहते हैं कि 'तद्यथा' शब्द दृष्टान्तवाचक नहीं है। यह अनुपसंहार है क्योंकि हम इसका प्रयोग उन सूत्रों में भी देखते हैं जो पूर्ण सूची देते हैं : "नानात्वकाय, नानात्व-संज्ञी रूपी सत्व तद्यथा मनुष्य और एक देव..." (३.६)। अतः 'तद्यथा' शब्द उपदर्शनार्थ है। अतः भगवत् शारिपुत्र को दिये हुए अपने उत्तर में पर्यन्तग्रहण से उसके आदि का संप्रत्यय कराते हैं अर्थात् साकल्येन दो ऊर्ध्व धातुओं का उल्लेख करना चाहते हैं।[1]

संस्कृत धर्म (संस्कृतस्य) के क्या लक्षण हैं?

४५ सी-डी. लक्षण यह हैं—जाति, जरा, स्थिति, अनित्यता।[2]

यह चार धर्म—जाति, जरा, स्थिति, अनित्यता—संस्कृत के लक्षण हैं। जिस धर्म में यह लक्षण पाये जाते हैं वह संस्कृत है, जिसमें यह नहीं पाये जाते वह असंस्कृत है।[3]

जाति संस्कृतों का उत्पादन करती है (उत्पादयति); स्थिति उनकी स्थापना करती है (स्थापयति); जरा उनका ह्रास करती है; अनित्यता उनका विनाश करती है।

[२२३] संस्कृत के ३ 'संस्कृत लक्षणों' की शिक्षा क्या सूत्र में नहीं है? वास्तव में सूत्र में उक्त है : हे भिक्षुओ! संस्कृत के यह तीन संस्कृत लक्षण हैं। यह तीन क्या हैं? संस्कृत का उत्पाद प्रज्ञात होता है, व्यय भी प्रज्ञात होता है और उसका स्थित्यन्यथात्व भी प्रज्ञात होता है।"[1]

वैभाषिक—सूत्र को चतुर्थ लक्षण भी कहना चाहिये था। जो लक्षण सूत्र में उक्त नहीं है वह 'स्थिति' है। सच तो यह है कि स्थित्यन्यथात्व समासान्त पद में 'स्थिति' शब्द का इसने प्रयोग

---

[1] भगवत् के विसर्जन में 'तद्यथा' शब्द का न होना यह नहीं सिद्ध करता कि इस विसर्जन का अक्षरार्थ लेना चाहिये।

[2] [लक्षणानि....जातिर्जरास्थितिरनित्यता]॥
तिब्बती भाषान्तर : लक्षणान्येव।
परमार्थ : "पुनः संस्कृत के लक्षण हैं...."
शुआन-चाङ् : "लक्षण अर्थात् संस्कृत की जाति, स्थिति, जरा, अनित्यता।"
विभाषा, ३८,१२; अभिधर्महृदय (नैञ्जियो, १२८८), २.१०
१.७ ए-बी में संस्कृत का तात्कालिक लक्षण बताया गया है।
लक्षणानिपुनर्जातिः....मध्यमकवृत्ति, ५४६, मध्यमकावतार, १९३ : "अभिधर्म के अनुसार चार सहभू हैं।"—षड्दर्शनसंग्रह के अनुसार साम्मितीयों का यह वाद है : चतुःक्षणिकं वस्तु, जातिर्जनयति, स्थितिः स्थापयति, जरा जरयति, विनाशो विनाशयति।

[3] विपर्ययादसंस्कृत इति यत्रैतानि न भवन्ति सोऽसंस्कृत इति। [व्या १७१.२३]।—किन्तु क्या यह नहीं कह सकते कि स्थिति असंस्कृत का एक लक्षण है? नहीं। लक्षण से द्रव्यान्तररूप इष्ट हैं। यह लक्षण विशेषित धर्म से अन्य हैं। यह इस धर्म की जाति, स्थिति, जरा और व्यय में हेतु हैं। असंस्कृत की स्थिति होती है किन्तु इसका स्थितिलक्षण नहीं होता, नीचे पृ.२२४, पंक्ति ५ देखिये।

[1] यह त्रिलक्षणसूत्र है (नीचे पृ० २२७ पंक्ति ११ देखिये)—संयुक्तागम, १२, २१; अंगुत्तर, १.१५२ : तीणिमानि भिक्खवे संखतस्स संखतलक्खणानि। कतमानि तीणि। उप्पादो पञ्ञायति वयो पञ्ञायति ठितस्स अञ्ञथत्तं पञ्ञायति।—संस्कृत पाठ इस प्रकार है : स्थित्यन्यथात्व (मध्यमकवृत्ति, पृ.१४५); कथावत्थु, अनुवाद, पृ० ५५: ठितानं अञ्ञथत्त। अन्यथाभाव पर संयुत्त, २.२७४—अभिधम्म केवल तीन लक्षण मानता है; कुछ आचार्य स्थिति को भी छोड़ देते हैं (कथावत्थु, अनुवाद, टिप्पणी पृ० ३७४)।
विज्ञानवाद के चार लक्षण, बोधिसत्वभूमि, १, १७, § १५ (मध्यमकवृत्ति, पृ.५४६)।

किया है : किन्तु स्थित्यन्यथात्व 'जरा' का पर्याय है। यथा सूत्र 'जाति' के पर्याय 'उत्पाद' का व्यवहार करता है, 'अनित्यता' के पर्याय 'व्यय' का व्यवहार करता है उसी प्रकार 'जरा' के पर्याय 'स्थित्यन्यथात्व' का प्रयोग करता है।

यदि सूत्र केवल तीन ही लक्षणों का निर्देश करता है तो इसका कारण यह है कि विनेयों[२] में उद्वेग उत्पन्न करने के लिये यह उन्हीं धर्मों को संस्कृत का लक्षण निर्दिष्ट करता है जिनके कारण संस्कृत का त्रैयध्विक संचार होता है : जाति के वल से इसका अनागत से प्रत्युत्पन्न में संचार होता है (संचारयति); जरा (स्थित्यन्यथात्व) और अनित्यता (व्यय) पुनः प्रत्युत्पन्न से अतीत में संचार कराते हैं क्योंकि जब जरा दुर्बल करती है (दुर्बलीकृत्य) तो अनित्यता विघात करती है (विघातात्)। निकाय में एक उपमा दी है (विभाषा, ३९, ६) : मान लीजिये कि एक पुद्गल निर्जन अरण्य में है और उसके तीन शत्रु उसका विघात करना चाहते हैं। पहला इस पुद्गल का [२२४] अरण्य से निष्कासन करता है, दूसरा उसको दुर्बल करता है, तीसरा उसके जीवित को विनष्ट करता है। संस्कृत के प्रति तीन लक्षणों की यही वृत्ति है।[१]—इसके विपरीत 'स्थिति' संस्कृत की स्थापना करती है और उसके अवस्थान में हेतु है। इसीलिये सूत्र लक्षणों में उसकी गणना नहीं करता। पुनः असंस्कृत का भी स्वलक्षण में स्थितिभाव होता है : स्थितिलक्षण असंस्कृत की इस स्थिति के सदृश है। असंस्कृत का भी संस्कृतत्व-प्रसंग न हो इसलिये सूत्र 'स्थिति' को संस्कृत का लक्षण नहीं निर्दिष्ट करता।

सौत्रान्तिकों की यह कल्पना है कि सूत्र में स्थिति का निर्देश है। स्थिति और जरा को यह एक साथ निर्दिष्ट करता है : स्थित्यन्यथात्व अर्थात् 'स्थिति और अन्यथात्व'। आप कहेंगे कि इन दो लक्षणों को विभागशः न कहकर एक लक्षण के रूप में कहने का क्या प्रयोजन है?—यह स्थिति संगास्पद है : 'स्थिति' में आसंग न हो इसलिये सूत्र उसको जरा के साथ (अभिसमस्य) निर्दिष्ट करता है यथा (अलक्ष्मी सहित) श्री को कालकर्णी सहित निर्दिष्ट करते हैं।[२]

अतः संस्कृत-लक्षण चार ही हैं।

किसी धर्म के जाति, स्थिति आदि भी संस्कृत हैं। अतः इनका उत्पाद, स्थिति, अन्यथात्व, व्यय होता है। अतः पर्याय से इनके चार लक्षण, जाति-जाति आदि होते हैं जो मूलधर्म के अनुलक्षण हैं। यह अनुलक्षण भी संस्कृत हैं। अतः इनमें से एक एक के चार चार लक्षण होंगे। यह अपर्यवसान दोष है।

कोई अपर्यवसान दोष नहीं है।

---

[२] **आभिप्रायिको हि सूत्रनिर्देशो न लाक्षणिकः। [व्या १७२.३]**

[१] **यही उपमा, एक दूसरे उपदेश के लिये, अत्थसालिनी, ६५५**

[२] **श्रियमिव कालकर्णीसहितम् [व्या १७२.२२]; बर्नूफ़—इन्ट्रोडक्शन, पृ.२५५ से तुलना कीजिये।**

जातिजात्यादयस्तेषां तेऽष्टधर्मैकवृत्तयः ।
जन्यस्य जनिका जातिर्न हेतुप्रत्ययैर्विना ॥४६॥

४६ ए-बी. पर्याय से जाति-जाति, स्थिति-स्थिति, आदि इनके लक्षण होते हैं । मूललक्षण की वृत्ति आठ धर्मों में है, अनुलक्षण की एक धर्म में ।[1]

[२२५] पूर्वोक्त चार मूल लक्षण ।

चार अनुलक्षण—जाति-जाति, स्थिति-स्थिति, जरा-जरा, अनित्यता-अनित्यता ।

सब संस्कृत मूललक्षणवश संस्कृत हैं । यह पर्याय से चार अनुलक्षणवश संस्कृत हैं ।

आप कहते हैं कि विशेषित धर्म के तुल्य मूललक्षणों में से प्रत्येक के चार लक्षण होने चाहिये और इसी प्रकार । यह इसलिये है क्योंकि आप नहीं मानते कि यह भिन्न लक्षणों की वृत्ति (= धर्मकारित्र = पुरुषकार ४.५८) है ।

जब एक धर्म की उत्पत्ति होती है जिसे आप मूलधर्म, चित्त, चैत्त कहते हैं तो आत्मनवम ९ धर्मों का सहोत्पाद होता है : मूलधर्म, चार मूललक्षण, चार अनुलक्षण । प्रथम मूललक्षण अर्थात् मूलजाति (जाति, मूलजाति) मूलधर्म, तीन मूललक्षण (स्थिति, जरा और अनित्यता) और चार अनुलक्षणों का उत्पाद करता है : कुल मिलाकर आठ धर्मों का । यह अपना उत्पाद नहीं करता : यह जाति-जाति नामक अनुलक्षण से उत्पन्न होता है ।—यथा एक मुर्गी अनेक अंडे देती है किन्तु एक अंडे से एक ही मुर्गी पैदा होती है (विभाषा, ३९,४), उसी प्रकार मूलजाति (जाति, मूलजाति) से आठ धर्म जनित होते हैं किन्तु जाति-जाति से केवल एक धर्म अर्थात् मूलजाति जनित होती है ।

इसी प्रकार अन्य मूललक्षण और अनुलक्षणों की यथायोग योजना होनी चाहिये । स्थिति-स्थिति मूलस्थिति की स्थापना करती है और यह मूलस्थिति मूलधर्म, तीन मूललक्षण और स्थिति-स्थितिसहित चार अनुलक्षणों की स्थापना करती है । इसी प्रकार मूल जरा और अनित्यता हैं जो आठ धर्मों को जीर्ण और विनष्ट करती हैं और जो अनुरूप अनुलक्षण से, जरा-जरा और अनित्यता-अनित्यता से, स्वयं जीर्ण और विनष्ट होती हैं ।

[२२६] अतः लक्षणों के स्वयं लक्षण होते हैं जिन्हें अनुलक्षण कहते हैं : इनकी संख्या ४ है, १६ नहीं और अनिष्ठा दोष नहीं है ।

सौत्रान्तिक कहता है:

१. यह तो आकाश को विभक्त करना है ।[2] जाति, स्थिति आदि पृथक्-पृथक् द्रव्य नहीं

---

[1] जातिजात्यादयस्तेषां तेऽष्टधर्मैकवृत्तयः । [व्या १७२.३४ तथा १७३.६]
लक्षण और अनुलक्षणों के वाद का प्रतिषेध नागार्जुन ने मध्यमक, ७.१ में किया है । —साम्मितीयों के वाद के लिये मध्यमकवृत्ति, पृ० १४८ देखिये । उत्पाद, उत्पादोत्पाद, आदि यह सात लक्षण और सात अनुलक्षण मानते हैं ।

[2] तदेतद् आकाशं पटचते [व्या १७३.२२ में पाटचते पाठ है] : आकाश कुछ है नहीं; यह सप्रतिघरूप का सर्वथा अभाव है । यह विभक्त नहीं हो सकता (विपटचते, विभिद्यते) ।

हैं (न द्रव्यतः संविद्यन्ते [व्या १७३.२५]) जो इनका विभाग हो। हमको द्रव्यों की—रूपादि धर्मों की—उपलब्धि प्रत्यक्ष, अनुमान या आगम से होती है : इन तीन प्रमाणों से लक्षणों का द्रव्यतः अस्तित्व नहीं सिद्ध होता।

किन्तु सर्वास्तिवादिन् उत्तर देता है कि सूत्रवचन है कि "संस्कृत का उत्पाद प्रज्ञात होता है (उत्पादोऽपि प्रज्ञायते.........")[2]

मूर्ख ! व्यंजन तुम्हारा प्रतिसरण है और तुम अर्थ के विषय में भूल करते हो किन्तु भगवत् ने कहा है कि अर्थ प्रतिसरण है, व्यंजन प्रतिसरण नहीं है।[3] इस सूत्र का अर्थ स्पष्ट है।

अविद्या से अन्ध बाल की संस्कार-प्रबन्ध में आत्मतः और आत्मीयतः अधिमुक्ति होती है और इसलिये इस प्रबन्ध में उनका अभिष्वंग होता है, उनकी रुचि होती है। भगवत् इस मिथ्या कल्पना का और तज्जनित अभिष्वंग का अन्त करना चाहते हैं। वह यह प्रदर्शित करना चाहते हैं कि प्रवाह संस्कृत है अर्थात् प्रतीत्यसमुत्पन्न है और वह बताते हैं कि प्रतीत्यसमुत्पन्न के कौन तीन लक्षण हैं : "संस्कृत के तीन संस्कृत-लक्षण विज्ञान-विषय हैं।" भगवत् प्रवाह का ही संस्कृतत्व द्योतित करना चाहते हैं क्योंकि यह स्पष्ट है कि प्रवाह-क्षण के वह तीन लक्षण नहीं बताते क्योंकि वह कहते हैं कि यह तीन लक्षण प्रज्ञात होते हैं। वास्तव में [२२७] क्षण का उत्पाद, जरा और व्यय अप्रज्ञायमान हैं। जो अप्रज्ञायमान है वह लक्षण होने की योग्यता नहीं रखता।

सूत्र संस्कृत शब्द का पुनः ग्रहण इसलिये करता है—"संस्कृत के तीन संस्कृत लक्षण हैं"—जिसमें आप जानें कि यह तीन लक्षण संस्कृत के अस्तित्व के लक्षण नहीं हैं (संस्कृतास्तित्वे लक्षणानि) यथा बलाका समीप के जल के अस्तित्व का लक्षण है; यह संस्कृत के साधु-असाधुत्व के लक्षण नहीं हैं यथा कन्या के लक्षण बताते हैं कि यह शुभ या अशुभ हैं और यह द्रव्य के लक्षण नहीं हैं जो दिखाते हैं कि यह द्रव्य संस्कृत है (संस्कृतलक्षणम् = संस्कृतत्वे लक्षणम्)। [अतः हम सूत्र का अनुवाद इस प्रकार करते हैं : "संस्कृत के तीन प्रत्यक्ष लक्षण हैं जो दिखाते हैं कि यह संस्कृत है अर्थात् प्रतीत्यसमुत्पन्न है।"]

२. हमारे अनुसार उत्पाद या जाति का यह अर्थ है कि प्रवाह का आरंभ है (प्रवाहस्य आदिः); व्यय या अनित्यता प्रवाह की निवृत्ति, उपरति है; स्थिति आदि से निवृत्ति तक अनुवर्तमान प्रवाह है; स्थित्यंन्यथात्व या जरा अनुवर्तमान प्रवाह का अन्यथात्व, पूर्वापरविशेष है। इस दृष्टि से अर्थात् उत्पाद, व्यय आदि को प्रवाहरूप से अवधारण कर, प्रवाहादि, प्रवाहनिवृत्ति, अनुवर्त्तमानप्रवाह, प्रवाहान्यथात्व अवधारण कर भगवत् ने नन्द से जो नित्य उपस्थितस्मृति थे

---

[2] पृ. २२३ टिप्पणी १ देखिये।

[3] चत्वारीमानि भिक्षवः प्रतिसरणानि। कतमानि चत्वारि। धर्मः प्रतिसरणं न पुद्गलः। अर्थः प्रतिसरणं न व्यंजनम्। नीतार्थसूत्रान्तं प्रतिसरणं न नेयार्थम्। ज्ञानं प्रतिसरणं न विज्ञानम्। [व्या १७४.८]।
मध्यमकवृत्ति २६८, ५९८ में उद्धृत ग्रन्थ। संघभद्र का उत्तर, ४०६, कालम २, पृ० १६

कहा : "आयुष्मन् ! तुम्हारी जान में वेदना उत्पन्न होती हैं, अवस्थान करती हैं, क्षय-अस्त को प्राप्त होती हैं ।"[1]

[२२८] अतः हम कहते हैं :[1]

"जाति प्रवाह का आदि है, व्यय उसका उच्छेद है, स्थिति प्रवाह ही है, स्थित्यन्यथात्व पूर्वापर विशेष है ।"

पुनः

"उत्पाद अभूत्वा भाव है, स्थिति प्रबन्ध है, अनित्यता प्रबन्ध का उच्छेद है, जरा उसकी पूर्वापर विशिष्टता है ।"

"क्या आपका कहना है कि क्षणिक धर्म का व्यय स्थिति के बिना [अनन्तर] होता है ? किन्तु [यदि धर्म क्षणिक हैं] तो इसका स्वयं व्यय होता है : आपकी क्षणिक धर्म की स्थिति-परिकल्पना वृथा है ।"[2]

[२२९] अतः जब सूत्र स्थिति का उल्लेख करता है तो उसका अभिप्राय प्रवाह से होता है।

---

[1] संयुक्त, ११, १४—प्रवाहगता हि वेदनास्तस्य विदिता एवोत्पद्यन्ते । विदिता अवतिष्ठन्ते । विदिता अस्तं परिक्षयं पर्यादानं गच्छन्ति । न क्षणगताः क्षणस्य दुरवधारत्वात् [व्या १७५.६]) ।
तिब्बती भाषान्तर : कुलपुत्र नन्द (अंगुत्तर ४.१६६ से तुलना कीजिये)
संयुत्त, ५.१८० से तुलना कीजिये; मज्झिम, ३.२५ (जहाँ भगवत् शारिपुत्र के संबन्ध में वही कहते हैं जो वह यहाँ नन्द के लिये कहते हैं) :
धम्मा विदिता उप्पज्जन्ति विदिता उपट्ठहन्ति विदिता अब्भत्थं गच्छन्ति ।
प्रथम परिच्छेद—संघभद्र, ४०७. २. १२; तृतीय—४०७.३,९; ६३२,३,१७ भी देखिये ।

[1] जातिरादिः प्रवाहस्य [उच्छेदो व्ययः] स्थितिस्तु सः ।
[स्थित्यन्यथात्वं] तस्यैव [पूर्वापरविशिष्टता] ॥
अभूत्वा भाव उत्पादः प्रबन्धः स्थितिरनित्यता ।
तदुच्छेदो [जरा तस्य पूर्वापरविशिष्टता] ॥ [व्या १७५.११ इत्यादि]
क्षणिकस्य हि धर्मस्य [स्थितिं विना भवेद् व्ययः] ।
स च व्येति [स्वयं] तस्माद् वृथा तत्परिकल्पना ॥ [व्या १७५.१९]
मज्झिम, ३.२५ में यह वाक्य है—एवं किल ये धम्मा अहुत्वा सम्भोन्ति । यह सौत्रान्तिकवाद है—अभूत्वा भाव उत्पादः (पृ. २२९, पं० १८), मिलिन्द, पृ.५१ में यही वाक्य इस प्रकार है—अहुत्वा संभोति; सर्वास्तिवादी और मिलिन्द, पृ.५२ इसका विरोध करते हैं : नत्थि केचि संखारा ये अभवन्ता जायन्ति—नागसेन विभज्यवादिन् है, पृ.५० ।

[2] यदि किसी का यह मत है कि "यह स्थितिसद्भाव के कारण है कि उत्पन्न धर्म का एक क्षण अविनाश होता है, यदि स्थिति न हो तो यह एक क्षण भी न हो" तो ऐसा नहीं है क्योंकि हेतुप्रत्ययपूर्वक क्षण का अस्तित्व है । [व्या १७५.२९]
यदि किसी का यह मत है कि "हेतुप्रत्यय से उत्पद्यमान धर्म का स्थिति उपग्रहण करती है (उपगृह्णाति)" तो हम पूछते हैं कि "यदि स्थिति उपग्रहण न करे तो क्या होगा ?"—"धर्म की आत्मसत्ता न होगी (आत्मसत्ता धर्मस्य न भवेत्)"—"अतः कहिये कि स्थिति जनिका है, स्थापिका नहीं है ।"
यदि यह कहो कि "स्थिति सन्तान की अवस्थापना करती है (अवस्थापयति)" तो हेतु-प्रत्यय के लिये स्थिति की आख्या सुरक्षित रखना चाहिये ।

इस प्रकार अभिधर्म (प्रकरणपाद, १४ बी ७) का लक्षण युक्त पाया जाता है : "स्थिति क्या है ? उत्पन्न और अनिरुद्ध संस्कार"—क्षणधर्मता 'उत्पन्न का अविनाश' नहीं हो सकती।

किन्तु ज्ञानप्रस्थान (२, १३) कहता है : "एक चित्त के संबन्ध में (एकस्मिन् चित्ते) उत्पाद क्या है ? यह जाति है।—व्यय क्या है ? यह मरण है।—स्थित्यन्यथात्व क्या है ? यह जरा है।"

किन्तु शास्त्र के इस वाक्य की अभिसंधि चित्त-क्षण से नहीं है किन्तु निकायसभागचित्त से है। [एक निकायसभाग में (२-४१) अनेक चित्त होते हैं किन्तु इस अनेक चित्त को एक चित्त कह सकते हैं।]

३. किन्तु यदि लक्षणों को द्रव्य न मानें तो कह सकते हैं कि प्रत्येक पृथग्भूत क्षण के चार लक्षण होते हैं।

वास्तव में (१) प्रत्येक क्षण का अभूत्वा भाव है : उसका अभूत्वा भाव उसकी जाति है; (२) भूत्वा अभाव होता है : यह उसका व्यय है; (३) क्षण की स्थिति उत्तरोत्तरक्षणानुबन्ध है : वास्तव में उत्तर क्षण का पूर्व क्षण से सादृश्य है; अतः यह उसका प्रतिनिधिभूत है : पूर्व क्षण मानों अब भी है, अब भी अवस्थान करता है (अवतिष्ठत इव)। अतः उत्तर क्षण पूर्व क्षण की स्थिति माना जा सकता है; (४) इस स्थिति का विसदृशत्व उसका स्थित्यन्यथात्व है।

क्या आप कहते हैं कि जब उत्तरोत्तर क्षण सदृश होते हैं तब विसदृशत्व नहीं होता ? —विसदृशत्व होता है जैसा कि एक-वज्र के चिर-आशुतर पातकाल के भेद से होता है जो क्षिप्त या अक्षिप्त है, जो बलपूर्वक क्षिप्त है या दुर्बलता के साथ क्षिप्त है :[१]

[२३०] यह भेद वज्र के महाभूतों के भिन्न परिणामविशेष के कारण है।—जब धर्मों की उत्तरोत्तर उत्पत्ति निकायसभाग में होती है तब भेद स्वल्प होता है; इसीलिये यद्यपि वह निर्विशेष नहीं है तथापि उनको सदृश मानते हैं।

सर्वास्तिवादिन् दोष दिखाते हैं—लक्षणों की आपकी व्यवस्था अव्यापिनी है, सब संस्कृत धर्मों में नहीं घटती। वास्तव में आपका बताया हुआ स्थिति का लक्षण उत्तर क्षण की अपेक्षा करता है। शब्द या अर्चि के अन्तिम क्षण के लिये, अर्हत् के चित्त के अन्तिम क्षण के लिये, इस उत्तर क्षण का अभाव होता है। अतः शब्द, अर्चि, अर्हत् के अन्तिम क्षण की न स्थिति है, न अन्यथात्व।

सब संस्कृत धर्मों की स्थिति है ऐसा हम नहीं कहते! हम कहते हैं कि जिसकी स्थिति है उसका अवश्य अन्यथात्व होता है। भगवत् तीन लक्षणों का उपदेश करते हैं क्योंकि कुछ अवस्थाओं में (संभवं प्रति) तीन लक्षण होते हैं। किन्तु अन्त्य अर्चि-क्षण का उत्पाद और व्यय ही होता है; इसकी स्थिति और स्थित्यन्यथात्व नहीं होते।

---

[१] क्षिप्ताक्षिप्तबलिदुर्बलक्षिप्तस्य वज्रादेश्चिराशुतरपातकालभेदात्। [व्या १८६. १२, २२]। ३, संघभद्र, ४०८, ३, ७.

संक्षेप में संस्कृत धर्म का अभूत्वा भाव होता है, भूत्वा अभाव होता है, इन धर्मों का प्रवाह इनकी स्थिति ह, प्रवाह का विसदृशत्व इनका स्थित्यन्यथात्व है। त्रिलक्षणसूत्र में भगवत् की यही शिक्षा है। उत्पादादि द्रव्य नहीं हैं।

४. वैभाषिक का आक्षेप—आपके अनुसार उत्पाद यही संस्कृत धर्म है क्योंकि इसका अभूत्वा भाव है। अतः लक्ष्य धर्म लक्षण भी होगा।

क्या दोष है? महापुरुष के लक्षण महापुरुष से अन्य नहीं हैं। शबलाश्व के लक्षण शृंग, ककुद, गलस्तन, खुर, पुच्छ शबलाश्व से अन्य नहीं हैं। महाभूत का अस्तित्व काठिन्यादि (१.१२ डी) स्वलक्षण से पृथक् नहीं है।—यथा वैभाषिक के मत में जो क्षणिकवादिन् है धूम का ऊर्ध्वगमन धूम से अन्य नहीं है।[१]

[२३१] आइये; और सूक्ष्म परीक्षा करें। यद्यपि संस्कृत रूपादि के स्वभाव का ग्रहण हो भी तथापि तब तक उनका संस्कृतत्व लक्षित नहीं होता जब तक उनका प्रागभाव पश्चादभाव और सन्तति-विशेष ज्ञात नहीं होते। अतः संस्कृतत्व संस्कृतत्व से लक्षित नहीं होता किन्तु प्राग-भावादि से संस्कृतत्व लक्षित होता है।[२] और रूपादि संस्कृतों से भिन्न जात्यादि द्रव्यान्तर नहीं होते।

५. यदि हम लक्षणों के द्रव्यत्व को स्वीकार करते हैं तो क्योंकि वह सहभूत कहे जाते हैं हमको मानना पड़ेगा कि धर्मों का उत्पाद, स्थिति, जरात्व और व्यय एक ही काल में होता है।

व्यर्थ ही सर्वास्तिवादी कहते हैं कि लक्षणों का कारित्र-काल भिन्न होता है, अनागत जाति स्वोत्पत्ति के पूर्व ही कारित्र करती है तथा उत्पन्न होकर और उत्पाद नहीं करती; स्थिति, जरा और अनित्यता अपना कारित्र करती हैं जब वह प्रत्युत्पन्न होती हैं, न कि जब अनागत होती हैं और क्योंकि अन्तिम तीन लक्षणों का कारित्र-काल उस समय होता है जब प्रथम का कारित्र समाप्त हो जाता है इसलिये चार लक्षणों का बिना विरोध के सहभूतत्व होता है।

पहले हम जाति का विचार करें जो अनागत अवस्था में ही अपना कारित्र करती है। इसकी परीक्षा करनी होगी कि क्या एक अनागत धर्म का द्रव्यतः अस्तित्व (५.२५, पृ० ५०) है, क्या द्रव्यतः होते हुए भी अनागत जाति कारित्र करती है।—यदि अनागत जाति उत्पाद का अपना कारित्र करती है तो वह अनागत कैसे सिद्ध होती है? वास्तव में वैभाषिकों का सिद्धांत है कि

[१] धूम क्षणिक है। जब यह ऊर्ध्व देशान्तर में 'उत्पद्यमान' होता है तब इसकी ऊर्ध्वगमन की आख्या होती है (ऊर्ध्वगमनाख्यां लभते) और यह ऊर्ध्वगमन धूम से भिन्न लक्षित होता है। (४.२ बी देखिये)

[२] न च संस्कृतानां रूपादीनां तावत् संस्कृतत्वं लक्ष्यते गृह्णतापि स्वभावं यावत् प्रागभावो न ज्ञायते पश्चाच्च संततेश्च विशेष (इति) न तेनैव संस्कृतत्वेन संस्कृतत्वं लक्ष्यते। यदि रूप के स्वभाव का ग्रहण कर, उसके प्रागभाव को जानने के पूर्व, मैं उसे संस्कृत के रूप में (संस्कृतमिति) ग्रहण करता तो यह कहा जा सकता था कि संस्कृत संस्कृत का लक्षण है, संस्कृत संस्कृत से लक्षित है (तेनैव तल्लक्षितं स्यात्), किन्तु ऐसा नहीं है। [व्या १७७.२६]। ५.२५ पृ० ५०

[२३२] अनागत धर्म वह है जो अप्राप्तकारित्र है (अप्राप्तकारित्रं ह्यनागतमि सिद्धान्तः [व्या १७८.९]। आपको अनागत का लक्षण बताना होगा। दूसरे पक्ष में जब धर्म उत्पन्न होता है, जब वह उपरतकारित्र है, तब उत्पाद की क्रिया अतीत होती है। आप यह कैसे सिद्ध करते हैं कि जाति वर्तमान है ? आपको वर्तमान का लक्षण कहना होगा।

अन्य लक्षणों के लिये दो में से एक बात है। उनका कारित्र या तो एक साथ होता है या उत्तरोत्तर होता है। पहले पक्ष में जब स्थिति धर्म का अवस्थान करती है तो जरा उसको जीर्ण करती है और अनित्यता उसका विनाश करती है : वही धर्म अवस्थान करता है, जीर्ण होता है और विनष्ट होता है। दूसरे पक्ष में यह स्वीकार करना कि लक्षणों के कारित्र का सह-भूतत्व नहीं है यह स्वीकार करना है कि तीन क्षण हैं और यह क्षणिकत्व[1] को बाधित करता है।

वैभाषिक उत्तर देता है : हमारा क्षण वह काल है जिसमें लक्षण अपना कार्य परिसमाप्त करते हैं (कार्यपरिसमाप्तिलक्षण एष नः क्षणः)[2]। [व्या १७८.१८]

इस विकल्प में आप बतावें कि क्यों सहोत्पन्नों में स्थिति अपना कारित्र करती है, स्थाप्य की स्थापना करती है (स्थाप्यं स्थापयति) किन्तु उस काल में जरा जीर्ण नहीं करती और अनित्यता विनाश नहीं करती ?—यदि आपका यह उत्तर है कि अधिक बलवान् होने से स्थिति अपने कारित्र को पहले करती है तो हम प्रश्न करते हैं कि पश्चात् स्थिति कैसे इस प्रकार निर्बल हो जाती है कि जरा और अनित्यता के संयोग से केवल वह स्वयं जीर्ण और विनष्ट नहीं होती किन्तु उसके साथ वह धर्म भी जीर्ण और विनष्ट होता है जिसको यह स्थापित करती है ?

कदाचित् आप यह कहें कि कृतकृत्य होकर स्थिति पुनः कारित्र नहीं कर सकती यथा जाति जन्य को जनित कर पुनः उत्पाद नहीं करती ?—यह उपमा युक्त नहीं है। जाति का पुरुषकार इसमें है कि यह जन्य धर्म को अनागत से वर्तमानता में आनीत करती है : वर्तमानता में आनीत [२३३] धर्म का पुनः आनयन जाति नहीं कर सकती। किन्तु स्थिति का पुरुषकार स्थाप्य धर्म को स्थापित करता है (स्थापयति) और स्थाप्यधर्म को जीर्ण और विनष्ट होने से बचाता है। स्थिति स्थाप्य की अत्यन्त स्थापना कर सकती है। अतः स्थिति अपने पुरुषकार की पुनरावृत्ति कर सकती है।

किस अन्तराय या किन प्रतिबन्धों के कारण स्थिति के कारित्र का एक बार आरंभ होने पर उपरम होता है ? क्या यह प्रतिबन्ध जरा और अनित्यता हैं : जरा स्थिति को दुर्बल करती है और अनित्यता पश्चात् दुर्बल स्थिति का घात करती है ? इस विकल्प में जरा और अनित्यता स्थिति से बलीयसी हैं। अतः यह युक्त है कि वह पूर्व अपने कारित्र को करती हैं।—पुनः स्थिति और

---

[1] वैभाषिक 'क्षणिकवादी' हैं : धर्म की स्थिति एक क्षण के लिये होती है और उसी क्षण में वह विनष्ट होता है। ४.२ बी देखिये; वैसिलीफ़, पृ. ३२५—किन्तु क्षण का क्या अर्थ समझना चाहिये ? इसमें कठिनाई है।

[2] अन्य लक्षण, ३.८६ ए।
परमार्थ का पाठ : चतुर्लक्षणकार्यपरिसमाप्तिः।
शब्दसूची में 'क्षण' देखिये।

उसके कारित्र की आपकी कल्पना के अनुसार केवल मूलधर्म ही नहीं किन्तु जरा और अनित्यता भी स्थिति के कारित्र से स्थापित होती हैं। अतः जब स्थिति का कारित्र निवृत्त होता है तब जरा, अनित्यता और उस मूलधर्म की भी स्थिति नहीं रहती। प्रश्न है कि कैसे और कहाँ जरा और अनित्यता जीर्ण और विनष्ट करने के अपने कारित्र को करेंगे।

हम सत्य ही नहीं जानते कि जरा और अनित्यता को क्या करना है। स्थिति-सामर्थ्य से ही एक धर्म उत्पन्न होकर कालविशेष के लिये विनष्ट नहीं होता, उत्पन्नमात्र हो विनष्ट नहीं होता। यदि स्थिति उपरतकारित्र हो धर्म की उपेक्षा करे तो धर्म की ध्रुव ही स्थापना न होगी अर्थात् यही इसका विनाश है।

हम धर्म की स्थिति और अनित्यता को जानते हैं : "उत्पन्न होकर धर्म का विनाश नहीं होता, अवस्थित होकर धर्म का विनाश होता है।"—किन्तु धर्म की जरा कैसे होती है ? जरा स्थित्यन्यथात्व है, दो अवस्थाओं का विसदृशत्व है। क्या धर्म के लिये यह कह सकते हैं कि यह अपने से अन्य प्रकार का हो जाता है ?

"यदि यह वहीं रहता है तो यह अन्यथा नहीं होता। यदि इसका अन्यथाभाव होता है तो यह वह नहीं है। अतः एक धर्म का अन्यथात्व असंभव है।"[1]

[२३४] निकायान्तर[1] के अनुसार अग्नि-पुद्गरादि विनाश के बाह्य हेतुओं के संनिपात से अनित्यतालक्षण काष्ठ-घटादि धर्मविशेष का विनाश करता है।—वृथावाद! यथा एक रोगी ओषधि का व्यवहार करके उसको प्रभावशील बनाने के लिये देवों की प्रार्थना करता है! इस सिद्धान्त के नय में विनाश के बाह्यहेतु ही विनाश करते हैं, अनित्यतालक्षण का कोई प्रयोजन नहीं है।

इसी निकाय का मत है कि अनित्यतालक्षण के योग से चित्त और चैत्त, शब्द और अर्चि का क्षणनिरोध होता है और यह विनाश के बाह्य कारणों की अपेक्षा नहीं करते। अनित्यता और स्थिति अपने कारित्र को युगपत् करते हैं : एक धर्म की स्थिति और विनष्टता युगपत् होती है। यह अयुक्त है।

हम इस निश्चय पर पहुँचते हैं कि भगवत् की संस्कृत लक्षणों की देशना प्रवाह के प्रति है। इस अर्थ में सूत्र सुनीत हैं :[2] "तीन लक्षण दिखाते हैं कि संस्कृत संस्कृत है अर्थात् प्रतीत्यसमुत्पन्न है. . . . ।"[3]

यदि अनागत जाति जन्य धर्म को जनित करती है तो सब अनागत धर्मों की उत्पत्ति युगपत् क्यों नहीं होती ?[4]

---

[1] यदि स एव नासावथान्यथा न स एव [हि।
तस्मादेकस्य धर्मस्य नान्यथात्वं प्रसिध्यति ॥] [व्या १७९.७] संघभद्र, ४१०, १, २०

[1] सम्मितीय (४.२ सी देखिये) [व्या १७९.९]

[2] एवमेतत् सूत्रे सुनीतम्. . . .[व्या १७९.१४]

[3] भूमिका में हम अनित्यत्व और क्षणिकत्व पर विविध वादों का अध्ययन करेंगे।

[4] ऊपर पृ० २३१ देखिये। सर्व संस्कृत धर्म स्वलक्षण 'जाति' से जनित होता है। जन्य धर्म के

४६ सी-डी. जन्य धर्म की जनिका जाति है किन्तु हेतुप्रत्यय के बिना नहीं।[१]

हेतुप्रत्यय के सामग्र्य के बिना केवल जाति जन्य धर्म के उत्पाद का सामर्थ्य नहीं रखती। अतः सब अनागत धर्म युगपत् उत्पन्न नहीं होते हैं।

[२३५] १. सौत्रान्त्रिकों का आक्षेप—यदि ऐसा है तो हमारा विचार है कि हेतु उत्पाद करते हैं, जाति नहीं—यह लक्षण विचित्र है जो अनादिकाल से धर्मसंहगत है और जो धर्म का उत्पाद करता है यदि पश्चात् इस धर्म के हेतुओं का सामग्र्य होता है! जब हेतु परिपूर्ण होते हैं तब धर्म की उत्पत्ति होती है; जब वह परिपूर्ण नहीं होते तब इसकी उत्पत्ति नहीं होती है। आप 'जाति' का क्या सामर्थ्य बताते हैं?[१]

२. सर्वास्तिवादिन् का उत्तर—क्या आप सब धर्मों को जिनका अस्तित्व है जानते हैं? धर्म की प्रकृति सूक्ष्म है![२] यद्यपि उनका द्रव्यत्व प्रत्यक्ष है तथापि वह दुःपरिच्छेद्य हैं।

पुनः 'जाति' लक्षण के अभाव में जातबुद्धि (=जात इति) नहीं होगी।[३] और यदि 'जाति' धर्म से अन्य द्रव्य नहीं है जिसका अभूत्वा भाव होता है तो, 'रूपस्य उत्पादः', 'वेदनाया उत्पादः' इन पदों का षष्ठी-वचन युक्त न होगा यथा 'रूपस्य रूपम्', 'वेदनायाः वेदना' इनका षष्ठी-निर्देश नहीं होता।—इसी प्रकार स्थिति, जरा, अनित्यता की योजना यथायोग्य होनी चाहिये।

३. सौत्रान्तिक का उत्तर—यह वाद आपको बहुत दूर ले जायगा: शून्यता, अनात्मत्व को युक्त सिद्ध करने के लिये आप 'शून्य', 'अनात्म' का द्रव्यतः अस्तित्व मानेंगे। पुनः एक, दो, [२३६] महत्, अणु, पृथक्, संयुक्त, विभक्त, पर, अपर, सद्रूप आदि बुद्धि की सिद्धि के लिये आप वैशेषिकों के तुल्य एक द्रव्यपरम्परा मानेंगे: संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व

साथ ही 'जाति' की उत्पत्ति होती है; स्वजन्म के पूर्व ही 'अनागत' जाति उसको जनित करती है।

[१] जन्यस्य जनिका जातिर्न हेतुप्रत्ययैर्विना।
हेतु और प्रत्यय का लक्षण २.४९, ६१ सी में दिया है।

[१] व्याख्या भदन्त अनन्त वर्मा के उत्तर को उद्धृत करती है: "चक्षु आलोकादि के बिना चक्षुर्विज्ञान कउत्पाद नहीं करता किन्तु इसलिये ऐसा नहीं है कि उसकी उत्पत्ति में वह कारण नहीं है:" —उत्तर: "हम कहते हैं कि आलोकादि के होते हुए भी अन्ध नहीं देखता, अनन्ध देखता है। अतः चक्ष का दृष्ट-सामर्थ्य,... । जाति के लिये ऐसा नहीं है।"
२.७१ बी-७२, ३.३५ डी और ७.३२ की व्याख्या में अनन्त वर्मा का नामोल्लेख है। [व्या १७९.१९]

[२] सूक्ष्मा हि धर्मप्रकृतयः [व्या १७९.२४]—स्पर्शादि चैत्त का स्वभाव सूक्ष्म है क्योंकि दुःपरिच्छेद्य है।—सौत्रान्तिक कहते हैं—निस्सन्देह; किन्तु भगवत् ने स्पर्शादि का कारित्र निर्धारित किया है: "जो कुछ वेदनास्कन्ध, संज्ञास्कन्ध, संस्कारस्कन्ध है वह सब स्पर्श-प्रत्ययवश है. . . ."किन्तु उन्होंने 'जाति' का कारित्र निर्धारित नहीं किया है।

[३] रूप में रूपबुद्धि स्वलक्षणापेक्षा होती है। किन्तु "रूप जात है" यह जातबुद्धि रूपापेक्षा नहीं होती क्योंकि "वेदना जात है" इस वेदना का जब प्रश्न होता है तब भी मेरी यही जाति-बुद्धि होती है।" अतः जातबुद्धि रूप-वेदना से अर्थान्तर जाति-द्रव्य के कारित्र की अपेक्षा करती है। [व्या १७९.२९]

अपरत्व, सत्ता आदि। आपको घटबुद्धि सिद्ध करने के लिये एक 'घटत्व' परिकल्पित करना होगा।

षष्ठी के विधान के लिये रूप का संयोग है। आपको इष्ट नहीं है कि रूप का स्वभाव रूप से अन्य है—और इस पर भी आप "रूपस्य स्वभावः" यह कह कर षष्ठी की कल्पना करते हैं।

अतः आपने यह सिद्ध नहीं किया कि 'जाति' द्रव्य है। आपने यह भी सिद्ध नहीं किया कि यह प्रज्ञप्तिमात्र नहीं है क्योंकि इसका अभूत्वा भाव है।

जब मैं किसी धर्म के अभूत्वा भाव को ज्ञापित करना चाहता हूँ तब मैं कहता हूँ कि "यह धर्म जात है", मैं इस धर्म को उत्पन्न प्रज्ञप्त करता हूँ।—रूप, वेदनादि बहु धर्म उत्पन्न होते हैं अर्थात् उनका 'अभूत्वा भाव' होता है। अतः बहु जाति हैं अर्थात् बहु धर्म उत्पन्न होते हैं। जाति के बहु-विकल्प (बहुभेद) हैं। अतः उसको विशेषित करने के लिये जिसमें चोदक जाने कि रूप का उत्पाद है, वेदनादि का नहीं, मैं षष्ठी का प्रयोग करूँगा, 'रूपस्य उत्पादः', 'वेदनाया उत्पादः' यद्यपि रूप का उत्पाद उत्पद्यमान रूपमात्र है। यथा लोक में कहते हैं 'चन्दन का गन्ध' यद्यपि चन्दन गन्धमात्र है और 'शिलापुत्रक शरीर' यद्यपि शिलापुत्रक शरीरमात्र है।[1]

४. सर्वास्तिवादिन् का उत्तर—क्योंकि हम जाति-लक्षण के अस्तित्व को मानते हैं जो संस्कृत [२३७] में होते हैं और असंस्कृत में नहीं होते अतः हम सुगमता के साथ बताते हैं कि क्यों असंस्कृत की उत्पत्ति नहीं होती। किन्तु यदि संस्कृत 'जाति' के बिना ही उत्पन्न होते हैं तो आकाशादि असंस्कृत क्यों नहीं उत्पन्न होते ?

हमारा कहना है कि संस्कृतों की उत्पत्ति होती है क्योंकि उनका 'अभूत्वा भाव' है (अभूत्वा भवन्ति)। किन्तु असंस्कृत नित्य है। उसकी उत्पत्ति कैसे हो सकती है ?—आप बताते हैं कि असंस्कृत धर्मविशेष जाति-लक्षण से रहित होते हैं क्योंकि आपके अनुसार ऐसी धर्मता है[2] : हम कहेंगे कि धर्मता के कारण सब धर्म नहीं उत्पन्न होते, जातिमत् होते (न सर्वं जायते)। —इसके अतिरिक्त आपके अनुसार सर्व संस्कृत का तुल्य जातिमत्त्व होता है (तुल्ये जातिमत्त्वे)। असंस्कृत का जातिमत्त्व आप नहीं मानते किंतु आप मानते हैं कि रूपोत्पाद के प्रत्ययों से वेदनोत्पत्ति के प्रत्यय अन्य हैं, एक के प्रत्यय दूसरे के उत्पादन में समर्थ नहीं होते। इसी प्रकार हमारे मत में संस्कृत और असंस्कृत समान रूप से जातिलक्षण से विरहित हैं। इसलिये सर्व प्रत्यय जो संस्कृत का उत्पादन करते हैं असंस्कृत के उत्पादन में समर्थ नहीं हैं।

---

[1] बौद्ध (बौद्धसिद्धान्त) विश्वास करते हैं कि चन्दन गन्धादिसमूहमात्र है। वैशेषिकसिद्धान्त में चन्दन द्रव्यसत् है। इसलिये आचार्य दूसरा दृष्टान्त उपन्यस्त करते हैं। शिलापुत्रक शरीर के दृष्टान्त को वैशेषिक मानते हैं। [व्या १८०.२६]—मध्यमकवृत्ति, पृ. ६६ देखिये; सांख्यप्रवचनभाष्य, पृ. ८४, १४८; इत्यादि।

[2] धर्माणामनादिकालिका शक्तिः।

५. वैभाषिक कहते हैं कि जाति आदि चार लक्षण द्रव्य हैं।[१] —क्यों?[२]—क्या हम आगम[३] का त्याग इसलिये करें कि दूषक हैं? मृग हैं इसलिये क्या कोई क्षेत्र का वपन नहीं करता? मक्षिका गिरती हैं इसलिये क्या कोई मोदक नहीं खाता?[४]—दोष का प्रतिविधान करना चाहिये [२३८] और सिद्धांत का अनुसरण करना चाहिये। (दोषेषु प्रतिविधातव्यं सिद्धान्तश्चानुसर्तव्यः) [व्या० १८१.२५]

नामकायादयः संज्ञा वाक्याक्षरसमुक्तयः ।
कामरूपाप्तसत्त्वाख्या निष्यन्दाव्याकृतास्तथा ॥४७॥
सभागता विपाकोऽपि त्रैधातुक्याप्तयो द्विधा ।
लक्षणानि च निष्यन्दाः समापत्त्यसमन्वयाः ॥४८॥

नामकाय, पदकाय, व्यंजनकाय क्या हैं ?

---

[१] विभाषा, ३८, १२ : कुछ का मत है कि संस्कृत लक्षण द्रव्य नहीं है। यह दार्ष्टान्तिक हैं जो कहते हैं कि "संस्कृत लक्षण विप्रयुक्तसंस्कारस्कन्ध में संगृहीत हैं, विप्रयुक्त संस्कार-स्कन्ध द्रव्य नहीं हैं; अतः संस्कृत लक्षण द्रव्य नहीं हैं।" उनके मत का प्रतिषेध करने के लिये....

[२] शुआन्-चाङ : "यह वाद सुष्ठु है। क्यों?"

[३] अर्थात् अभिधर्मशास्त्र।

[४] एक ही अर्थ की चार लोकोक्ति हैं : एक अच्छी वस्तु का हम इसलिये परित्याग नहीं करते कि इसमें दोष हैं, इसमें यह भय है।
ए. न हि भिक्षुकाः सन्तीति स्थाल्यो नाधिश्रीयन्ते।
बी. न च मृगाः सन्तीति यवा (पाठान्तरं शालयो) नोप्यन्ते।
यह दो लोकोक्तियाँ प्रायः साथ पाई जाती हैं। इनका अध्ययन कर्नल जेकब ने 'सेकेण्ड हैण्ड-फुल आफ पापुलर मैक्सिम्स' (बंबई, निर्णयसागर, १९०९, पृ. ४२, अनुक्रमणिक-नहि भिक्षुकाः) में किया है। उन्होंने हवाले भी दिये हैं : महाभाष्य, १.९९, २.१९४, ३.२३ (कीलहार्न), इसी अर्थ में (न हि दोषाः सन्तीति परिभाषा न कर्तव्या लक्षणं वा न प्रणेयम्। न हि भिक्षुकाः...); वाचस्पतिमिश्र, न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका, पृ. ६२, ४४१; भामती, पृ० ५४; सर्वदर्शनसंग्रह, कावेल के अनुवाद का पृष्ठ ३—कामसूत्र का भी उल्लेख करना चाहिये (कैटलाग आक्सफोर्ड २१६ बी देखिये) जहाँ यह दो लोकोक्तियाँ वात्स्यायन की बताई गई हैं (वेबर की सूचना, इंडिशे स्टूडियन १३, पृ. ३२६)।
सी. अतोऽजीर्णभयान्नाहारपरित्यागो भिक्षुकभयान्न स्थाल्या अनधिश्रयणं दोषेषु प्रतिविधातव्यमिति न्यायः।
इस तीसरी लोकोक्ति के लिये कर्नल जेकब पंचपादिका, पृ. ६३ (जिसका अन्तिम भाग 'दोषेषु प्रतिविधातव्यम्' वसुबन्धु में है), जीवन्मुक्तिविवेक, पृ. ८ (जो इस लोकोक्ति को आनन्दबोधाचार्य का बताता है) और हितोपदेश, २.५०, 'दोषभीतेरनारम्भः.....' उद्धृत करते हैं।
डी. न मक्षिकाः पतन्तीति मोदका न भक्ष्यन्ते।
इस लोकोक्ति के लिये वसुबन्धु के अतिरिक्त दूसरा प्रमाण नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि भिक्षु होने के कारण बौद्धों ने भिक्षुक और स्थाली की लोकोक्ति के स्थान में मक्षिका और मोदक की कम चुभने वाली उक्ति स्वीकार की है।

४७ ए-बी. नामकाय आदि संज्ञा, वाक्य और अक्षर की समुक्ति हैं।[1]

१. 'नामन्' (नाम या शब्द) का 'संज्ञाकरण'[2] अर्थ करना चाहिये, यथा रूप, शब्द, गन्वादि शब्द ।

२. 'पद' से वाक्य का अर्थ लेते हैं अर्थात् जितने से अर्थ की परिसमाप्ति होती है (यावतार्थपरिसमाप्तिः)[3], यथा यह वाक्य : "संस्कार अनित्य हैं. . . . ."एवमादि ।[1]—अथवा 'पद' वह है जिससे क्रिया-गुण-काल के संबन्धविशेष गमित होते हैं (येन गम्यन्ते) [व्या १८२.२७]) : यथा वह पकाता है, वह पढ़ता है, वह जाता है; वह कृष्ण है, गौर है, रक्त है;[2] वह पकाता है, वह पकावेगा, उसने पकाया ।[3]

३. व्यंजन का अर्थ अक्षर, वर्ण, स्वर-व्यंजन है यथा अ, आ, इ, ई आदि ।

किन्तु क्या अक्षर लिपि-अवयव के नाम नहीं हैं ?

वर्णों का उच्चारण लिपि-अवयव की प्रतीति कराने के लिये नहीं होता किन्तु वर्ण की प्रतीति

---

[1] नामकायादयः संज्ञावाक्याक्षरसमुक्तयः [व्या १८१.२८]
सुरेन्द्रनाथदास गुप्त : स्टडी आफ पतञ्जलि (कलकत्ता, १९२०) (पृ. १९२-२०१) में स्फोट के भिन्न मतों का वर्णन है । सिद्धि, ६८; स्फोट पर एड्रेग, मौलंस विन्डिश, १९१४ ।

[2] संज्ञाकरण लोकभाषा की आख्या है; नामधेय इसका पर्याय है यथा लोक में कहते हैं : "देवदत्त इसका संज्ञाकरण है" । किन्तु यहाँ अर्थ इस प्रकार है : "जिससे संज्ञा जनित होती है" । वास्तव में 'संज्ञा' एक चैतसिक धर्म है : बुद्धि, संज्ञा, परिकल्प (१.१४ सी-डी); नामन् वह है जो इस धर्म को 'करता है', उत्पन्न करता है ।

[3] यहाँ सुप्-तिङन्त पद अभिप्रेत नहीं है । (पाणिनि, १ ४,१४) ।

[1] पूरी गाथा को एक 'पद' समझना चाहिये :
अनित्या बत संस्कारा उत्पादव्ययधर्मिणः।
उत्पद्य हि निरुद्धयन्ते तेषां व्युपशमः सुखः ॥ [व्या १८२.५]
इसका अनेक प्रकार से अर्थ करते हैं :
ए. प्रतिज्ञा: "संस्कार अनित्य हैं।" हेतु: "क्योंकि उनका स्वभाव उत्पन्न और निरुद्ध होना है।" दृष्टांत। "जो उत्पन्न होकर निरुद्ध होते हैं वह अनित्य हैं।"
बी. हेतु: "उनका स्वभाव उत्पन्न और निरुद्ध होना है"—यह इससे सिद्ध होता है कि "वह वास्तव में उत्पन्न होकर निरुद्ध होते हैं।"
सी. संस्कार अनित्य हैं। अन्य शब्दों में उनका स्वभाव उत्पन्न और निरुद्ध होना है। "क्योंकि उत्पन्न होकर वह निरुद्ध होते हैं"; "जो अनित्य हैं वह दुःख हैं, अतः उनके व्युपशम में सुख है।" बुद्ध विनेयजन को यही सिखाना चाहते हैं।
इस गाथा को इन्द्र ने भगवत् की मृत्यु पर कहा था, दीघ,२.१५७; संयुत्त,१.१५८ डायलाग्स, २.१७६; जातक, ९४; मध्यमकवृत्ति पृ.३९; दयूत्रे मेनुस्क्रप्ट आफ र्हीन्स, जे० ए एस० १८९८, २. ३०० (ड्रान अगार्ट पृ.१०८); उदानवर्ग, १.१; एमडोओ, २६, अनित्यतासूत्र; जे० पृज़ीलुस्की, प्युनेरै, पृ.९

[2] यह 'नामपद' का उदाहरण है ।

[3] नामन् स्वलक्षण का द्योतक है; पद क्रियादिसंबन्धविशेष का द्योतक है जहाँ उस वस्तु का अवस्थान है जिसका स्वलक्षण ज्ञात है ।

कराने के लिये लिपि-अवयव लिखे जाते हैं जिसमें जब उन्हें नहीं सुनते तब भी लेख से उनकी प्रतीति होती है। अतः वर्ण लिपि-अवयव के नाम नहीं हैं।

४. 'काय' का अर्थ 'समुक्ति' है; धातुपाठ ४.११४ के अनुसार 'समुक्ति' का अर्थ 'समुदाय' है।

[२४०] अतः नामकाय=रूप, शब्द, गन्धादि; पदकाय="संस्कार अनित्य हैं, धर्म अनात्म हैं, निर्वाण शान्त है....."इत्यादि; व्यंजनकाय=क, ख, ग....

१. सौत्रान्तिक का आक्षेप—क्या नाम, पद और व्यंजन वाक्स्वभाव और इसलिये 'शब्द' नहीं हैं? अतः वह रूपस्कन्ध में संगृहीत हैं; वह चित्तविप्रयुक्त संस्कार नहीं हैं जैसा सर्वास्तिवादी कहते हैं।

सर्वास्तिवादिन्—वह वाक्स्वभाव नहीं है। वाक्घोष है और घोषमात्र से, यथा क्रन्दन से, अर्थ अवगत नहीं होता।—किन्तु वाक् नामन् में प्रवृत्त होता है (वाचं उपादाय)। यह नामन् अर्थत्व को द्योतित करता है (द्योतयति), प्रतीति उत्पन्न करता है (प्रत्याययति)।

सौत्रान्तिक—जिसे मैं 'वाक्' कहता हूँ वह घोषमात्र नहीं है किन्तु यह वह घोष है जिससे अर्थ अवगत होता है अर्थात् वह घोष जिसके संबन्ध में वक्ताओं में संकेत है कि यह अमुक अर्थ की प्रतीति करेगा। इसी प्रकार पूर्वों ने 'गो' शब्द को ९ पदार्थों की प्रतीति कराने की शक्ति दी है:

"विद्वानों ने यह व्यवस्थापित किया है कि गो शब्द के ९ अर्थ हैं: दिशा, गो-वृषभ, भूमि, किरण, वाक्, वज्र, चक्षु, लोक और जल।"[1]

जो सिद्धांत यह मानता है कि "नामन् पदार्थ का द्योतक है" उसे यह मानना पड़ेगा कि गो शब्द के यह भिन्न अर्थ संवृति से हैं। अतः यदि अमुक नाम से श्रोता को अमुक अर्थ द्योतित होता है तो यह घोषमात्र है जो उसकी प्रतीति कराता है। जिसे आप 'नामन्' कहते हैं उस द्रव्य की कल्पना का क्या प्रयोजन है?

२. सौत्रान्तिक पुनः कहते हैं—नाम या तो वाक्[2]-जन्य (उत्पाद्य) है या वाक्-प्रकाश्य (व्यंग्य)[3] है।

[२४१] ए. प्रथम विकल्प में क्योंकि वाक् घोषस्वभाव है इसलिये सर्व घोषमात्र, यहाँ तक कि पशु-गर्जित भी, नामन् का उत्पाद करेगा—यदि आपका यह उत्तर है कि नामन् का उत्पाद

---

[1] अमरसिंह, ३. नानार्थवर्ग, २५ से तुलना कीजिये।

[2] अर्थात् "वाक् के होते चित्तविप्रयुक्त धर्म 'नामन्' उत्पन्न होता है" (वाचि सत्यां स चित्तविप्रयुक्त उत्पद्यते) [व्या १८३.२१]।

[3] अर्थात् "चित्तविप्रयुक्त धर्म 'नामन्' घोष से उत्पद्यमान होने से उत्पन्न होता है: घोष अर्थ-द्योतन के लिये उसको प्रकाशित करता है।" (घोषेणोत्पद्यमानेन स चित्तविप्रयुक्तो धर्म उत्पद्यते। स तं प्रकाशयत्यर्थद्योतनाय [व्या १८३.२७]।

विशिष्ट घोष से—वर्णात्मक घोष से—ही होता है तो हम कहते हैं कि जो घोष-विशेष नामन् का उत्पाद कर सकता है वह अर्थ का भी द्योतक होगा।

दूसरे विकल्प में भी यही आलोचना है, केवल 'उत्पद्' धातु के स्थान में 'प्रकाश्' धातु होगा।

बी. किन्तु यह कल्पना कि वाक् नामन् का उत्पाद करता है युक्तिविरुद्ध है। वास्तव में शब्दों का सामग्र्य नहीं है—यथा र्-ऊ-प्-अ और नामन् का जिसे आप एक धर्म, एक द्रव्य बताते हैं भागशः उत्पाद युक्त नहीं है। अतः जब वाक् नामन् का उत्पाद करता है तब कैसे वह उसका उत्पाद करता है ?—आप कहेंगे कि यह अविज्ञप्ति (४.३ डी) सदृश है : काय-वाग्-विज्ञप्ति का पश्चिम क्षण अतीत क्षणों की अपेक्षा कर अविज्ञप्ति का उत्पाद करता है। किन्तु हम कहेंगे कि यदि वाग्-शब्द का पश्चिम क्षण नामन् का उत्पाद करता है तो एक पश्चिम शब्द के सुनने से अर्थ की प्रतिपत्ति होगी।

यह कल्पना कि वाक् व्यंजन का उत्पाद करती है (जनयति), व्यंजन नाम का उत्पाद करता है, नाम अर्थ की प्रतिपत्ति कराता है व्यपदेश नहीं है। वास्तव में यहाँ भी वही प्रसंग उपस्थित होता है : "व्यंजनों का सामग्र्य नहीं होता, इत्यादि।"

इन्हीं हेतुओं से यह कल्पना भी अयुक्त है कि वाक् नाम का प्रकाश करती है। [शब्दों का युगपत् अवस्थान नहीं है और एक धर्म, एक द्रव्यसत् का, जैसे कि नामन् का, भागशः प्रकाश नहीं होता...एवमादि]

सी. [यह विकल्प कि वाक् वर्ण का उत्पाद करती है—हमने इस विकल्प को तत्काल दूषित नहीं बताया है—नये प्रश्न उपस्थित करता है]। वाक् से भिन्न वर्ण है यह बात विशेषज्ञों को भी नहीं प्रकट होती यद्यपि वह व्यर्थ ही प्रयास करते हैं।—पुनः वाक् व्यंजन की न उत्पादिका है, न प्रकाशिका। इसमें वही हेतु हैं जिनके कारण वाक् नाम की न उत्पादिका है, न प्रकाशिका। ['वाक्' घोषस्वभाव है। इसलिये सर्व घोषमात्र व्यंजन को उत्पन्न और प्रकाशित करेगा। [२४२] यदि आपका यह उत्तर हो कि व्यंजन घोषविशेष से ही उत्पन्न या प्रकाशित होता है....तो यथापूर्व, २ ए]।

३. किन्तु सर्वास्तिवादिन् यह कल्पना कर सकता है कि जातिलक्षणवत् नाम अर्थसहज होता है।—वाक् इसकी उत्पादिका या प्रकाशिका है इसके जानने का प्रसंग नहीं रहता।

इस विकल्प में अतीत-अनागत अर्थ का वर्तमान नाम न होगा।—पुनः पिता, माता और अन्य पुत्रादि के नामधेय के लिये नामन् की यदृच्छा व्यवस्था करते हैं : यह कैसे मानें कि जाति-लक्षणवत् नाम अर्थ-सहज होता है ? —अन्ततः असंस्कृतों का सहज-नाम नहीं होगा क्योंकि उनकी उत्पत्ति नहीं होती : यह सर्वास्तिवादियों को इष्ट नहीं है।

४. किन्तु सर्वास्तिवादिन् सूत्र का प्रमाण देता है। भगवत् वचन है कि "गाथा नामसंनिश्रित हैं....।"[१]

[१] संयुक्तागम, ३६.२७, संयुत्त, १.३८ : नामसंनिश्रिता गाथा। 'गाथा वाक्य है। यह

सौत्रान्तिक उत्तर देता है कि नामन् एक शब्द है जिसके संबन्ध में मनुष्यों में संकेत है कि यह एक अर्थविशेष की प्रतीति कराता है।[2] गाथा या वाक्य (पद) नामों का रचनाविशेष है : इसी अर्थ में भगवत् इसे नामसंनिश्रित बताते हैं।—पद नामक एक द्रव्यसत् की परिकल्पना अपार्थिक (निष्प्रयोजन) है। यथा 'पिपीलिकापंक्ति' और 'चित्तानुपूर्व्य'[3] पिपीलिका और चित्त से अन्य द्रव्य नहीं हैं। अतः आप स्वीकार करें कि अक्षरमात्र जो शब्द हैं द्रव्य हैं।

[२४३] वैभाषिक नामकाय, पदकाय, व्यंजनकाय इन चित्तविप्रयुक्त संस्कारों को स्वीकार करते हैं क्योंकि वह कहते हैं कि सब धर्म तर्कगम्य नहीं हैं।[1]

प्रश्न है (१) कि व्यंजन, नाम और पद किस धातु में प्रतिसंयुक्त है; (२) क्या वह सत्वाख्य (१.१० बी) हैं या असत्वाख्य; (३) क्या वह विपाकज हैं, औपचयिक हैं या नैष्यन्दिक हैं (१.३७); (४) क्या वह कुशल हैं, अकुशल हैं या अव्याकृत हैं।

४७ सी-डी. कामाप्त और रूपाप्त, सत्वाख्य, नैष्यन्दिक, अव्याकृत।[2]

व्यंजनादि दो धातुओं में प्रतिसंयुक्त हैं। एक मत के अनुसार उनका अस्तित्व आरूप्यधातु में भी है किन्तु वह 'अनभिलाप्य' (अकथ्य) हैं।[3]

वह सत्वाख्य हैं क्योंकि वह सत्व-प्रयत्न से अभिनिर्वृत्त होते हैं और वर्णादिस्वभाव हैं। वास्तव में जो द्योतित करता है वह उनसे समन्वागत होता है, द्योत्य नहीं समन्वागत होता।

वह नैष्यन्दिक हैं क्योंकि वह सभागहेतुजनित (२.५२) हैं। वह विपाकज नहीं हैं क्योंकि उनकी प्रवृत्ति वक्ता की इच्छा से होती है। वह औपचयिक नहीं हैं क्योंकि वह अरूपी हैं।

वह अनिवृताव्याकृत (२.२८) हैं।[4]

नामसंनिश्रित है क्योंकि नाम के उत्पन्न होने पर यह होती है। अतः नाम और पद का अस्तित्व है। [व्या १८५.२०]

[2] अर्थेषु कृतावधिः शब्दो नाम [व्या १८५.२३] —महाव्युत्पत्ति, २४५, ३१९ में 'कृतावधि' है।

[3] पंक्तिवत्, 'यथा पिपीलिकाओं की पंक्ति' किंतु यह कहने का अवकाश है कि पिपीलिकाओं का जो पंक्ति की रचना करती हैं युगपत् अवस्थान होता है। किन्तु क्रमवर्ती शब्दों का रचना-विशेष नहीं होता; इससे वैषम्य होता है। अतः दूसरा दृष्टांत देते हैं : चित्तानुपूर्व्यवत्, [व्या १८५.२८] 'यथा चित्तों का अनुक्रम।'

[1] जो धर्म तथागत के ज्ञानगोचर में पतित हैं (तथागतज्ञानगोचरपतिता) वह तर्कगम्य नहीं हैं। [व्या १८५.३१]

[2] कामरूपाप्तसत्त्वाख्या निष्यन्दाव्याकृताः [व्या १८६.२]; विभाषा, १५, १

[3] व्यंजनादि वाक्स्वभाव नहीं हैं। उनके आरूप्यधातु में होने में कोई प्रतिबन्ध नहीं है किन्तु वहाँ वाक् का अभाव है। इसलिये नामकायादि अकथ्य हैं—वैभाषिक : यदि वह वहाँ अकथ्य हैं तब आप यह कैसे कहते हैं कि उनका वहाँ अस्तित्व है ?

[4] जो नाम कुशल धर्मों को प्रज्ञप्त करते हैं वह कुशल नहीं हैं : क्योंकि जिस पुद्गल के कुशल-मूल समुच्छिन्न हैं वह कुशल धर्मों को द्योतित करता है और कुशल धर्म को प्रज्ञप्त करनेवाले नामों की प्राप्ति से समन्वागत होता है।

हम संक्षेप में अन्य अनुक्त चित्तविप्रयुक्त धर्मों का (२.३५) लक्षण बतावेंगे।

४७ डी–४८ बी. इसी प्रकार सभागता है जो विपाक भी है। यह त्रैधातुकी है।[१]

[२४४] 'तथा' अर्थात् व्यंजन, नाम और पद के तुल्य सभागता प्रथम दो धातुओं में प्रतिसंयुक्त है, सत्वाख्य है, नैष्यन्दिकी है, अनिवृताव्याकृत है। किन्तु सभागता केवल नैष्यन्दिकी नहीं है : यह विपाकज भी है। यह केवल प्रथम दो धातुओं में प्रतिसंयुक्त नहीं है : यह तृतीय धातु में भी प्रतिसंयुक्त है।

४८ बी. प्राप्ति दो प्रकार की हैं।[२]

यह नैष्यन्दिकी और विपाकज हैं।

४८ सी. लक्षण भी।[३]

जात्यादिलक्षण प्राप्ति के समान दो प्रकार के हैं।

४८ सी. डी. समापत्ति और अप्राप्ति नैष्यन्दिकी हैं।[३]

दो समापत्ति और अप्राप्ति केवल नैष्यन्दिकी हैं।

इनकी धात्वाप्तता, सत्वासत्वाख्यता और कुशलाकुशलाव्याकृतता का व्याख्यान पूर्व हो चुका है।—सब संस्कृतों के लक्षण होते हैं। अतः वह सत्वाख्य और असत्वाख्य हैं।—आसंज्ञिक और जीवित [आयुष्] के लिये २.४१ डी और ४५ ए (६.१ ए) देखिये।

५. हेतु (४९-५५ बी), फल (५५ सी–६१ बी), प्रत्यय (६१ सी– ७३)

हमने देखा है (२.४६ सी डी) कि अन्य धर्मों को जनित करने के लिये जाति हेतु और प्रत्ययों के सामग्र्य की अपेक्षा करती है। यह हेतु-प्रत्यय क्या हैं?[४]

कारणं सहभूश्चैव सभागः संप्रयुक्तकः।
सर्वत्रगो विपाकाख्यः षड्विधो हेतुरिष्यते ॥४९॥

---

[१] तथा। सभागता विपाकोऽपि त्रैधातुकी [व्या १८६.१७]

[२] आप्तयो द्विधा। [व्या १८६.२६]
युआन्-चाङ शोधते हैं : प्राप्ति तीन प्रकार की हैः क्षणिक (१.३८), नैष्यन्दिक, विपाकज।

[३] [लक्षणान्यपि ³. निष्यन्दः समापत्त्यसमन्वयाः ॥]

[४] व्याख्या में निम्न सूचनाएं हैं : ए. हेतु और प्रत्यय में कोई प्रतिविशेष नहीं है क्योंकि भगवत् ने कहा है : द्वौ हेतू द्वौ प्रत्ययौ सम्यग्दृष्टेरुत्पादाय। कतमौ द्वौ। परतश्च घोषोऽध्यात्मं च योनिशो मनस्कार इति। (अंगुत्तर १.८) : द्वेऽमे भिक्खवे पच्चया सम्मादिट्ठिया उप्पादाय....परतो च घोसो योनिसो च मनसिकारो)
बी. हेतु, प्रत्यय, निदान, कारण, निमित्त, लिंग, उपनिषद् यह पर्याय हैं।
सी. हेतु और प्रत्यय का पृथग् निर्देश क्यों है ?—क्योंकि हेतुनिर्देश में अविघ्नभाव, सहभूत्व, सदृशत्व आदि (२.४९) अर्थविशेष का व्याख्यान है। प्रत्ययनिर्देश]में हेतुसमनन्तरत्व आदि (२.६२) अपर अर्थविशेष का व्याख्यान है। [व्या १८८.१३
हेतु और प्रत्यय पर सिद्धि—कोश,४.१००,१७६ में हेतु और प्रत्यय का विपत्व स्पष्ट है।

[२४५] ४९. कारणहेतु, सहभू, सभाग, संप्रयुक्तक, सर्वत्रग, विपाक : हेतु षड्विध इष्ट है।[1]

कारणहेतु, सहभूहेतु, सभागहेतु, संप्रयुक्तकहेतु, सर्वत्रगहेतु, विपाकहेतु : यह ६ प्रकार के हेतु हैं जो आभिधार्मिकों को इष्ट हैं (ज्ञानप्रस्थान, १,११)।[2]

स्वतोऽन्ये कारणं हेतुः सहभूर्ये मिथः फलाः।

भूतवच्चित्तचैत्तानुवर्तिलक्षणलक्ष्यवत् ॥५०॥

---

[1] [कारणहेतुः सहभूः सभागः संप्रयुक्तकः।
सर्वत्रगो विपाकश्च] षड्विधो हेतुरिष्यते ॥ [व्या १८९.१४]
अभिधर्महृदय (नैञ्जियो, १२८८), २.११.
षड्विध हेतु किस सूत्र में उपदिष्ट हैं ? वास्तव में अभिधर्म सूत्र का अर्थ करता है, सूत्र का निकष हैं, सूत्र का व्याख्यान करता है (सर्वो ह्यभिधर्मः सूत्रार्थः सूत्रनिकषः सूत्रव्याख्यानम्) [व्या १८८.२३] वैभाषिक कहते हैं कि यह सूत्र अन्तर्हित हो गया है। एकोत्तरागम में शतक-पर्यन्त धर्म-निर्देश था। आज तो उसमें दशकपर्यन्त (आदशकात्) ही हैं (भूमिका देखिये)।
किन्तु प्रतिनियत हेतुवाचक सूत्र हैं। व्याख्या में उदाहरण हैं जो, प्रतीत होता है, संघभद्र से लिये गये हैं (३.७९ बी१६)।
(ए) कारणहेतु: "चक्षुरिन्द्रिय और रूपप्रत्ययवश चक्षुर्विज्ञान की उत्पत्ति होती है।" (संयुत्त, ४.८७ आदि)
(बी) सहभूहेतु: "यह तीन मार्गांग सम्यग्दृष्टि का अनुवर्तन करते हैं (अनुवर्त्)।" "संस्पर्श त्रिकसंनिपात है; वेदना, संज्ञा और चेतना सहजात हैं।"
(सी) सभागहेतु : "यह पुद्गल कुशलधर्म और अकुशलधर्मों से समन्वागत है। उसके कुशल-धर्म निरुद्ध होते हैं : उसके अकुशलधर्म वृद्धि को प्राप्त होते हैं किन्तु उसके अनुसहगत एक कुशलमूल है जो असमुच्छिन्न है (अस्ति चास्यानुसहगतं कुशलमूलमसमुच्छिन्नम्) [व्या १८८.३१] और जिससे एक अन्य कुशलमूल उत्पन्न होगा: यह पुद्गल आयति में विशुद्ध होगा।" (विशुद्धिधर्मा भविष्यति [व्या १८९.१], अंगुत्तर ३.३१५)।
सदृश संदर्भ में, संयुत्त, ३.१३१ में (कथावत्थु, पृ. २१५ से तुलना कीजिये) 'अनुसहगत' है जिसका यहाँ यथार्थ अनुवाद संघभद्र ने दिया है। एक दृढ़ कुशलमूल इष्ट है जो स्थविर निकाय का पुराण अनु-धातु (?) है (संघभद्र, ९९ बी १९)।
किन्तु व्याख्या की पोथियों में 'अणुसहगत' पाठ है और ४.७९ डी के भाष्य में हम देखेंगे कि ज्ञानप्रस्थान के चीनी भाषान्तर में इस शब्द का ठीक पर्याय है। "सोई प्यू लिंग" इस परिच्छेद में अणुसहगत और मृदुमृदुपर्याय हैं : अणुसहगत कुशलमूल क्या हैं ? —— इनका प्रहाण सबके पीछे होता है जब कुशलमूल समुच्छिन्न होते हैं; इनके अभाव में ही कहते हैं कि कुशलमूल समुच्छिन्न हुए हैं।" [हम ऊपर (पृ. १८४) देख चुके हैं कि यथार्थ में कुशलमूल का कभी समुच्छेद नहीं होता]
(डी) संप्रयुक्तकहेतु: "यह दर्शनमूलिका अवेत्यज्ञानसंप्रयुक्ता श्रद्धा है (६.७४सी): जिसे यह पुद्गल जानता है (विजानाति) उसका प्रज्ञा से प्रतिवेध करता है (प्रज्ञानाति)।"
(ई) सर्वत्रगहेतु : "जिस पुरुष की मिथ्यादृष्टि (५.७) है उसके काय-कर्म, वाक्-कर्म, चेतना, प्रणिधि, तदन्वयसंस्कार आदि यह सब धर्म अनिष्टत्व, अप्रियत्व के लिये हैं। क्यों ? —क्योंकि उसकी पापिका दृष्टि अर्थात् मिथ्यादृष्टि है।" (अंगुत्तर, ५.२१२ से तुलना कीजिये।
(एफ) विपाकहेतु : यहाँ किये हुए कर्म के विपाक का वहाँ उपपन्न होकर प्रतिसंवेदन करते हैं।"

[२४६] ५० ए. सब धर्म स्वतः से अन्य सब के कारणहेतु हैं।[1]

कोई धर्म अपना कारणहेतु नहीं है।

इस अपवाद के साथ सब धर्म सर्व संस्कृत धर्मों के कारणहेतु हैं क्योंकि उत्पत्तिमान् धर्मों के उत्पाद के प्रति प्रत्येक धर्म का अविघ्नभाव से अवस्थान होता है।

इस लक्षण से यह सिद्ध होता है कि सहभूहेतु आदि धर्म कारणहेतु भी हैं। अन्य हेतु कारण-हेतु के अन्तर्गत हैं।—जिस हेतु का कोई विशेष नाम नहीं है, जो बिना किसी विशेषण के कारण-मात्र है वह कारणहेतु है : एक विशेष नाम के योग से यह वह नाम पाता है जो सब हेतुओं के उप-युक्त है। रूपायतन नाम से तुलना कीजिये (१.२४)।

कारणहेतु के संबन्ध में निम्नोल्लिखित सूचनाएं हैं:—

१. मूढ़ पुद्गल में आस्रव उत्पन्न होते हैं। एक बार दृष्टसत्य होने से उनकी [२४७] उत्पत्ति नहीं होती। यथा जब सूर्य की प्रभा होती है तब ज्योतियों का दर्शन नहीं होता। अतः आर्यसत्यों का ज्ञान और सूर्य यथाक्रम आस्रव की उत्पत्ति में और ज्योति-दर्शन में विघ्नकारी हैं। अतः यह कहना यथार्थ नहीं है कि स्वभाववर्ज्य सब धर्म संस्कृत के कारणहेतु हैं क्योंकि वह उत्पत्ति में विघ्न नहीं करते।

हम जानते हैं कि सत्यज्ञान और सूर्यप्रभा उत्पद्यमान धर्म की उत्पत्ति में अर्थात् उस धर्म की उत्पत्ति में विघ्नभावेन अवस्थित नहीं हैं जो प्रत्यय के समग्र[2] होते अनन्तरभावी हैं।

२. जो विघ्न कर सकता है और विघ्न नहीं करता उसे कारण कहते हैं। वास्तव में जब भोजक उपद्रव नहीं करता (अनुपद्रोतृ) तब लोग कहते हैं कि "स्वामी से हम सुखी हैं (स्वामिना स्मः सुखिताः [व्या १९०.१०])"।[3] क्योंकि वह उपद्रव करने में समर्थ है किन्तु उपद्रव नहीं करता। किन्तु क्या उसे कारणहेतु कह सकते हैं जो विघ्न करने में असमर्थ होने से विघ्न नहीं करता? निर्वाण किसी संस्कृत की उत्पत्ति में विघ्न करने में असमर्थ है। इसी प्रकार अनुत्पन्नधर्म अतीत धर्मों की उत्पत्ति में, नारक या तिर्यग्योनि आरूप्यस्कन्ध की उत्पत्ति में, विघ्न करने में असमर्थ हैं : निर्वाण, अनुत्पन्नधर्म, नारक असत् तुल्य हैं क्योंकि विद्यमान होकर भी यह इतर संस्कृतों की उत्पत्ति में विघ्न करने में असमर्थ हैं। क्या इनको कारणहेतु मान सकते हैं?

यह कारणहेतु हैं क्योंकि जब भोजक उपद्रव करने में असमर्थ होता है तब भी ग्रामीण उसी प्रकार कहते हैं जैसा कि पूर्व दृष्टांत में है किन्तु असत् भोजक के लिये वह ऐसा नहीं कहते।

---

[1] स्वतोऽन्ये कारणं हेतुः [व्या १९०.२६]

[2] जब आर्यसत्यों का ज्ञान होता है तब क्लेशहेतु समग्र नहीं होते क्योंकि क्लेशों की प्राप्ति का इस ज्ञान से छेद होता है।

[3] मान्टेन, ३.९: राजकुमार मुझे बहुत कुछ देते हैं यदि वह मेरा कुछ लेते नहीं और वह मेरा बहुत कल्याण करते हैं यदि वह मेरा अनिष्ट नहीं करते।

३. कारणहेतु का जो निर्देश हमने किया है वह सामान्य निर्देश है और उसमें प्रधान कारणहेतु तथा अप्रधान कारणहेतु दोनों संगृहीत हैं। प्रधान कारणहेतु जनक है : इस अर्थ में चक्षु और रूप चक्षुर्विज्ञान के कारणहेतु हैं यथा आहार शरीर[१] का कारणहेतु है, बीजादि अंकुरादि [२४८] के कारणहेतु हैं। (२.५६ बी देखिये)।

४. आक्षेप—यदि सब धर्म अन्य धर्मों के कारणहेतु हैं क्योंकि वह उनमें विघ्न उपस्थित नहीं करते तो सब धर्मों का युगपत् उत्पाद क्यों नहीं होता?[२] प्राणातिपातकारक के समान सब सत्व प्राणातिपातभाक् क्यों नहीं होते ?

दोष व्यर्थ है। वास्तव में सब धर्म कारणहेतु कहलाते हैं क्योंकि वह विघ्नभाव से अवस्थित नहीं होते : यह नहीं है कि उन सब का कारकभाव है।

५. अन्य आचार्यों के अनुसार सब कारणहेतुओं का सब धर्मों के प्रति एक सामर्थ्य है। यथा निर्वाण और चक्षुर्विज्ञान : एक मनोविज्ञान, कुशल या अकुशल, उत्पन्न होता है। निर्वाण उसका आलम्बन है (२.६२ सी-डी)। पश्चात् इस मनोविज्ञान से एक चक्षुर्विज्ञान उत्पन्न होता है। अतः चक्षुर्विज्ञान के प्रति निर्वाण का परंपरया सामर्थ्य है।

अनुत्पन्नधर्म, नारकसत्व आदि का भी ऐसा ही सामर्थ्य है।

५० सी–डी. सहभूहेतु वह धर्म हैं जो एक दूसरे के फल हैं अर्थात् भूत, चित्त और चित्तानुवर्ती, लक्षण और लक्ष्य।[३]

१. जो धर्म परस्पर पुरुषकारफल (२.५८) हैं वह सहभूहेतु कहलाते हैं।[४]

[२४९] यथा महाभूत[५] अन्योन्य के सहभूहेतु हैं। यथा चित्त और चित्तानुवर्ती (२.५१); यथा जाति आदि लक्षण (२.४५ बी) और वह धर्म जो उनका लक्ष्य है।

अतः सब संस्कृत धर्म यथासंभव सहभूहेतु हैं। किन्तु उन धर्मों में यथायोग विशेष करना चाहिये जिनका अन्योन्यफलत्वेन संबन्ध है।[१]

२. पूर्व लक्षण सावशेष है। अतः कहते हैं कि एक धर्म अपने अनुलक्षणों (२.४५) का

---

[१] इस वचन के अनुसार : आहारसमुदयात् कायस्य समुदयः [व्या १९०.२९]—संयुक्त, ३.६२ से तुलना कीजिये।

[२] सब कारण का कार्य होता है : कारणे सति कार्येण भवितव्यम्। [व्या १९०.३२] कारिका ५०, ३.१०२ में इसका विचार-विमर्श है।

[३] सहभूर्ये मिथः फलाः। भूतवच्चित्तचित्तानुवर्तिलक्षणलक्ष्यवत्॥ [व्या १९१.१३] 'वत्' प्रत्यय का अर्थ 'तद्यथा' है।

[४] यह नहीं कहते कि सब सहभूधर्म सहभूहेतु हैं [व्या १९१.१५]। यथा नीलादि भौतिक रूप महाभूतों का सहभू है किन्तु यह उनका सहभूहेतु नहीं है (पृ० २५३ देखिये)।

[५] १.२४; २.२२, ६५ देखिये।

[१] सब संस्कृतधर्म और उसके लक्षण एक दूसरे के सहभूहेतु हैं; एक धर्म अन्य धर्म के लक्षणों का सहभूहेतु नहीं है।

सहभूहेतु है किन्तु इसका उनके साथ अन्योन्यफलसंबन्ध नहीं है : क्योंकि अनुलक्षण अपने धर्म के सहभूहेतु नहीं हैं। लक्षण में इतना बढ़ाना है।[२]

चैत्ता द्वौ संवरौ तेषां चेतसो लक्षणानि च ।
चित्तानुर्वातनः कालफलादिशुभतादिभिः ॥५१॥

किन धर्मों को 'चित्तानुपरिवर्त्ती' कहते हैं ?

५१ ए-सी. चैत्त, दो संवर, चैत्त-संवर द्वय के और चित्त के लक्षण चित्तानुपरिवर्त्ती हैं।[३]

सब चित्तसंप्रयुक्तधर्म (२.२४) ध्यानसंवर और अनास्रवसंवर (४.१७ डी), इन सबके और चित्त के जात्यादि लक्षण (२.४५ बी)।

५१ डी. काल, फलादि और शुभादि की दृष्टि से।[४]

अनुवर्त्ती चित्त के संप्रयुक्त हैं :

१. कालतः : चित्त के साथ इनका एकोत्पाद, एक स्थिति, एक निरोध है। यह और चित्त एक अध्व में पतित हैं।

जब हम कहते हैं "एकोत्पाद....' तब 'एक' शब्द का ग्रहण 'सह' के अर्थ में होता है [२५०] [व्या १९२.११]। अनुवर्त्ती के उत्पाद, स्थिति और निरोध का काल वही है जो चित्त का है किन्तु उनकी उत्पत्ति पृथक् है।

अनुत्पत्तिधर्मी चित्त का उत्पाद, स्थिति, निरोध नहीं होता : इसी प्रकार उनके अनुवर्तियों का। इसीलिये यह उपसंख्यान है : "अनुवर्ती का वही अध्व है जो चित्त का है।" [अनुत्पत्तिक धर्मी चित्त उस क्षण तक अनागत है जिस क्षण में वह उत्पन्न होगा यदि उसे उत्पन्न होना है : तब उसके अनुवर्ती अनागत होते हैं। यह उस क्षण से अतीत है जिस क्षण में वह निरुद्ध होता यदि इसकी उत्पत्ति होती : उसके अनुवर्ती तब अतीत हैं।][१]

२. फलादितः—यहाँ फल पुरुषकारफल (२.५८ ए-बी) और विसंयोगफल (२.५७ डी) है। 'आदि' से विपाकफल (२.५७ ए) और निष्यन्दफल (२.५७सी) का ग्रहण होता है।

एक फल, एक विपाक, एक निष्यन्द से वह चित्त का अनुपरिवर्तन करते हैं : 'एक' 'संख्यान', 'साधारण' के अर्थ में है।

३. शुभादितः—जिस चित्त का वह अनुपरिर्तन करते हैं उसी के सदृश अनुवर्ती कुशल, अकुशल, अव्याकृत होते हैं।

---

[२] उपसंख्यानकरणं च महाशास्त्रताप्रदर्शनार्थम्, सोपसंख्यानं हि व्याकरणादि महाशास्त्रं दृश्यते [व्या १९१.२१]।

[३] चैत्ता द्वौ संवरौ तेषां चेतसो लक्षणानि च। चित्तानुर्वात्तनः

[४] कालफलादिशुभतादिभिः ॥ [व्या १९२.१]

[१] इस परिच्छेद का पूर्वभाग व्याख्या के अनुसार है।

अतः दस कारणों से अनुवर्ती अनुपरिवर्ती कहलाते हैं।[२]

सर्वाल्पचित्त[३] ५८ धर्मों का सहभूहेतु है: अर्थात् (१) दस महाभूमिक (२.२३) और प्रत्येक के चार चार लक्षण; (२) चार स्वलक्षण और चार अनुलक्षण (२.४६)।

यदि इन ५८ धर्मों में से चित्त के चार अनुलक्षणों को वर्जित कर दें—जिनका इस चित्त [२५१] में कोई व्यापार नहीं है—तो ५४ धर्म हैं जो उक्त चित्त के सहभूहेतु होते हैं।[१]

एक दूसरे मत के अनुसार १४ धर्म ही इस चित्त के सहभूहेतु हैं अर्थात् उसके चार लक्षण और १० महाभूमिक। यथा उसके अनुलक्षणों का चित्त में कोई व्यापार नहीं है उसी प्रकार महाभूमिक के लक्षणों का चित्त में कोई व्यापार नहीं है।

वैभाषिक इस मत का—यह कि महाभूमिकों के ४० लक्षण चित्त के सहभूहेतु नहीं हैं—यह कहकर प्रत्याख्यान करते हैं कि यह प्रकरणग्रन्थ के विरुद्ध है। प्रकरणग्रन्थ के अनुसार सत्कायदृष्टि और तत्संप्रयुक्त धर्मों (जिसके अन्तर्गत महाभूमिक हैं) के चार

---

[२] १० कारण कभी एकत्र नहीं होते। यथा अव्याकृत अनुत्पत्तिकधर्मी चित्त में चार कारणों से अनुपरिवर्ती अनुपरिवर्ती होते हैं: (१) एकाध्वपतितत्व, (२) एकफलता (पुरुषकार), (३) एकनिष्यन्दता, (४) अव्याकृतत्व। [व्या १९२.२०]

[३] अर्थात् द्वितीय ध्यान से ऊर्ध्व अनिवृताव्याकृत चित्त; वहाँ वितर्क, विचार और कुशल-महाभूमिक नहीं होते। [व्या १९२.३०]

[१] स्वानुलक्षणों पर चित्त का अविकार होता है (राजयते); जैसा हमने २.४६ में देखा है इनका चित्त में कोई व्यापार नहीं होता।

[२] जापानी संपादक प्रकरण, १३, ५ का हवाला देते हैं—नीचे पृ० २५९ और २६९ देखिये जहाँ इस वचन का उल्लेख है।
प्रकरण चार आर्यसत्य और सत्कायदृष्टि के संबन्धों की परीक्षा करता है। व्याख्या में [व्या १९३.१२) इससे एक उद्धरण दिया है जिसका हम अनुवाद देते हैं:
ए. चार आर्यसत्य हैं। इनमें से कितने सत्कायदृष्टिहेतुक हैं, सत्कायदृष्टि के हेतु नहीं हैं, कितने सत्कायदृष्टि के हेतु हैं, सत्कायदृष्टिहेतुक नहीं हैं; कितने सत्कायदृष्टिहेतुक हैं और सत्कायदृष्टि के हेतु हैं; कितने न सत्कायदृष्टिहेतुक हैं और न सत्कायदृष्टि के हेतु हैं? इस प्रश्न का वह विसर्जन करता है: दो सत्य न सत्कायदृष्टिहेतुक हैं और न सत्कायदृष्टि के हेतु हैं: निरोधसत्य और मार्गसत्य। अन्य दो में भेद करते हैं।
बी. दुःखसत्य: (१) विना सत्कायदृष्टि का हेतु हुए सत्कायदृष्टिहेतुक, (२) सत्कायदृष्टिहेतुक और सत्कायदृष्टि का हेतु, (३) न सत्कायदृष्टिहेतुक तथा न सत्कायदृष्टि का हेतु: यह केवल त्रिकोटिक है, द्वितीय कोटि (बिना सत्कायदृष्टिहेतुक हुए सत्कायदृष्टि का हेतु) नहीं है।
१ (ए) दुःखदर्शनप्रहातव्य अतीत और प्रत्युत्पन्न अनुशय और तत्संप्रयुक्त दुःखसत्य को [यथा दुःखदर्शनप्रहातव्य सत्कायदृष्टि से संप्रयुक्त वेदना];
(बी) सत्कायदृष्टिसंप्रयुक्त अनागत दुःखसत्य को (पृ.२५९, पं.११ देखिये);
(सी) सत्कायदृष्टि और तत्संप्रयुक्त धर्मों की जाति-जरा-स्थिति-अनित्यता (तत्संप्रयुक्तानां च धर्माणाम् [व्या १९३.२५]। यह अन्तिम शब्द किसी संस्करण में नहीं है) को वर्जित कर जो अन्य क्लिष्ट दुःखसत्य है (अर्थात् सर्वधर्म जो दुःख और क्लिष्ट हैं) वह सत्कायदृष्टिहेतुक है, सत्कायदृष्टि का हेतु नहीं है।
२ पूर्व परिच्छेद में स्थापित दुःखसत्य सत्कायदृष्टिहेतुक है और सत्कायदृष्टि का हेतु है।

लक्षण जाति, जरा, स्थिति और अनित्यता, सत्कायदृष्टि के कार्य और कारण दोनों हैं।[१]

[२५२] कुछ आचार्य प्रकरणग्रन्थ के पाठ में यह शब्द छोड़ देते हैं : "और इस सत्कायदृष्टि से संप्रयुक्त धर्मों की।" काश्मीर वैभाषिकों के अनुसार यह शब्द ग्रन्थ में हैं और यदि वह नहीं हैं तो भी उनका पाठ होना चाहिये। अर्थ से ज्ञात है कि अपाठ में दोष है। अधिकारानुवृत्ति से इन शब्दों का ग्रहण होता है।

प्रत्येक धर्म जो सहभूहेतुत्वेन हेतु है (यत्तावत् सहभूहेतुना हेतुः) सहभू हैं, किन्तु ऐसे सहभू हैं जो सहभूहेतु नहीं हैं :

१. मूलधर्म के अनुलक्षण इस धर्म के सहभूहेतु नहीं हैं, (२-४६ ए-बी)

२. यह अनुलक्षण अन्योन्य के सहभूहेतु नहीं हैं,

३. चित्तानुपरिवर्त्ती के अनुलक्षण चित्त के सहभूहेतु नहीं हैं,

४. यह अन्योन्य के सहभूहेतु नहीं हैं,

५. नीलादि भौतिक रूप (उपादायरूप) जो सप्रतिघ और सहज हैं अन्योन्य के सहभूहेतु नहीं हैं,

[२५३] ६. अप्रतिघ और सहज उपादायरूप का एक प्रदेश परस्पर सहभूहेतु नहीं है। दो संवरों को स्थापित करना चाहिये, (पृ.२४९ देखिये)

७. सर्व उपादायरूप यद्यपि भूतों के साथ उत्पन्न हुआ हो भूतों का सहभूहेतु नहीं है,

८. प्राप्तिमान् धर्म के साथ सहोत्पाद होने पर भी सहजप्राप्ति उसका सहभूहेतु नहीं होती।

यह आठ प्रकार के धर्म सहभू हैं किन्तु सहभूहेतु नहीं हैं क्योंकि फल, विपाक और निष्यन्द एक नहीं हैं (पृ.२५० देखिये)।—प्राप्तियाँ सदा धर्म की सहचरिष्णु नहीं हैं : वह धर्म की पूर्वज, पश्चात्कालज या सहज हैं (२.३७-३८)।

सौत्रान्तिक सहभूहेतुत्व की आलोचना करता है।

यह सब हो सकता है (सर्वमप्येतत् स्यात्) कि "जो सहभूहेतुत्वेन हेतु है वह सहभू है", एवमादि। लोक में कुछ का हेतुफलभाव सदा सुव्यवस्थापित है: हेतुफल का पूर्ववर्ती है। इसी-

---

[१] अक्लिष्ट दुःखसत्य [अर्थात् वह धर्म जो दुःख हैं किन्तु कुशल हैं] न सत्कायदृष्टिहेतुक है और न सत्कायदृष्टि का हेतु है।
चीनी संस्करण, नैञ्जियो १२९२ (२३.११, ३८ बी १०) और १२७७ (१०, ५८ बी ४), पूर्व पाठ के समान हैं। कुछ अंश छोड़ दिये गये हैं। (यह पद नहीं हैं : "इति प्रश्ने विसर्जनं करोति" और "त्रिकोटिकम्, द्वितीया कोटिर्नास्ति)।" जो धर्म सत्कायदृष्टिहेतुक हैं और सत्कायदृष्टि के हेतु हैं उनके अच्छे अन्य निर्देश हैं : (ए) दुःखदर्शनप्रहातव्य अतीत और प्रत्युत्पन्न अनुशय तथा तत्संप्रयुक्त दुःखसत्य [१२७७: और इन अनुशयों से संप्रयुक्त, इनके सहभू आदि दुःखसत्य], (बी) समुदयदर्शनप्रहातव्य अतीत-प्रत्युत्पन्न सर्वत्रग अनुशय और तत्संप्रयुक्त [१२७७ संप्रयुक्त, सहभू आदि] दुःखसत्य, (सी) सत्कायदृष्टिसंप्रयुक्त अनागत दुःखसत्य, (डी) अनागत सत्कायदृष्टि और संप्रयुक्त धर्मों की जाति आदि।

लिये बीज अंकुर का हेतु है, अंकुर काण्ड का हेतु है, इत्यादि । किन्तु सहोपन्न अर्थों में यह न्याय नहीं देखा जाता। अतः आपको सिद्ध करना होगा कि सहभू धर्मों का हेतुफलभाव हो सकता है।

सर्वास्तिवादिन् दो दृष्टान्त देता है । प्रदीप सप्रभ उत्पन्न होता है; आतप में उत्पद्यमान अंकुर सच्छाय उत्पन्न होता है। किन्तु प्रदीप सहोत्पन्न प्रभा का हेतु है, अंकुर छाया का हेतु है। अतः हेतु-फल सहोत्पन्न हैं ।

सौत्रान्तिक—यह दृष्टांत असिद्ध हैं। इसका संप्रधारण होना चाहिये (संप्रधार्यम् [व्या १९७.१८]) कि क्या प्रदीप सहोत्पन्न प्रभा का हेतु है अथवा क्या जैसा कि हमारा मत है वर्ति-स्नेहादिक पूर्वोत्पन्न हेतु-प्रत्यय-सामग्री सप्रभ प्रदीप की उत्पत्ति में हेतु है। यथा पूर्वोत्पन्न [२५४] हेतु-सामग्री (बीज, आतपादि) अंकुर और छाया की उत्पत्ति में, सच्छाय अंकुर की उत्पत्ति में, हेतु है।

सर्वास्तिवादिन्—हेतुफलभाव इस प्रकार व्यवस्थापित होता है : "हेतु का भाव होने पर फल का भाव होता है, हेतु का अभाव होने पर फल का अभाव होता है। हेतुविद् का लक्षण सुष्ठु है : "जब क के भाव-अभाव से ख का भाव-अभाव नियमतः होता है तब क हेतु है, ख हेतुमान् है ।" इस प्रकार यदि हम सहभूधर्म और सहभूहेतुधर्म का संप्रधारण करते हैं तो हम देखते हैं कि एक का भाव होने पर सबका भाव होता है और एक का अभाव होने पर सबका अभाव होता है।[१] अतः उनका परस्पर हेतुफल-भाव युक्त है।

सौत्रान्तिक—हम मानते हैं कि सहोत्पन्न धर्मों में एक धर्म दूसरे धर्म का हेतु हो सकता है : चक्षुरिन्द्रिय चक्षुर्विज्ञान की उत्पत्ति में हेतु है।[२] किंतु सहोत्पन्न धर्म परस्पर हेतु और फल कैसे होंगे ?

सर्वास्तिवादिन्—हमने जो हेतुफलभाव का निर्देश किया है उससे अन्योन्यहेतुफलभाव व्यवस्थापित होता है। जब चित्त का भाव होता है तब चैत्तों का भाव होता है और अन्योन्य ।

सौत्रान्तिक—बहुत अच्छा, किंतु उस अवस्था में सर्वास्तिवादिन् को अपने सिद्धान्त को बद-लना होगा । वास्तव में उन्होंने उपादायरूप (भौतिक-रूप-रसादि) के अन्योन्य हेतुफलभाव का निषेध किया है यद्यपि रूप का रस (२.२२) के बिना अस्तित्व नहीं होता (अविनाभाविन्) । उन्होंने उपादायरूप और महाभूतों के अन्योन्यहेतुफलभाव का, अनुलक्षण और चित्त के अन्योन्यहेतुफलभाव का प्रतिषेध किया है।

---

[१] जहाँ एक महाभूत होता है वहाँ अन्य महाभूत भी होते हैं, इत्यादि ।

[२] मैं ऐसा अर्थ करता हूँ : "चक्षुरिन्द्रिय का एक क्षण सहोत्पन्न चक्षुर्विज्ञान की उत्पत्ति में हेतु है ।"

सर्वास्तिवादिन् —यथा त्रिदण्ड का अन्योन्य बल से अवस्थान होता है उसी प्रकार सहभू चित्त-चैत्तादि का हेतुफलभाव सिद्ध होता है।

[२५५] सौत्रान्तिक—इस अभिनव दृष्टांत की मीमांसा होनी चाहिये। प्रश्न है कि क्या त्रिदण्ड का अवस्थान सहोत्पन्न त्रिदण्ड के बल से होता है अथवा क्या जिस प्रकार पूर्वसामग्री-वश उनका सहभाव होता है उसी प्रकार पश्चात् भी परस्पराश्रितों का उत्पाद होता है। पुनः अन्योन्य बल के अतिरिक्त अन्य किंचित् भी यहाँ होता है। सूत्रक, शंकुक, धारिका पृथिवी।

किन्तु सर्वास्तिवादिन् कहता है कि सहभू के सहभूहेतु से अन्य हेतु भी होते हैं अर्थात् सभागहेतु, सर्वत्रगहेतु, विपाकहेतु जो सूत्रकादिस्थानीय हैं। अतः सहभूहेतु सिद्ध है।

सभागहेतुः सदृशाः स्वनिकायभुवोऽग्रजाः।
अन्योन्यं नवभूमिस्तु मार्गः समविशिष्टयोः ॥५२॥

५२ ए. सदृश धर्म सभागहेतु हैं।[1]

सभाग सभाग के सभागहेतु हैं।

१. पांच कुशल स्कन्ध ५ कुशल स्कन्ध के सभागहेतु हैं। क्लिष्ट अर्थात् अकुशल और निवृताव्याकृत क्लिष्ट के सभागहेतु हैं। अव्याकृत अर्थात् अनिवृताव्याकृत अव्याकृत के सभाग-हेतु हैं।

आचार्यों का इस अन्तिम हेतु पर सर्वदा ऐकमत्य नहीं है। कुछ के अनुसार अव्याकृतरूप ५ अव्याकृत स्कन्धों का सभागहेतु है किन्तु वेदनादि चार स्कन्ध रूप के सभागहेतु नहीं हैं।[2] दूसरों के अनुसार चार स्कन्ध पाँच के सभागहेतु हैं किन्तु रूप चार का सभागहेतु नहीं है। दूसरों के अनुसार रूप चार का सभागहेतु नहीं है और अन्योन्यतः।

२. एक निकायसभाग में कलल दस अवस्थाओं का सभागहेतु है : ५ गर्भावस्था हैं—कलल, [२५६] अर्बुद पेशिन्, घन, प्रशाखा; ५ जातावस्था हैं—बाल, कुमार, युवा, मध्य, वृद्ध। द्वितीय गर्भावस्था (अर्बुद....वार्द्ध) ९ अवस्थाओं का सभागहेतु है, एवमादि। प्रत्येक अवस्था का पूर्व क्षण उस अवस्था के अपर क्षणों का सभागहेतु है। (४.५३ से तुलना कीजिए)।

समानजातीय अन्य निकायसभाग में पूर्वजन्म की प्रत्येक अवस्था १० अवस्थाओं का सभागहेतु है।

---

[1] **सभागहेतुः सदृशाः**
२.५९ देखिये।

[2] **समविशिष्टयोः, २.५२ डी इस नियम के अनुसार—चार अरूपी स्कन्ध 'विशिष्ट' हैं, रूप 'न्यून' है। [व्या १९८.२८]**

यव, शालि, व्रीहि आदि बाह्य अर्थों का भी ऐसा ही है। किन्तु सभागहेतुत्व स्वसन्तान में ही होता है : यव यव का सभागहेतु है, शालि का नहीं।

३. दार्ष्टान्तिक इसका प्रतिषेध करता है कि रूप रूप का सभागहेतु है किन्तु यह महाशास्त्र (ज्ञानप्रस्थान, १३, १४) के विरुद्ध है : "अतीत महाभूत अनागत महाभूतों के हेतु और अधिपति हैं।" 'अधिपति' से अधिपति-प्रत्यय (२. ६२ डी) अभिप्रेत है : 'हेतु' से सभागहेतु समझना चाहिए क्योंकि अन्य हेतु स्पष्ट ही निरस्त हैं।

क्या सब सभागधर्म सभागधर्मों के सभागहेतु हैं ? नहीं। सभागहेतु हैं वह सभागधर्म

५२ बी. जो स्वनिकाय और स्वभूमि के हैं।[1]

अर्थात् एक निकाय और एक भूमि के धर्म उक्त निकाय और उक्त भूमि के सभाग-धर्मों के सभागहेतु हैं।

धर्म पाँच निकायों में विभक्त हैं यथा वह चार सत्यों में से एक एक के दर्शन से हेय हैं या भावनाहेय है (१. ४०)।

धर्मों की ९ भूमियाँ हैं : वह कामधातु के हैं, चार ध्यानों में से किसी एक के हैं या चार आरूप्यों में से किसी एक के हैं।

[२५७] दुःखदर्शनहेय (दुःखदृग्हेय) धर्म दुःखदर्शनहेय धर्म का सभागहेतु है, अन्य चार निकायों के धर्मों का नहीं है। एवमादि।

दुःखदर्शनहेय धर्मों में जो कामधातु का है वह कामधातु के धर्म का सभागहेतु है। एवमादि। सभागहेतु का अभी यथार्थ निर्देश नहीं हुआ है। वास्तव में केवल वह धर्म सभागहेतु हैं जो

५२ बी. अग्रज हैं।[1]

अग्रज अतीत-प्रत्युत्पन्न धर्म उत्पन्न-अनागत उत्तर सभागधर्मों का सभागहेतु है, अनागत धर्म सभागहेतु नहीं है।[2]

१. किस प्रमाण पर यह लक्षण आश्रित हैं ?

मूलशास्त्र पर क्योंकि ज्ञानप्रस्थान (१, ११) कहता है : "सभागहेतु क्या है ? उत्पन्न और अग्रज कुशलमूल स्वनिकाय और स्वभूमि के पश्चात् कुशलमूल और तत्संप्रयुक्त धर्मों के प्रति सभागहेतु है। इसी प्रकार अतीत कुशल-मूल अतीत और प्रत्युत्पन्न कुशलमूलों के प्रति सभागहेतु हैं ; अतीत और प्रत्युत्पन्न कुशलमूल अनागत कुशलमूलों के प्रति सभागहेतु हैं।"

२. दोष—अनागत धर्म सभागहेतु है क्योंकि इसी ज्ञानप्रस्थान में यह पठित है : "जो धर्म किसी धर्म का हेतु है क्या कोई ऐसा अध्व है जहाँ यह उसका हेतु न हो?—कभी ऐसा नहीं होता कि यह धर्म हेतु न हो (न कदाचिन्न हेतुः)।" [व्या १९९.२३]

---

[1] स्वनिकायभुवो

[1] अग्रजाः [व्या १९९.१८]

[2] परमार्थ के अनुसार—शुआन्-चाङ में नहीं है, मूल में नहीं है।

वैभाषिक—यह वचन प्रथम का विरोध नहीं करता क्योंकि ज्ञानप्रस्थान की यहाँ अभिसन्धि [२५८] सभागहेतु से नहीं है किन्तु सहभूहेतु, संप्रयुक्तकहेतु, विपाकहेतु से है।

एक दूसरे मत के अनुसार अर्थात् परमावस्थावादियों के अनुसार ज्ञानप्रस्थान के इस उत्तर का अभिप्राय कि "कभी ऐसा नहीं होता कि यह धर्म हेतु न हो" सभागहेतु से है और यह मत इस प्रकार निर्दिष्ट है : जायमान अवस्था में अनागत धर्म अवश्य सभागहेतु है। अतः अनागत धर्म की चरमावस्था को लक्ष कर ज्ञानप्रस्थान कह सकता है कि कभी ऐसा नहीं होता कि धर्म हेतु न हो और यह सदा हेतु है क्योंकि अनागत क्षणविशेष में यह हेतु है।

इस व्याख्यान से इस वादी के दोष का परिहार नहीं होता। वास्तव में यदि अनागत धर्म उत्पद्यमान अवस्था से पूर्व सभागहेतु न होकर पश्चात् हेतु होता है तो यह नित्य हेतु नहीं है, किन्तु ज्ञानप्रस्थान आत्यन्तिक रूप से कहता है कि ऐसा कभी नहीं होता कि यह हेतु न हो।

पुनः यह व्याख्यान ज्ञानप्रस्थान के उस उत्तर (२०, २, विभाषा, १७, १२) से अविरुद्ध नहीं है जो वह एक दूसरे प्रश्न का देता है : "जो धर्म जिस धर्म का समनन्तर-प्रत्यय (२.६२ ए-बी) है क्या ऐसा कोई अध्व है जहाँ वह उसका समनन्तर न हो?—हाँ, यदि यह धर्म उत्पन्न नहीं होता (यदि स धर्मो नोत्पन्नो भवति [व्या २००.६])"—किन्तु समनन्तर सभागहेतु के सदृश है : अनागत समनन्तर उत्पद्यमान अवस्था में समनन्तर होता है। अतः यदि "ऐसा कदाचित् नहीं होता कि यह धर्म हेतु न हो" इस उत्तर का यह अर्थ कि "अनागत उत्पद्यमान अवस्था में सभाग-हेतु है" यथार्थ है तो ज्ञानप्रस्थान को सभागहेतु के सदृश समनन्तर के लिये भी वही उत्तर देना चाहिये कि "ऐसा कभी नहीं होता कि यह धर्म समनन्तर न हो।" किन्तु ज्ञानप्रस्थान का उत्तर है कि "यह समनन्तर नहीं है यदि यह उत्पन्न नहीं होता।" अतः प्रथम उत्तर का 'हेतु' शब्द सभाग-हेतु के अर्थ में नहीं है।

'परमावस्थावादी' कहता है : ज्ञानप्रस्थान प्रथम प्रश्न के उत्तर में कहता है कि "ऐसा कभी नहीं होता कि यह हेतु न हो" और दूसरे के उत्तर में कहता है कि "यह हेतु नहीं है यदि यह उत्पन्न नहीं होता।" ऐसा यह प्रदर्शित करने के लिये है कि उत्तर के दो मुख हैं (द्विमुखप्रदर्शनार्थम् [व्या २००.८])। यथा द्वितीय प्रश्न का उत्तर है वैसा ही प्रथम का भी कर सकते हैं, यथा प्रथम प्रश्न का उत्तर है वैसा द्वितीय का भी कर सकते हैं।

[२५९] इसमें क्या गुण है? शास्त्रकार का यहाँ अकौशल ज्ञात होता है! अतः पूर्वक परिहार साधु है।

३. यदि अनागत धर्म सभागहेतु नहीं है तो प्रकरणपादशास्त्र का यह उपदेश क्यों है कि अनागत सत्कायदृष्टि सत्कायदृष्टि हेतुक है और सत्कायदृष्टि का हेतु है? वास्तव में (पृ. २५१, टिप्पणी २ B १ b में उद्धृत वचन में यह पठित है : "अनागत सत्कायदृष्टि और तत्सं-

प्रयुक्त दुःखसत्य को स्थापित कर" (अनागतां सत्कायदृष्टिं तत्संप्रयुक्तं च दुःखसत्यं स्थापयित्वा)।[१]

वैभाषिक का उत्तर है कि यह पाठ विनष्टक है। पाठ ऐसा होना चाहिये : "अनागत सत्काय-दृष्टि से संप्रयुक्त दुःखसत्य को स्थापित कर" (अनागतसत्कायदृष्टिसंप्रयुक्तम् (व्या २०१. ४])। इसके मानने के लिये कि आपका पाठ प्रामाणिक है यह मानना होगा कि यह पाठ भाष्या-क्षेप से [अर्थात् पूर्वपद का अनुकरण कर] (भाष्याक्षेपात्) निर्वृत्त है, तन्त्र नहीं है (न तन्त्रम्) क्योंकि वचन का अर्थ इसी प्रकार जानना चाहिये (अर्थतो वैवम् बोद्धव्यम्)। [व्या २०१. १०]।

[२६०] ४. यदि अनागत धर्म सभागहेतु नहीं है तो इस प्रज्ञप्ति भाष्य[१] का कैसे व्याख्यान करना चाहिये (कथं नीयते) ? वास्तव में इस शास्त्र में कहा है कि "सब धर्म चतुष्क में नियत हैं (चतुष्के नियताः [व्या २०१.१२]) : हेतु, फल, आश्रय, आलम्बन।"[२]

वैभाषिक उत्तर देता है : जब शास्त्र कहता है कि "ऐसा नहीं होता कि यह धर्म इस धर्म का कदाचित् हेतु न हो" तो उसका अभिप्राय सब प्रकार के हेतुओं से नहीं है। हेतु यहाँ संप्रयुक्तक हेतु और सहभूहेतु है। फल यहाँ अधिपतिफल और पुरुषकारफल (२.५८) है।[३] आश्रय से ६ इन्द्रिय (चक्षुरादि) और आलम्बन से रूपादि ६ विषय इष्ट हैं।

५. यदि अनागत धर्म सभागहेतु नहीं है तो सभागहेतु का पूर्व भाव नहीं है; इसका अभूत्वा भाव है (अभूत्वा भवति)।

किन्तु वैभाषिक की ठीक यही प्रतिज्ञा है। सभागहेतु की सभागहेतुत्व-अवस्था पूर्व न थी, यह पहले न होकर अब होती है (अभूत्वा भवति)। किन्तु द्रव्य जो सभागहेतु-विशेष है अपूर्व

---

[१] वैभाषिक के प्रतिपक्षी के अनुसार प्रकरण की शिक्षा है कि अनागत सत्कायदृष्टि और तत्सं-प्रयुक्त धर्म सत्कायदृष्टि के फल और हेतु दोनों हैं। किन्तु अनागत सत्कायदृष्टि न सहभू-हेतु है, न संप्रयुक्तकहेतु और न विपाकहेतु। साधारण होने के कारण कारणहेतु की गणना नहीं करते। पारिशेष्य से यह सभागहेतु और सर्वत्रगहेतु हो सकता है।
वैभाषिक के अनुसार प्रकरण यहाँ अनागत सत्कायदृष्टि का उल्लेख नहीं करता किन्तु (वेद-नादि) धर्मों का करता है जो इस सत्कायदृष्टि से संप्रयुक्त हैं : यह सत्कायदृष्टि के सहभू-हेतु और संप्रयुक्तकहेतु हैं और सहभू-संप्रयुक्तक हेतुभूत सत्कायदृष्टि के फल हैं।
तीन पाठ हैं। दो पाठ जो यहाँ उद्धृत हैं उनके अतिरिक्त एक यह भी पाठ है : अनागतं च सत्कायदृष्टिसंप्रयुक्तं दुःखसत्यं स्थापयित्वा", "अनागत और सत्कायदृष्टि-संप्रयुक्त दुःख-सत्य को भी स्थापित कर" (पृ.२५१, टिप्पणी २ B १ b देखिये)

[१] नीचे पृ.२७०, टिप्पणी २ देखिये।

[२] अर्थात् : "जिस धर्म का जो धर्म हेतु होता है वह धर्म कदाचित् उस धर्म का हेतु न हो ऐसा नहीं होता; जिस धर्म का जो धर्म फल होता है....; जिस धर्म का (चक्षुर्विज्ञान आदि का) जो धर्म (चक्षुरादि) आश्रय होता है.....; जिस धर्म का (चक्षुर्विज्ञान का) जो धर्म (रूपादि) आलम्बन होता है वह धर्म कदाचित् उस धर्म का आलम्बन न हो ऐसा नहीं होता।

[३] शुआन्-चांङ के अनुसार : "हेतु से कारण, सहभू, संप्रयुक्तक और विपाकहेतु समझना चाहिये; फल से अधिपति, पुरुषकार और विपाकफल"।—परमार्थ : "हेतु से संप्रयुक्तकहेतु, फल से अधिपति और पुरुषकारफल समझना चाहिये।"

नहीं है। अनागत धर्म सभागहेतु नहीं है; एक बार उत्पन्न होकर यह सभागहेतु होता है। वास्तव में हेतु-सामग्र्य का फल अवस्था है, द्रव्य धर्म नहीं है। [अनागतधर्म द्रव्यतः है; हेतुसामग्री उसे अतीत से वर्तमान में आनीत करती है, उसे वर्तमानावस्था से युक्त करती है और इसी से सभागहेतुत्व से युक्त करती है; ५.२५ देखिये]।

६. इसमें आप क्या दोष देखते हैं यदि अनागत धर्म उसी प्रकार सभागहेतु हो जिस प्रकार वह विपाकहेतु (२.५४ सी) है ?

[२६१] यदि यह सभागहेतु होता तो ज्ञानप्रस्थान में (ऊपर, पृ.२५७, पं.१५) इसका ग्रहण होता किन्तु ज्ञानप्रस्थान इस प्रश्न के उत्तर में कि 'सभागहेतु क्या है ?' केवल इतना कहता है कि अनागत कुशलमूल अनागत कुशलमूलों का सभागहेतु है।

हम नहीं समझते कि इस वचन में अनागत धर्म का अग्रहण हमारे विरुद्ध कोई तर्क है। वास्तव में इस वचन में केवल उन सभागहेतुओं का ग्रहण है जो फल-दान और फल-ग्रहण क्रिया में समर्थ हैं [व्या २०२ .३] (फलदानग्रहणसमर्थ, २.५९)।

ऐसा नहीं है (नैतदस्ति) क्योंकि सभागहेतु का फल निष्यन्द-फल (२.५७ सी) है, हेतु-सदृश फल है और इस प्रकार का फल अनागत धर्म के अयुक्त है क्योंकि अनागत में पूर्व-पश्चिमता का अभाव है (पूर्वपश्चिमताभावात् [व्या २०२.१२])। दूसरी ओर यह युक्त नहीं है कि एक उत्पन्न धर्म-अतीत या प्रत्युत्पन्न-एक अनागत धर्म का निष्यन्द है यथा एक अतीत धर्म एक प्रत्युत्पन्न धर्म का निष्यन्द नहीं है क्योंकि हेतु के पूर्व फल नहीं होता।—अतः अनागत धर्म सभाग-हेतु है।

७. यदि ऐसा है तो अनागत धर्म विपाकहेतु (२.५४ सी) भी न होगा क्योंकि (१) विपाक-फल (२.५६ ए) का अपने हेतु के पूर्व और साथ अयोग है; (२) अनागत अध्व में पूर्व-पश्चिमता का अभाव है।

वैभाषिक उत्तर देता है कि ऐसा नहीं है। सभागहेतु और उसका निष्यन्द-फल सभाग-धर्म हैं। इस कल्पना में कि अनागत अवस्था में उनका अस्तित्व है, जहाँ पूर्व-पश्चिमता का अभाव है, वह अन्योन्यहेतु होते हैं और इसलिये अन्योन्यफल होते हैं किन्तु दो धर्मों की अन्योन्य-निष्यन्दता युक्तिमती नहीं है। इसके विपरीत विपाकहेतु और विपाक-फल असभाग हैं। यदि पूर्व-पश्चिमता का अभाव हो तो भी अन्योन्य हेतु-फलता का प्रसंग नहीं होता क्योंकि हेतु और फल के भिन्न-भिन्न [२६२] लक्षण हैं। सभागहेतु अवस्था व्यवस्थित है : अनागत धर्म सभागहेतु नहीं है। धर्म वर्तमाना- वस्था में, अतीतावस्था में, सभागहेतु होता है। विपाकहेतु लक्षण-व्यवस्थित है (लक्षणव्यव- स्थितस्तु विपाकहेतुः [व्या २०३.३])।

हमने कहा है कि एक धर्म केवल स्वभूमि के धर्मों का सभागहेतु होता है। क्या यह नियम सब धर्मों के लिये है ?

यह केवल सास्रव-धर्मों के लिये है, अनास्रव-धर्मों के लिये नहीं।

५२ सी-डी. किन्तु नवभूमिक-मार्ग अन्योन्य का सभागहेतु है ।[1]

मार्ग इस अर्थ में नवभूमिक है—अनागम्य, ध्यानान्तर, चार मूलध्यान, प्रथम तीन अधर आरूप्य (६.२० सी)—कि योगी समापत्ति की इन ९ अवस्थाओं में विहार कर मार्ग की भावना कर सकता है ।

तुल्य भूमि-भेद में मार्ग-धर्म मार्ग-धर्म के सभागहेतु हैं। वास्तव में इन भूमियों में मार्ग आगन्तुक सा है; यह भूमियों के धातुओं में पतित नहीं है। कामावचरी, रूपावचरी, आरूप्यावचरी तृष्णा मार्ग को स्वीकृत नहीं करती। चाहे जिस भूमि का संनिश्रय लेकर योगी मार्ग की भावना करता है मार्ग समानजातीय रहता है। अतः मार्ग मार्ग का सभागहेतु है।

सर्व मार्ग सर्व मार्ग का सभागहेतु नहीं होता। जिस भूमि में इसकी भावना होती है उसका संप्रधारण नहीं करना है किन्तु मार्ग के स्वलक्षणों का विचार करना है।

५२ डी. मार्ग सम या विशिष्ट मार्ग का सभागहेतु है ।[2]

न्यून मार्ग का नहीं क्योंकि मार्ग सदा प्रयोगज है।

[२६३] न्यून, सम, विशिष्ट मार्ग इन आख्याओं का हम व्याख्यान करते हैं।

जब अतीत या प्रत्युत्पन्न दुःखे धर्मज्ञानक्षान्ति (दर्शनमार्ग का प्रथम क्षण, ६.२५ डी) उसी प्रकार अनागत क्षान्ति का सभागहेतु होती है तब कार्यमार्ग कारणमार्ग के सम होता है।

जब यह क्षान्ति दुःखे धर्मज्ञान (दर्शनमार्ग का द्वितीय क्षण, ६.२६ ए) का सभागहेतु होती है तब कार्यमार्ग कारण मार्ग से विशिष्ट होता है।

एवमादि यावत् अनुत्पादज्ञान (६.५०) जो अपना विशिष्ट न होने से केवल सममार्ग अर्थात् अनागत अनुत्पादज्ञान का सभागहेतु हो सकता है।

२. विस्तार करते हैं। दर्शनमार्ग, दर्शनमार्ग भावनामार्ग और अशैक्षमार्ग का सभागहेतु है; भावनामार्ग भावनामार्ग और अशैक्षमार्ग का; अशैक्षमार्ग सम या विशिष्ट अशैक्षमार्ग का।

३. सर्व मार्ग का अभ्यास मृद्विन्द्रिय या तीक्ष्णेन्द्रिय योगी कर सकता है: मृद्विन्द्रिय-मार्ग मृदु-तीक्ष्णेन्द्रिय-मार्ग का सभागहेतु है। तीक्ष्णेन्द्रियमार्ग तीक्ष्णेन्द्रियमार्ग का ही सभागहेतु है।—अतः श्रद्धानुसारिमार्ग (६.२९) ६ का, श्रद्धाधिमुक्तमार्ग (६.३१) चार का, समयविमुक्त-मार्ग (६.५६-७) दो मार्गों का सभागहेतु है। धर्मानुसारिमार्ग (६.२९) तीन का, दृष्टिप्राप्तमार्ग (६.३१) दो का और असमयविमुक्तमार्ग (६.५६-७) एक मार्ग का सभागहेतु है।[1]

---

[1] **अन्योन्यं नवभूमिस्तु मार्गः [व्या २०३.१३]**

[2] **समविशिष्टयोः ॥ [व्या २०३.२६]**

[1] **श्रद्धानुसारिन्, श्रद्धाधिमुक्त और समयविमुक्त के मार्ग मृद्विन्द्रिय योगी के दर्शन, भावना (=शैक्ष) और अशैक्ष मार्ग हैं। धर्मानुसारिन् दृष्टिप्राप्त और असमयविमुक्त के मार्ग यथाक्रम तीक्ष्णेन्द्रिय योगी के यही मार्ग हैं।**

यदि ऊर्ध्वभूमिक-मार्ग अधोभूमिक-मार्ग का सभागहेतु होता है तो यह सम या विशिष्ट मार्ग का हेतु कैसे हो सकता है ?

[२६४] अधोभूमिक-मार्ग (१) इन्द्रियतः सम या विशिष्ट होता है क्योंकि सब भूमियों में इन्द्रिय मृदु या तीक्ष्ण हो सकती हैं; (२) हेतूपचयतः[1] सम या विशिष्ट होता है।

यद्यपि एक सन्तान में अनुक्रम से श्रद्धानुसारिन् और धर्मानुसारिन् मार्ग का होना असंभव है तथापि प्रथम प्रत्युत्पन्न या अतीत, द्वितीय अनागत का सभागहेतु है।[2]

प्रयोगजास्तयोरेव श्रुतचिन्तामयादिकाः ।
संप्रयुक्तकहेतुस्तु चित्तचैत्ताः समाश्रयाः ॥५३॥

क्या सम और विशिष्ट फल का नियम केवल अनास्रव-धर्मों के लिये अर्थात् मार्ग-संगृहीत धर्मों के लिये है ?

५३ ए. प्रायोगिक धर्म सम और विशिष्ट इन्हीं दो के सभागहेतु होते हैं।[3]

प्रयोगज लौकिक धर्म सम या विशिष्ट धर्मों के सभागहेतु होते हैं, हीन धर्मों के नहीं।

प्रयोगज धर्म कौन हैं ?

५३ बी. जो श्रुतमय, चिन्तामय आदि हैं।[3]

'प्रयोगज' धर्म उपपत्ति-प्रतिलम्भिक-धर्मों के प्रतिपक्ष हैं। यह गुण श्रुत अर्थात् बुद्धवचन, चिन्ता और भावना से निर्वृत्त होते हैं।

[२६५] प्रायोगिक होने से यह विशिष्ट या सम के सभागहेतु हैं, हीन के नहीं।

कामावचर श्रुतमय धर्म कामावचर श्रुतमय और चिन्तामय धर्मों के सभागहेतु हैं, भावनामय धर्मों के नहीं क्योंकि कामधातु में भावनामय धर्मों का अभाव होता है, क्योंकि कोई भी धर्म स्वधातु के धर्मों का ही सभागहेतु होता है।

रूपावचर श्रुतमय धर्म रूपावचर श्रुतमय और भावनामय धर्मों के सभागहेतु हैं, चिन्ता-

---

[1] यदि हम प्रथम १५ क्षणों का (दर्शनमार्ग, ६.२७) विचार करें तो अधोभूमिक द्वितीय क्षण ऊर्ध्वभूमिक प्रथम क्षण से विशिष्ट है क्योंकि इसके हेतु (१) प्रथम क्षण के हेतु हैं, (२) स्वहेतु हैं, एवमादि : भावनामार्ग के हेतु (१) दर्शनमार्ग के हेतु हैं, (२) स्वकीय हेतु हैं; अशैक्षमार्ग के हेतु (१) दर्शन और भावनामार्ग के हेतु हैं; (२) स्वकीय हेतु हैं। पुनः भावनामार्ग और अशैक्षमार्ग में मार्ग अधिमात्र-अधिमात्र, अधिमात्र-मध्य आदि ९ प्रकार के क्लेशों का विनाश करता है। यह उत्तरोत्तर मृदु-मृदु, मृदु-मध्य, मृदु-अधिमात्र, मध्य-मृदु आदि होता है।—मृदु-मध्य मार्ग के हेतु (१) मृदु-मृदु मार्ग के हेतु हैं, (२) स्वकीय हेतु हैं।

[2] अतः हम यह कह सकते हैं कि श्रद्धानुसारिमार्ग ६ मार्गों का सभागहेतु है। इस वाद से विवाद उत्पन्न होता है। आचार्य वसुमित्र का यह मत अयुक्त है कि श्रद्धानुसारी इन्द्रिय-संचार कर सकता है। [व्या २०६.१९]

[3] [प्रायोगिकास्तयोरेव श्रुतचिन्तामयादयः]

मय धर्मों के नहीं, क्योंकि इस धातु में इन धर्मों का अभाव होता है : जब रूपधातु में चिन्तन आरम्भ करते हैं तब समाधि उपस्थित होती है ।

रूपावचर भावनामय धर्म रूपावचर भावनामय धर्मों के सभागहेतु हैं, रूपावचर श्रुतमय धर्मों के नहीं, क्योंकि यह हीन हैं ।

आरूप्यावचर भावनामय धर्म आरूप्यावचर भावनामय धर्मों के सभागहेतु हैं। इस धातु में श्रुतमय और चिन्तामय धर्मों का अभाव है ।

पुनः, प्रायोगिक धर्म ९ प्रकार के हैं : मृदु-मृदु, मृदु-मध्य आदि ।—मृदु-मृदु ९ प्रकार के धर्मों के सभागहेतु हैं; मृदु-मध्य मृदु-मृदु प्रकार को वर्जित कर आठ प्रकार के धर्मों के सभाग-हेतु हैं । यह नीति है ।

सर्व "उपपत्तिप्रतिलम्भिक" कुशल ९ प्रकार के हैं। यह परस्पर सभागहेतु हैं। क्लिष्ट धर्म भी इसी प्रकार के हैं।

अनिवृताव्याकृत धर्म चार प्रकार के हैं (२,७२); पश्चाद्वर्ती पूर्ववर्ती की अपेक्षा 'विशिष्ट' है : विपाकज धर्म (१.३७), निषद्यादि ऐर्यापथिक धर्म, शैल्पस्थानिक धर्म और निर्माणचित्त (७.४८) ।—यह चार प्रकार यथाक्रम चार, तीन, दो और एक प्रकार के सभागहेतु हैं।

[२६६] पुनः क्योंकि कामावचर निर्माणचित्त चतुर्ध्यान (विभाषा, १८.४) का फल हो सकता है अतः इसी विशेष को यहाँ व्यवस्थापित करने का अवकाश है : निर्माण-चित्त के चार प्रकार हैं। यह अपने प्रकार के अनुसार यथाक्रम चार, तीन, दो या एक निर्माणचित्त के सभागहेतु हैं। वास्तव में जो निर्माणचित्त उत्तरध्यान का फल है वह उस निर्माणचित्त का सभागहेतु नहीं है जो अधरध्यान का फल है : महायत्नसाध्य (आभिसंस्कारिक) सभागहेतु (निर्माणचित्त) का हीयमान फल नहीं होता ।[1]

इस नियम के व्यवस्थित होने पर निम्न प्रश्नों का विसर्जन करते हैं (अत एवाहुः [व्या २०८.२])[2]:

१. क्या कोई उत्पन्न अनास्रवधर्म है जो अनुत्पत्तिधर्मा अनास्रवधर्म का हेतु न हो ?

हाँ। उत्पन्न दुःखे धर्मज्ञान अनुत्पत्तिधर्मा दुःखे धर्मज्ञानक्षान्तियों का हेतु नहीं है। पुनः विशिष्ट न्यून का हेतु नहीं है ।

२. क्या एक सन्ताननियत पूर्वप्रतिलब्ध (:जिसकी प्राप्ति का पूर्वलाभ हो चुका है) अनास्रवधर्म है जो पश्चादुत्पन्न अनास्रवधर्म का हेतु न हो ?

हाँ। अनागत दुःखे धर्मज्ञानक्षान्ति [किन्तु जिनकी प्राप्ति मार्ग के प्रथम क्षण में प्रतिलब्ध हो चुकी है] उत्पन्न दुःखे धर्मज्ञान का हेतु नहीं हैं। क्योंकि फल हेतु से पूर्व का नहीं होता अथवा क्योंकि अनागत धर्म सभागहेतु नहीं है ।

---

[1] **आभिसंस्कारिकस्य सभागहेतोर्हीयमानं फलं न भवति। [व्या २०७.२८]**

[2] **परमार्थ: आचार्य कहते हैं ।—विभाषा, १८,५ ।**

३. क्या पूर्वोत्पन्न अनास्रवधर्म है जो पश्चादुत्पन्न अनास्रवधर्म का हेतु न हो ?

हाँ। विशिष्ट (=अधिमात्र) न्यून का हेतु नहीं है। यथा जब उत्तरफल से परिहीण अधरफल का संमुखीभाव करता है तो उत्तरफल अधरफल का हेतु नहीं है। पुनः पूर्वोत्पन्न [२६७] दुःखे धर्मज्ञान की प्राप्ति उत्तरक्षणसहोत्पन्न (दुःखेऽन्वयज्ञानक्षान्तिक्षणे आदि) दुःखे धर्मज्ञानक्षान्ति की प्राप्तियों का सभागहेतु नहीं है क्योंकि यह नई प्राप्तियाँ न्यून हैं।

५३ सी-डी. केवल चित्त और चैत्त संप्रयुक्तकहेतु हैं।[1]

चित्त और चैत्त संप्रयुक्तकहेतु हैं।

क्या इसका यह अर्थ है कि भिन्नकालज, भिन्नसन्तानज चित्त और चैत्त परस्पर संप्रयुक्तक-हेतु हैं ?

नहीं।

अतः क्या हम कहेंगे कि एकाकार अर्थात् एक नीलादि आकार और एकालम्बन अर्थात् एक नीलादि आलम्बन चित्त-चैत्त संप्रयुक्तकहेतु हैं ?

नहीं। इसमें भी वही प्रसंग उपस्थित होता है : भिन्नकालज और भिन्नसन्तानज चित्त और चैत्त का एक आकार और एक आलम्बन होता है।

क्या हम कहेंगे कि एकाकार और एकालम्बन चित्त-चैत्तों को एक काल का भी होना चाहिये ?

यह पर्याप्त नहीं है क्योंकि एक काल में बहुजन नवचन्द्र का दर्शन करते हैं।

अतः आचार्य इतना अधिक कहते हैं :

५३ डी. जिनका सम आश्रय है।[2]

जिन चित्त-चैत्तों का अभिन्न आश्रय है वह परस्पर संप्रयुक्तकहेतु हैं।

'सम' का अर्थ 'अभिन्न' है।[3]

[२६८] यथा चक्षुरिन्द्रिय का एक क्षण (१) एक चक्षुर्विज्ञान, (२) विज्ञान-संप्रयुक्त वेदना और अन्य चैत्तों का आश्रय है। यही नीति अन्य इन्द्रियों के लिये है यावत् मनस् : मन-इन्द्रिय का एक क्षण एक मनोविज्ञान और तत्संप्रयुक्त चैत्तों का आश्रय है।

जो संप्रयुक्तकहेतु है वह सहभूहेतु भी है। इन दो हेतुओं में क्या भेद है ?[1]

धर्म सहभूहेतु कहलाते हैं क्योंकि वह अन्योन्यफल हैं (अन्योन्यफलार्थेन [व्या २०९.२२])। यथा सहसार्थिकों का मार्गप्रयाण परस्पर बल से होता है इसी प्रकार चित्त चैत्त का फल है, चैत्त चित्त का फल है।

---

[1] संप्रयुक्तकहेतुस्तु चित्तचैत्ताः [व्या २०९.४]
व्याख्या : तु शब्दोऽवधारणे भिन्नक्रमश्च। [व्या २०९.५]
विभाषा, १६, १२—'संपयुत्तो' पर कथावत्थु, ७.२।

[2] समाश्रयाः ॥ [व्या २०९.२०]

[3] 'सम' का अर्थ 'तुल्य' भी होता है। अतः आचार्य स्पष्ट करते हैं।

[1] विभाषा, १६, १५ इस वस्तु पर ६ मत देती है।

धर्म संप्रयुक्तकहेतु कहलाते हैं क्योंकि उनकी समप्रवृत्ति (समप्रयोगार्थेन [व्या २०९.२५] प्रयोग=प्रवृत्ति) होती है अर्थात् उनमें पूर्वनिर्दिष्ट (२.३४) पांच समता होती हैं। सह-सार्थिकों की यात्रा अन्योन्य बल से होती है। पुनः उनकी सम अन्नपानादि परिभोग-क्रिया होती है। इसी प्रकार चित्त और चैत्त के अभिन्न आश्रय, अभिन्न आकारादि होते हैं : यदि पांच समताओं में से किसी एक का भी अभाव हो तो उनकी समप्रवृत्ति नहीं होती और वह संप्रयुक्त नहीं होते।[१]

सर्वत्रगाख्यः क्लिष्टानां स्वभूमौ पूर्वसर्वगाः।
विपाकहेतुरशुभाः कुशलाश्चैव सास्रवाः॥५४॥

५४ ए-बी. पूर्व सर्वग स्वभूमिक क्लिष्ट धर्मों के सर्वत्रगहेतु हैं ।[२]

[२६९] अनुशय कोशस्थान में (५.१२) हम सर्वग का व्याख्यान करेंगे । पूर्वोत्पन्न अर्थात् अतीत या प्रत्युत्पन्न, स्वभूमिक सर्वग स्वभूमिक पश्चिम क्लिष्ट धर्मों के जो संप्रयोग या समुत्थानवश (४.९ सी) क्लेशस्वभाव हैं सर्वत्रगहेतु हैं ।

सर्वग क्लिष्ट धर्मों के सामान्य कारण हैं । यह निकायान्तरीय क्लिष्ट धर्मों के भी हेतु हैं (निकाय, २.५२ बी) : इनके प्रभाव से अन्य निकायों में उत्पन्न क्लेश सपरिवार उत्पन्न होते हैं (उपजायन्ते) ।[१] अतः सभागहेतु से पृथक् इनकी व्यवस्था होती है ।[२]

क्या आर्य पुद्गल के क्लिष्टधर्म (रागादि) सर्वत्रगहेतुक हैं ? किन्तु आर्य के सब सर्वग प्रहीण हैं क्योंकि यह दर्शनप्रहातव्य हैं ।

काश्मीर वैभाषिक स्वीकार करते हैं कि सब क्लिष्ट धर्मों के हेतु दर्शनप्रहातव्य धर्म हैं। क्योंकि प्रकरणपाद[३] के यह शब्द हैं : दर्शनप्रहातव्य धर्म किन धर्मों के हेतु होते हैं ?—क्लिष्ट धर्म[४] और दर्शनप्रहातव्य धर्मों के विपाक के।—अव्याकृत किन धर्मों के हेतु होते हैं ?—अव्याकृत[५] संस्कृत धर्म और अकुशल धर्मों के ।—क्या कोई दुःखसत्य है जो सत्कायदृष्टिहेतुक हो और जो सत्कायदृष्टि का हेतु न हो ?

---

[१] यथा तेषां......समान्नपानस्नानशयनादिपरिभोगक्रियायां प्रयोगस्तद्वत् समप्रयोगत्वम् एषामन्योन्यं भवति। अत एवाह। एकेन हि विना न सर्वे संप्रयुज्यन्ते । [व्या २०९. २६]

[२] सर्वत्रगाख्यः क्लिष्टानां स्वभूमौ पूर्वसर्वगाः । [व्या २०९.३०]

[१] दुःखदर्शनप्रहातव्य सर्वत्रगहेतु से समुदय-निरोध-मार्ग-दर्शनप्रहातव्य और भावनाप्रहातव्य क्लेश प्रवृत्त होते हैं। समुदयदर्शनप्रहातव्य सर्वत्रगहेतु से दुःख-निरोध-मार्ग-दर्शनप्रहातव्य और भावनाप्रहातव्य क्लेश प्रवृत्त होते हैं.....

[२] इन्हें 'सर्वग' कहते हैं क्योंकि यह सर्वक्लेश-निकायों को प्राप्त होते हैं (गच्छन्ति), सर्वभाक् होते हैं (भजन्ते), सबको आलम्बन बनाते हैं (आलम्बन्ते) अथवा क्योंकि यह सर्वक्लेश-निकायों के हेतुभाव को प्राप्त होते हैं (हेतुभावं गच्छन्ति) । [व्या २१०.१२]

[३] ऊपर पृ० २५१ देखिये ।

[४] क्योंकि शास्त्र में 'क्लिष्टधर्म' यह शब्द अविशेषित हैं इसलिये पृथग्जन और आर्य दोनों के क्लिष्टधर्म इष्ट हैं ।

[५] अव्याकृत संस्कृत धर्म—निवृताव्याकृत और अनिवृताव्याकृत—इष्ट हैं।आकाश और अप्रतिसंख्यानिरोध इन दो अव्याकृत असंस्कृत का निरास है। [व्या २१०.२१]

[२७०]....एवमादि यावत् : अनागत[1] सत्कायदृष्टि की तथा तत्संप्रयुक्त की जाति-जरा-स्थिति-अनित्यता को स्थापित कर अन्य सर्व क्लिष्ट दुःखसत्य।"

आक्षेप—यदि अकुशल अव्याकृतहेतुक हों, केवल अकुशलहेतुक न हों, तो इस प्रज्ञप्ति-भाष्य का[2] व्याख्यान कैसे करना चाहिये? "क्या कोई अकुशलधर्म हैं जो केवल अकुशल-हेतुक हो?—हाँ। प्रथमतः क्लिष्टचेतना जिसका संमुखीभाव कामवैराग्य से परिहीयमाण आर्य-पुद्गल करता है।"[3]

उत्तर—दर्शनप्रहातव्य अव्याकृत धर्म इस अकुशल चेतना के सर्वत्रगहेतु हैं। यदि प्रज्ञप्ति में यह उक्त नहीं है तो इसका कारण यह है कि प्रज्ञप्ति की अभिसन्धि केवल अप्रहीण हेतु से है।

[२७१] ५४ सी-डी. अकुशल धर्म और कुशल सास्रव धर्म विपाकहेतु हैं।[1]

१. अकुशल धर्म जो अवश्य सास्रव हैं और कुशल सास्रव धर्म केवल विपाकहेतु हैं क्योंकि इनकी विपक्ति की प्रकृति है (विपाकधर्मत्वात्=विपक्तिप्रकृतित्वात् [व्या २११.१६])।

अव्याकृत धर्म विपाकहेतु नहीं हैं क्योंकि वह दुर्बल हैं। यथा पूतिबीज अभिष्यन्दित होने पर भी अंकुरोत्पत्ति में हेतु नहीं होते।

---

[1] परमार्थ में 'अनागत' शब्द नहीं है और इसमें सन्देह नहीं है कि यह मूल में भी नहीं है। ऊपर पृ० २५२ देखिये।

[2] व्याख्या के अनुसार मूल में है : इदं तर्हि प्रज्ञप्तिभाष्यम्....—शुआन्-चांङ का अनुवाद : "प्रज्ञप्तिपादशास्त्र का व्याख्यान कैसे करना चाहिये।" क्योंकि "प्रज्ञप्ति के इस भाष्य" से अभिप्राय "उस व्याख्यान से है जिसे हम प्रज्ञप्ति में पढ़ते हैं।"—कर्मप्रज्ञप्ति, अध्याय ९. (एम डी ओ, ६३ पृ० २२९बी-२३६ए) के तिब्बती भाषान्तर को देखिये : § १ क्या कोई अतीत चेतना है जो अतीत हेतु से उत्पन्न होती है, अनागत, प्रत्युत्पन्न हेतु से नहीं?....§ २. क्या कोई कुशल धर्म हैं जो कुशल हेतुओं से उत्पन्न होते हैं?....क्या कोई अव्याकृत धर्म हैं जो अकुशल हेतुओं से उत्पन्न होते हैं? हाँ। (१) जो धर्म अकुशल कर्म के विपाक हैं; (२) सत्कायदृष्टि और अन्तग्राहदृष्टि से संप्रयुक्त कामावचर धर्म। § ३. क्या कोई कुशल धर्म हैं जो केवल कुशल हेतुओं से उत्पन्न होते हैं? हाँ। बोध्यंगों से संप्रयुक्त चेतना .....क्या कोई अकुशल धर्म हैं जो केवल अकुशल हेतुओं से उत्पन्न होते हैं?...." जे० तकाकुसु (जे० पी० टी० एस० १९०५ पृ० ७७) से हमको ज्ञात हुआ कि चीनी भाषा में कर्मप्रज्ञप्ति अब नहीं हैं। नैञ्जियो १३१७ में कारणप्रज्ञप्ति है; नैञ्जियो १२९७ में लोक-प्रज्ञप्ति के सदृश एक ग्रन्थ है। कास्मालाजी बुद्धीक पृ० २९५-३५० में इन दो प्रज्ञप्तियों का संक्षेप मिलेगा।

[3] स्यात्। आर्यपुद्गलः कायवैराग्यात् परिहीयमाणो यां तत्प्रथमतः क्लिष्टां चेतनां संमुखीकरोति [व्या २११.४]—"कायवैराग्य से परिहाणि के काल में आर्यपुद्गल की अकुशल चेतना सहभूहेतु और संप्रयुक्तकहेतु से केवल अकुशलहेतुक होती है। क्योंकि आर्य की सत्कायदृष्टि और अन्तग्राहदृष्टि प्रहीण हैं इसलिये ये अव्याकृतहेतुक नहीं हैं" : चोदक का यह निरूपण है।

[1] विपाकहेतुरशुभाः कुशलाश्चैव सास्रवाः।
अव्याकृतधर्मों में स्वशक्ति का अभाव होता है : अनास्रव धर्मों में सहकारिकारण नहीं होता। —२.३६ बी देखिये।

अनास्रव धर्म विपाकहेतु नहीं हैं क्योंकि वह तृष्णा से अभिष्यन्दित[२] नहीं हैं। यथा सार-बीज जल से अभिष्यन्दित न होने पर अंकुर की अभिनिर्वृत्ति नहीं करते।

पुनः अनास्रव धर्म किसी धातु में प्रतिसंयुक्त नहीं हैं: तज्जनित विपाकफल किस धातु में प्रतिसंयुक्त होगा?

जो धर्म अव्याकृत और अनास्रव नहीं हैं वह उभय प्रकार से अर्थात् स्वबल और तृष्णाभिष्यन्द से अन्वित होते हैं और विपाक को निर्वृत्त करते हैं। यथा अभिष्यन्दित सारबीज।

२. आक्षेप—'विपाकहेतु' शब्द का क्या अर्थ है? इस समासान्त पद के दो अर्थों में से चुनाव करना है: विपाकहेतु का अर्थ या तो 'विपाक का हेतु' है या 'विपाक एव हेतु' है। पहले अर्थ में 'अ' (घञ्) प्रत्यय भावसाधन है: विपाक (=विपक्ति) वि-पच् धातु से इंगित क्रिया का फल है। दूसरे अर्थ में 'अ' प्रत्यय कर्मसाधन है: विपाक वह है जो विपच्यमान होता है (विपच्यते) अर्थात् फलकालप्राप्त कर्म।—आप इनमें से कौन अर्थ स्वीकार करते हैं? यदि आप पहले अर्थ को स्वीकार करते हैं तो आप इस वचन को (ज्ञानप्रस्थान, ११, ९) कैसे युक्त सिद्ध करते हैं: "चक्षु विपाक से उत्पन्न होता है (विपाकजं चक्षुः)?"

[२७२] यदि आप दूसरे अर्थ का परिग्रह करते हैं तो "कर्मजो विपाकः" इस पद को आप कैसे सिद्ध करते हैं?

हमने पूर्व (१.३७) कहा है कि विपाक शब्द के उभय अर्थ युक्त हैं। जब फल की विवक्षा होती है तब विपाक शब्द का परिग्रह पहले अर्थ में होना चाहिये। अर्थ यह है: परिणाम, विपाक। "चक्षु विपाकज है" इस वचन को इस अर्थ में ग्रहण करना चाहिये: "चक्षु विपाकहेतु से उत्पन्न होता है।"

३. 'वि-पाक' इस समास का क्या अर्थ है?

'वि' उपसर्ग 'भेद' के अर्थ में है। विपाक वह पाक है जो स्वहेतु से विसदृश है।[१]

---

[२] महाव्युत्पत्ति, २४५, १८१। सिद्धि, ४८८.

[१] यहाँ शुआन्-चाङ कुछ सूचनाएं देते हैं जो परमार्थ में नहीं हैं:
वैभाषिकों के अनुसार 'वि' उपसर्ग भेदज्ञापक है: 'विपाक' का अर्थ है 'विसदृश पाक' (महाव्युत्पत्ति, २४५, १८२)। अर्थात्: केवल विपाकहेतु एक विसदृश पाक ही प्रदान करता है। सहभू, संप्रयुक्तक, सभाग, सर्वत्रगहेतु के पाक सदृश ही (कुशल, अकुशल, अव्याकृत) होते हैं। कारणहेतु का फल सदृश या विसदृश होता है। केवल विपाकहेतु नित्य विसदृश फल देता है: क्योंकि विपाकहेतु कभी अव्याकृत नहीं होता और उसका फल सदा अव्याकृत होता है।
[सौत्रान्तिकों के अनुसार] दो अवस्थाओं में फल 'विपाक' की संज्ञा प्राप्त करता है: इसे सन्तानपरिणामविशेष से उत्पन्न होना चाहिये। (ऊपर पृ. १८५ देखिये)। इसे अधिमात्र या न्यून हेतुबल के कारण दीर्घ या अल्प काल तक अवस्थान करना चाहिये। किन्तु सहभू और संप्रयुक्तक इन दो हेतुओं से निर्वृत्त फल पहली अवस्था के नहीं होते क्योंकि यह हेतु एक ही काल में अपने फल का आक्षेप और परिसमाप्ति करते हैं (२.५९); और कारण, सभाग, सर्वत्रग इन तीन हेतुओं से निर्वृत्त फल दूसरी अवस्था के नहीं होते: क्योंकि संसार

यह कैसे ?

कामधातु में (१) एकस्कन्धक विपाकहेतु का एक फल होता है : स्वलक्षण (२.४५ सी) सहित प्राप्ति (२.३६सी); (२) द्विस्कन्धक विपाकहेतु का एक फल होता है : काय-वाक्-कर्म और उनको जात्यादि; (३) चतुःस्कन्धक विपाकहेतु का एक फल होता है : स्वलक्षणसहित कुशल और अकुशल चित्त-चैत्त ।

[२७३] रूपधातु में (१) एकस्कन्धक विपाकहेतु का एक फल होता है : जात्यादि-सहित प्राप्ति, जात्यादिसहित असंज्ञिसमापत्ति (२.४२ ए); (२) द्विस्कन्धक विपाकहेतु का एक फल होता है : स्वलक्षणसहित प्रथम ध्यान को विज्ञप्ति (४.२); (३) चतुःस्कन्धक विपाकहेतु का एक फल होता है : असमाहित (क्योंकि समाहित चित्त में सदा संवररूप, ४.१३ होता है, अतः उसमें पंचस्कन्ध होते हैं) कुशलचित्त और उसके लक्षण ; (४) पंचस्कन्धक विपाकहेतु का एक फल होता है : समाहित चित्त और उसके लक्षण ।

आरूप्यधातु में (१) एकस्कन्धक विपाकहेतु का एक फल होता है : स्वलक्षणसहित प्राप्ति और निरोधसमापत्ति (२.४३); (२) चतुःस्कन्धक विपाकहेतु का एक फल होता है : स्वलक्षणसहित चित्त और चैत्त ।

४. एक कर्म है जिसका विपाक केवल एक आयतन में अर्थात् केवल धर्मायतन (१.१५) में संगृहीत है : वह कर्म जिसका विपाक जीवितेन्द्रिय है (२.४५ ए) ।[1] वास्तव में जिस कर्म का विपाक जीवितेन्द्रिय है जीवितेन्द्रिय और उसके जात्यादि (२.४५ सी) अवश्य उस कर्म के विपाक होते हैं । दोनों धर्मायतन में संगृहीत हैं ।

जिस कर्म का मन-इन्द्रिय विपाक है उसके दो आयतन—मन-आयतन (१.१६ बी) और धर्मायतन (जिसमें वेदनादि और मन-इन्द्रिय के सहभू जात्यादि होते हैं)—अवश्य विपाक होते हैं ।

[२७४] जिस कर्म का विपाक स्प्रष्टव्यायतन (१.१० डी) होता है उसके अवश्य दो

में इन फलों के पौनःपुन्येन उत्पाद की कोई मर्यादा नहीं है—अतः विपाक का केवल एक ही अर्थ है : विपरिणाम (?) और पाक ।"

[1] अस्ति कर्म यस्यैकमेव धर्मायतनं विपाको विपच्यते [व्या २१३.१२] ।—विभाषा १९, १४—शुआन्-चाङ : "जो कर्म जीवितेन्द्रियादि का उत्पाद करता है ।" 'आदि' से निकाय-सभाग और लक्षण अभिप्रेत हैं ।
आचार्य वसुमित्र इस प्रतिज्ञा को नहीं स्वीकार करते । जीवितेन्द्रिय आक्षेपककर्म (४.९५) का फल है । यदि जीवित विपाक कामधातु में विपच्यमान होता है (विपच्यते) तो कललादि अवस्था में कायेन्द्रिय और जीवितेन्द्रिय अवश्य होते हैं; अन्त को अवस्थाओं में पांच अन्य इन्द्रिय और होते हैं । यदि जीवितेन्द्रिय रूपधातु में विपच्यमान होता है तो सात आयतन होते हैं; आरूप्यधातु में मन-आयतन और धर्मायतन होते हैं । यशोमित्र इन सूचनाओं का विचार करते हैं और संघभद्र को उद्धृत करते हैं । यशोमित्र जिस प्रतिज्ञा का विरोध करते हैं वह आरूप्यधातु से संबन्ध रखती है : एक क्षणविशेष में आरूप्योपपन्न सत्व का विपाकज चित्त (मन-आयतन) नहीं होता ।

आयतन विपाक होते हैं अर्थात् स्प्रष्टव्यायतन और धर्मायतन (जिसमें स्प्रष्टव्य के जात्यादि संगृहीत हैं)।

जिस कर्म का विपाक कायायतन (१.९ ए) है उसके अवश्य तीन आयतन विपाक होते हैं—कायायतन, स्प्रष्टव्यायतन (अर्थात् भूतचतुष्क जो कायायतन के आश्रय हैं), धर्मायतन (जिसमें जात्यादि संगृहीत हैं)।

इसी प्रकार जिस कर्म का विपाक रूप, गन्ध या रसायतन है उसके अवश्य तीन आयतन विपाक होते हैं: स्प्रष्टव्यायतन और धर्मायतन—यथापूर्व और रूप, गन्ध और रसायतन में से अन्यतम यथा योग।

जिस कर्म का विपाक चक्षु, श्रोत्र, घ्राण या जिह्वायतन है उसके अवश्य चार आयतन होते हैं: (१) चार इन्द्रियों में से एक, (२) कायायतन, (३) स्प्रष्टव्यायतन, (४) धर्मायतन।

एक कर्म के ५, ६, ७, ८, ९, १०, ११ आयतन विपाक होते हैं।[1]

वास्तव में कर्म दो प्रकार के हैं: एक जिनका फल विचित्र है, दूसरे जिनका फल अविचित्र है। बाह्य बीजवत्: पद्म, दाड़िम, न्यग्रोध, यव, गोधूमादि।

५. एकाध्विक कर्म का त्रैयध्विक[2] विपाक विपच्यमान होता है किन्तु विपर्यय नहीं होता[3] क्योंकि फल हेतु से अतिन्यून नहीं होता (माभूद् अतिन्यूनं हेतोः फलम् [व्या २१५.१६]। एकक्षणिक कर्म का विपाक बहुक्षणिक हो सकता है किन्तु उसी कारण से विपर्यय ठीक नहीं है (विभाषा, १९, १६)।

[२७५] कर्म के साथ विपाक विपच्यमान नहीं होता क्योंकि जिस क्षण में कर्म का अनुष्ठान होता है उस क्षण में विपाकफल का आस्वादन नहीं होता।[1] कर्म के अनन्तर भी विपाक नहीं होता क्योंकि समनन्तर क्षण समनन्तरप्रत्यय (२.६३ बी) से आकृष्ट होता है: वास्तव में विपाकहेतु अपने फल के लिये प्रवाहापेक्ष है।

इन ६ हेतुओं में से कोई एक हेतु होने के लिये धर्म को किस अध्व का होना चाहिये? हमने अर्थतः इनका अध्व-नियम कहा है किन्तु कारिका में इसका निर्देश नहीं किया है:

सर्वत्रगः सभागश्च द्वयध्वगौ त्र्यध्वगास्त्रयः।
संस्कृतं सविसंयोगं फलं नासंस्कृतस्य ते ॥५५॥

५५ ए-बी. सर्वत्रगहेतु और सभागहेतु दो अध्व के होते हैं; तीन हेतु त्र्यध्विक हैं।[2]

---

[1] कभी १२ विपाक नहीं होते क्योंकि शब्दायतन अविपाक-स्वभाव है। (१.३७ बी-सी)

[2] पूर्वकृत कर्म का विपाक आरब्ध होता है, प्रत्युत्पन्नक्षण में उसकी स्थिति होती है, अनागत में वह प्रवृत्त होता है।

[3] जापानी संपादक दीर्घकालीन कर्म के दृष्टान्तस्वरूप बोधिसत्वकी वीरचर्या का उल्लेख करते हैं।

[1] न च कर्मणा सह विपाको विपच्यते। [व्या २१५.१७]

[2] [सर्वत्रगः सभागश्च द्वयध्वगौ] त्र्यध्वगास्त्रयः।
२.५९ से तुलना कीजिये। [व्या २१७.१४]

अतीत-प्रत्युत्पन्न धर्म सर्वत्रग, सभागहेतु (२.५२ बी) हो सकते हैं। अतीत, प्रत्युत्पन्न और अनागत धर्म संप्रयुक्तक, सहभू और विपाकहेतु हो सकते हैं। कारिका कारणहेतु (२.५० ए) का उल्लेख नहीं करती : सर्वाध्विग संस्कृत धर्म कारणहेतु हैं; असंस्कृत धर्म अध्व-विनिर्मुक्त हैं।

वह कौन फल है जिसके यह हेतु हैं? किन फलों के कारण यह हेतु अवधारित होते हैं?

५५ सी-डी. संस्कृत और विसंयोग फल हैं।[3]

मूलशास्त्र में कहा है कि "कौन धर्म फल हैं?—संस्कृत और प्रतिसंख्यानिरोध।"[4]

[२७६] आक्षेप—यदि असंस्कृत फल है तो इसका एक हेतु होना चाहिये जिस हेतु के लिये कह सकें कि इस हेतु का यह फल है। पुनः क्योंकि आप इसे कारणहेतु (२.५० ए) मानते हैं इसलिये इसका फल होना चाहिये जिस फल के लिये कह सकें कि इस फल का यह हेतु है।

सर्वास्तिवादिन् उत्तर देता है कि केवल संस्कृत के हेतु-फल होते हैं।

५५ डी. असंस्कृत के हेतु और फल नहीं होते।[1]

क्योंकि षड्विध हेतु और पंचविध फल असंस्कृत के लिये असंभव हैं।

(१) १. क्यों नहीं मानते कि मार्ग का वह भाग जिसे आनन्तर्यमार्ग[2] कहते हैं विसंयोगफल (२.५७ डी) का कारणहेतु है?

हमने देखा है कि कारणहेतु वह हेतु है जो उत्पाद में विघ्न नहीं करता किन्तु असंस्कृत होने से विसंयोग का उत्पाद नहीं होता। उसका कारणहेतु के समान आनन्तर्यमार्ग नहीं होता।

२. अतः विसंयोगफल कैसे है? यह किसका फल है?

यह मार्ग का फल है क्योंकि इसकी प्राप्ति मार्गबल (६.५१) से होती है : दूसरे शब्दों में योगी मार्ग से विसंयोग की प्राप्ति (२.३६ सी-डी) का प्रतिलाभ करता है।

---

[3] संस्कृतं सविसंयोगं फलम्
विसंयोग अर्थात् विसंयोगफल (२.५७ डी, ६.४६) प्रतिसंख्यानिरोध या निर्वाण (१.६) है। यह एक असंस्कृत है। यह अहेतुक है, इसका फल नहीं है, किन्तु यह कारणहेतु (२.५० ए) है, यह फल है (२.५७ डी)।

[4] ज्ञानप्रस्थान, ५.४; प्रकरण, ३३ बी, १६। हम इसका उद्धार कर सकते हैं : फलधर्माः कतमे। सर्वे संस्कृताः प्रतिसंख्यानिरोधश्च। न फलधर्माः कतमे। आकाशम् अप्रतिसंख्यानिरोधः। सफलधर्माः कतमे। सर्वे संस्कृताः। अफलधर्माः कतमे। सर्वेऽसंस्कृताः। "कौन धर्म फल हैं? सब संस्कृत और प्रतिसंख्यानिरोध। कौन धर्म फल नहीं हैं? आकाश और अप्रतिसंख्यानिरोध। किन धर्मों का फल होता है? सर्व संस्कृत। किन धर्मों का फल नहीं होता? सर्व असंस्कृत।" तको, २६, पृ० ७१४, ७१६

[1] नासंस्कृतस्य ते [व्या २१८.६]
मिलिन्द, २६८-२७१।

[2] आनन्तर्यमार्ग क्लेश का समुच्छेद करता है और उसके अनन्तर विमुक्तिमार्ग होता है जिसमें योगी विसंयोग की प्राप्ति का ग्रहण करता है, ६.२८।

३. अतः विसंयोग का प्रतिलाभ (प्राप्ति) मार्ग का फल है, विसंयोग स्वयं फल नहीं है क्योंकि मार्ग का सामर्थ्य विसंयोग की प्राप्ति के प्रति है, विसंयोग के प्रति उसका असामर्थ्य है।

[२७७] विपर्यास! एक भाग के प्रतिलाभ और दूसरे के विसंयोग के प्रति मार्ग के सामर्थ्य में विविधता है।

मार्ग प्रतिलाभ का उत्पाद करता है; मार्ग विसंयोग की प्राप्ति कराता है (प्रापयति)। अतः यद्यपि मार्ग विसंयोग (=प्रतिसंख्यानिरोध) का हेतु न हो तथापि हम यह कह सकते हैं कि यह मार्ग का फल है।[1]

४. क्योंकि असंस्कृत का अधिपति-फल (२.५८ डी) नहीं है इसलिये उसे कारणहेतु कैसे कह सकते हैं?

असंस्कृत कारणहेतु है क्योंकि धर्मों की उत्पत्ति के प्रति इसका अनावरणभाव है किन्तु इसका फल नहीं है क्योंकि अध्व-विनिर्मुक्त होने से यह फल के प्रतिग्रहण और दान में असमर्थ है (२.५९ ए-बी)।

५. असंस्कृत हेतु है इसका सौत्रान्तिक प्रतिषेध करते हैं। वास्तव में सूत्र यह नहीं कहता कि हेतु असंस्कृत है। यह पर्याय से कहता है कि केवल संस्कृत हेतु है: "जो हेतु, जो प्रत्यय रूप ....विज्ञान का उत्पाद करते हैं वह भी अनित्य हैं।[2] अनित्य हेतु और प्रत्ययों से उत्पन्न रूप ....विज्ञान कैसे नित्य होंगे?"

---

[1] कुछ आचार्यों का मत है कि ५ प्रकार के हेतु हैं: (१) कारकहेतु, बीज अंकुर का कारकहेतु है; (२) ज्ञापकहेतु, अग्नि का धूम; (३) व्यंजक, घट का दीप; (४) ध्वंसक, घट का मुद्गर; (५) प्रापक, देशान्तर का रथ। [व्या २१७.३३]

[2] ये हेतवो ये प्रत्यया रूपस्य....विज्ञानस्योत्पादाय तेऽप्यनित्याः (संयुक्त, १, ५) [व्या २१८.२०]।
(५ से परमार्थ का स्पष्ट मत-भेद है।)
सौत्रान्तिक का उत्तर: सूत्र में केवल जनक उक्त है।
अतः असंस्कृत [यद्यपि अनित्य नहीं है] आलम्बन-प्रत्यय हो सकता है। वस्तुतः इसमें केवल इतना उल्लेख है कि जो हेतु-प्रत्यय विज्ञान का उत्पाद करते हैं वह अनित्य हैं। इसमें यह उक्त नहीं है कि विज्ञान के सब प्रत्यय अनित्य हैं।
सर्वास्तिवादिन् का उत्तर: क्या यह केवल जनकहेतु को अनित्य नहीं कहता? अतः यह इसका प्रतिषेध नहीं करता कि असंस्कृत केवल इस कारण कारणहेतु है क्योंकि वह अविघ्नभाव से अवस्थित है।
सौत्रान्तिक का उत्तर:—सूत्र-वचन है कि असंस्कृत आलम्बन-प्रत्यय है। इसमें यह उक्त नहीं है कि यह कारणहेतु है। अतः उसका लक्षण इस प्रकार नहीं होना चाहिए—"वह हेतु जो विघ्नकारी नहीं है।"
टिप्पणी १, इस पर विभाषा, १६, पृ० ७९,२: एकोत्तर में १ से १०० तक धर्म परिगणित थे किन्तु अब १० पर अवसान है और १-१० में भी कई विनष्ट हो गये हैं, स्वल्प ही अवशिष्ट हैं। आनन्द के निर्वाण पर ७७००० अवदान और सूत्र तथा १०००० शास्त्र विनष्ट हो गये......।

सर्वास्तिवादिन् उत्तर देता है : यदि नित्य, असंस्कृत हेतु नहीं है तो यह विज्ञान का आलम्बन-प्रत्यय (२.६३) भी नहीं होगा।

सौत्रान्तिक—सूत्र में अवधारण है कि जो हेतु और प्रत्यय उत्पाद में समर्थ हैं वह अनित्य हैं। सूत्र यह नहीं कहता कि विज्ञान के सब प्रत्यय अनित्य हैं। अतः असंस्कृत विज्ञान का आलम्बन-प्रत्यय हो सकता है क्योंकि 'आलम्बन-प्रत्यय' जनक नहीं है।

[२७८] सर्वास्तिवादिन्—सूत्र जनक हेतुओं के लिये कहता है कि यह अनित्य हैं। अतः सूत्र असंस्कृत के कारणहेतुत्व का प्रतिषेध नहीं करता क्योंकि उसका अनावरणभावमात्र है।

सौत्रान्तिक—सूत्र में आलम्बन-प्रत्यय (२.६१ सी) उक्त है किन्तु कारणहेतु उक्त नहीं है जो विघ्न नहीं करता। अतः यह असंस्कृत का हेतुत्व सिद्ध नहीं करता।

सर्वास्तिवादिन्—वास्तव में सूत्र यह नहीं कहता कि जो विघ्नभाव में अवस्थान नहीं करता वह हेतु है। किन्तु यह उसका विरोध भी नहीं करता। बहुत से सूत्र अन्तर्हित हो गये हैं।[1] इसका निश्चय कैसे करें कि सूत्र में असंस्कृत का कारणहेतुत्व उक्त नहीं है?

(२) सौत्रान्तिक—विसंयोग धर्म क्या है?

सर्वास्तिवादिन्—मूलशास्त्र (ज्ञानप्रस्थान, २, २) कहता है कि विसंयोग प्रतिसंख्या-निरोध (२.५७ डी) है।

सौत्रान्तिक—मैंने जब आपसे प्रश्न किया (१.६) कि प्रतिसंख्यानिरोध क्या है तब आपने उत्तर दिया कि "यह विसंयोग है।" मैं आपसे पूछता हूँ कि विसंयोग क्या है और आप यह उत्तर देते हैं कि "यह प्रतिसंख्यानिरोध है।" यह चक्रक है और इससे असंस्कृत धर्म जिसका यहाँ विचार हो रहा है उसके स्वभाव का व्याख्यान नहीं होता। आपको कोई दूसरा व्याख्यान करना चाहिये।

सर्वास्तिवादिन्—यह धर्म स्वभाववश द्रव्य है, अवाच्य है। केवल आर्य इसका 'साक्षात्कार' करते हैं, इसका प्रत्यात्मसंवेदन होता है। इसके सामान्य लक्षणों का यह कहकर निर्देशमात्र हो सकता है कि यह दूसरों से भिन्न एक कुशल, नित्य द्रव्य है जिसकी संज्ञा प्रतिसंख्यानिरोध है और जिसे विसंयोग भी कहते हैं।

(३) सौत्रान्तिक की प्रतिज्ञा है कि असंस्कृत, त्रिविध असंस्कृत, (१.५ बी) द्रव्य नहीं है। तीन धर्म जिनका यहाँ प्रश्न है रूपवेदनादि के समान द्रव्यान्तर, भावान्तर नहीं हैं।[2]

---

[1] सूत्राणि च बहून्यन्तर्हितानि मूलसंगीतिभ्रंशात् [व्या २१८.२९]

[2] हम ऐसा विचार सकते हैं कि आगे के पृष्ठों में वसुबन्धु सर्वास्तिवादिन्-वैभाषिक के तर्कों के साथ पूरा न्याय नहीं करते। वह उन वचनों का, यथा उदान, ८.३ का (इतिवुत्तक, ४३' उदानवर्ग, २६.२१) उल्लेख नहीं करते जो निर्वाण के द्रव्यत्व की संभावना को कम कर देते हैं।—संघभद्र वसुबन्धु और अन्य आचार्यों का खण्डन करते हैं जो असंस्कृत का प्रतिषेध करते हैं (न्यायानुसार, २३.३, ९० बी ४—९५ बी)। उनका व्याख्यान अतिविस्तृत है। इसलिये उसके लिये यहाँ स्थान नहीं है। हम भूमिका में कम से कम उसके एक अंश का अनुवाद देंगे।

[२७९] १. जिसे 'आकाश' कहते हैं वह स्प्रष्टव्य का अभावमात्र है अर्थात् सप्रतिघ द्रव्य का अभावमात्र है। विघ्न को न पाकर (अविन्दन्तः) अज्ञानवश लोग कहते हैं कि यह आकाश है।

२. जिसे प्रतिसंख्यानिरोध या निर्वाण कहते हैं वह प्रतिसंख्या (=प्रज्ञा) के बल से अन्य अनुशय, अन्य जन्म का अनुत्पाद है जब उत्पन्न अनुशय और उत्पन्न जन्म का निरोध होता है।[१]

३. जब प्रतिसंख्या-बल के विना प्रत्ययवैकल्यमात्र से धर्मों का अनुत्पाद होता है तब इसे अप्रतिसंख्यानिरोध कहते हैं। यथा जब अन्तरामरण निकायसभाग का (२.१०, ४१) शेष करता है तब उन धर्मों का अप्रतिसंख्यानिरोध होता है जो इस निकायसभाग में उत्पन्न होते यदि इसका प्रवर्तन होता रहता।

४. एक दूसरे निकाय[२] के अनुसार प्रतिसंख्यानिरोध प्रज्ञावश अनुशयों का अनागत अनु- [२८०] त्पाद है; अप्रतिसंख्यानिरोध दुःख का अर्थात् जन्म का, क्लेशापगमवश, न कि प्रत्यक्षतः प्रज्ञावश, अनागत अनुत्पाद है। [अतः प्रथम सोपधिशेषनिर्वाणधातु है, द्वितीय निरुपधिशेष-निर्वाणधातु है।] अनुशयप्रत्ययवैकल्यात् पश्चाद्दुःखाजातिः। न प्रज्ञाबलात्।

किन्तु सौत्रान्तिक कहता है कि दुःख का अनागत अनुत्पाद प्रतिसंख्या के विना सिद्ध नहीं होता। अतः यह प्रतिसंख्यानिरोध ही है।

५. एक दूसरे निकाय[१] के अनुसार अप्रतिसंख्यानिरोध स्वरसनिरोध[२] के योग से उत्पन्न धर्मों का पश्चाद् अभाव है।

इस विकल्प में अप्रतिसंख्यानिरोध नित्य न होगा क्योंकि अनुशय के विनष्ट हुए विना अप्रति-संख्यानिरोध का अभाव होता है।

किन्तु क्या प्रतिसंख्यानिरोध का पूर्ववर्ती प्रतिसंख्याविशेष नहीं होता? अतः यह भी नित्य न होगा क्योंकि पूर्व के अभाव में पर का भी अभाव होता है।

आप यह नहीं कह सकते कि प्रतिसंख्यानिरोध इसलिये नित्य नहीं है क्योंकि इसका पूर्ववर्ती प्रतिसंख्या है: वास्तव में प्रतिसंख्या इसका पूर्ववर्ती नहीं है। आपको यह कहने का अधिकार नहीं है कि प्रतिसंख्या पूर्ववर्ती है और 'अनुत्पन्न धर्मों का अनुत्पाद' परवर्ती है। हम व्याख्यान

---

[१] उत्पन्नानुशयजन्मनिरोधे प्रतिसंख्याबलेनान्यस्यानुशयस्य जन्मनश्चानुत्पादः प्रतिसंख्या-निरोधः [व्या २१९.३]।
ए. अनुशय का निरोध समुदयसत्य-निरोध है (उसका निरोध जो सत्यतः दुःख-समुदय है)। यह सोपधिशेषनिर्वाण है।
उत्पाद या जन्म का निरोध दुःखसत्य-निरोध है (उसका निरोध जो सत्यतः दुःख है)। यह निरुपधिशेषनिर्वाण है।
बी. 'अनुशय' से पंचम कोशस्थान में वर्णित ९८ अनुशयों की वासना समझना चाहिये।

[२] जापानी संपादक के अनुसार स्थविर।

[१] जापानी संपादक के अनुसार महासांघिक।

[२] स्वरसनिरोधात् [व्या २१९.२२], प्रज्ञा के बल से नहीं जैसा प्रतिसंख्यानिरोध में होता है।

करते हैं। अनुत्पाद सदा से द्रव्यसत् है। प्रतिसंख्या के अभाव में धर्मों की उत्पत्ति होगी। यदि प्रतिसंख्या की उत्पत्ति होती है तो उनका आत्यन्तिक रूप से उत्पाद नहीं होगा। उनके अनुत्पाद के विषय में प्रतिसंख्या का सामर्थ्य यह है : (१) प्रतिसंख्या के पूर्व उनकी उत्पत्ति में प्रतिबन्ध नहीं होता; (२) प्रतिसंख्या के होने पर उन धर्मों की उत्पत्ति नहीं होती जिनकी उत्पत्ति में पूर्व प्रतिबन्ध नहीं हुआ था (अकृतोत्पत्तिप्रतिबन्ध [व्या २१९.२४])। किन्तु यह अनुत्पाद का उत्पाद नहीं करता।

(३) सर्वास्तिवादिन् सौत्रान्तिक का खण्डन करता है:—यदि निर्वाण अनुत्पादमात्र है तो [२८१] सूत्र में (संयुक्त, २६, २) यह कैसे उक्त है कि "श्रद्धादि पंचेन्द्रिय के अभ्यास, आसेवन और भावना का फल अतीत, अनागत और प्रत्युत्पन्न दुःख का प्रहाण है ?"[१]—आप इस सूत्र-पद का क्या अर्थ करते हैं ? वास्तव में यह प्रहाण निर्वाण से अन्य द्रव्य नहीं है और केवल अनागत धर्म का अनुत्पाद हो सकता है, अतीत और प्रत्युत्पन्न धर्म का नहीं।

सौत्रान्तिक—यह सूत्र निर्वाण के हमारे लक्षण का विरोध नहीं करता। वास्तव में 'अतीत-प्रत्युत्पन्न दुःख के प्रहाण से' सूत्र का अभिप्राय अतीत-प्रत्युत्पन्न दुःख को आलम्बन बनाने वाले क्लेश के प्रहाण से है। हमारा यह अर्थ एक दूसरे वचन से (संयुक्त, ३, १७) युक्त सिद्ध होता है : "रूप, वेदना....विज्ञान में जो छन्दराग[२] है उसका प्रहाण करो। छन्दराग के प्रहीण होने पर तुम्हारे रूप ....विज्ञान प्रहीण और परिज्ञात (परिज्ञा) होंगे।"[३] इन्द्रिय सूत्र में उक्त 'अतीत-प्रत्युत्पन्न दुःख का प्रहाण' इस वाक्यांश को इस प्रकार समझना चाहिये।

यदि इन्द्रिय सूत्र का यह दूसरा पाठ किसी को मान्य हो : "इन्द्रियों के अभ्यास से त्रैयध्विक क्लेश का प्रहाण होता है" तब भी यही नय है।

अथवा अतीत क्लेश पौर्वजन्मिक (पूर्वे जन्मनि भव) है, प्रत्युत्पन्न क्लेश ऐहजन्मिक है। अतीत या प्रत्युत्पन्न ऐकक्षणिक क्लेश का यहाँ विचार नहीं है। १८ तृष्णाविचरितों के लिये (अंगुत्तर, २.२१२) भी ऐसा ही है : अतीत जन्म के विचरितों को अतीत, प्रत्युत्पन्न जन्म के विचरितों को प्रत्युत्पन्न और अनागत जन्म के विचरितों को अनागत कहते हैं।

[२८२] अतीत और प्रत्युत्पन्न क्लेश अनागत में क्लेश की उत्पत्ति के लिए प्रत्युत्पन्न

---

[१] अतीतानागतप्रत्युत्पन्नस्य दुःखस्य प्रहाणाय संवर्तते [व्या २१९.२९]—कथावत्थु, १९.१ से तुलना कीजिये। अंगुत्तर, २.३४।

[२] अर्थात् छन्द (अनागते प्रार्थना) और राग (प्राप्तेऽर्थेऽध्यवसानम्)। [व्या २१९.३४]

[३] यो रूपे छन्दरागस्तं प्रजहीत। छन्दरागे प्रहीणे एवं वस्तद्रूपं प्रहीणं भविष्यति। [व्या २१९.३३]
रूप के प्रहाण से आनन्तर्यमार्ग, परिज्ञा से विमुक्तिमार्ग (६.३०) अभिप्रेत है (जापानी संपादक की विवृति)।
वाद के लिये संयुत्त, ३.८ से तुलना कीजिये। परमार्थ, ५, पृ० १९२ कालम, १

सन्तति में बीज-भाव आहित करते हैं। इस बीज-भाव के प्रहाण से अतीत-प्रत्युत्पन्न क्लेशद्वय भी प्रहीण होते हैं: यथा विपाक-क्षय से कर्म क्षीण होता है ऐसा उपचार होता है।

अनागत दुःख या क्लेश का प्रहाण बीजाभाव से उनका अत्यन्त अनुत्पाद है।

अतीत या अनागत दुःख के प्रहाण का दूसरा क्या अर्थ हो सकता है? निरुद्ध और निरोधाभिमुख के प्रति यत्न सार्थक नहीं होता।

२. सर्वास्तिवादिन्—यदि असंस्कृत 'सत्' नहीं है तो यह सूत्र में कैसे उक्त है कि "सब संस्कृत-असंस्कृत धर्मों में विराग अग्र है?" एक असत् धर्म असत् धर्मों में अग्र कैसे हो सकता[1] है?

सौत्रान्तिक—हम यह नहीं कहते कि असंस्कृत असत् हैं। एक अभाव भी है। यह अभाव-प्रकार हैं। शब्द की उत्पत्ति के पूर्व कहते हैं कि "यह शब्द का पूर्व अभाव है"; शब्द के निरोध के पश्चात् कहते हैं कि "यह शब्द का पश्चात् अभाव है" (अस्ति शब्दस्य पश्चादभावः) किन्तु यह सिद्ध नहीं है कि अभाव का भाव होता है (भवति)[2]। असंस्कृतों के लिये यही नय है।

यद्यपि इसका अभाव है तथापि एक असंस्कृत अर्थात् विराग, सर्व अकुशल का अनागत में आत्यन्तिक अभाव, प्रशंसा के योग्य है। यह अभाव अभावों में विशिष्ट है। सूत्र उसकी यह कहकर [२८३] प्रशंसा करता है कि यह अग्र है जिसमें विनेयजन उसके प्रति प्रीति-सुख का उत्पाद करें।

३. सर्वास्तिवादिन्—यदि प्रतिसंख्यानिरोध या निर्वाण अभाव है तो यह एक सत्य कैसे है? यह तृतीय सत्य कैसे है?

'आर्य-सत्य' का क्या अभिप्राय है? इसमें सन्देह नहीं कि 'सत्य' का अर्थ 'अविपरीत' है। आर्य जानते हैं कि किसका अविपरीतभाव है, किसका अविपरीत अभाव है: जो दुःख है उसे वह केवल दुःख करके ग्रहण करते हैं, जो दुःख का अभाव है उसे वह दुःख के अभाव के रूप में ग्रहण करते हैं। आप इसमें क्या विरोध देखते हैं यदि दुःख का अभाव, प्रतिसंख्यानिरोध एक सत्य है?

और, यह अभाव तृतीय सत्य है क्योंकि आर्यों से यह द्वितीय सत्य के अनन्तर दृष्ट और उद्दिष्ट होता है।

४. सर्वास्तिवादिन्—किन्तु यदि असंस्कृत अभाव हैं तो उस विज्ञान का आलम्बन जिसका आलम्बन आकाश और दो निरोध हैं अवस्तु होगा।

---

[1] संयुक्त, ३१, १२: ये केचिद् भिक्षवो धर्माः संस्कृता वा असंस्कृता वा विरागस्तेषामग्र आख्यायते (४.१२७ की व्याख्या में उद्धृत); अंगुत्तर, ३.३४, इतिवुत्तक § ९०: यावता चुन्दि धम्मा संखता वा असंखता वा विरागो तेसं अग्गं अक्खायति।
विराग = रागक्षय, प्रतिसंख्यानिरोध, निर्वाण—निर्वाण अप्रतिसंख्यानिरोध और आकाश से अग्र है (४.१२७ डी)।

[2] हम इसका उद्धार कर सकते हैं: अभावो भवतीति न सिध्यति—शुआन्-चाङ का मतभेद है: अभाव के लिय यह नहीं कह सकते कि इसका भाव है। अतः 'अस्' धातु का अर्थ सिद्ध होता है [: इस धातु का अर्थ 'भाव' नहीं है]। इस प्रकार आगम असंस्कृतों के लिये कहता है कि यह है।

जैसा हम अतीत और अनागत के विचार में (५.२५) निर्देश करेंगे हम इसमें कोई अयुक्तता नहीं देखते ।

५. सर्वास्तिवादी प्रश्न करता है कि इसमें क्या दोष है यदि असंस्कृत का द्रव्यतः भाव हो।

आप इसमें क्या गुण देखते हैं ?

यह गुण कि वैभाषिक पक्ष पालित होता है ।

यदि देवों का यह विनिश्चय हो कि यह संभव है तो वह इस पक्ष का पालन करें ! किन्तु असंस्कृत के सद्भाव की प्रतिज्ञा करना एक अभूत वस्तु की परिकल्पना करना है । वास्तव में असंस्कृत का ज्ञान रूपवेदनादिवत् प्रत्यक्षतः नहीं होता, चक्षुरादिवत् उसके कर्म से अनुमानतः भी नहीं होता ।

६. पुनः यदि निरोध एक द्रव्यसत् है तो आप 'दुःखस्य निरोधः' में—दुःख का निरोध, क्लेश का क्षय, क्लेशालम्बन का क्षय—षष्ठी को कैसे युक्त सिद्ध करते हैं ?—हमारे सिद्धांत में यह गमित है कि वस्तु का विनाश वस्तु का अभावमात्र है। 'दुःख का निरोध' इसका अर्थ यह है कि [२८४] 'दुःख का अब और सद्भाव नहीं होगा' । किन्तु वस्तु अर्थात् क्लेश और निरोध-द्रव्य के बीच हेतुफलभाव, फलहेतुभाव, अवयव-अवयविसंबन्ध आदि जो षष्ठीवचन को युक्त सिद्ध करते हैं असंभव हैं ।[1]

सर्वास्तिवादिन् उत्तर देता है कि हमारी प्रतिज्ञा है कि निरोध एक द्रव्यसत् है। किन्तु प्राप्ति-नियम है। हम कह सकते हैं कि निरोध का संबन्ध अमुक वस्तु (रागादि वस्तु के निरोध) से होता है क्योंकि जिस काल में अमुक अमुक वस्तु की प्राप्ति का छेद होता है उस काल में निरोध की प्राप्ति (२.३७ बी) का ग्रहण होता है ।

किन्तु हमारा उत्तर होगा कि निरोध की प्राप्ति के नियम में क्या हेतु है ?[2]

७. सर्वास्तिवादिन्—सूत्र दृष्टधर्मनिर्वाणप्राप्त[3] भिक्षु का उल्लेख करता है । यदि निर्वाण अभाव है तो अभाव की प्राप्ति कैसे होती है ?

सौत्रान्तिक—प्रतिपक्ष के लाभ से अर्थात् आर्यमार्ग के लाभ से भिक्षु ने क्लेश और पुनर्भव के उत्पाद के अत्यंत विरुद्ध आश्रय का लाभ किया है। इसीलिए सूत्र कहता है कि उसने निर्वाण प्राप्त किया है।

८. पुनः एक सूत्र (संयुक्त, १३,५) है जो यह सिद्ध करता है कि निर्वाण अभावमात्र है।

---

[1] वस्तुनो (=रागादिवस्तुनो) [निरोधस्य च] हेतुफलादिभावासंभवात् । [व्या २२१.७]

[2] भाष्य : तस्य तर्हि प्राप्तिनियमे [को हेतुः] [व्या २२१.९]—व्याख्या : तस्य निरोधस्य योऽयं प्राप्तेर्नियमः। अस्यैव निरोधस्य प्राप्तेर्नान्यस्येति ॥ तस्मिन् प्राप्तिनियमे को हेतुः ॥ न हि निरोधस्य प्राप्त्या सार्धं कश्चित् संबन्धोऽस्ति हेतुफलादिभावासंभवात् ।

[3] दृष्टधर्मनिर्वाणप्राप्त [व्या २२१.१२] अर्थात् सोपधिशेषनिर्वाणस्य ।

[२८५] सूत्र वचन है[४]: "इस दुःख का अशेष प्रहाण, व्यन्तिभाव (या वान्तीभाव), क्षय, विराग, निरोध, व्युपशम, अस्तंगम, अन्य दुःख की अप्रतिसन्धि, अनुपादान, अप्रादुर्भाव—यह शान्त है, प्रणीत है, अर्थात् सर्वोपधि का प्रतिनिःसर्ग, तृष्णाक्षय, विराग, निरोध, निर्वाण है।"

सर्वास्तिवादिन्—जब सूत्र कहता है कि निर्वाण अपूर्व दुःख का अप्रादुर्भाव है तो सूत्र का अभिप्राय यह कहने का है कि निर्वाण में दुःख का प्रादुर्भाव नहीं है।[१]

सौत्रान्तिक—मैं नहीं देखता कि 'निर्वाणे' का अधिकरण कैसे यह सिद्ध करता है कि निर्वाण द्रव्य है। 'अस्मिन्' के अधिकरण का आप क्या अर्थ लेते हैं? यदि आप 'अस्मिन् सति' कहना चाहते हैं अर्थात् निर्वाण के होते दुःख का प्रादुर्भाव नहीं होता', तो दुःख का कभी प्रादुर्भाव नहीं होता क्योंकि निर्वाण नित्य है। यदि आप 'अस्मिन् प्राप्ते' कहना चाहते हैं अर्थात् 'निर्वाण की प्राप्ति पर' तो आपको मानना होगा कि जिस मार्ग के योग से आप निर्वाण की प्राप्ति की [२८६] परिकल्पना करते हैं उसके होने पर या उसके प्राप्त होने पर अनागत दुःख का अप्रादुर्भाव होता है।[१]

९. अतः सूत्र का दृष्टांत सुष्ठु है :

"यथा अर्चि का निर्वाण तथा उनके चित्त का विमोक्ष।"[२]

---

[४] महावस्तु, २.२८५ में अन्तिम भाग का एक दूसरा पाठ है : एतं शान्तं एतं प्रणीतं एतं यथावद् एतं अविपरीतं यमिदं सर्वोपधिप्रतिनिःसर्गो सर्वसंस्कारशमथो वर्त्मोपच्छेदो तृष्णाक्षयो विरागो निरोधो निर्वाणम्।
यही महावस्तु, ३.२०० में है। महावग्ग, तृतीय सत्य, १, ६, २१.
व्याख्या में [व्या २२१.१७] सूत्र के प्रथम शब्द 'यत् खल्वस्य' [दुःखस्य...] और दो आख्याएँ 'प्रहाण' और 'अप्रादुर्भाव' उद्धृत हैं। अंगुत्तर, १.१०० : परिक्खय पहाण खय वय विराग निरोध चाग पटिनिस्सग्ग; ५.४२१ : असेसविराग निरोध चाग पटिनिस्सग्ग मुत्ति अनालय; संयुत्त, १.१३६ : सब्बसंखारसमथ....; इतिवुत्तक, ५१ : उपधि-प्पटिनिस्सग्ग—मज्झिम, १.४९७ के संस्कृत रूपान्तर देखिये, पिशेऊ, फ्रैगमेण्ट्स् आफ इडिकुत्तरी, पृ.८ (व्यन्तिभाव) और अवदानशतक, २.१८७ (वान्तीभाव)।

[१] दूसरे शब्दों में अप्रादुर्भाव=नास्मिन् प्रादुर्भावः [व्या २२१.१९]। यह अधिकरणसाधन है। सौत्रान्तिक के अनुसार अप्रादुर्भाव=अप्रादुर्भूति [व्या २२१.२०] (भावसाधन)। सर्वास्तिवादिन् का व्याख्यान मध्यमकवृत्ति, पृ.५२५ में उद्धृत है। वहाँ यह वाद उस दर्शन का बताया गया है जो निर्वाण को सेतु के तुल्य एक भाव, एक पदार्थ मानता है और जो क्लेश, कर्म और जन्म की प्रवृत्ति का निरोध करता है।

[१] वास्तव में मार्ग दुःखसमुदय का निरोध करता है। मार्ग के अतिरिक्त 'निरोध' नामक एक द्रव्य की परिकल्पना करने से क्या लाभ है?

[२] दीघ, २.१५७; संयुत्त, १.१५९; थेरगाथा, ९०६।
पज्जोतस्सेव निब्बानं विमोखो चेतसो अहू।
संस्कृत पाठान्तर (अवदानशतक, ९९, मध्यमकवृत्ति, ५२० डुल्वा, नैञ्जियो ११८, जे० पृजीलुस्की; जे० ए० एस० १९१८, २.४९०, ५०९) :
प्रद्योतस्येव निर्वाणम् विमोक्षस्तस्य चेतसः।
निरुपधिशेषनिर्वाण काल में यह होता है—'भवनिरोधो निब्बानं' यह लक्षण अंगुत्तर, ५.९' संयुत्त, २.११६ इत्यादि में है।

अर्थात् यथा अर्चि का निर्वाण अर्चि का अत्ययमात्र है और द्रव्यसत् नहीं है उसी प्रकार भगवत् के चित्त का विमोक्ष है।

१०. सौत्रान्तिक पुनः अभिधर्म का प्रमाण देते हैं जहाँ यह पठित है : "अवस्तुक धर्म क्या हैं ?—असंस्कृत।"[3] —'अवस्तुक' शब्द का अर्थ 'अद्रव्य', 'निःस्वभाव' है।

वैभाषिक इस अर्थ को नहीं स्वीकार करते। वास्तव में वस्तु शब्द का प्रयोग पाँच भिन्न अर्थों में होता है : १. स्वभाववस्तु, यथा "इस वस्तु (अशुभा, ६.११) के प्रतिलब्ध होने से इस वस्तु का समन्वागम होता है" (ज्ञानप्रस्थान, २०, ३, विभाषा, १९७, ८); २. आलम्बनवस्तु, यथा "सर्व धर्म भिन्न ज्ञान से यथावस्तु ज्ञेय हैं" (प्रकरण, ३१ बी ९); ३. संयोजनीयवस्तु, यथा 'जो रागबन्धन से किसी वस्तु से प्रतिसंयुक्त है क्या वह द्वेषबन्धन से इसी वस्तु से प्रतिसंयुक्त है ? (विभाषा, ५८, २); ४. हेतु के अर्थ में वस्तु, यथा 'सवस्तुक धर्म कौन हैं ? [२८७]—संस्कृत धर्म "(प्रकरण, ३३ बी)[1]; (५) परिग्रहवस्तु, यथा "क्षेत्रवस्तु, गृहवस्तु, आपणवस्तु, धनवस्तु : परिग्रह का प्रहाण अपरिग्रह है।" (विभाषा, ५६, २)।[2]

वैभाषिक समाप्त करते हैं : इस संदर्भ में 'वस्तु' हेतु के अर्थ में है। 'अवस्तुक' का अर्थ 'अहेतुक' है। यद्यपि असंस्कृत द्रव्य हैं तथापि नित्य निष्क्रिय होने से कोई हेतु नहीं है जो इनका उत्पाद करता है और कोई फल नहीं है जिसका यह उत्पाद करते हैं।

विपाकफलमन्त्यस्य पूर्वस्याधिपतं फलम्।
सभागसर्वत्रगयोर्निष्यन्दः पौरुषं द्वयोः ॥५६॥

यह बताना आवश्यक है कि प्रत्येक प्रकार के हेतु से किस प्रकार का फल निर्वृत्त होता है।

५६ए. विपाक अन्त्य हेतु का फल है।[3]

---

[3] विभाषा, ३१, १०—प्रकरण, ३३ बी ३ में एक लक्षण है जिसका हम उद्धार कर सकते हैं : अवस्तुका अप्रत्यया धर्माः कतमे ? असंस्कृता धर्माः (१.७ देखिये)।

[1] यह सूत्र १.७ की व्याख्या में उद्धृत है।

[12] १.७ की व्याख्या में (पेट्रोग्राड संस्करण पृ. २२) यह सब अर्थ दिये हैं।
विपाकः फलमन्त्यस्य।
जापानी संपादक विभाषा, १२१, ३ उद्धृत करते हैं।
फल पंचविध हैं : १. निष्यन्दफल, २. विपाकफल, ३. विसंयोगफल, ४. पुरुषकारफल, ५. अधिपतिफल।
ए. निष्यन्दफल : कुशलोत्पन्न कुशल, अकुशलोत्पन्न अकुशल, अव्याकृतोत्पन्न अव्याकृत।
बी. विपाकफल : विपाक अकुशल या कुशल सास्रव धर्मों से उत्पादित होता है; हेतु कुशल या अकुशल है किन्तु फल सदा अव्याकृत है। क्योंकि यह फल स्वहेतु से भिन्न है और 'पाक' है इसलिये इसे 'विपाक' (विसदृश पाक) कहते हैं।
सी. विसंयोगफल। आनन्तर्य मार्ग क्लेश का उच्छेद करते हैं; उनका विसंयोगफल और पुरुषकारफल क्लेशसमुच्छेद है; उनका निष्यन्दफल और पुरुषकारफल विमुक्तिमार्ग है; उनका निष्यन्दफल सर्व सम या विशिष्ट स्वजातीय अपर मार्ग है।
अभिधर्मावतारशास्त्र (नैञ्जियो, १२९१); २.१४ भी देखिये जहाँ फलों की संज्ञाओं का व्याख्यान है।

अन्त्य हेतु विपाकहेतु है क्योंकि सूची में सबके अन्त में यह अभिहित है। पूर्वफल, विपाकफल (२.५७), इस हेतु का फल है।

५६ बी. अधिपतिफल पूर्व का फल है।[४]

[२८८] पूर्व हेतु कारणहेतु है। अन्त्य फल इससे निर्वृत होता है।

इस फल को 'अधिपज' या 'आधिपत' कहते हैं क्योंकि यह अधिपतिफल है (२.५८ सी-डी)। कारणहेतु से अधिपति का प्रादुर्भाव होता है।

किन्तु यह कहा जायगा कि अनावरणभावमात्रावस्थान (२.५० ए) ही कारणहेतु है। इसको 'अधिपति' कैसे मान सकते हैं ?

कारणहेतु या तो 'उपेक्षक' है—और उस अवस्था में इसे अधिपति अवधारण करते हैं क्योंकि इसका अनावरणभाव है—या 'कारक' है—और इसे अधिपति मानते हैं क्योंकि इसका प्रधानभाव, जनकभाव और अंगीभाव है। यथा दस आयतन (रूपादि और चक्षुरादि) पंच-विज्ञानकाय की उत्पत्ति में अधिपति हैं; सत्वों के समुदित कर्म का भाजनलोक[१] के प्रति अंगीभाव है। श्रोत्र का चक्षुर्विज्ञान की उत्पत्ति में पारंपर्येण आधिपत्य है क्योंकि श्रवण कर द्रष्टु-कामना की उत्पत्ति होती है। एवमादि योजना कीजिये (२.५० ए देखिये)।

५६ सी-डी. निष्यन्द सभाग और सर्वत्रगहेतु का फल है।[२]

निष्यन्दफल सभागहेतु (२.५२) और सर्वत्रगहेतु (२.५४) से निर्वृत्त होता है : क्योंकि इन दो हेतुओं का फल स्वहेतु के सदृश है (२.५७ सी; ४.८५)।

५६ डी. पौरुष दो हेतुओं का फल है।[३]

[२८९] सहभूहेतु (२.५० बी) और संप्रयुक्तकहेतु (२.५३ सी) का फल पौरुष कहलाता है अर्थात् पुरुषकार का फल।

पुरुषकार पुरुषभाव से व्यतिरिक्त नहीं है क्योंकि कर्म कर्मवान् से अन्य नहीं है। अतः पुरु-षकारफल को 'पौरुष' कह सकते हैं।

'पुरुषकार' का क्या अर्थ है ?

जिस धर्म का जो कारित्र (क्रिया, कर्मन्) है वह उसका पुरुषकार कहलाता है क्योंकि वह पुरुषकार के सदृश है। यथा लोक में एक ओषधि को काकजंघा कहते हैं क्योंकि यह काकजंघा के आकार की होती है; शूर को मत्त हस्ती कहते हैं क्योंकि वह मत्त हस्ती के सदृश है।

---

[४] पूर्वस्याधिपजं फलम् अथवा पूर्वस्याधिपतं फलम् [व्या २२१.२९,३३] (पाणिनि ४.१.८५) —४.८५ ए-बी. ११० ए

[१] भाजनलोक (३.४५, ४.१) सत्व समुदाय के कुशल-अकुशल कर्मों से जनित है। यह अव्या-कृत है किन्तु यह विपाक नहीं है क्योंकि विपाक एक 'सत्वाख्य' धर्म (पृ. २९०) है। अतः यह कारणहेतुभूत कर्मों का अधिपतिफल है। [व्या २२२.१५]

[२] सभागसर्वत्रगयोर्निष्यन्दः (व्या २२२.२२)

[३] पौरुषं द्वयोः ॥ [व्या २२२.२५]

क्या केवल संप्रयुक्तकहेतु और सहभूहेतु ही ऐसे हेतु हैं जिनका पुरुषकार फल है ?

एक मत के अनुसार विपाकहेतु से अन्यत्र अन्य हेतुओं का भी यह फल होता है। वास्तव में यह फल सहोत्पन्न है या समनन्तरोत्पन्न है। विपाकफल ऐसा नहीं है। अन्य आचार्यों[1] के अनुसार विपाकहेतु का एक विप्रकृष्ट पुरुषकारफल भी होता है, यथा श्रमिक द्वारा अर्जित फल।

[अतः एक धर्म (१) निष्यन्दफल है क्योंकि यह स्वहेतु के सदृश उत्पन्न होता है; (२) पुरुषकारफल है क्योंकि यह स्वहेतुबल से उत्पन्न होता है, (३) अधिपतिफल है क्योंकि यह स्वहेतु के 'अनावरणभाव' के कारण उत्पन्न होता है ।]

विपाकोऽव्याकृतो धर्मः सत्वाख्यो व्याकृतोद्भवः।
निष्यन्दो हेतुसदृशो विसंयोगः क्षयो धिया ॥५७॥

भिन्न फलों के क्या लक्षण हैं ?

५७ ए-बी. विपाक एक अव्याकृत धर्म है; यह सत्वाख्य है; यह व्याकृत से उत्तरकाल में उत्पन्न होता है ।[2]

विपाक अनिवृताव्याकृत धर्म है ।

[२९०] अनिवृताव्याकृत धर्मों में कुछ सत्वाख्य होते हैं, अन्य असत्वाख्य होते हैं । अतः आचार्य अवधारण करते हैं 'सत्वाख्य' अर्थात् सत्वसन्तानज ।

औपचयिक (आहारादि से निर्वृत्त, १.३७) और नैष्यन्दिक (स्वसदृश हेतु से प्रवृत्त, १.३७, २.५७ सी) धर्म सत्वाख्य हैं। अतः आचार्य अवधारण करते हैं 'व्याकृत कर्म से उत्तरकाल में संजात' ।—यह व्याकृत कर्म इसलिये कहलाता है क्योंकि यह विपाक का उत्पाद करता है । यह अकुशल और कुशल सास्रव (२.५४ सी-डी) कर्म हैं। इस स्वभाव के कर्म से उत्तरकाल में, युगपत् या अनन्तर नहीं, जो फल होता है वह विपाकफल है ।[3]

पर्वत, नदी आदि असत्वाख्य धर्मों को विपाकफल क्यों नहीं मानते ? क्या वह कुशल-अकुशल कर्म से उत्पन्न नहीं है ? असत्वाख्य धर्म स्वभाववश सामान्य हैं। सर्व लोक उनका परिभोग कर सकता है । किन्तु विपाकफल स्वभावतः स्वकीय है : जिस कर्म की निष्पत्ति मैंने की है उसके विपाकफल का भोग दूसरा कभी नहीं करता। कर्म विपाकफल के अतिरिक्त

---

[1] यह परमार्थ में नहीं है ।

[2] विपाकोऽव्याकृतो धर्मः सत्वाख्यो व्याकृतोद्भवः । [व्या २२३.१४]

[3] 'उद्भव' का 'उद्' उपसर्ग उत्तर कालार्थ है।—समाधि काय के महाभूतों के उपचय का उत्पाद करती है : यह महाभूत "औपचयिक" कहलाते हैं क्योंकि इनकी उत्पत्ति समाधि के साथ (युगपत्) या अनन्तर होती है । यह विपाकज नहीं हैं ।—यथा निर्माणचित्त (१.३७, ७.४८) अव्याकृत, सत्वाख्य, व्याकृत कर्म (समाधि) से अभिनिर्वृत्त है किन्तु समाधि के अनन्तर उत्पन्न होने से यह विपाकज नहीं है। पुनः विपाकफल सदा जनक कर्म का समान-भूमिक होता है ।

अधिपतिफल का उत्पाद करता है : सत्व इस फल का समान परिभोग करते हैं क्योंकि कर्म-समुदाय इसकी अभिनिर्वृत्ति में सहयोग करता है (पृ.२८८, टि. १)

५७ सी. हेतुसदृश फल निष्यन्द कहलाता है ।[१]

[२९१] हेतुसदृश धर्म निष्यन्दफल है। सभागहेतु (२.५२) और सर्वत्रगहेतु (२. ५४ ए-बी) यह हेतुद्वय निष्यन्दफल प्रदान करते हैं ।

यदि सर्वत्रगहेतु का फल निष्यन्दफल है, हेतुसदृश फल है तो सर्वत्रगहेतु को सभागहेतु क्यों नहीं कहते ?

सर्वत्रगहेतु का फल (१) भूमितः सदा हेतुसदृश है—यह तत्सदृश कामावचरादि है, (२) क्लिष्टतया हेतुसदृश है—हेतु के सदृश फल भी क्लिष्ट है। किन्तु प्रकारतः इसका हेतु से सादृश्य नहीं है। प्रकार (निकाय) से अभिप्राय प्रहाण-प्रकार से है : दुःखादिसत्यदर्शनप्रहातव्य (२.५२ बी), किन्तु जिसका प्रकारतः भी सादृश्य होता है वह सर्वत्रगहेतु सभागहेतु भी अभ्युपगत होता है ।

अतएव चार कोटि हैं :

१. असर्वत्रग सभागहेतु : यथा रागादिक स्वनैकायिक क्लेश का सभागहेतु है, सर्वत्रगहेतु नहीं है;

२. अन्यनैकायिक सर्वत्रगहेतु : सर्वत्रग क्लेश अन्यनैकायिक क्लेश का सर्वत्रगहेतु है, सभागहेतु नहीं है;

३. एकनैकायिक सर्वत्रगहेतु : सर्वत्रग क्लेश एकनैकायिक क्लेश का सभागहेतु और सर्वत्रगहेतु है ।

४. इन आकारों को वर्जित कर अन्य धर्म न सभागहेतु हैं और न सर्वत्रगहेतु ।[१]

५७ डी. बुद्धि से प्राप्यमाण क्षय विसंयोग है ।[२]

विसंयोग या विसंयोगफल क्षय (=निरोध) है जो प्रज्ञा (धी) से प्रतिलब्ध होता है। अतः विसंयोग प्रतिसंख्या-निरोध है (ऊपर पृ० २७८ देखिये) ।

यद्बलाज्जायते यत्तत्फलं पुरुषकारजम् ।
अपूर्वः संस्कृतस्यैव संस्कृतोऽधिपतेः फलम् ॥५८॥

[२९२] ५८ ए-बी. एक धर्म उस धर्म का पुरुषकारफल होता है जिस धर्म के बल से यह उत्पन्न होता है ।[१]

यह धर्म संस्कृत है ।

---

[१] निष्यन्दो हेतुसदृशः [व्या २२४.२]
[१] कुशल धर्म क्लिष्टादि धर्मों के सभागहेतु नहीं हैं ।
[२] विसंयोगः क्षयो धिया ॥ [व्या २२४.३१]
[१] यद् बलाज्जायते यत तत् फलं पुरुषकारजम् । [व्या २२५.१]

उदाहरण : उपरिभूमिक समाधि अधरभूमिक तत्प्रयोगचित्त का पुरुषकारफल है; प्रथम-ध्यानभूमिक समाधि कामावचरचित्त का, द्वितीयध्यानभूमिक समाधि प्रथमध्यान-भूमिक चित्त का, पुरुषकारफल है ।

अनास्रव धर्म सास्रव धर्म (लौकिकाग्र धर्मों का फल दुःखे धर्मज्ञानक्षान्ति, ६.२५ सी-डी है) का पुरुषकारफल हो सकता है ।

निर्माणचित्त ध्यानचित्त का (७.४८) पुरुषकारफल है ।

एवमादि ।[१]

प्रतिसंख्यानिरोध या निर्वाण को 'पुरुषकार फल' अवधारित करते हैं किन्तु ५८ ए-बी का लक्षण निरोध में नहीं घटता क्योंकि नित्य होने से वह उत्पन्न नहीं होता । अतः हम कहते हैं कि यह उस धर्म का पुरुषकारफल है जिसके बल से प्रतिसंख्यानिरोध प्राप्त होता है ।

५८ सी-डी. पूर्वोत्पन्न से अन्य सर्व संस्कृतधर्म संस्कृत का अधिपतिफल है ।[२]

पुरुषकारफल और अधिपतिफल में क्या भेद है ?

[२९३] कर्ता का पुरुषकारफल है; अधिपतिफल कर्ता और अकर्ता दोनों का है । यथा शिल्प कारक शिल्पी का पुरुषकारफल और अधिपतिफल है; अशिल्पी का यह केवल अधिपतिफल है ।

फल के प्रतिग्रहण (गृह्णाति, आक्षिपति) और दान (प्रयच्छति, ददाति) के काल में प्रत्येक हेतु अनागत, प्रत्युत्पन्न, अतीत इनमें से किस अवस्था में होता है ?

वर्तमानाः फलं पञ्च गृह्णन्ति द्वौ प्रयच्छतः ।
वर्तमानाभ्यतीतौ द्वावेकोऽतीतः प्रयच्छति ॥५९॥

५९. ५ हेतु वर्तमान अवस्था में फल ग्रहण करते हैं; दो वर्तमान अवस्था में फल प्रदान करते हैं; दो, वर्तमान और अतीत, प्रदान करते हैं; एक अतीत प्रदान करता है ।[१]

'फलप्रतिग्रहण', 'फलदान' का क्या अर्थ है ?[२]

---

[१] कामावचर मरणचित्त का अर्थात् उस सत्व के चित्त का जो कामधातु में मृत होता है पुरुष-कारफल रूपावचर प्रथम अन्तराभव क्षण होता है । यह उदाहरण पुरुषकारफल और निष्यन्द-फल का विवेचन करते हैं । चार कोटि हैं : (१) पुरुषकारफल जो निष्यन्दफल नहीं है : पूर्वोक्त उदाहरण; (२) निष्यन्दफल जो पुरुषकारफल नहीं है : यह सभाग और सर्वत्रग हेतुओं का व्यवहित फल है; (३) जो निष्यन्द और पुरुषकारफल उभय हैं : सभागफल, स्वभूमिक, समनन्तरोत्पन्न; (४) जो न निष्यन्द है, न पुरुषकार : विपाक फल । [व्या २२५.२०]

[२] अपूर्वः संस्कृतस्यैव संस्कृतोऽधिपतेः फलम् ॥ [व्या २२६.२] २.५६ बी और ४.८५ देखिये ।

[१] वर्तमानाः फलं पञ्च गृह्णन्ति द्वौ प्रयच्छतः ।
वर्तमानाभ्यतीतौ द्वौ एकोऽतीतः प्रयच्छति ॥ [व्या २२६.९]
२.५५ ए-बी से तुलना कीजिये ।

[२] मूल में यह लक्षण आगे चलकर (६.२२ ए ७) दिये हैं । पाठक की सुगमता के लिये इन्हें यहाँ देते हैं ।

एक धर्म फल का प्रतिग्रहण करता है जब यह बीजभाव को उपगत होता है।[३]

एक धर्म फल का दान उस काल में करता है जब वह इस फल को उत्पन्न होने का सामर्थ्य प्रदान करता है अर्थात् जिस क्षण में उत्पादाभिमुख अनागत फल को यह धर्म वह बल देता है जिससे वह वर्तमानावस्था में प्रवेश करता है।

५९ ए-बी. ५ हेतु वर्तमान होकर अपने फल का प्रतिग्रहण करते हैं।

५ हेतु केवल तभी अपने फल का प्रतिग्रहण करते हैं जब वह वर्तमान होते हैं : अतीत पहले ही अपने फल का प्रतिग्रहण कर चुके हैं, अनागत में कारित्र नहीं होता (५.२५)।

कारणहेतु भी इसी प्रकार है किन्तु कारिका इसका उल्लेख नहीं करती क्योंकि कारणहेतु अवश्यमेव सफल नहीं है।

[२९४] ५९ बी. दो वर्तमान होकर अपना फल प्रदान करते हैं।

वर्तमान सहभूहेतु और संप्रयुक्तकहेतु ही फलप्रदान करते हैं : वास्तव में यह दो हेतु एक काल में फल का प्रतिग्रहण और दान करते हैं।

५९ सी. दो वर्तमान और अतीत अवस्था में अपना फल देते हैं।

सभाग और सर्वत्रगहेतु वर्तमान और अतीत अवस्था में फल प्रदान करते हैं।

वर्तमानावस्था में वह कैसे निष्यन्दफल (२.५६ सी) प्रदान करते हैं? हमने देखा है (२.५२ बी, ५४ ए) कि वह अपने फल से पूर्व होते हैं।

कहते हैं कि वर्तमानावस्था में वह फल प्रदान करते हैं क्योंकि वह उनका समनन्तर म निर्वर्तन करते हैं (समनन्तरनिर्वर्तनात्) [व्या २२६.२३]। जब उनके फल की उत्पत्ति होती है तब वह अभ्यतीत होते हैं : वह पूर्व ही प्रदान कर चुके हैं, वह पुनः उसी फल को नहीं देते।[१]

(१) ऐसा होता है कि एक काल में एक कुशल सभागहेतु फल का प्रतिग्रहण करता है और फल नहीं देता। चार कोटि हैं : प्रतिग्रहण, दान, प्रतिग्रहण और दान, न प्रतिग्रहण, न दान।[२]

१. कुशलमूल की जिन प्राप्तियों का परित्याग कुशलमूल का समुच्छेद करनेवाला पुद्गल (४.८० ए) सर्वपश्चात् करता है वह प्राप्तियाँ फल का प्रतिग्रहण करती हैं, फलप्रदान नहीं करतीं।[३]

---

[३] तस्य बीजभावोपगमनात् [व्या २३०.२१]—धर्म का सदा अस्तित्व है चाहे यह अनागत, प्रत्युत्पन्न या अतीत हो। जिस क्षण में यह वर्तमान होकर फल का हेतु या बीज होता है उस क्षण में हम कहते हैं कि यह फल का प्रतिग्रहण या आक्षेप करता है।—व्याख्या कहती है कि बीज की उपमा सौत्रान्तिक प्रक्रिया है। "कुछ पुस्तकों में यह पाठ नहीं है" (क्वचित् पुस्तके नास्त्येष पाठः) [व्या २३०.२२]। अन्यत्र व्याख्या निरूपण करती है : प्रतिगृह्णन्तीत्याक्षिपन्ति हेतुभावेनोपतिष्ठन्त इत्यर्थः। [व्या २२६.१२]

[१] इस कठिन विषय पर संघभद्र, न्यायावतार, ९८ ए, ३ देखिये।

[२] अस्ति कुशलः सभागहेतुः फलं प्रतिगृह्णाति न ददाति—विभाषा, १८.५ के अनुसार।

[३] मृदुमृदु कुशलमूल की प्राप्तियाँ जो अन्त्य हैं और जिनका छेद होता है फलपरिग्रह करती हैं (फलपरिग्रहं कुर्वन्ति) किन्तु अपना निष्यन्दफल नहीं देतीं क्योंकि जन्य कुशल क्षणान्तर का अभाव है।

[२९५] २. कुशलमूल की जिन प्राप्तियों का कुशलमूल का प्रतिसन्धान करनेवाला पुद्गल (४. ८० सी) सर्वप्रथम प्रतिलाभ करता है वह फल देती हैं किन्तु फल का प्रतिग्रहण नहीं करतीं।

इस प्रकार कहना चाहिये[1] : यही प्राप्तियाँ जिनका सर्वपश्चात् परित्याग कुशलमूल का समुच्छेद करने वाला पुद्गल करता है उस काल में स्वफल प्रदान करती हैं किन्तु प्रतिग्रहण नहीं करतीं जिस काल में यह पुद्गल कुशलमूल का प्रतिसंधान करता है।

३. जिस पुद्गल के कुशलमूल असमुच्छिन्न हैं उसकी प्राप्तियाँ पूर्व की दो अवस्थाओं को स्थापित कर : कुशलमूल का समुच्छेद करने वाले पुद्गल की अवस्था, कुशलमूल का प्रतिसंधान करनेवाले पुद्गल की अवस्था—प्रतिग्रहण करती हैं और देती हैं।

४. इन आकारों को वर्जित कर अन्य अवस्थाओं में प्राप्तियाँ न प्रतिग्रहण करती हैं, न प्रदान करती हैं : यथा समुच्छिन्नकुशलमूल पुद्गल के कुशलमूलों की प्राप्तियाँ, ऊर्ध्वभूमि से परिहीण पुद्गल के ऊर्ध्वभूमिक कुशलों की प्राप्तियाँ। यह प्राप्तियाँ पूर्व ही स्वफल का प्रतिग्रहण कर चुकी हैं, अतः पुनः प्रतिग्रहण नहीं करतीं; वह प्रदान नहीं करतीं क्योंकि इन कुशलमूलों की प्राप्ति का वर्तमान में अभाव है।

(२) अकुशल सभागहेतु के लिये विभाषा यही चार कोटि व्यवस्थापित करती है :

१. अकुशल धर्मों की प्राप्तियाँ जिनका प्रहाण कामवैराग्य की प्राप्ति करनेवाला पुद्गल सर्वपश्चात् करता है।

२. वह प्राप्तियाँ जिनका प्रतिलाभ कामवैराग्य से परिहीयमाण पुद्गल सर्वप्रथम करता है।

ऐसा कहना चाहिये : यही प्राप्तियाँ जब पुद्गल कामवैराग्य से परिहीयमाण होता है।

३. पूर्व की दो अवस्थाओं को छोड़कर, अवीतराग पुद्गल की प्राप्तियाँ।

[२९६] ४. इन आकारों को स्थापित कर अन्य सब अवस्थाओं की प्राप्तियाँ : यथा कामवीतराग और अपरिहाणधर्मा पुद्गल की प्राप्तियाँ।

(३) निवृताव्याकृत सभागहेतु का भी चतुष्कोटिक विधान है :

१. निवृताव्याकृत धर्मों की अन्त्य प्राप्तियाँ जिनका त्याग अर्हत्वप्राप्त आर्य करता है।

२. प्राप्तियाँ जिनका सर्वप्रथम प्रतिलाभ अर्हत्व से परिहीयमाणपुद्गल करता है।

यह कहना अधिक युक्त होगा : अर्हत्व से परिहीयमाण पुद्गल की पूर्वोक्त प्राप्तियाँ।

---

[1] वसुबन्धु वैभाषिकों के वाद की आलोचना करते हैं। वास्तव में यह द्वितीय कोटिनिर्देश सावद्य है। [व्या २२७. १०] कुशलमूल के प्रतिसन्धान-काल में कुशलमूलों की त्रैयध्विक प्राप्तियों का प्रतिलाभ एक साथ होता है : इनमें से अतीत प्राप्तियाँ फल प्रदान करती हैं किन्तु प्रतिग्रहण नहीं करतीं क्योंकि वह पूर्व ही प्रतिगृहीत हैं; किन्तु जो वर्तमान प्राप्तियाँ हैं उनके लिये यह कैसे अवधारित होता है कि वह स्वफल का प्रतिग्रहण नहीं करतीं ? अतः प्रस्तावित निर्देश अविशोधित है।—संघभद्र विभाषा का समर्थन करते हैं।

३. पूर्व की दो अवस्थाओं को छोड़कर शेष अवस्थाओं में भवाग्र से अवीतराग पुद्गल की प्राप्तियाँ ।

४. इन आकारों को वर्जित कर अन्य सब अवस्थाओं की प्राप्ति : अर्हत्व की प्राप्ति ।

(४) जो अनिवृताव्याकृत सभागहेतु फल देता है वह प्रतिग्रहण भी करता है (क्योंकि अनिवृताव्याकृत यावत् परिनिर्वाण संनिहित होता है) किन्तु बिना प्रदान किये यह स्वफल का प्रतिग्रहण कर सकता है : अर्हत् के चरम स्कन्धों का निष्यन्द नहीं होता ।[1]

(५) अब तक हमने उन धर्मों का विचार किया है जो 'सालंबन' नहीं हैं । यदि हम चित्त और चैत्तों का क्षणशः विचार करें तो हम कुशल सभागहेतु के लिए निम्न चतुष्कोटिक विधान करेंगे :—

१. यह प्रतिग्रहण करता है और प्रदान नहीं करता । जब एक कुशल चित्त के अनन्तर क्लिष्ट या अनिवृताव्याकृत चित्त का सम्मुखीकरण होता है तो यह कुशल चित्त, सभागहेतु होने के कारण, एक निष्यन्दफल अर्थात् उत्पत्ति-धर्मी या अनुत्पत्ति-धर्मी, एक अनागत कुशलचित्त का प्रतिग्रहण करता है अर्थात् आक्षेप करता है । यह निष्यन्दफल प्रदान नहीं करता क्योंकि इसका अनन्तर चित्त जो क्लिष्ट या अनिवृताव्याकृत है कुशल चित्त का निष्यन्द नहीं है ।

२. यह प्रदान करता है और प्रतिग्रहण नहीं करता । जब क्लिष्ट या अनिवृताव्याकृत चित्त के अनन्तर कुशलचित्त का सम्मुखीकरण होता है तब एक पूर्वक कुशलचित्त निष्यन्दफल, अर्थात् कुशलचित्त जिसका हम विचार कर रहे हैं, प्रदान करता है । यह पूर्वक कुशलचित्त फल का प्रतिग्रहण नहीं करता क्योंकि फल पूर्व प्रतिगृहीत है ।

[२९७] ३. यह प्रतिग्रहण करता है और प्रदान करता है । जब कुशलचित्त के अनन्तर कुशलचित्त का सम्मुखीकरण होता है तब पूर्वकचित्त द्वितीय चित्त का निष्यन्द फलत्वेन प्रतिग्रहण करता है और उसे प्रदान करता है ।

४. यह न प्रतिग्रहण करता है, न प्रदान करता है । जब क्लिष्ट या अनिवृताव्याकृत चित्त के अनन्तर क्लिष्ट या अव्याकृत चित्त का सम्मुखीकरण होता है तो पूर्व का कुशलचित्त जो सभागहेतु है फल का प्रतिग्रहण नहीं करता क्योंकि इसने फल को पूर्व ही प्रतिगृहीत किया है ; यह फल प्रदान नहीं करता क्योंकि यह उत्तर काल में फल प्रदान करेगा ।

अकुशल सभागहेतु की भी योजना इसी प्रकार होनी चाहिये ।

५९ डी. एक हेतु अतीत होकर स्वफल प्रदान करता है । [वसुमित्र, महासांघिक, ४४ वाँ वाद]

विपाकहेतु अतीत होकर स्वफल प्रदान करता है क्योंकि यह फल अपने हेतु का सहभू या समनन्तर नहीं है ।

---

[1] **अनिवृताव्याकृतस्य पश्चात् पादक इति पश्चात्पादकलक्षणं व्याख्यातमिति न पुनरुच्यते। [व्या २२९.२४]**

पाश्चात्य आचार्य (विभाषा, १२१.६) कहते हैं कि पूर्वोक्त पाँच फलों से भिन्न चार फल हैं :

१. प्रतिष्ठाफल : जलमण्डल वायुमण्डल (३.४५) का प्रतिष्ठाफल है और एवमादि यावत् ओषधि प्रभृति महापृथिवी का प्रतिष्ठाफल है।

२. प्रयोगफल : अनुत्पादज्ञानादि (४.५०) अशुभादि (६.११) का प्रयोगफल हैं।

३. सामग्रीफल : चक्षुर्विज्ञान चक्षु, रूप, आलोक और मनस्कार का सामग्रीफल है।

४. भावनाफल : निर्माणचित्त (७.४८) ध्यान का भावनाफल है।

सर्वास्तिवादिन् के अनुसार इन चार फलों में से प्रथम अधिपतिफल में अन्तर्भूत है, अन्य तीन पुरुषकारफल में अन्तर्भूत हैं।

हमने हेतु और फल का व्याख्यान किया है। अब इसकी समीक्षा करनी है कि विविध धर्मों का उत्पाद कितने हेतुओं से होता है।

इस दृष्टि से धर्मों की चार राशियाँ हैं : १. क्लिष्टधर्म अर्थात् क्लेश, तत्संप्रयुक्त और [२९८] तत्समुत्थ धर्म (४.८); २. विपाकज या विपाक हेतु से (२.५४ सी) संजातधर्म; ३. प्रथम अनास्रव धर्म अर्थात् दुःखे धर्मज्ञानक्षान्ति (१.३८ बी, ६.२७) और तत्सहभूधर्म; ४. शेषधर्म।अर्थात् विपाकवर्ज्य अव्याकृत धर्म और प्रथम अनास्रव क्षण को वर्जित कर कुशलधर्म।

> **क्लिष्टा विपाकजाः शेषाः प्रथमार्या यथाक्रमम्।**
> **विपाकं सर्वगं हित्वा तौ सभागं च शेषजाः ॥६०॥**
> **चित्तचैत्तास्तथाऽन्येऽपि संप्रयुक्तकवर्जिताः।**
> **चत्वारः प्रत्यया उक्ता हेत्वाख्यः पञ्च हेतवः ॥६१॥**

६०—६१ बी. (१) क्लिष्ट, (२) विपाकज, (३) शेष, (४) प्रथमार्य चित्त-चैत्त यथाक्रम (१) विपाकहेतु को, (२) सर्वत्रगहेतु को, (३) इन दो हेतुओं को, (४) इन दो हेतुओं तथा सभागहेतु को वर्जित कर शेष हेतुओं से उत्पन्न होते हैं। चित्त-चैत्त से अन्य धर्मों के लिये संप्रयुक्तकहेतु को भी वर्जित करना चाहिये।[1]

(१) क्लिष्ट चित्त-चैत्त विपाकहेतु को वर्जित कर शेष पाँच हेतुओं से संजात होते हैं; (२) विपाकज चित्त-चैत्त सर्वत्रगहेतु को वर्जित कर शेष पाँच हेतुओं से उत्पन्न होते हैं; (३) इन दो प्रकारों से और चतुर्थ प्रकार से अन्य चित्त-चैत्त विपाकहेतु और सर्वत्रगहेतु को वर्जित कर शेष चार हेतुओं से उत्पन्न होते हैं; (४) प्रथम अनास्रव चित्त-चैत्त पूर्वोक्त दो हेतु और सभाग-हेतु को वर्जित कर शेष तीन हेतुओं से उत्पन्न होते हैं।

---

[1] क्लिष्टा विपाकजाः शेषाः प्रथमार्या यथाक्रमम्।
विपाकं सर्वगं हित्वा तौ सभागं च शेषजाः॥
चित्तचैत्तास् [तथान्ये च संप्रयुक्तकवर्जिताः]।
अभिधर्महृदय, २.१२—१५ से तुलना कीजिये।

चित्त-चैत्त से अन्य धर्म अर्थात् रूपीधर्म और चित्त-विप्रयुक्त-संस्कार (२.३५) जिस राशि के अन्तर्भूत होते हैं उस राशि के हेतुओं से एक संप्रयुक्तकहेतु को वर्जित कर उत्पन्न होते हैं: क्लिष्ट और विपाकज, चार हेतु; शेष, तीन हेतु; प्रथमानास्रव (अनास्रवसंवर, ४.१३), दो हेतु ।

कोई ऐसा धर्म नहीं है जो एक हेतु से संभूत है : कारणहेतु और सहभूहेतु का अवश्य अविनाभाव है ।

[२९९] हम हेतुओं का व्याख्यान कर चुके हैं। प्रत्यय कितने हैं ?

६१ सी. प्रत्यय चार कहे जाते हैं ।[1]

यह कहाँ कहा है ?

इस सूत्र में : "चार प्रत्ययता हैं अर्थात् हेतु-प्रत्ययता, समनन्तर-प्रत्ययता, आलम्बन-प्रत्ययता, अधिपति-प्रत्ययता" ।

[३००] 'प्रत्ययता' का अर्थ 'प्रत्ययजाति' है ।[1]

---

[1] चत्वारः प्रत्यया उक्ताः ।
विभाषा, १६, ८: "यह सत्य है कि यह ६ हेतु सूत्र में उक्त नहीं हैं; सूत्र में केवल इतना उक्त है कि चार प्रत्ययता हैं ।"
जापानी संपादक महायान से वचन उद्धृत करते हैं: नैञ्जियो १४१ (अनु-धर्मगुप्त) घनव्यूह, नैञ्जियो, १४० (अनु० शुआन-चाङ), मध्यमक (मध्यमकवृत्ति, पृ० ७६ देखिये]
हेतु और प्रत्यय के परस्पर के संबन्ध में विभाषा के प्रथम आचार्य कहते हैं कि (१) हेतुप्रत्यय में कारणहेतु को वर्जित कर ५ हेतु संगृहीत हैं, (२) कारणहेतु में अन्य तीन प्रत्यय संगृहीत हैं। विभाषा के द्वितीय आचार्य कहते हैं कि (१) हेतुप्रत्यय में ५ हेतु संगृहीत हैं, (२) कारण-हेतु केवल अधिपतिप्रत्यय हैं: इस सिद्धांत को वसुबन्धु स्वीकार करते हैं। महायान के आचार्यों के लिये सभागहेतु हेतुप्रत्यय और अधिपतिप्रत्यय दोनों हैं, अन्य ५ हेतु अधिपति-प्रत्यय हैं ।
प्रकरण, ३० ए १७, में चार प्रत्यय परिगणित हैं। विज्ञानकाय, १६ ए ७, विज्ञानतः इनका निर्देश करता है: "चक्षुर्विज्ञान का हेतु-प्रत्यय क्या है ? सहभू और संप्रयुक्त धर्म ।—उसका समनन्तर-प्रत्यय क्या है ? चित्त और चैत्त जिनके यह सम और अनन्तर है, उत्पन्न और उत्पद्यमान चक्षुर्विज्ञान ।—उसका आलम्बन-प्रत्यय क्या है ? रूप—उसका अधिपति-प्रत्यय क्या है ? स्व को वर्जित कर सर्व धर्म . . . . चक्षुर्विज्ञान किसका हेतु-प्रत्यय है ? सहभू और संप्रयुक्त धर्मों का —किसका यह समनन्तर-प्रत्यय है ? उत्पन्न या उत्पद्यमान, इस चक्षुर्विज्ञान के सम और अनन्तर, चित्त-चैत्तों का ।—किसका यह आलम्बन-प्रत्यय है ? चित्त-चैत्त का जो उसको आलम्बनरूप में ग्रहण करते हैं।—किसका यह अधिपति-प्रत्यय है ? स्व को वर्जित कर सर्व धर्मों का ।"
अभिधर्महृदय, २.१६ में चार प्रत्ययों का वही लक्षण दिया है जो हमारे ग्रन्थ में है: हेतु-प्रत्यय में ५ हेतु संगृहीत हैं: अधिपति-प्रत्यय कारणहेतु है ।
अभिधम्म के 'पच्चयों' के लिये दुकपट्ठान प्रधान प्रमाण प्रतीत होता है। अभिधर्म से अनेक सादृश्य हैं। आख्या भिन्न हैं, यथा 'सहजाताधिपतिपच्चय' हमारा 'सहभूहेतु' है। कथा-वत्थु, १५.१—२ भी देखिये ।

[1] अर्थात् प्रत्ययप्रकार, यथा गो जाति के लिये 'गोता' कहते हैं ।

हेतु-प्रत्यय क्या है ?

६१ डी. हेत्वाख्य प्रत्यय पाँच हेतु हैं ।[2]

यदि कारणहेतु को वर्जित करें तो शेष पाँच हेतु हेतु-प्रत्ययता होते हैं ।

चित्तचैत्ता अचरमा उत्पन्नाः समनन्तरः ।
आलम्बनं सर्वधर्माः कारणाख्योऽधिपः स्मृतः ॥६२॥

समनन्तर-प्रत्यय क्या है ?

६२ ए-बी. चरम को वर्जित कर अन्य उत्पन्न चित्त-चैत्त समनन्तर-प्रत्यय हैं ।[3]

यदि अर्हत् के निर्वाण-काल के चरम चित्त और चरम चैत्त को वर्जित करें तो अन्य सब उत्पन्न चित्त-चैत्त समनन्तर-प्रत्यय हैं ।

(१) केवल चित्त और चैत्त समनन्तर-प्रत्यय हैं । यह किन धर्मों के समनन्तर-प्रत्यय हैं ?

१. इस प्रकार के प्रत्यय को समनन्तर कहते हैं क्योंकि यह सम और अनन्तर धर्मों का उत्पाद करता है । 'सम्' उपसर्ग समान के अर्थ में है ।

अत:[4] केवल चित्त-चैत्त समनन्तर-प्रत्यय हैं क्योंकि अन्य धर्मों के लिये, यथा रूपी धर्मों के लिये, हेतु और फल में समता नहीं है । वास्तव में कामावचर रूप के अनन्तर कदाचित् दो रूप, एक कामावचर रूप और एक रूपावचर रूप[5] उत्पन्न होते हैं; कदाचित् कामावचर और अना- [३०१] स्रव यह दो रूप उत्पन्न होते हैं ।[1] किन्तु कामावचर चित्त के अनन्तर एक कामावचर और एक रूपावचर चित्त कभी युगपत् नहीं उत्पन्न होते । रूपों का सम्मुखीभाव आकुल है : किन्तु समनन्तर-प्रत्यय आकुल फल नहीं प्रदान करता । अतः रूपी धर्म समनन्तर-प्रत्यय नहीं हैं ।

वसुमित्र कहते हैं कि एक ही काय में औपचयिक रूप-सन्तान के समुच्छेद के विना दूसरे औपचयिक रूप की उत्पत्ति हो सकती है । अतः रूप समनन्तर-प्रत्यय नहीं है ।[2]

भदन्त[3] कहते हैं: रूप के अनन्तर अल्पतर या बहुतर की उत्पत्ति होती है । अतः रूप सम-

---

[2] **हेत्वाख्यः पंच हेतवः ॥**

[3] **चित्तचैत्ता अचरमा उत्पन्नाः समनन्तरः ।**

[4] **विभाषा, ११, ४, द्वितीय आचार्य ।**

[5] **यहाँ अविज्ञप्ति रूप इष्ट है । जब प्रातिमोक्षसंवर (कामधातु का अविज्ञप्ति रूप) के समादान के अनन्तर एक पुद्गल सास्रवध्यान में समापन्न होता है तब वह ध्यान (रूपधातु का अविज्ञप्तिरूप) के संवर का उत्पाद करता है किन्तु कामधातु का अविज्ञप्तिरूप प्रवृत्त होता रहता है (४.१७ बी-सी) देखिये ।**

[1] **उस कोटि में जिसमें वह पुद्गल जिसने प्रातिमोक्षसंवर का समादान किया है अनास्रव-ध्यान में समापन्न होता है ।**

[2] **यह दूसरा मत है जिसका विभाषा में व्याख्यान है ।—जब भोजन करके पुद्गल सोता है या ध्यान-समापन्न होता है तो आहारज और औपचयिक-रूप स्वप्नज या समाधिज औपचयिक-रूप युगपत् उत्पन्न होते हैं । (१.३७ देखिये)**

[3] **भदन्त पर जो स्थविर सौत्रान्तिक हैं (व्याख्या) पृ० ३६ देखिये ।—विभाषा का चतुर्थ मत ।**

नन्तर-प्रत्यय नहीं है। कदाचित् बहुतर से अल्पतर की उत्पत्ति होती है, यथा तुष का बहु समुदाय प्रदीप्त होने पर भस्म होता है। कदाचित् अल्पतर से बहुतर की उत्पत्ति होती है : क्योंकि एक क्षुद्र बीज न्यग्रोध के मूल, स्कन्ध, शाखा और पत्र का उत्पाद करता है।

२. आक्षेप—जब चित्तों की अनन्तर उत्पत्ति होती है तो क्या इनमें सदा समानसंख्यक जाति के संप्रयुक्त चैत्त होते हैं ? नहीं। कदाचित् पूर्व चित्त के बहुतर चैत्त होते हैं; कदाचित् अपर चित्त के अल्पतर चैत्त होते हैं; कदाचित् इनका विपर्यय होता है। कुशल, अकुशल, अव्याकृत चित्त की उत्पत्ति एक दूसरे के उत्तर होती है और इनके संप्रयुक्त चैत्तों की संख्या (२.२८.-३०) एक नहीं होती। समाधि जिनकी उत्तर उत्पत्ति होती है सवितर्क-सविचार, अवितर्क-विचारमात्र या अवितर्क-अविचार होते हैं (८.७)। अतः रूपी धर्मों के तुल्य चैत्तों में समता नहीं होती (विभाषा, ११.५)।

[३०२] यह सत्य है। कदाचित् अल्प से बहु उत्पन्न होते हैं; कदाचित् इसका विपर्यय होता है (विभाषा का द्वितीय मत) किन्तु केवल चैत्त-जाति (विभाषा, ११, १७) की संख्या की वृद्धि या ह्रास से अल्प-बहुतरोत्पत्ति होती हैं। यह जात्यन्तर के प्रति है। स्वजाति के प्रति असमता कभी नहीं होती : अल्पतर वेदना के उत्तर बहुतर वेदना कभी नहीं होती और न इसका विपर्यय होता है अर्थात् एक वेदनासहगत चित्त के उत्तर दो या तीन वेदनाओं से संप्रयुक्त अपरचित्त कभी नहीं होता। संज्ञात या अन्य चैत्तों की भी इसी प्रकार योजना करनी चाहिये।

इसलिये क्या स्वजाति के प्रति ही पूर्व-अपर का समनन्तर-प्रत्यय होता है ? क्या इसलिये वेदना केवल वेदना का समनन्तर-प्रत्यय है ?

नहीं। सामान्यतः पूर्व चैत्त केवल स्वजाति के चैत्तों के नहीं किन्तु अपर चैत्तों के भी समनन्तर-प्रत्यय हैं। किन्तु स्वजाति में अल्प से बहुतर की और विपर्यय से बहुतर से अल्प की उत्पत्ति नहीं होती : यह समनन्तर, 'सम और अनन्तर' इस शब्द को युक्त सिद्ध करता है।

३. एक आभिधार्मिक जो सान्तानसभागिक (विभाषा, १०, १७) कहलाते हैं इसके विरुद्ध यह मानते हैं कि एक जाति का धर्म स्वजाति के धर्म का ही समनन्तर-प्रत्यय होता है : चित्त चित्तान्तर का समनन्तर-प्रत्यय है, वेदना वेदान्तर का, इत्यादि।

आक्षेप—जब अक्लिष्ट धर्म के अनन्तर क्लिष्ट धर्म (=अकुशल या निवृताव्याकृत) उत्पन्न होता है तो इस विकल्प में यह क्लिष्ट धर्म समनन्तर-प्रत्यय से प्रवृत्त नहीं होगा।

यह पूर्वनिरुद्ध क्लेश है जो उस क्लेश का समनन्तर-प्रत्यय है जो इस द्वितीय धर्म को क्लिष्ट करता है। पूर्व क्लेश पश्चादुत्पन्न क्लेश का समनन्तर अवधारित होता है यद्यपि यह अक्लिष्ट धर्म से व्यवहित है क्योंकि अतुल्यजातीय धर्म से व्यवधान अव्यवधान के समान है। यथा पूर्वनिरुद्ध समापत्ति-चित्त निरोधसमापत्ति (२.४३ ए) के व्युत्थान-चित्त का समनन्तर-प्रत्यय है : समापत्ति द्रव्य से व्यवधान नहीं होता।

[३०३] हमारे विचार से सान्तानसभागिकों का वाद अयुक्त है क्योंकि इस वाद के अनुसार प्रथम अनास्रव (१.३८ बी) चित्त का समनन्तर-प्रत्यय न होगा।

४. रूपी धर्मों के समान चित्त-विप्रयुक्त संस्कारों का (२.३५)[1] व्याकुलसम्मुखीभाव है : अतः वह समनन्तर-प्रत्यय नहीं हैं। वास्तव में कामावचर प्राप्ति के अनन्तर त्रैधातुक और अप्रतिसंयुक्त (अनास्रव आदि) धर्मों की प्राप्तियों का युगपत् सम्मुखीभाव होता है।

(२) अनागत धर्म समनन्तर-प्रत्यय होते हैं इसका प्रतिषेध आप क्यों करते हैं?

अनागत धर्म व्याकुल हैं : अनागत अध्व में पूर्वोत्तर का अभाव है (पृ.२६१ देखिये)।[2]

ए. अतः भगवत् कैसे जानते हैं कि अमुक अनागत धर्म की पूर्वोत्पत्ति होगी, अमुक की पश्चात् होगी? यत्किंचित् यावत् अपरान्त उत्पन्न होता है उस सब के उत्पत्ति-क्रम को वह जानते हैं। (संघभद्र, १९, पृ० ४४४)

१. प्रथम विसर्जन।[3] अतीत और साम्प्रत के अनुमान से उनका ज्ञान होता है।—वह अतीत[4] अध्व को देखते हैं : "अमुक जाति के कर्म से अमुक विपाकफल उत्पन्न होता है, अमुक धर्म से अमुक धर्म निर्वृत्त होता है।"—वह साम्प्रत को देखते हैं : "सम्प्रति यह इस जाति का कर्म है। इस कर्म से अनागत में अमुक विपाकफल उत्पन्न होगा। सम्प्रति यह धर्म है; इस धर्म से अमुक धर्म निर्वृत्त होगा"।—किन्तु भगवत् का ज्ञान प्रणिधि-ज्ञान (७.३७) कहलाता है। यह अनुमान ज्ञान नहीं कहलाता। अतीत और साम्प्रत के अनुमान से भगवत् उन धर्मों को प्रत्यक्ष देखते हैं [३०४] जो अनागत अध्व में आकुल अवस्थान करते हैं और वह इस ज्ञान का उत्पाद करते हैं कि "इस पुद्गल ने अमुक कर्म किया हैं; उसका अवश्य अमुक अनागत विपाक होगा"।[5]

यदि आपकी बात मानें तो इसका यह परिणाम होगा कि यदि भगवत् अतीत का विचार न करें तो उनको अपरान्त का ज्ञान न होगा। अतः वह सर्वविद् नहीं है।

---

[1] विभाषा, ११, ५ में २ मत हैं। वसुबन्धु दूसरे का व्याख्यान करते हैं।

[2] सहभूधर्म जिनमें पूर्व-पश्चिमता का अभाव है एक दूसरे के समनन्तर-प्रत्यय नहीं हो सकते।

[3] विभाषा, ११, २ के प्रथम आचार्य—अतीतसाम्प्रतानुमानात्—शुआन्-चाङ :"वह अतीत और साम्प्रत से अनुमान करते हैं किन्तु प्रत्यक्ष देखते हैं।"

[4] अतीत किलाध्वानं पश्यति....विभाषा, वही और १७९.३।

[5] शुआन्-चाङ : "भगवत् देखते हैं कि अमुक अतीत कर्म से अमुक फल की उत्पत्ति होती है : अमुक धर्म से अमुक धर्म की अनन्तर उत्पत्ति होती है; भगवत् देखते हैं कि अमुक प्रत्युत्पन्न कर्म से अमुक फल की उत्पत्ति होती है : अमुक धर्म से अमुक धर्म की अनन्तर उत्पत्ति होती है। इस प्रकार देखकर भगवत् अनागत अध्व के आकुल धर्मों के संबन्ध में यह ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं : अमुक धर्म के अनन्तर अमुक धर्म की उत्पत्ति होगी। यत् किंचित् ज्ञान वह इस प्रकार प्राप्त करते हैं वह अनुमान ज्ञान नहीं है क्योंकि भगवत् अतीत और प्रत्युत्पन्न हेतु और फलों के उत्पत्ति-क्रम से अनुमान कर पश्चात् अनागत के आकुल धर्मों का प्रत्यक्ष ज्ञान करते हैं और कहते हैं कि "अनागत अध्व में अमुक सत्व अमुक कर्म करेगा और अमुक विपाक का भागी होगा।" यह प्रणिधिज्ञान है, अनुमान ज्ञान नहीं है।

२. अन्य आचार्यों[२] के अनुसार सत्वों की सन्तान में अनागत में उत्पन्न होनेवाले फलों का एक चिन्ह (= लिंग) भूत धर्म होता है। यह चित्तविप्रयुक्त संस्कार-विशेष है। भगवत् उसका ध्यान[३] करते हैं और ध्यान और अभिज्ञाओं के (७.४२ : च्युत्युपपाद-ज्ञान) अभ्यास के विना ही अनागत फल को जानते हैं।

सौत्रान्तिक—यदि ऐसा हो तो भगवत् नैमित्तिक[४] होंगे। वह साक्षाद्दर्शी (साक्षात्कारी) न होंगे।

३. अतः भगवत् सर्व वस्तु को अपनी इच्छा के अनुसार प्रत्यक्षतः, न कि अनुमानतः या निमि- [३०५] त्ततः, जानते हैं। यह सौत्रान्तिकों का मत है। इसकी युक्तता भगवत् के इस वचन से (एकोत्तर, १८, १६; दीघ, १.३१ से तुलना कीजिये) सिद्ध होती हैं, : "बुद्ध-गुण और बुद्धगोचर अज्ञेय हैं।"

बी. यदि अनागत में पूर्व-पश्चिमता का अभाव है तो यह कैसे कह सकते हैं कि "लौकिक अग्रधर्मों के अनन्तर केवल दुःखे धर्मज्ञान-क्षान्ति, कोई अन्य धर्म नहीं, उत्पन्न होती है" (६.२७)। एवमादि यावत् : "वज्रोपमसमाधि के अनन्तर ही क्षयज्ञान की उत्पत्ति होती है (६.४६ सी)"

वैभाषिक (विभाषा, ११, २) उत्तर देते हैं : जिस धर्म का उत्पाद जिस धर्म में प्रतिबद्ध है वह उस धर्म के अनन्तर उत्पन्न होता है। यथा समनन्तर-प्रत्यय के बिना भी अंकुर बीज के अनन्तर उत्पन्न होता है।

(३) अर्हत् के चरमचित्त और चरमचैत्त समनन्तरप्रत्यय क्यों नहीं हैं (विभाषा,१०, १६)?

क्योंकि उनके अनन्तर अन्य चित्त और चैत्त का संबन्ध नहीं होता।

किन्तु आपने हमें बताया है (१.१७) कि जो विज्ञान (चित्त) अनन्तर अतीत होता है और जो उत्तरचित्त का आश्रयभूत है वह मनस् है। क्योंकि अर्हत् के चरमचित्त के अनन्तर अपरचित्त नहीं होता इसलिये इस चरमचित्त को मनस् की आख्या या समनन्तरप्रत्यय की आख्या नहीं देना चाहिये। किन्तु आप उसे मनस् अवधारित करते हैं।

---

[२] विभाषा, १७९, ४ का दूसरा मत; न्यायावतार, १०३ ए २० में तीसरे मत का व्याख्यान है।
परमार्थ (२९ बी १२) का मतभेद है: "सत्वों की सन्तान में एक चित्तसंप्रयुक्त संस्कृतधर्म है जो अनागत फल का चिह्न है।"
न्यायावतार : "सत्वों में निमित्त (छाया-निमित्त) के सदृश अनागत हेतु-फल का एक वर्त-मान चिह्न होता है अथवा एक रूप या एक चित्तविप्रयुक्त संस्कार होता है।"
चिह्न = लिंग; परमार्थ और न्यायावतार = पूर्वलक्षण; शुआन्-चाङ = निमित्त

[३] जापानी संपादक : लोकधातुसंवृतिज्ञान (७.३) द्वारा

[४] शरच्चन्द्र 'गणक' का सुझाव करते हैं; कदाचित नैमित्तिक—महाव्युत्पत्ति, १८६, १२३, नैमित्तक-दिव्य—शुआन्-चाङ : यदि ऐसा हो तो भगवत् चिह्नों से अनागत का ज्ञान प्राप्त करेंगे......

ऐसा नहीं है। मनस् कारित्रप्रभावित नहीं है। मनस् होने के लिये यह आवश्यक नहीं है कि यह अपरचित्त को आश्रय प्रदान ही करे। मनस् आश्रयभाव-प्रभावित है। इस अपरचित्त के लिये इसका आश्रयभाव है। वह उत्पन्न होता है या नहीं इससे कोई प्रयोजन नहीं। अर्हत् का चरमचित्त आश्रयभाव से अवस्थित है : यदि इस आश्रय से आश्रित विज्ञानान्तर नहीं उत्पन्न होता तो ऐसा कारणान्तर-वैकल्य से होता है। इसके प्रतिकूल समनन्तरप्रत्यय कारित्र-प्रभावित है। इस प्रत्यय से जो धर्म फल को प्रतिगृहीत, आक्षिप्त, करता है उसे सर्व धर्म या सब प्राणी इस प्रकार प्रतिबद्ध नहीं कर सकते कि उसके फल का उत्पाद न हो। अतः अर्हत् के चरमचित्त को मनस् कहना युक्त है। यह समनन्तरप्रत्यय नहीं है।

(४) जो धर्म चित्तसमनन्तर हैं अर्थात् जो समनन्तरप्रत्यय चित्तजनित हैं क्या वह चित्त-[३०६] निरन्तर हैं अर्थात् क्या वह इस चित्त के अनन्तर उत्पन्न होते हैं ?[१]

चार कोटि हैं।

१. समापत्ति-प्रवेश-चित्त दो अचित्तक समापत्तियों के (२.४१) व्युत्थानचित्त और चैत्त का और द्वितीयादि समापत्ति-क्षणों का समनन्तरप्रत्यय है। यह चित्त निरन्तर नहीं है (२.६४ बी)।

२. (१) प्रथम समापत्ति-क्षण के जात्यादि लक्षण (२.४५ सी), (२) सचित्तकावस्था के सर्व चित्त-चैत्त के जात्यादि लक्षण चित्तनिरन्तर हैं किन्तु इनका कोई समनन्तरप्रत्यय नहीं है।

३. प्रथम समापत्ति-क्षण और सचित्तकावस्था के सर्व चित्त-चैत्त का समनन्तरप्रत्यय वह चित्त है जिनके वह निरन्तर हैं।

४. (१) द्वितीयादि समापत्ति-क्षण और (२) व्युत्थान चित्त-चैत्त के जात्यादि लक्षणों का समनन्तरप्रत्यय नहीं होता क्योंकि यह चित्त-विप्रयुक्त (२.३५) धर्म हैं। यह चित्तनिरन्तर नहीं हैं।

आलम्बन प्रत्यय क्या है ?

६२ सी. सब धर्म आलम्बन हैं।[२]

सब धर्म, संस्कृत और असंस्कृत, चित्त, चैत्त के आलम्बन प्रत्यय हैं किन्तु अनियत रूप से नहीं। यथा सब रूप चक्षुर्विज्ञान और तत्संप्रयुक्त वेदनादि चैत्त के आलम्बन हैं; श्रोत्रविज्ञान का [३०७] शब्द आलम्बन है; घ्राणविज्ञान का गन्ध, कायविज्ञान का स्प्रष्टव्य आलम्बन है। मनोविज्ञान और तत्संप्रयुक्त चैत्त का आलम्बन सब धर्म हैं। [अतः मनस् के लिये कारिका ६२ सी को अक्षरशः लेना चाहिये।]

जब एक धर्म एक चित्त का आलम्बन होता है तो ऐसा नहीं होता कि यह धर्म

---

[१] विभाषा, ११, ७ के अनुसार; प्रकरण, ७४ बी १६ से तुलना कीजिये।

[२] [धर्मा आलम्बनं सर्वे]

किसी क्षण में इस चित्त का आलम्बन न हो। अर्थात् यद्यपि चक्षुर्विज्ञान रूप को आलम्बनरूप में ग्रहण नहीं करता (आलम्ब्यते) तथापि यह आलम्बन है क्योंकि चाहे इसका ग्रहण आलम्बनरूप में हो या न हो इसका स्वभाव वही रहता है। यथा इन्धन इन्धन है यद्यपि वह प्रदीप्त न हो।

चित्त के आलम्ब्यलक्षणत्व की दृष्टि से यदि हम प्रश्न का विचार करें तो त्रिविध नियम व्यवस्थापित होता है। चित्त-चैत्त आयतन, द्रव्य और क्षण के नियम से अपने अपने आलम्बन में नियत हैं। (१) आयतन-नियम से : यथा चक्षुर्विज्ञान रूपायतन आलम्बन में नियत है; (२) द्रव्य-नियम से : नीललोहितादिरूपग्राहक चक्षुर्विज्ञान नील-लोहितादि रूप में (१.१० देखिये) नियत है; (३) क्षणनियम से : एक चक्षुर्विज्ञान एक नीलरूपक्षण में नियत है, अन्य क्षण में नहीं।

क्या चित्त चक्षुरादि आश्रय नियम से भी नियत है?—हाँ।[1] वर्तमान चित्त सदा स्वाश्रय-प्रतिबद्ध है; अतीत और अनागत अप्रतिबद्ध हैं। दूसरों के अनुसार अतीत और अनागत स्वाश्रय प्रतिबद्ध हैं।[2]

अधिपतिप्रत्यय क्या है?

६२ डी. कारणहेतु अधिपति कहलाता है।[3]

अधिपतिप्रत्ययता कारणहेतु (२.५० ए) है क्योंकि कारणहेतु अधिपतिप्रत्यय है।

[३०८] दो दृष्टियों से यह संज्ञा युक्त है।—अधिपतिप्रत्यय वह प्रत्यय है जो बहुधर्मों का है और जो बहुधर्मों का पति है (अधिकोऽयं प्रत्ययः, अधिकस्य वा प्रत्ययः)।

१. सब धर्म मनोविज्ञान के आलम्बनप्रत्यय हैं। किसी चित्त के सहभूधर्म उस चित्त के सदा आलम्बन नहीं होते किन्तु वह उसके कारणहेतु हैं। अतः कारणहेतु होने से सब धर्म अधिपतिप्रत्यय हैं, न कि आलम्बनप्रत्यय होने से।

२. स्वभाव को वर्जित कर सब धर्म सब धर्म के कारणहेतु हैं।

कोई धर्म किसी भी नाम से स्वभाव का प्रत्यय नहीं होता। संस्कृत धर्म असंस्कृत धर्म का प्रत्यय नहीं है और विपर्यय भी नहीं होता।

प्रत्युत्पन्न, अतीत, अनागत इनमें से किस अवस्था में वह धर्म अवस्थान करते हैं जिनके प्रति विविध प्रत्यय अपना कारित्र करते हैं?

हम पहले हेतु-प्रत्यय अर्थात् कारणहेतु को वर्जित कर पाँच हेतुओं की समीक्षा करते हैं।

निरुध्यमाने कारित्रं द्वौ हेतू कुरुतस्त्रयः।
जायमाने ततोऽन्यौ तु प्रत्ययौ तद्विपर्ययात् ॥६३॥

---

[1] ओमित्याह।—विभाषा, १९७, २

[2] विभाषा, १२, ५ के प्रथम दो मत—तृतीय मत : प्रत्युत्पन्न, अतीत, अनागत चित्त स्वाश्रय-प्रतिबद्ध है।

[3] इस पाद का उद्धरण कठिन है : कारणाख्योऽधिपः स्मृतः।

६३ ए-बी. निरुध्यमान धर्म में दो हेतु कारित्र करते हैं ।[1]

'निरुध्यमान' का अर्थ 'प्रत्युत्पन्न' है। वर्तमान धर्म को 'निरुध्यमान' कहते हैं क्योंकि उत्पन्न होकर यह स्वनिरोधाभिमुख होता है।

वर्तमान धर्म में सहभूहेतु (२.५० बी) और संप्रयुक्तकहेतु (५३ सी) अपना कारित्र करते हैं (कारित्रं करोति) क्योंकि वह सहोत्पन्न धर्म में अपना कारित्र करते हैं ।[2]

[३०९] ६३ बी-सी. तीन, जायमान धर्म में ।[3]

जायमान धर्म अर्थात् अनागत धर्म क्योंकि अनागत धर्म अनुत्पन्न होने से उत्पादाभिमुख है।

तीन इष्ट हेतु सभागहेतु (२.५२ ए), सर्वत्रगहेतु (५४ ए) और विपाकहेतु (५४ सी) हैं।

अन्य प्रत्ययों के संबन्ध में ।

६३ सी-डी. अन्य दो प्रत्यय, विपर्यय रूप में ।[4]

प्रत्ययों में समनन्तरप्रत्यय पूर्व उक्त है : यह तीन हेतुओं के तुल्य जायमान धर्म में अपना कारित्र करता है क्योंकि एक क्षण के चित्त-चैत्त उत्पन्न चित्त-चैत्तों को अवकाश दान करते हैं।

आलम्बनप्रत्यय पश्चात् उक्त है : यह दो हेतुओं के तुल्य निरुध्यमान धर्म में अपना कारित्र करता है। यह निरुध्यमान धर्म चित्त-चैत्त हैं; यह आलम्बक हैं जो निरुध्यमान अर्थात् वर्तमान हो वर्तमान आलम्बन का ग्रहण करते हैं।

अधिपतिप्रत्यय का कारित्र केवल इतना है कि यह अनावरणभाव से अवस्थान करता है (अनावरणभावेन.....अवस्थानम्) : यह वर्तमान, अतीत, अनागत धर्म में आवरण नहीं करता।

चतुर्भिश्चित्तचैत्ता हि समापत्तिद्वयं त्रिभिः ।
द्वाभ्यामन्ये तु जायन्ते नेश्वरादेः क्रमादिभिः ॥६४॥

विविध प्रकार के धर्म कितने प्रत्ययों के कारण उत्पन्न होते हैं ?

६४ ए. चित्त और चैत्त चार प्रत्ययों से उत्पन्न होते हैं ।[5]

१. हेतुप्रत्यय, ५ हेतु; २. समनन्तरप्रत्यय, अन्य चित्त-चैत्तों से अव्यवहित उत्पन्न, [३१०] पूर्व चित्त और चैत्त; ३. आलम्बनप्रत्यय, रूपादि पंच आलम्बन अथवा मनोविज्ञान के लिये सर्वधर्म; ४. अधिपतिप्रत्यय, जायमान चित्त-चैत्तों को वर्जित कर सब धर्म।

६४ बी. दो समापत्ति, तीन के कारण ।[6]

---

[1] निरुध्यमाने कारित्रं द्वौ हेतू कुरुतः । विभाषा, ३६, ७ के अनुसार ।

[2] शुआन्-चाङ : "क्योंकि उनके कारण सहभूफल कारित्र से समन्वागत होता है।"

[3] त्रयः । जायमाने

[4] ततोऽन्यौ तु प्रत्ययौ तद्विपर्ययात् ॥

[5] चतुर्भिश्चित्तचैत्ता हि—अभिधर्महृदय, २.१७ से तुलना कीजिये ।

[6] समापत्तिद्वयं त्रिभिः ।

आलम्बनप्रत्यय को वर्जित करना चाहिये क्योंकि असंज्ञिसमापत्ति (२.४२) और निरोध-समापत्ति (२.४३) में आलम्बन का ग्रहण, ज्ञान नहीं होता। तीन प्रत्यय यह हैं : १. हेतु-प्रत्यय, दो हेतु, सहभहेतु, (समापत्ति के जात्यादि लक्षण २.४५ सी), सभागहेतु (समानभूमिक अर्थात् यथायोग चतुर्थध्यानभूमिक या भावाग्रिक, पूर्वोत्पन्न कुशल धर्म); २. समनन्तरप्रत्यय, ससंप्रयोग समापत्ति-चित्त; प्रवेशचित्त का सर्व समापत्ति-क्षणों में से किसी से भी व्यवधान नहीं होता; ३. अधिपतिप्रत्यय, पूर्ववत्।

इन दो समापत्तियों की उत्पत्ति चित्ताभिसंस्कार, चित्ताभोग से (चित्ताभिसंस्कारज, चित्ता-भोगज) होती है : अतः चित्त इनका समनन्तरप्रत्यय होता है। वह चित्तोत्पत्ति में प्रतिबन्ध हैं (चित्तोत्पत्तिप्रतिबन्ध) : अतः वह व्युत्थानचित्त के समनन्तरप्रत्यय नहीं हैं यद्यपि वह उसके निरन्तर हैं (पृ० ३०६ देखिये)

६४ सी. अन्य धर्म दो से उत्पन्न होते हैं।[२]

अन्य धर्म अर्थात् अन्य चित्तविप्रयुक्त-संस्कार और रूपीधर्म (रूप) हेतुप्रत्यय और अधि-पतिप्रत्यय के कारण उत्पन्न होते हैं (विभाषा, १३६, ५)।

[३११] सब धर्म जो उत्पन्न होते हैं पाँच हेतुओं से और चार प्रत्ययों से जिनका हमने निरूपण किया है उत्पन्न होते हैं। ईश्वर, पुरुष, प्रधानादिक एक कारण से सर्व जगत् की प्रवृत्ति नहीं होती।[१] इस वाद को आप कैसे व्यवस्थापित करते हैं।

यदि आप समझते हैं कि वाद तर्क से सिद्ध होते हैं तो आप अपने इस वाद का परित्याग करते हैं कि जगत् की उत्पत्ति एक कारण से होती है।

६४ डी. ईश्वर या अन्य किसी कारण से नहीं क्योंकि क्रम आदि हैं।[२]

अनेक हेतुओं से यह वाद अयुक्त है कि भावों की उत्पत्ति एक कारण से, ईश्वर, महादेव या वासुदेव से, होती है।

१. यदि भावों की उत्पत्ति एक कारण से होती तो सर्वजगत् की उत्पत्ति युगपत् होती किन्तु हम देखते हैं कि भावों का क्रम-संभव है।

ईश्वरवादी—यह क्रम-भेद ईश्वर की इच्छावश है : "यह इस समय उत्पन्न हो! यह इस समय निरुद्ध हो! यह पश्चात् उत्पन्न और निरुद्ध हो!"

यदि ऐसा है तो भावों की उत्पत्ति एक कारण से नहीं होती क्योंकि छन्द-भेद है। पुनः यह छन्द-भेद युगपत् होगा क्योंकि छन्द-भेद का हेतु ईश्वर अभिन्न है और सर्वजगत् की उत्पत्ति युगपत् होगी।

---

[२] द्वाभ्यामन्ये तु जायन्ते।

[१] व्याख्या : ईश्वर, पुरुष, प्रधान, काल, स्वभाव, परमाणु आदि।

[२] नेश्वरादेः क्रमादिभिः॥ बोधिचर्यावतार, ९.११९ से तुलना कीजिये; षड्दर्शनसंग्रह, पृ० ११: सुहृल्लेख (जे पी टी एस. १८८६), ५० इत्यादि।
अंगुत्तर, १. १७३, कारपेंटर, थीइज़्म, ५०

ए. ईश्वरवादी—ईश्वर के छन्द युगपत् नहीं हैं क्योंकि इन छन्दों के उत्पाद के लिये ईश्वर कारणान्तर की अपेक्षा करता है ।

यदि ऐसा है तो ईश्वर सर्व जगत् का एक कारण नहीं है। पुनः जिन कारणों की ईश्वर अपेक्षा करता है उनका भी क्रम-संभव है : अतः जिन कारणों की वह अपेक्षा करते हैं वह स्वयं कारणान्तरों की अपेक्षा करते हैं। अनवस्था-प्रसंग है ।

ईश्वरवादी—मानिये कि कारणसन्तति का आरम्भ नहीं हुआ है ।

इसका यह अर्थ होगा कि संसार अनादि है। आप एक कारणवाद का परित्याग करते हैं और हेतु-प्रत्ययके शाक्यपुत्रीय न्याय का पक्ष लेते हैं।

[३१२] बी. ईश्वरवादी—ईश्वर के छन्द युगपत् होते हैं किन्तु सर्वजगत् की उत्पत्ति युगपत् नहीं होती क्योंकि उनका उत्पाद यथाछन्द अर्थात् क्रमपूर्वक होता है ।

यह युक्त नहीं है। ईश्वर के छन्दों में पश्चात् कोई विशेष नहीं होता (तेषां पश्चादविशेषात्)। हम इसका निरूपण करते हैं। मानिये कि ईश्वर का यह छन्द है : "यह इस समय उत्पन्न हो! यह पश्चात् उत्पन्न हो!"। हम नहीं देखते कि क्यों द्वितीय छन्द जो पूर्व समर्थ नहीं है पश्चात् समर्थ होगा, क्यों जो पश्चात् समर्थ है वह पूर्व समर्थ न होगा ।

२. इस महायत्न से ईश्वर को क्या लाभ होता है जिससे वह जगत् की उत्पत्ति करता है?

ईश्वरवादी—स्वप्रीति के लिये ईश्वर जगत् की उत्पत्ति करता है ।

अतः वह स्वप्रीति के विषय में ईश्वर नहीं है क्योंकि उपाय के बिना वह उसकी निष्पत्ति में अशक्त है। स्वप्रीति के विषय में अनीश्वर होने से वह जगत् के विषय में कैसे ईश्वर होगा?—पुनः यदि ईश्वर नरकादि में प्रजा की सृष्टि कर बहु इतियों से उन्हें उपद्रुत होते देखकर प्रसन्न होता है तो उसको नमस्कार है! सत्य ही यह लौकिक श्लोक सुगीत है : "उसे रुद्र कहते हैं क्योंकि वह दहन करता है, क्योंकि वह तीक्ष्ण, उग्र, प्रतापवान है, क्योंकि वह मांस, शोणित-मज्जा खाने वाला है ।"[१]

३. जगत् के एक कारण ईश्वर का पक्षग्राही हेतु और प्रत्ययों का, अंकुरादि के प्रति बीज के प्रत्यक्ष पुरुषकार का, प्रतिषेध करता है।—यदि अपनी प्रतिज्ञा को बदलकर वह इन हेतुओं के अस्तित्व को स्वीकार करता है और कहता है कि यह हेतु ईश्वर के सहकारी हैं तो कारणों के साथ ईश्वर को कारण कल्पित करनेवाले का यह केवल भक्तिवाद है क्योंकि जिन्हें सहकारी कहते हैं [३१३] उन कारणों से अन्य किसी कारण का व्यापार हम नहीं देखते। पुनः ईश्वर सहकारि-कारणों के विषय में अनीश्वर होगा क्योंकि वह कार्य की उत्पत्ति में स्वसामर्थ्य से व्यापृत होते हैं। —कदाचित् प्रत्यक्ष हेतुओं के निषेध के परिहार के लिये और ईश्वर की अप्रत्यक्ष वर्तमान

---

[१] शतरुद्रीय में व्यास का श्लोक (व्याख्या)—महाभारत, ७.२०३, १४०, १३.१६१, ७ : यन्निर्दहति यत् तीक्ष्णो यदुग्रो यत् प्रतापवान्। मांसशोणितमज्जादो यत ततो रुद्र उच्यते। —बर्नूफ, इन्ट्रोडक्शन पृ.५६८ में यह उद्धरण मिलता है।

क्रिया की प्रतिज्ञा के परिहार के लिये ईश्वरवादी कहेगा कि आदिसर्ग ईश्वरहेतुक है : किन्तु आदिसर्ग का केवल ईश्वर एक कारण है, वह अन्य कारणों की अपेक्षा नहीं करता। अतः ईश्वरवत् उसके भी अनादित्व का प्रसंग होगा । ईश्वरवादी इसका प्रतिषेध करता है ।

जिस प्रकार हमने ईश्वरवाद का निराकरण किया है उसी प्रकार पुरुष, प्रधानादि में भी यथायोग योजना करनी चाहिये । अतः कोई धर्म एक कारण से उत्पन्न नहीं होता ।

दुःख का विषय है कि लोगों की बुद्धि असंस्कृत है ।[1] पशु और पक्षियों के समान पुद्‌गल यथार्थ में दया के पात्र हैं। वह एक भव से दूसरे भव में संसरण करते हैं और विविध कर्म उपचित करते हैं। वह इन कर्मों के फल का आस्वादन करते हैं[2] और उनकी यह विप्रतिपत्ति होती है कि ईश्वर इस फल का कारण है।—[3] इस मिथ्या परिकल्पना का अन्त करने के लिये हमको सत्य का निर्देश करना चाहिये ।

हमने देखा है (२.६४ सी) कि रूपी धर्मों की उत्पत्ति दो प्रत्ययवश होती है—हेतुप्रत्यय, अधिपतिप्रत्यय। इतना विशेष कहना है और देखना है कि भूत-महाभूत और उपादायरूप या भौतिक कैसे परस्पर-हेतु-प्रत्यय होते हैं ।

द्विधा भूतानि तद्धेतुर्भौतिकस्य तु पञ्चधा ।
त्रिधा भौतिकमन्योऽन्यं भूतानामेकधैव तत् ॥६५॥

६५ ए. भूत भूतों के दो प्रकार से हेतु हैं ।[4]

पृथिवीधातु आदि चारभूत भूतचतुष्क के सभागहेतु और सहभूहेतु हैं ।

[३१४] ६५ बी. और भौतिकों के ५ प्रकार से ।[1]

चार भूत रूप-रसादि भौतिकों के ५ प्रकार से हेतु हैं—जननहेतु, निश्रयहेतु, प्रतिष्ठाहेतु, उपस्तम्भहेतु, उपबृंहणहेतु ।[2]

जननहेतु, क्योंकि भौतिक भूतों से उत्पन्न होते हैं यथा शिशु अपने माता-पिता से उत्पन्न होता है ।[3]

---

[1] अकृतबुद्धयः = परमार्थशास्त्रैरसंस्कृतबुद्धयः । [व्या २३९. २६]
[2] विपाक और पुरुषकारफल ।
[3] शुआन्-चाङ में यह अधिक है ।
[4] द्विधा भूतानि तद्धेतुः—भूतों पर १.१२, २.२२ देखिये। [व्या २३९. २८]
[1] [भौतिकानां तु पञ्चधा] ।
[2] शुआन्-चाङ में इतना अधिक है कि यह पाँच हेतु कारणहेतु के प्रकार हैं। १.११ पर व्याख्या देखिये जहाँ आश्रय-संगृहीत भूत और अविज्ञप्तिभौतिक के कार्य-कारणसंबन्ध का निर्देश है ।
[3] यह लक्षण विभाषा, १२७, ६ के अनुसार है।—संघभद्र, ११० ए, अन्य लक्षण और अन्य उदाहरण देते हैं । २. २७७, २९७, सिद्धि, ४४८ देखिये ।

निश्रयहेतु, क्योंकि भौतिक उत्पन्न होकर भूत का अनुविधान करते हैं यथा भिक्षु आचार्य और उपाध्याय का निश्रय लेता है ।

प्रतिष्ठाहेतु, क्योंकि भौतिक भूतों का आधार लेते हैं, यथा चित्र भित्ति का आधार लेता है ।[४]

उपस्तम्भहेतु, क्योंकि भूत भौतिकों के अनुच्छेद में हेतु हैं ।

उपबृंहणहेतु, क्योंकि भूत भौतिकों की वृद्धि में हेतु हैं ।

अर्थात् भूत भौतिकों के जन्महेतु, विकारहेतु, आधारहेतु, स्थितिहेतु, वृद्धिहेतु हैं ।

६५ सी. भौतिक भौतिकों के तीन प्रकार से हेतु हैं ।[५]

सहभू, सभाग और विपाकहेतु । हम कारणहेतु का उल्लेख नहीं करते क्योंकि सब धर्म सब धर्म के कारणहेतु हैं ।

१. २.५१ ए में वर्णित प्रकार (दो संवर) के चित्तानुपरिवर्ति काय-वाक्कर्म जो भौतिक हैं सहभूहेतु हैं ।

[३१५] २. सब उत्पन्न भौतिक सभाग भौतिकों के सभागहेतु हैं ।

३. काय-वाक् कर्म विपाकहेतु हैं : चक्षु कर्मविपाकादि से उत्पादित होता है ।

६५ डी. तथा भूतों का हेतु एक प्रकार से ।[१]

काय-वाक् कर्म भूतों का उत्पाद विपाकफल के रूप में करते हैं; अतः वह विपाकहेतु हैं ।

हमने देखा है कि पूर्व चित्त और चैत्त अपर चित्त और चैत्त के समनन्तरप्रत्यय हैं । किन्तु हमने इसका निर्देश नहीं किया है कि कितने प्रकार के चित्त प्रत्येक चित्त-प्रकार के अनन्तर उत्पन्न हो सकते हैं ।

नियम व्यवस्थापित करने के पूर्व चित्त का वर्गीकरण आवश्यक है ।

सर्व प्रथम १२ प्रकार बताते हैं ।

कुशलाकुशलं कामे निवृतानिवृतं मनः ।
रूपारूप्येष्वकुशलावन्यत्रानास्रवं द्विधा ॥६६॥

६६. कामधातु का कुशल, अकुशल, निवृताव्याकृत, अनिवृताव्याकृत चित्त । रूपधातु और आरूप्यधातु का कुशल, निवृताव्याकृत, अनिवृताव्याकृत चित्त । दो अनास्रव चित्त ।[२]

---

[४] ऊपर ५९ डी. पर देखिये—प्रतिष्ठाफल

[५] [त्रिधा भौतिकमन्योन्यम्]

[१] [भूतानाम्] एकधैव तत् ॥ [व्या २४० . १३]

[२] कुशलाकुशलं कामे निवृतानिवृतं मनः ।
रूपारूप्येष्वकुशलादन्यत्र [द्वे अनास्रवे] ॥
विज्ञानकाय, ६ (फ़ोलियो ५४ बी) और धर्मत्रात के ग्रन्थ में, नैञ्जियो , १२८७, फ़ोलियो ९५ बी और फ़ोलियो १० . २९-३४ द्वादश चित्त के वाद का निर्देश है : "कामधातु में चार, रूपधातु और आरूप्यधातु में तीन-तीन तथा शैक्ष और अशैक्ष । इनकी उत्पत्ति का क्रम बताते हैं । कामधातु में कुशल ९ का उत्पाद करता है और ८ से उत्पन्न होता है. . . .।" इसके

कामधातु में चार प्रकार के चित्त होते हैं : कुशल, अकुशल, निवृताव्याकृत, अनिवृताव्याकृत। दो ऊर्ध्व-धातुओं में अकुशल को वर्जित कर तीन प्रकार होते हैं।

[३१६] २. अनास्रवचित्त—शैक्षचित्त और अशैक्ष या अर्हत् का चित्त।

इन १२ चित्तों की उत्पत्ति एक दूसरे के अनन्तर अनियत रूप से नहीं होती है।

कामे नव शुभाच्चित्ताच्चित्तान्यष्टभ्य एव तत्।
दशभ्योऽकुशलं तस्माच्चत्वारि निवृतं तथा ॥६७॥
पञ्चभ्यो निवृतं तस्मात् सप्त चित्तान्यनन्तरम्।
रूपे दशैकं च शुभान्नवभ्यस्तदनन्तरम् ॥६८॥
अष्टभ्यो निवृतं तस्मात् षट् त्रिभ्यो निवृतं पुनः।
तस्मात् षडेवमारूप्ये तस्य नीतिः शुभात्पुनः ॥६९॥
नव चित्तानि तत् षट्कान्निवृतात्सप्त तत्तथा।
चतुर्भ्यः शैक्षमस्मात्तु पञ्चाशैक्षं तु पञ्चकात् ॥७०॥
तस्माच्चत्वारि चित्तानि द्वादशैतानि विंशतिः।
प्रायोगिकोपपत्त्याप्तं शुभं भित्वा त्रिषु द्विधा ॥७१॥
विपाकजैर्यापथिकशैल्पस्थानिकनैर्मितम्।
चतुर्धाऽव्याकृतं कामे रूपे शिल्पविवर्जितम् ॥७२॥

६७-६८ बी. पहले हम कामावचर चित्त का विचार करते हैं। कुशल के अनन्तर ९ चित्त उत्पन्न हो सकते हैं; ८ चित्तों के अनन्तर कुशल उत्पन्न हो सकता है। १० चित्तों के अनन्तर अकुशल उत्पन्न हो सकता है; अकुशल के अनन्तर चार चित्त उत्पन्न हो सकते हैं। यही निवृताव्याकृत के लिये है। अनिवृताव्याकृत ५ चित्त के अनन्तर उत्पन्न हो सकता है; अनिवृताव्याकृत के अनन्तर सात चित्त उत्पन्न हो सकते हैं।[1]

१. कामावचर कुशल (शुभ) चित्त के अनन्तर ९ चित्त उत्पन्न हो सकते हैं : (१-४) चार कामावचर चित्त; (५-६) दो रूपावचर चित्त : समापत्तिकाल में कुशल चित्त; निवृताव्याकृत चित्त कामधातु में उपपन्न पुद्गल के कुशल मरणचित्त के अनन्तर प्रति-

---

अनन्तर (कारिका, ३५-४६) विंशति-चित्त का वाद (कोश, २.७१ बी-७२) आता है जो कारिकाओं में चित्त के उत्पत्ति-क्रम के नियमों का निर्देश करता है। जैसा हम देखेंगे वसुबन्धु केवल भाष्य देखकर सन्तोष कर लेते हैं किन्तु यशोमित्र (पृ० २४५) संग्रह श्लोक देते हैं। कदाचित् यह धर्मत्रात के मूलग्रन्थ का एक अंश है।

[1] (कामे शुभचित्तान् नवचित्ताभ्यष्टभ्य एव तत्।
अशुभं दशभ्यस्) तस्माच्चत्वारि [निवृतं तथा ॥
पञ्चभ्योऽनिवृतं सप्त चित्तानि तदनन्तरम्]।
कथावत्थु, १४.१ से तुलना कीजिये जहाँ थेरवादी महासांघिक के विरुद्ध यह मत स्थापित करता है कि कुशल अकुशलादि के अनन्तर नहीं होता।

सन्धिकाल में रूपावचर अन्तराभव में (३.३८) ; (७) आरूप्यधातु का निवृताव्याकृत चित्त, जब कामधातु में मृत पुद्गल आरूप्यधातु में पुनरुपपन्न होता है; कुशल नहीं, क्योंकि चार दूरताओं से[१] कामधातु से आरूप्य के दूर होने के कारण पुद्गल कामधातु से आरूप्य-समापत्ति में प्रत्यक्ष नहीं जा सकता; (८-९) सत्याभिसमय-(६.२७) काल में शैक्ष-अशैक्ष, २ अनास्रव चित्त।

[३१७] २. कुशल—कुशलचित्त—इन ८ चित्तों के अनन्तर उत्पन्न हो सकता है : (१-४) कामावचर चार चित्त (५-६), व्युत्थानकाल में रूपावचर दो चित्त—कुशल और निवृताव्याकृत। वास्तव में ऐसा होता है कि क्लिष्टसमापत्ति से उत्पीड़ित हो योगी समाधि से व्युत्थान करता है : क्लिष्ट (= निवृत) समापत्ति-चित्त के अनन्तर वह अधरभूमिक कुशल-चित्तका उत्पाद करता है और इस प्रकार अवरकुशल (८.१४) के संश्रयण से वह परिहाणि को बचाता है; (७-८) सत्यभिसमय-व्युत्थानकाल में शैक्ष-अशैक्ष के दो अनास्रव चित्त।

३. दो अनास्रव चित्तों को वर्जित कर १० चित्तों के अनन्तर क्लिष्ट अर्थात् अकुशल और निवृताव्याकृत की उत्पत्ति हो सकती है क्योंकि कामावचर प्रतिसन्धि-चित्त क्लिष्ट होता है (२.१४, ३.३८) और त्रैधातुक किसी चित्त के भी अनन्तर हो सकता है।

४. क्लिष्ट के अनन्तर कामधातु के चार चित्त उत्पन्न हो सकते हैं।

५. पांच चित्तों के अनन्तर अर्थात् कामधातु के चार चित्त और रूपधातु के कुशल के अनन्तर अनिवृताव्याकृत उत्पन्न हो सकता है क्योंकि रूपावचर कुशल-चित्त के अनन्तर कामावचर निर्माण-चित्त अर्थात् वह चित्त जिसका आलम्बन कामाप्त अर्थ का निर्माण है उत्पन्न होता है।

६. अनिवृताव्याकृत के अनन्तर यह सात चित्त उत्पन्न हो सकते हैं : (१-४) कामधातु के चार चित्त; (५-६) रूपधातु के दो चित्त—कुशल, क्योंकि पूर्वोक्त निर्माण-चित्त के अनन्तर रूपावचर कुशल-चित्त की पुनः उत्पत्ति होती है, और निवृताव्याकृत, जब एक पुद्गल, निवृताव्याकृत मरण-चित्त के अनन्तर रूपधातु में पुनः उत्पन्न होता है जहाँ प्रथम चित्त अवश्य निवृताव्याकृत (३.३८) होता है; (७) आरूप्यधातु का एक निवृताव्याकृत-चित्त, जब एक पुद्गल निवृताव्याकृत मरण-चित्त के अनन्तर आरूप्यधातु में पुनः उत्पन्न होता है।

[३१८] ६८ सी-६९ बी. रूपधातु में कुशल के अनन्तर ११; ९ के अनन्तर कुशल;

---

[१] चार दूरता यह हैं : आश्रय, आकार, आलम्बन, प्रतिपक्षदूरता :
ए. आरूप्यावचर आश्रय से किसी कामावचर धर्म का सम्मुखीकरण नहीं होता यथा रूपावचर आश्रय से कामावचर निर्माणचित्त (२.५३ बी) का सम्मुखीकरण होता है।
बी. आरूप्यावचर चित्त औदारिक इत्यादि आकारों से (६.४९) कामधातु का आकरण नहीं करता यथा रूपावचर चित्त करता है।
सी. आरूप्यावचर चित्त कामधातु को आलम्बन नहीं बनाता यथा रूपावचर चित्त बनाता है।
डी. आरूप्यावचर चित्त कामधातु के क्लेशों का प्रतिपक्ष नहीं है यथा ध्यान प्रतिपक्ष है।
चार अन्य दूरताओं पर ५.६२ देखिये। ४.३१,५.१०६ देखिये

८ के अनन्तर निवृताव्याकृत; निवृताव्याकृत के अनन्तर ६; ३ के अनन्तर अनिवृताव्याकृत; अनिवृताव्याकृत के अनन्तर ६ ।[1]

१. रूपधातु के कुशल—कुशलचित्त—के समनन्तर रूपावचर अनिवृताव्याकृत को वर्जित कर ११ चित्त उत्पन्न हो सकते हैं ।

२. कामधातु के दो क्लिष्ट चित्तों को (अकुशल और निवृताव्याकृत) और आरूप्यधातु के अनिवृताव्याकृत को वर्जित कर ९ चित्तों के अनन्तर कुशल की उत्पत्ति हो सकती है।

३. कामावचर क्लिष्ट द्वय और शैक्ष-अशैक्ष को वर्जित कर ८ चित्तों के अनन्तर निवृताव्याकृत की उत्पत्ति हो सकती है ।

४. निवृताव्याकृत के अनन्तर ६ चित्त अर्थात् रूपावचर तीन चित्त और कामावचर कुशल, अकुशल और निवृताव्याकृत उत्पन्न हो सकते हैं ।

५. तीन रूपावचर चित्तों के अनन्तर अनिवृताव्याकृत की उत्पत्ति हो सकती है।

६. अनिवृताव्याकृत के अनन्तर ६ चित्त अर्थात् (१-३) तीन रूपावचर चित्त, (४-५) दो कामावचर क्लिष्ट-चित्त (अकुशल और निवृताव्याकृत), (६) आरूप्यावचर क्लिष्ट-चित्त (निवृताव्याकृत) उत्पन्न हो सकते हैं ।

६९ सी-७० बी. आरूप्यधातु में भी अनिवृताव्याकृत के लिये वही पूर्वोक्त नीति है; कुशल के अनन्तर ९ चित्त; ६ के अनन्तर कुशल; निवृताव्याकृत के अनन्तर सात; सात के अनन्तर निवृताव्याकृत ।[2]

१. आरूप्यावचर अनिवृताव्याकृत इस धातु के तीन चित्तों के अनन्तर उत्पन्न हो सकता है ।

२. आरूप्यावचर अनिवृताव्याकृत के अनन्तर यह ६ चित्त उत्पन्न हो सकते हैं : (१-३) इस धातु के तीन चित्त, (४-६) कामावचर (दो) क्लिष्ट-चित्त और (एक) रूपावचर चित्त।

[३१९] ३. कुशल के अनन्तर कामावचर कुशल और कामरूपावचर अनिवृताव्याकृत को वर्जित कर ९ चित्त उत्पन्न हो सकते हैं ।

४. ६ चित्तों के अनन्तर अर्थात् (१-३) तीन आरूप्यावचर चित्त, (४) रूपावचर कुशल, (५-६) दो अनास्रव चित्त के अनन्तर कुशल की उत्पत्ति हो सकती है ।

५. निवृताव्याकृत के अनन्तर सात चित्त अर्थात् (१-३) तीन आरूप्यावचर चित्त, (४) रूपावचर कुशल, (५-६) कामावचर क्लिष्ट-द्वय, (७) रूपावचर क्लिष्ट उत्पन्न हो सकते हैं।

६. कामावचर क्लिष्ट-द्वय, रूपावचर क्लिष्ट और शैक्ष-अशैक्ष को वर्जित कर सात चित्तों के अनन्तर निवृताव्याकृत उत्पन्न हो सकता है ।

---

[1] [एकादश शुभाद् रूपे तद् नवसमनन्तरम् । अष्टभ्यो निवृतं तस्मात् षट्कं अनिवृतं त्रयात् । ततः षट्कम्]

[2] [इयं नीतिरारूप्येऽपि शुभान्नव ।। चित्तानि तद् भवेत् षट्कान् निवृतात् सप्त तत् तथा ।]

७० सी-७१ ए. चार के अनन्तर शैक्ष; शैक्ष के अनन्तर ५; पाँच के अनन्तर अशैक्ष, अशैक्ष के अनन्तर चार ।[1]

शैक्ष की—उस आर्य के चित्त की जो अर्हत् नहीं है—उत्पत्ति शैक्ष और त्रैधातुक कुशल इन चार चित्तों के अनन्तर हो सकती है ।

शैक्ष के अनन्तर ५ चित्त अर्थात् उक्त चार चित्त और अशैक्ष उत्पन्न हो सकते हैं ।

५ चित्तों के अनन्तर अर्थात् शैक्ष, अशैक्ष और त्रैधातुक कुशल के अनन्तर अशैक्ष की उत्पत्ति हो सकती है ।

अशैक्ष के अनन्तर चार चित्त, अशैक्ष और त्रैधातुक कुशल, उत्पन्न हो सकते हैं ।

इन नियमों के अनुसार १२ प्रकार के चित्त एक दूसरे के अनन्तर उत्पन्न हो सकते हैं ।

७१बी-७२. त्रैधातुक कुशलको प्रायोगिक और उपपत्तिलाभिक इन दो भागों में, कामावचर अनिवृताव्याकृत को विपाकज, ऐर्यापथिक, शैल्पस्थानिक और नैर्मित इन चार भागों में, रूपा- [३२०] वचर अनिवृताव्याकृत चित्त को शैल्पिक को वर्जित कर तीन भागों में विभक्त करने से १२ प्रकार के चित्त २० होते हैं ।[1]

१. प्रत्येक धातु के कुशल को दो प्रकार में विभक्त करते हैं : १. यात्निक, प्रायोगिक[2], २. उपपत्तिलाभिक, उपपत्तिप्रातिलम्भिक[3] ।—अतः कुशल के ६ भेद होते हैं जो प्रथम सूची के तीन भेदों के अनुरूप हैं ।

कामावचर अनिवृताव्याकृत के चार प्रकार ह : १. विपाकज (२.५७); २. ऐर्या- पथिक—चंक्रमण, स्थान, आसन, शयन; ३. शैल्पस्थानिक[4]; ४. नैर्मित, नैर्माणिकः निर्माण वह चित्त है जिस से ऋद्धिसमन्वागत पुद्गल रूपादि का निर्माण करता है और जिसे अभिज्ञाफल (७.४९) (ऊपर पृ० २६५) कहते हैं ।

---

[1] [शैक्षं चतुर्भ्य एतस्मात् पञ्चाशैक्षं तु] पञ्चकात् ॥ तस्माच्चत्वारि [चित्तानि]

[1] [द्वादशैतानि विंशतिः ।
द्विधा भित्त्वा प्रायोगिकोपपत्तिलाभिकं शुभम् ॥]
विपाकजैर्यापथिकशैल्पस्थानिकनैर्मितम् ।
चतुर्धा व्याकृतं कामे [रूपे शैल्पिकवर्जितम् ॥]

[2] अर्थात् १. श्रुतमय, २. चिन्तामय, ३. भावनामय —कामधातु में १ और २; रूपधातु में १ और ३; आरूप्यधातु में ३, जैसा हम ऊपर पृ० २६५ में देख चुके हैं; पृ. ३२८ से तुलना कीजिये ।

[3] यह वह कुशल है जिसकी प्राप्ति काम और रूपधातुओं के अन्तराभव-प्रतिसन्धिक्षण में प्रथमतः उत्पन्न होती है; आरूप्यधातु में उपपत्तिभव में इसकी प्राप्ति उत्पन्न होती है । [व्या २४२.२३]

[4] दिव्यावदान, पृ.५८.१०० में शिल्पस्थानकर्मस्थान (महाव्युत्पत्ति ७६, ५) की एक सूची दी है: हाथी के सिर पर, घोड़े की पीठ पर सवार होने का शिल्प, धनुष आदि के चढ़ाने का शिल्प ।

रूपावचर अनिवृताव्याकृत तीन प्रकार में विभक्त है क्योंकि इस धातुमें शैल्पस्थानिक का अभाव है।

आरूप्यावचर अनिवृताव्याकृत का विभाग नहीं हो सकता क्योंकि यह एकान्ततः विपाकज है।

अतः अनिवृताव्याकृत के सात भेद हैं जो प्रथम सूची के दो अनिवृताव्याकृतों के अनुरूप हैं। कुशलों को अन्तर्भूत कर पूर्ण संख्या २० की होती है।

[३२१] ऐर्यापथिकादि तीन अनिवृताव्याकृत के आलम्बन रूप-गन्ध-रस-स्प्रष्टव्य हैं।[1] शैल्पस्थानिक का शब्द भी आलम्बन है।[2]

यह तीन अनिवृताव्याकृत मनोविज्ञान ही हैं। पंच विज्ञानकाय ऐर्यापथिक और शैल्पस्थानिक के प्रायोगिक हैं।[3]

एक दूसरे मत के अनुसार[4] एक मनोविज्ञान है जो ऐर्यापथिक[5] से अभिनिर्हृत (उत्पादित) है, जिसका आलम्बन १२ आयतन हैं—चक्षुरायतन यावत् धर्मायतन।

२. निम्न नियमों के अनुसार यह विंशति-चित्त एक दूसरे के अनन्तर उत्पन्न होते ह।

(१) कामधातु: कामावचर ८ प्रकार के चित्त अर्थात् २ कुशल, २ क्लिष्ट (अकुशल, निवृ-ताव्याकृत), ४ अनिवृताव्याकृत।

१. प्रायोगिक कुशल

के अनन्तर १०: (१-७) अभिज्ञाफल (निर्माणचित्त) को वर्जित कर स्वधातु के सात; (८) रूपावचर प्रायोगिक; (९-१०) शैक्ष और अशैक्ष।

८ के अनन्तर: (१-४) स्वधातु के चार, २. कुशल और दो क्लिष्ट; (५-६) रूपावचर प्रायोगिक और अनिवृताव्याकृत; (७-८) शैक्ष और अशैक्ष।

[३२२] २. उपपत्तिलाभिक कुशल

के अनन्तर ९: (१-७) अभिज्ञाफल से अन्यत्र स्वधातु के सात; (८-९) रूपारूप्यावचर अनिवृताव्याकृत।

---

[1] (१) शय्यारूप–शरीररूपादि, (२) शिल्पस्थानरूपादि (धनुर्बाणादि), (३) निर्माणरूपादि। [व्या २४३.५]

[2] क्योंकि शिल्पोपदेश–शब्द का आलम्बन कर पुद्गल शिल्प सीखता है—यहाँ विपाकज का उल्लेख नहीं है। अतः रूपादि पंच भौतिक इसके आलम्बन हैं।

[3] वास्तव में चंक्रमणादि चित्त, देखकर, अनुभव कर, यावत् स्पर्श कर, होता है।—शुआन्-चाङ भाष्य का शोध करते हैं: "ऐर्यापथिक और शैल्पस्थानिक के चार और पाँच विज्ञान यथाक्रम प्रायोगिक हैं।" यह जानना चाहिये कि ऐर्यापथिक में श्रोत्रविज्ञान नहीं होता। [व्या २४३. १४]

[4] विभाषा, १२६, १९—भदन्त अनन्तवर्मन् (२.४६ सी-डी की व्याख्या) विभाषा-व्याख्यान में इस मत का निर्देश करते हैं। इसके अनुसार अन्य अनिवृताव्याकृत हैं (७.५१ में व्याख्यात) जो पूर्वोक्त चार अव्याकृतों में अन्तर्भूत नहीं हैं। [व्या २६३.२६]

[5] शुआन्-चाङ: "ऐर्यापथिक और शैल्पस्थानिक से।"

११ के अनन्तर : (१-७) अभिज्ञाफल से अन्यत्र स्वधातु के सात; (८-९) रूपावचर प्रायोगिक और अनिवृताव्याकृत; (१०-११) शैक्ष और अशैक्ष।

३-४. अकुशल और निवृताव्याकृत

के अनन्तर सात स्वधातु के, अभिज्ञाफल को वर्जित कर।

१४ के अनन्तर : (१-७) अभिज्ञाफल को वर्जित कर स्वधातु के सात; (८-११) प्रायोगिक और अभिज्ञाफल को वर्जित कर रूपधातु के चार; (१२-१४) प्रायोगिक को वर्जित कर आरूप्यधातु के तीन।

५-६. विपाकज और ऐर्यापथिक

के अनन्तर ८ : (१-६) प्रायोगिक और अभिज्ञाफल से अन्यत्र स्वधातु के ६; (७-८) रूपारूप्यावचर अनिवृताव्याकृत।

अभिज्ञाफल से अन्यत्र स्वधातु के, सात के अनन्तर।

७. शैल्पस्थानिक

के अनन्तर ६, स्वधातु के, प्रायोगिक और अभिज्ञाफल को वर्जित कर।

अभिज्ञाफल से अन्यत्र स्वधातु के, सात के अनन्तर;

८. अभिज्ञाफल

के अनन्तर दो—स्वधातु का अभिज्ञाफल और रूपावचर प्रायोगिक।

पूर्ववत् दो के अनन्तर।

(२) रूपधातु : रूपावचर ६ प्रकार के चित्त अर्थात् दो कुशल, एक क्लिष्ट (निवृताव्याकृत), ३ अनिवृताव्याकृत।

१. प्रायोगिक कुशल

के अनन्तर १२ : (१-६) स्वधातु के ६, (७-९) कामधातु के तीन—प्रायोगिक कुशल, उपपत्तिलाभिक कुशल, अभिज्ञाफल; (१०) आरूप्यावचर प्रायोगिक; (११-१२) शैक्ष और अशैक्ष।

१० के अनन्तर : (१-४) ऐर्यापथिक और विपाकज को वर्जित कर स्वधातु के चार; [३२३] (५-६) कामधातु के दो—प्रायोगिक और अभिज्ञाफल; (७-८) आरूप्यधातु के दो—प्रायोगिक और निवृताव्याकृत; (९-१०) शैक्ष और अशैक्ष।

२ उपपत्तिलाभिक कुशल

के अनन्तर ८ : (१-५) अभिज्ञाफल को वर्जित कर स्वधातु के ५; (६-७) कामधातु के दो—अकुशल और निवृताव्याकृत;[1] (८) आरूप्यधातु का निवृताव्याकृत।

अभिज्ञाफल से अन्यत्र स्वधातु के ५ के अनन्तर।

---

[1] रूपावचर अन्तराभव का प्रथम चित्त।

३. निवृताव्याकृत

के अनन्तर ९ : (१-५) अभिज्ञाफल से अन्यत्र स्वधातु के पाँच; (६-९) कामधातु के चार—२ कुशल, २ क्लिष्ट ।

११ के अनन्तर : (१-५) अभिज्ञाफल से अन्यत्र स्वधातु के ५; (६-८) कामधातु के तीन—उपपत्तिलाभिक, ऐर्यापथिक, विपाकज; (९-११) प्रायोगिक को वर्जित कर आरूप्य-धातु के तीन ।

४-५. विपाकज और ऐर्यापथिक

के अनन्तर सात : (१-४) प्रायोगिक और अभिज्ञाफल को वर्जित कर स्वधातु के चार; (५-६) कामधातु के दो—अकुशल और निवृताव्याकृत; (७) आरूप्यधातु का एक—निवृताव्याकृत ।

अभिज्ञाफल को वर्जित कर स्वधातु के, पाँच के अनन्तर ।

६. अभिज्ञाफल

के अनन्तर स्वधातु के दो—प्रायोगिक और अभिज्ञाफल ।

पूर्ववत् दो के अनन्तर ।

३. आरूप्यधातु : आरूप्यावचर चार प्रकार का चित्त अर्थात् दो कुशल, निवृताव्याकृत, विपाकज ।

१. प्रायोगिक कुशल

के अनन्तर सात : (१-४) स्वधातु के चार; (५) रूपधातु का प्रायोगिक; (६-७) शैक्ष और अशैक्ष ।

६ के अनन्तर : (१-३) विपाकज से अन्यत्र स्वधातु के तीन; (४) रूपावचर प्रायोगिक; (५-६) शैक्ष और अशैक्ष ।

२. उपपत्तिलाभिक कुशल

के अनन्तर सात : (१-४) स्वधातु के चार ; (५) रूपावचर निवृताव्याकृत; (६-७) कामावचर अकुशल और निवृताव्याकृत ।

[३२४] स्वधातु के चार के अनन्तर ।

३. निवृताव्याकृत

के अनन्तर ८ : (१-४) स्वधातु के चार; (५-६) रूपावचर प्रायोगिक और निवृताव्याकृत; (७-८) कामावचर अकुशल और निवृताव्याकृत ।

इन १० के अनन्तर : (१-४) स्वधातु के चार; (५-१०) रूपकामावचर उपपत्तिलाभिक, ऐर्यापथिक, विपाकज ।

४. विपाकज

के अनन्तर ६ : (१-३) प्रायोगिक को वर्जित कर स्वधातु के तीन; (४) रूपावचर निवृताव्याकृत; (५-६) कामावचर अकुशल और निवृताव्याकृत।

स्वधातु के चार के अनन्तर।

(४) दो अनास्रव-चित्त :

१. शैक्ष

के अनन्तर ६ : (१-३) तीन धातुओं के प्रायोगिक; (४) कामावचर उपपत्तिलाभिक; (५-६) शैक्ष और अशैक्ष।

इन ४ के अनन्तर : (१-३) तीन धातुओं के प्रायोगिक ; (४) शैक्ष।

२. अशैक्ष।

के अनन्तर पाँच : एक शैक्ष का परित्याग कर अशैक्षानन्तर ५।

पाँच के अनन्तर : (१-३) तीन धातुओं के प्रायोगिक, (४-५) शैक्ष और अशैक्ष।

३. सूचना।

ए. विपाकज, ऐर्यापथिक और शैल्पस्थानिक कामावचर प्रायोगिक के अनन्तर उत्पन्न होते हैं। किस कारण से इसका विपर्यय सत्य नहीं है ?

विपाकज प्रायोगिक के अनुकूल नहीं है क्योंकि यह दुर्बल है, क्योंकि इसकी प्रवृत्ति बिना यत्न के होती है (अनभिसंस्कारवाहित्वात् = अयत्नेन प्रवृत्तेः) [व्या २४६.४]

ऐर्यापथिक और शैल्पस्थानिक प्रायोगिक के अनुकूल नहीं हैं क्योंकि उनकी प्रवृत्ति ईर्यापथ और शिल्प के अभिसंस्करण में है। (ईर्यापथशिल्पाभिसंस्करणप्रवृत्तत्वात्) [व्या २४५.३३]

इसके विपरीत निष्क्रमण-चित्त अनभिसंस्कारवाही (=अनाभोगवाही [व्या २४६.१६]) है। यह चित्त विपाकज आदि किसी स्वभाव का हो सकता है। इस चित्त से योगी श्रुत, चिन्ता [३२५] आदि प्रायोगिक चित्त-प्रवाह से निष्क्रमण करता है। अतः निष्क्रमण-चित्त का प्रायोगिकचित्त के अनन्तर उत्पाद हो सकता है।

बी. आक्षेप—यदि प्रायोगिक इसलिये विपाकज आदि के अनन्तर नहीं उत्पन्न होता क्योंकि यह उसके अनुकूल नहीं है तो क्लिष्ट के अनन्तर भी वह उत्पन्न नहीं होता क्योंकि क्लिष्ट विगुण धर्म है।

क्लिष्ट प्रायोगिक का विगुण है। तथापि जब योगी क्लेश-समुदाचार के परिज्ञान से क्लेश-समुदाचार से परिखिन्न होता है तब प्रायोगिक का उत्पाद होता है।

सी. कामावचर उपपत्तिप्रतिलम्भिक कुशल पटु है। अतः यह दो अनास्रव और रूपावचर प्रायोगिक के भी अनन्तर उत्पन्न हो सकता है। किन्तु क्योंकि यह अनभिसंस्कारवाही है इसलिये इसके अनन्तर यह चित्त नहीं उत्पन्न होते।

कामावचर उपपत्तिप्रतिलम्भिक कुशल पटु है। इसलिये यह रूपावचर क्लिष्ट के अनन्तर

उत्पन्न हो सकता है। किन्तु रूपावचर उपपत्तिप्रतिलम्भिक कुशल पटु नहीं है और इसलिये वह आरूप्यावचर क्लिष्ट के अनन्तर उत्पन्न नहीं हो सकता।

४. चित्त एक दूसरे के अनन्तर उत्पन्न होते हैं। वह मनस्कारवश (मनसिकरण) उत्पन्न होते हैं। अतः मनस्कार का उपक्षेप करते हैं।

(१) तीन मनस्कार हैं :

१. स्वलक्षण-मनस्कार—यह स्वलक्षण का मनस्करण है। यथा यह संतीरण "रूप का लक्षण रूपण है....विज्ञान का लक्षण प्रतिविज्ञप्ति है" (१.१३,१६)।

२. सामान्यलक्षण-मनस्कार—यह अनित्यता आदि सत्य के १६ आकार से संप्रयुक्त है : "संस्कृत धर्म अनित्य हैं।" (७.१० देखिये)।

३. अधिमुक्ति-मनस्कार—यह मनस्कार पूर्व दो मनस्कारों के तुल्य भूतार्थ से संप्रयुक्त नहीं है। यह अधिमुक्ति से प्रवृत होता है (अधिमुक्त्या....मनस्कारः, पृ.१५४ देखिये)। [३२६] अशुभा (६.९)[1], अप्रमाण (८.२९), विमोक्ष (८.३२), अभिभ्वायतन (८.३४), कृत्स्नायतन (८.३५) आदि भावनाओं में इसका प्राधान्य है।

[प्रथम आचार्यों के अनुसार जिन्हें विभाषा, ११ उद्धृत करती है] इन तीन मनस्कारों के अनन्तर आर्यमार्ग का सम्मुखीभाव हो सकता है और विपर्यय से आर्यमार्ग के अनन्तर इन तीन मनस्कारों का उत्पाद हो सकता है। यह मत इस वचन पर आश्रित है : "वह अशुभासहगत (अर्थात् : अनन्तर) स्मृतिसंबोध्यंग की भावना करता है।"[2]

[विभाषा के तृतीय आचार्यों के अनुसार] सामान्यलक्षण-मनस्कार के अनन्तर ही मार्ग का सम्मुखीभाव हो सकता है; मार्ग के अनन्तर तीन मनस्कर का उत्पाद हो सकता है।—प्रथम आचार्यों के उक्त वचन का यह अर्थ लेना चाहिये कि अशुभा भावना से चित्त का दमन कर योगी सामान्यलक्षण-मनस्कार के उत्पाद में समर्थ होता है और सामान्य-मनस्कार के अनन्तर वह आर्यमार्ग का सम्मुखीभाव करता है। सूत्र का अभिप्राय अशुभा भावना की इस पारम्पर्येण क्रिया से है। सूत्र वचन है : अशुभासहगतम्....।

[विभाषा के चतुर्थ आचार्यों के अनुसार] सामान्यलक्षण-मनस्कार के अनन्तर ही योगी मार्ग का सम्मुखीभाव कर सकता है; पुनः आर्यमार्ग के अनन्तर सामान्य-मनस्कार का ही सम्मुखीभाव होता है।

आचार्य तृतीय आचार्यों का प्रतिषेध करते हैं।—यथार्थ में हम देखते हैं कि जो योगी अना-

---

[1] यथानिश्चय-धारणा के बल से योगी काय को यथाभूत नहीं देखता। वह उसको पूति अस्थिमात्र का बना देखता है। यह अशुभा भावना है। यथा ऋद्धियों के (७.४८) अभिनिर्हार कर्म योगी कल्पना करता है कि पृथिवीधातु परीत्त है, अब्धातु महत् है (दीघ, २.१०८ से तुलना कीजिये)।

[2] संयुक्तागम, २७, १५ : अशुभासहगतं स्मृति संबोध्यङ्ग भावयति [व्या २४७.६]—स्मृति आर्यमार्ग में संगृहीत है; सहगत का अर्थ है 'अनन्तर'।

गम्यादि (अनागम्य, प्रथमध्यान, ध्यानान्तर) भूमित्रय के संनिश्रय से आर्यमार्ग (४.२७ देखिये) में, सम्यक्त्वनियाम में, अवक्रान्त होता है वह मार्ग से व्युत्थान कर श्रुतमय या चिन्तामय [३२७] कामावचर सामान्यलक्षण-मनस्कार का उत्पाद कर सकता है क्योंकि यह भूमियाँ सन्निकृष्ट हैं किन्तु जब योगी द्वितीय-तृतीय-चतुर्थध्यान के संनिश्रय से सम्यक्त्वनियाम में अवक्रान्त होता है तो आर्यमार्ग से व्युत्थान कर जिस सामान्यलक्षण-मनस्कार का वह उत्पाद करता है वह किस भूमि का हो सकता है ? कामावचर सामान्य लक्षण-मनस्कार का संमुखीकरण शक्य नहीं है क्योंकि काम ऊर्ध्व ध्यानों से अतिविप्रकृष्ट है। द्वितीयध्यानादिभूमिक सामान्य लक्षण-मनस्कार का भी संमुखीकरण शक्य नहीं है क्योंकि निर्वेधभागीय से अन्यत्र (६.१७ : आर्यमार्ग का प्रयोग) इस मनस्कार का उसने पहले प्रतिलाभ नहीं किया था। और आर्य निर्वेधभागीय का पुनः संमुखीभाव नहीं कर सकता क्योंकि जिसने फल की प्राप्ति की है उसके लिये मार्ग-प्रयोग का पुनः संमुखीभाव युक्त नहीं है।

किन्तु यह कहा जायगा कि अन्य सामान्य-मनस्कार हैं जिनकी भावना निर्वेधभागीयों के साथ की गई है, जो तज्जातीय हैं [क्योंकि वह सत्य को आलम्बन बनाते हैं किन्तु वह उनसे इसमें भिन्न हैं कि वह १६ आकारों को आलम्बन नहीं बनाते] : यथा "सब संस्कार अनित्य हैं", "सब धर्म अनात्म हैं", "निर्वाण शान्त है" (यह सामान्य-मनस्कार है क्योंकि यह सर्वनिर्वाण को आलम्बन बनाता है)—योगी आर्यमार्ग से व्युत्थान कर इस दूसरे प्रकार के सामान्य-मनस्कार का संमुखीभाव करेगा।

वैभाषिक इसका वर्णन नहीं करते क्योंकि यह अयुक्त है। [वास्तव में तज्जातीय-मनस्कारों की भावना निर्वेधभागीयों से प्रतिबद्ध है] (विभाषा, ११, ९)।

[यथार्थ वाद यह है कि आर्यमार्ग के अनन्तर तीन मनस्कारों का उत्पाद हो सकता है।] जब अनागम्य का निश्रय लेकर (विभाषा, ११, १०) अर्हत्-फल का प्रतिलाभ होता है तो व्युत्थान-चित्त अनागम्यभूमिक या कामभूमिक होता है। जब आकिंचन्य का निश्रय ले इसी फल का प्रतिलाभ होता है तो व्युत्थान-चित्त आकिंचन्यभूमिक या भावाग्रिक (नैवसंज्ञानासंज्ञायतन का) [३२८] होता है। जब इसी फल का प्रतिलाभ शेष भूमि का निश्रय लेकर होता है तो व्युत्थान-चित्त स्वभूमिक ही होता है।

(२) चार प्रकार का मनस्कार है : उपपत्तिप्रातिलम्भिक, श्रुतमय, चिन्तामय, भावनामय। कामधातु में प्रथम, द्वितीय और तृतीय ही संभव हैं क्योंकि भावना कामावचरी नहीं है। रूपधातु में प्रथम, द्वितीय और चतुर्थ ही संभव हैं क्योंकि इस धातु में ज्यों ही कोई चिन्ता करता है वह ध्यान-समापन्न हो जाता है। आरूप्यधातु में प्रथम और चतुर्थ ही होते हैं। अतः ८ मनस्कार हैं—३, ३ और २ (विभाषा, ११, ९)।

किसी भी धातु के उपपत्तिप्रातिलम्भिक-मनस्कार के अनन्तर आर्यमार्ग का उत्पाद कभी नहीं होता क्योंकि आर्यमार्ग प्रयोगप्रतिबद्ध है। अतः कामधातु के दो, रूपधातु के दो, आरूप्य-

धातु का एक, इन पाँच मनस्कारों के अनन्तर आर्यमार्ग का उत्पादन होता है।—किन्तु आर्य-मार्ग के अनन्तर कामावचर उपपत्तिप्रातिप्तलम्भिक-मनस्कार उत्पन्न हो सकता है क्योंकि यह पटु है।

क्लिष्टे त्रैधातुके लाभः षण्णां षण्णां द्वयोः शुभे ।
त्रयाणां रूपजे शैक्षे चतुर्णां तस्य शेषिते ॥७३॥

जब १२ प्रकार के चित्तों में से (२.६७) किसी एक का संमुखीभाव होता है तो कितने चित्तों का लाभ (प्रतिलम्भ) होता है ?

७३ ए-बी. त्रैधातुक क्लिष्ट के साथ यथाक्रम ६, ६, २ चित्त का लाभ होता है।[१]

'लाभ' से अभिप्राय उसके समन्वागम के लाभ का है जो पूर्व असमन्वागत था।

(१) कामावचर क्लिष्ट-चित्त के साथ ६ चित्तों का लाभ।

ए. कामावचर कुशल-चित्त का लाभ (१) जब विचिकित्सा संप्रयुक्तक्लिष्ट (४.८० सी) चित्त से कुशलमूल का प्रतिसंधान होता है; (२) जब परिहाणितः ऊर्ध्व धातु से कामधातु में प्रत्यागमन होता है (धातुप्रत्यागमन)। प्रतिसन्धि-चित्त अवश्य क्लिष्ट (३.३८) होता है; [३२९] वह इस चित्त के साथ कामावचर कुशल-चित्त का लाभ करता है क्योंकि वह पूर्व उससे असमन्वागत था।[१]

बी-सी. कामावचर अकुशल और निवृताव्याकृत चित्त का लाभ (१) जब ऊर्ध्व धातु से परिहीण हो कामधातु में प्रत्यागमन होता है: क्योंकि तब इन दो चित्तों में से उसका लाभ होता है जिसका संमुखीभाव होता है; (२) जब कामवैराग्य से परिहाणि होती है।

डी. रूपावचर निवृताव्याकृत चित्त का लाभ, जब वह आरूप्यधातु से कामधातु में परिहीण होता है। कामावचर क्लिष्ट प्रतिसन्धि-चित्त के साथ वह रूपावचर निवृताव्याकृत चित्तका लाभ करता है।

ई-एफ. आरूप्यावचर निवृताव्याकृत चित्त और शैक्षचित्त का लाभ, जब वह कामावचर चित्त से अर्हत्व से परिहीण होता है।

(२) रूपावचर क्लिष्ट चित्त के साथ ६ चित्तों का लाभ।

कामावचर अनिवृताव्याकृत चित्त (निर्माणचित्त) और रूपावचर तीन चित्त का लाभ, जब आरूप्यधातु से रूपधातु में परिहाणि होती है।

आरूप्यावचर निवृताव्याकृत चित्त और शैक्षचित्त का लाभ, जब रूपावचर चित्त से अर्हत्व से परिहाणि होती है।

---

[१] क्लिष्टे त्रैधातुके लाभः षण्णां षण्णां द्वयोः [व्या २४८.१२]

[१] विभाषा में इसका विचार किया गया है कि क्या कुशल-चित्त जिसका लाभ इस प्रकार होता है केवल उपपत्तिप्रातिलम्भिक है या प्रायोगिक भी है।

(३) आरूप्यावचर क्लिष्ट चित्त के साथ आरूप्यावचर निवृताव्याकृत चित्त और शैक्षचित्त का लाभ : जब आरूप्यावचर चित्त से अर्हत्व से परिहाणि होती है।

७३ बी-सी. रूपावचर कुशलचित्त के साथ तीन का लाभ।[२]

रूपावचर कुशलचित्त के संमुखीभूत होने पर तीन चित्तों का लाभ : उसी रूपावचर कुशल का लाभ, कामावचर और रूपावचर अनिवृताव्याकृत चित्त का लाभ—अर्थात् दो धातुओं के निर्माणचित्त का लाभ।

[३३०] ७३ सी-डी. शैक्ष चित्त के साथ चार का लाभ।[१]

जब प्रथम शैक्षचित्त का अर्थात् दुःखे धर्मज्ञानक्षान्ति का (६.२५ डी) संमुखीभाव होता है तब चार चित्तों का लाभ होता है : (१) वही शैक्षचित्त, (२-३) कामावचर और रूपावचर (निर्माणचित्त) अनिवृताव्याकृत दो चित्त, (४) आरूप्यावचर कुशलचित्त : आर्य-मार्ग के योग से वह मार्ग में (नियामावक्रान्ति ६.२६ ए) प्रविष्ट है और काम-रूप-धातु से विरक्त है।

७३ डी. शेष चित्तों के साथ उन्हीं चित्तों का लाभ।[२]

जिस चित्त का लाभ व्याख्यात नहीं है उसके संमुख होनेपर केवल उसी चित्त का लाभ होता है।

एक दूसरे मत के अनुसार धातुओं का भेद किये बिना हम यह कह सकते हैं कि :

"यह स्मृत है कि क्लिष्ट-चित्त के साथ ९ चित्तों का लाभ, कुशल-चित्त के साथ ६ का लाभ, अव्याकृत-चित्त के साथ अव्याकृत-चित्त का लाभ होता है।"[३]

कुशल-चित्त के साथ सात का लाभ होता है, ६ का नहीं, ऐसा कहना चाहिये। जब पुद्गल सम्यग्दृष्टि (४.८०) से कुशल-मूल का प्रतिसन्धान करता है तब वह कामावचर कुशल-चित्त का लाभ करता है। जब वह कामधातु से विरक्त होता है तब वह दो अनिवृताव्याकृत, कामावचर और रूपावचर निर्माणचित्त का लाभ करता है। जब वह रूपावचर और आरूप्यावचर समाधि

---

[२] [शुभे। त्रयाणां रूपजे]।

[१] [शैक्षे चतुर्णाम्] [व्या २४९.२४]

[२] [तस्य चाधिके॥]

[३] यह धर्मत्रात के ग्रन्थ की एक कारिका है, नञ्जियो १२८७, फ़ोलियो ८६ ए १७ : "यदि कोई ९ प्रकार के धर्मों का लाभ करता है तो जानना चाहिये कि यह क्लिष्ट-चित्त के साथ है। कुशलचित्त ६ प्रकार के चित्त का लाभ करता है; अव्याकृत-चित्त अव्याकृत का।" (संघवर्मन् का अनुवाद)। परमार्थ : "जब क्लिष्ट-चित्त का उत्पाद होता है तो कहा जाता है कि ९ प्रकार के चित्तों का लाभ होता है। कुशल-चित्त के साथ....।"
व्याख्या में तृतीय पाद है :
[लाभः स्यान्नवचित्तानां क्लिष्टे चित्त इति स्मृतम्।] [व्या २५१.१७]
षण्णां तु कुशले चित्ते [तस्यैवाव्याकृतोद्भवे॥] [व्या २५१.३४; पाठान्तर-तस्यैवाव्याकृते खलु]

[३३१] का लाभ करता है तब वह इन दो धातुओं के कुशल-चित्त का लाभ करता है। नियामावक्रान्ति में शैक्षचित्त का लाभ; अर्हत्वफल में अशैक्षचित्त का लाभ।

शेष दो चित्तों के लिये प्रतिलब्ध चित्तों की गणना हमारे पूर्वोक्त व्याख्यान से जानना चाहिये। इस पर एक संग्रह श्लोक है:

"उपपत्ति, समापत्ति, वैराग्य, परिहाणि, कुशलमूलप्रतिसंधान पर पुद्गल उन चित्तों का लाभ करता है जिनसे वह असमन्वागत था।"[१]

---

[१] उपपत्तिसमापत्तिवैराग्यपरिहाणिषु ।
कुशलप्रतिसन्धौ च चित्तलाभो [हय] तद्वतः ।। [व्या २५२.१७]

अभिधर्मकोश

४

तृतीय कोशस्थान

लोकनिर्देश

नरकप्रेततिर्यंचो मानुषाः षड् दिवौकसः।
कामधातुः स नरकद्वीपभेदेन विंशतिः॥१॥

[१] काम-रूप-आरूप्य धातु के नियम से (२.६६-७३) चित्तादि का निर्देश किया है। अब यह कहना है कि यह तीन धातु कौन हैं?

१ ए-सी. नरक, प्रेत, तिर्यक्, मनुष्य, ६ देव-निकाय—यह कामधातु है[1]। कामधातु के अन्तर्गत चार गति (३.४) साकल्येन हैं, देवगति का एक प्रदेश है अर्थात् ६ देवनिकाय—चातुर्महाराजिक, त्रायस्त्रिंश, याम, तुषित, निर्माणरति और परनिर्मितवशवर्तिन्—हैं और भाजनलोक (३.४५) है जिसमें यह सत्त्व निवास करते हैं।

कामधातु में कितने स्थान हैं?

[२] १ सी-डी. नरक और द्वीपों के भेद से बीस[2]

---

[1] नरकप्रेततिर्यञ्चो मानुषाः षड् दिवौकसः। कामधातुः[व्या २५८.२१]। बुद्धघोस के अनुसार (अत्थसालिनी, ६२) कामधातु के अन्तर्गत चार दुर्गति (नारक, तिर्यक्, प्रेत और असुर, ३.४ ए देखिये), मनुष्य और ६ देवनिकाय हैं। इस प्रकार कुल ११ प्रदेश (पदेस) हैं। काम के ६ देवों की (बर्नूफ़, भूमिका, ६०३, ६०८; हेस्टिंग्स, आर्ट. कॉस्मागनी ऐंड कॉस्मालजी; व्याख्या में इन नामों का व्याख्यान है) पुरानी सूची है। कभी इनकी संख्या घटकर ५ होती है (त्रायस्त्रिंश............परनिर्मितवशवर्तिन्, मार के अधीन, संयुत्त, १.१३३)। [प्रत्येक प्रकार के देवों के नायक होते हैं या इनका एक राजा होता है, अंगुत्तर, ४.२४२]। दीघ, १.२१५ में इनसे ऊर्ध्व ब्रह्मकायिक और महाब्रह्मा हैं; अंगुत्तर, १.२१० में ब्रह्मकायिक और ऊर्ध्व देव हैं; महानिद्देस, ४४ में ब्रह्मकायिक हैं (नीचे पृ.२ टिप्पणी ५ देखिये)। व्याख्या में नरकादि शब्दों का निरूपण है। प्रथम मतः—'नृ नये' धातु से (धातुपाठ, १.८४७): "सत्त्व अपुण्य से वहाँ आनीत होते हैं।" [व्या २५३.१९] द्वितीय मतः—प्रतिषेध-पूर्वक 'ऋ' धातु से ('गतिप्रापणयोः' अथवा 'गतिविश्लेषणयोः' (व्याख्या का पाठ), १.९८३, ६.१११)। तृतीय मतः—'रम्', 'रञ्ज्' धातु से [व्या २५३.२०]: "सत्त्वों का वहाँ रंजन नहीं होता"। चतुर्थ मत संघभद्र का है: "सत्त्व वहाँ त्राण नहीं पाते (ऋ = प्राप्)" [व्या २५३.२२]

[2] स नरकद्वीपभेदेन विंशतिः॥ [व्या २५८.२२]
उत्तरकुरु, टामस, शकस्थान, जे० र० ए० एस० १९०६, २०२; यैकोबी, इनसाइक्लोपीडिया आफ़ हेस्टिंग्ज, २, ६९८; हापकिन्स, माइथालोजी, २० (आयुःप्रमाण); पार्जिटर, एंशन्ट इंडियन हिस्टारिकल ट्रैडिशन, १३२, मार्कण्डेयपुराण, ३४५; कर्फ़ेल कास्मोग्राफ़ी, १९; के रोनो, श्वेतद्वीप, बुलटिन एस० ओ० एस०, ५.२७२।

२० स्थान। ८ नरक (३.५८) : संजीव, कालसूत्र, संघात, रौरव, महारौरव, तपन, प्रतापन, अवीचि; चार द्वीप (३.५३) : जम्बुद्वीप, पूर्वविदेह, अवरगोदानीय, उत्तरकुरु; पूर्वोक्त ६ देवनिकाय (३.६४); इनके अतिरिक्त प्रेत और तिर्यक्। अतः अवीचि से परनिर्मित-वशवर्तिन् लोक तक २० स्थान होते हैं। भाजनलोक के साथ, जिसका अधरभाग वायुमण्डल (३.४५) है, यह कामधातु है।

ऊर्ध्वं सप्तदशस्थानो रूपधातुः पृथक् पृथक्।
ध्यानं त्रिभूमिकं तत्र चतुर्थं त्वष्टभूमिकम् ॥२॥

२ ए-बी. ऊर्ध्व, रूपधातु में १७ स्थान हैं[2]।

कामधातु से ऊर्ध्व रूपधातु के १७ स्थान हैं।

२ बी-डी. ध्यान पृथक् पृथक् त्रिभूमिक हैं। किन्तु चतुर्थ ध्यान अष्टभूमिक है।[3]

चतुर्थ से अन्यत्र प्रत्येक ध्यानलोक त्रिभूमिक है।

प्रथम ध्यान—ब्रह्मकायिक, ब्रह्मपुरोहित, महाब्रह्मन्। द्वितीय ध्यान—परीत्ताभ, अप्रमाणाभ, आभास्वर।[4] तृतीय ध्यान—परीत्तशुभ, अप्रमाणशुभ, शुभकृत्स्न। चतुर्थ ध्यान—अनभ्रक, पुण्यप्रसव, बृहत्फल [और पाँच शुद्धावासिक :] अवृह, अतप, सुदृश, सुदर्शन, अकनिष्ठ। यह १७ स्थान रूपधातु के हैं[5]।

---

[2] **ऊर्ध्वं सप्तदशस्थानो रूपधातुः [व्या २५८.२५]**

[3] **पृथक् पृथक्। ध्यानं त्रिभूमिकं तत्र चतुर्थं त्वष्टभूमिकम्। [व्या २५४.३२]**
व्याख्या—मृदु-मध्य-अधिमात्र भेद से प्रत्येक ध्यान त्रिभूमिक है। इस प्रकार चतुर्थ ध्यान की तीन भूमि अनभ्रक, पुण्यप्रसव, बृहत्फल हैं। किन्तु अधिमात्र चतुर्थ ध्यान का व्यवकिरण अनास्रव ध्यान से हो सकता है (जैसा ६.४३ में व्याख्यात है)। इससे अवृह आदि ५ स्थानान्तर होते हैं। अतः चतुर्थ ध्यान अष्टभूमिक है। [व्या २५४.३४]

[4] **यह मज्झिम, ३.१४७ के चार 'भवूप्पत्तियों' का स्मरण दिलाता है : परीत्ताभ, अप्पमाणाभ, संकिलिट्ठाभ, परिसुद्धाभ देव। होबोगिरिन, १०।**

[5] **यह बहिर्देशकों का [व्याख्या २५५.२८] या पाश्चात्यों का (विभाषा, ९८, १५) नय है। ये गान्धार के आचार्य हैं। इस देश में सौत्रान्तिक हैं, किन्तु जब विभाषा पाश्चात्यों का उल्लेख करती है तो उसका अभिप्राय बहिर्देशक या गान्धार के सर्वास्तिवादियों से होता है। महाव्युत्पत्ति में प्रथम ध्यान के लिये चार आख्याएँ हैं : ब्रह्मकायिक, ब्रह्मपारिषद्य, ब्रह्म-पुरोहित, महाब्रह्मा। इससे जार्जी और हाजसन के अनुसार ४ पृथक् लोक हैं। रेमुसात और बर्नूफ़ (भूमिका, ६०८) ने भिन्न भिन्न स्रोतों का विचार किया है। कोश में पारिषद्य का उल्लेख नहीं है और ब्रह्मकायिक अधर श्रेणी के हैं। अन्यत्र (३.५ ए आदि) ब्रह्मकायिक प्रथम ध्यान के सब देवों का, ब्रह्मालोक के सब देवों का, सामान्य नाम है।**
व्याख्या—बृहत् कुशलमूल से निर्यात होने के कारण 'ब्रह्मा'। यह कौन है? यह वह है जो महाब्रह्मा कहलाता है। वह महान् है क्योंकि उसने ध्यानान्तर (८.२३) का लाभ किया है, क्योंकि उसका उपपत्ति-लाभ दूसरों के पूर्व और च्युति-लाभ दूसरों के पश्चात् (३.पृ० १७) होता है, क्योंकि इसके प्रमाणादि विशिष्ट हैं। ब्रह्मकायिक इसलिये कहते हैं क्योंकि महाब्रह्मा का काय अर्थात् निवास उनका निवास है (तस्य कायो निवास एषां विद्यते)। ब्रह्मपुरोहित

[३] किन्तु काश्मीरक कहते हैं कि रूपधातु में केवल १६ स्थान हैं।[1]

इसलिये कहते हैं क्योंकि ब्रह्मा उनके अग्र (पुर एषां) आहित है (धीयते)। महाब्रह्मा इसलिये कहते हैं क्योंकि आयु, वर्ण आदि विशेषों से यह महान् है (आयुर्वर्णादिभिर्विशेषैर्महान् ब्रह्मा एषाम्) [व्या २५५.६]। व्याख्या देवों की संज्ञाओं का व्याख्यान स्पष्ट भाषा में करती है (कास्मालजी बुद्धीक, पृ० ११९)। संघभद्र इससे सहमत हैं। ३.६४ में सब देवों का विवरण है।

[1] विभाषा, ९८, १५

ए. पालिग्रन्थ—रूपधातु (या ब्रह्मलोक, ऊपर पृष्ठ १, टिप्पणी १) में १६ स्थान हैं : १-९, प्रथम तीन ध्यानों में से प्रत्येक के लिये तीन स्थान; १०-११, चतुर्थ ध्यान के लिये वेहप्फल और असञ्ञसत्त; १२-१६, अनागामिन् के ५ शुद्धावास। पाठान्तर के लिये मज्झिम, १.३२९; ३.१४७ आदि देखिये।

बी. "सर्वास्तिवादियों का यथार्थ मत":—१६ स्थान। यह प्रथम ध्यान को केवल दो स्थान देते हैं।

सी. पाश्चात्य (गान्धार के वैभाषिक, पाश्चात्य, बहिर्देशक) : १७ स्थान। ये प्रथम ध्यान को तीन स्थान देते हैं (महाब्रह्माओं के लिये एक विशेष स्थान)।

डी. अन्य बहिर्देशक (कोश, २.४१ डी, पृ० ९९) : १७ स्थान। ये प्रथम ध्यान को दो स्थान देते हैं किन्तु चतुर्थ ध्यान में असंज्ञिसत्त्वों को एक विशेष स्थान देते हैं।

ई. १८ स्थान। प्रथम ध्यान में तीन स्थान (महाब्रह्माओं के लिये विशेष स्थान) और असंज्ञिसत्त्वों के लिये एक विशेष स्थान।

यह श्रीलाभ का मत है (श्री लो तो, वाटर्स, १.३५५, सौत्रान्तिक विभाषा-शास्त्र का रचयिता)। ऐसा पू-क्वाङ्, और फ़ा-पाओ कहते हैं। ये संघभद्र का उल्लेख करते हैं, जिनके अनुसार "स्थविर १८ स्थान मानते हैं।" यह स्थिरमति या सारमति का मत है (नॅंजियो ११७८, महायान)

एफ. योगाचार भी १८ की संख्या स्वीकार करते हैं किन्तु वह असंज्ञिसत्त्वों को बृहत्फलों के लोक में व्यवस्थापित करते हैं और महेश्वर देवों को (महाव्युत्पत्ति, १६२, ७ के महा-महेश्वरायतन से तुलना कीजिये) मानने से इनकी १८ की संख्या पूरी होती है।

य्वान-हुई और अन्य व्याख्याकार कहते हैं कि स्थविर निकाय को १८ स्थान मान्य हैं। यह उनकी भूल है। वह संघभद्र के "स्थविर" का अशुद्ध अर्थ करते हैं (ए) क्योंकि २० निकायों में एक स्थविर निकाय है [किन्तु त्से-ङ न, पू-क्वाङ और फा-पाओ कहते हैं कि संघभद्र का "स्थविर" श्रीलाभ है], (बी) क्योंकि वह नहीं जानते कि १८ सौत्रान्तिक श्रीलाभ की संख्या है जब कि सौत्रान्तिक सिद्धान्त में १७ संख्या व्यवस्थापित है। विभाषा के अनुसार १७ स्थानों का मत पाश्चात्यों का है। इनसे गान्धार के आचार्य अभिप्रेत हैं। इन आचार्यों में सौत्रान्तिक भी हैं किन्तु बहुत से सर्वास्तिवादी हैं। विभाषा 'पाश्चात्य' से सर्वास्तिवादी निकाय के, न कि सौत्रान्तिक निकाय के, एक भिन्न मत को सूचित करती है। इसीलिये संघभद्र केवल इतना कहते हैं कि "दूसरे (अपरे) कहते हैं [कि स्थानों की संख्या १७ है]........।" वह यह नहीं कहते कि "एक अन्य निकाय.."

सा एकी सामासिक रूप से कहते हैं "—१६ स्थान। यह सर्वास्तिवादियों का यथार्थ मत है।१७ स्थान : (ए) पाश्चात्य (महाब्रह्मा का एक विशेष स्थान), (बी) अन्य आचार्य (असंज्ञियों का एक विशेष स्थान)। १८ स्थान (महाब्रह्मा और असंज्ञियों के स्थानों को पृथक् पृथक् मानकर) : स्थविर = (ए) श्रीलब्ध—यह २० निकायों में अन्तर्भूत स्थविर नहीं हैं। इन्हें मूल सौत्रान्तिक भी कहते हैं; (बी) २० निकायों के अन्तर्गत स्थविर जिन्हें मूलस्थविर कहते हैं। इसके अतिरिक्त स्थिरमति (सारमति) [और योगाचार]।"

[४] वह कहते हैं कि ब्रह्मपुरोहितों के लोक में एक उच्च निवास उच्छ्रित है जिसे ब्रह्मालोक[1] कहते हैं। यह चक्रवर्ती[2] का निवास है। यह परिगण या आटविक कोट्ट[3] के सदृश है; यह भूम्यन्तर नहीं है।

आरूप्यधातुरस्थान उपपत्त्या चतुर्विधः।
निकायं जीवितं चात्र निश्रिता चित्तसन्ततिः ॥३॥

३ ए. आरूप्यधातु में स्थान नहीं हैं।[4]

[५] वास्तव में अरूपी धर्म अदेशस्थ हैं। अतीत-अनागत रूपी धर्म, अविज्ञप्ति और अरूपी धर्म अदेशस्थ हैं। किन्तु

३ बी. उपपत्तिवश यह चतुर्विध है।

आकाशानन्त्यायतन, विज्ञानानन्त्यायतन, आकिञ्चन्यायतन, नैवसंज्ञानासंज्ञायतन (या भवाग्र) आरूप्यधातु हैं। अतः यह चार प्रकार का है। 'उपपत्ति' से कर्मनिर्वृत्त जन्मान्तर की स्कन्धप्रवृत्ति समझनी चाहिये। एक ही कर्म से इन विविध आयतनों का लाभ नहीं होता। यह आयतन एक दूसरे से ऊर्ध्व हैं। किन्तु इन में देशकृत उत्तर और अधर भाव नहीं है। जिस स्थान में समापत्ति [जो आरूप्योपपत्ति का उत्पाद करती है] से समन्वागत आश्रय का मरण होता है, उस स्थान में उक्त उपपत्ति की प्रवृत्ति होती है। उस स्थान में, उस उपपत्ति के अन्त में, अन्तराभव का उत्पाद होता है जो [कामधातु या रूपधातु में] जन्मान्तर का ग्रहण करता है। (३.४ बी-डी, पृ० १५, टिप्पणी १ देखिये)।

रूपी सत्त्वों की चित्त-सन्तति का, चित्त और चैत्त (२.२३) का, निश्रय रूप है और इस प्रकार उनकी प्रवृत्ति होती है। आरूप्योपपन्न सत्त्वों की चित्त-सन्तति का निश्रय क्या होगा?

३ सी-डी. यहाँ चित्त-सन्तति निकाय और जीवितेन्द्रिय पर निश्रित है।[1]

आभिधार्मिकों के अनुसार दो चित्त-विप्रयुक्त धर्म आरूप्योपपन्न सत्त्वों की चित्त-सन्तति के

---

[1] यह 'आवास' ध्यानान्तरिका है, कोश, २.पृ० १९९

[2] मैं समझता हूँ कि मैंने शुआन्-चाङ और परमार्थ को ठीक समझा है; किन्तु अनेक स्थलों में कोश 'महाब्रह्माणः' का उल्लेख करता है। यह पालि ग्रन्थों के महाब्रह्मदेव हैं; यह एक राजा के सहायक या पार्षद हैं (कोश, ६.३८ बी, पृ.२१४ देखिये)। व्याख्या इनके नाम का व्याख्यान करती है—"यह 'महाब्रह्माणः' हैं क्योंकि आयु, वर्णादि में ब्रह्मा उनसे विशिष्ट हैं।"

[3] परिगण इव अर्थात् परिषण्ड इव। दूसरे व्याख्यान करते हैं: आटविक कोट्ट। [व्या २५५.३०] बील, कैटिना,, ९४: "कोशशास्त्र में कहा है कि ब्रह्मा का कोई पृथक् निवास नहीं है। केवल ब्रह्मपुरोहित लोक की महिमा में एक ऊँचा अट्टालक है जो (ब्रह्मा का निवास) है।"

[4] आरूप्यधातुरस्थान उपपत्त्या चतुर्विधः। [व्या २५५.३५]
इस प्रश्न का विचार कि इस धातु में रूप है या नहीं ८.३ सी पृ. १३६-१४३ में किया गया है।

[1] निकायं जीवितं चात्र निश्रिता चित्तसन्ततिः॥ [व्या २५६.१२]
जैसा ३.४१ में हम देखेंगे प्रथम दो धातुओं के चित्त और चैत्त आश्रित हैं जिनका आश्रय

निश्रय हैं। इन्हें निकायसभागता और जीवितेन्द्रिय (२.४५) कहते हैं।

[६][२] रूपी सत्त्वों की चित्त-सन्तति इन दो धर्मों पर निश्रित नहीं है, क्योंकि यह दुर्बल है। अरूपी सत्त्वों की चित्त-सन्तति बलवती होती है, क्योंकि यह समापत्ति-विशेष से जहाँ से रूप-संज्ञा विगत है संजात है।

किन्तु यह कहा जायगा कि जब रूपीसत्त्वों का 'निकाय' और जीवितेन्द्रिय रूपनिश्रित है तब अरूपी सत्त्वों के 'निकाय' और जीवितेन्द्रिय का क्या आश्रय होगा? यह दो अन्योन्यनिश्रित हैं। रूपी सत्त्वों में 'निकाय' और जीवितेन्द्रिय अन्योन्यनिश्रय के लिये बलवान् नहीं हैं। अरूपी सत्त्वों में इनका यह बल होता है क्योंकि यह समापत्ति-विशेष से प्रवृत्त होते हैं।

सौत्रान्तिकों के अनुसार अरूपी सत्त्वों की चित्त-सन्तति, उनके चित्त-चैत्त का कोई उनसे अन्य आश्रय नहीं होता। यह सन्तति बलवती है और निश्रय की अपेक्षा नहीं करती। अथवा यों कहिये कि चैत्तों का निश्रय लेकर चित्त की प्रवृत्ति होती है और चित्त का निश्रय ले कर चैत्तों की प्रवृत्ति होती है, यथा आपके अनुसार निकायसभाग और जीवितेन्द्रिय का अन्योन्यनिश्रयत्व है।

जन्मान्तर की चित्त-सन्तति हेतु-विशेष (कर्म-क्लेश) से 'आक्षिप्त' होती है। यदि यह हेतु रूप में (रूपराग) वीततृष्ण नहीं है तो रूप के साथ चित्त-सम्भव होगा और उसकी चित्त-सन्तति की प्रवृत्ति रूपनिश्रित होगी। यदि यह हेतु रूपराग से विमुख है—यथा वह समापत्ति जो आरूप्योपपत्ति का आक्षेप-हेतु है—तो चित्त का पुनः सम्भव होगा और चित्त का सद्भाव रूप-संयोग के विना होगा।

कामधातु आदि आख्याओं का क्या अर्थ है? [१]

धातु वह है जो स्वलक्षण (अर्थात् काम आदि) धारण करता है (दधाति[२]), अथवा धातु का अर्थ गोत्र है, जैसा पूर्व १.२० ए.पृ.३७ में व्याख्यात है।

[७] १. मध्यम पद का लोप करने से कामधातु का अर्थ "काम-संप्रयुक्त धातु" है, यथा 'वज्र-संप्रयुक्त वालक' के लिये 'वज्र-वालक' कहते हैं (वज्रेण संप्रयुक्तोऽङ्गुलीयकः), यथा 'मरिच-सम्प्रयुक्त पानक' के लिये 'मरिच-पानक' कहते हैं। [व्या० २५७.२]

सेन्द्रियकाय है। जब इंद्रियों का विनाश होता है तब चित्त की 'परिहाणि' होती है, चित्त का मरण होता है।

निकाय = निकायसभाग पर २.४१, ३.७ सी देखिये। निकायसभाग = उपपत्त्यायतन

[२] शुआन्-चाङ् शोधते हैं—रूपी सत्त्वों की चित्त-सन्तति इन दो पर निश्रित नहीं है क्योंकि यह दुर्बल है। अरूपी सत्त्वों में यह बलवान् होते हैं क्योंकि यह एक ऐसी समापत्ति से संजात है जहाँ से रूप-संज्ञा विगत है। किन्तु आप यह क्यों नहीं मानते कि अरूपी सत्त्वों की चित्त-सन्तति इस समापत्ति पर साक्षात् निश्रित है? यह अधिक निश्रय क्यों? पुनः अरूपी सत्त्वों की निकायसभागता और जीवितेन्द्रिय रूपनिश्रित हैं........

[१] २.१४, ८.३ सी, पृ.१३७ देखिये।

[२] विभाषा, ७५.६: यथा पृथिवीधातु आदि।

इसी प्रकार रूपधातु 'रूपसंप्रयुक्त धातु' है। 'अरूप' (रूपविगत) विशेषण है। इससे भाववाच्य 'आरूप्य' (रूप का अभाव) होता है।[1] अथवा रूप "रूपणीय, बाधनीय है" (१.२४, पृ.४५)। अरूप रूप का अभाव है। आरूप्य तद्भाव है [अरूपभाव]। आरूप्य-धातु आरूप्य से संप्रयुक्त है।

२. अथवा यह षष्ठी समास है। कामधातु कामों का निधान या धातु है; रूपधातु रूपों का धातु है, जो रूपों को धारण करता है; आरूप्यधातु आरूप्य का धातु है, जो आरूप्य को धारण करता है।[2]

काम का क्या अर्थ है? (विभाषा, १७३.पृ.८७०) कवडीकार आहार (३.३९) और मैथुन से उपसंहित राग। [काम राग का आलम्बन नहीं है। काम के आलम्बन को 'कामगुण' कहते हैं किन्तु काम वह है जो कामना करता है। (काम्यत अनेनेति कामः)] [व्या २५७.१७] निम्न गाथाओं में यह अर्थ प्रदर्शित किया गया है।

शारिपुत्र एक आजीवक से कहते हैं: "इस लोक के चित्र रूपादि काम नहीं हैं। काम पुरुष का संकल्प-राग है। लोकधातु के रूप महत्व नहीं रखते। भिक्षु उनके प्रति सर्व कामछन्द का दमन करता है"।—आजीवक उत्तर देता है: "यदि इस लोक के चित्र रूपादि काम नहीं हैं, यदि काम संकल्प-राग है तो एक भिक्षु भी 'कामोपभोगी' होता है जब वह काम-वितर्क की कल्पना करता है"। शारिपुत्र उत्तर देते हैं: "यदि इस लोक के चित्र रूपादि काम हैं, यदि काम [८] पुरुष का संकल्प-राग नहीं है, तो शास्ता भी मनोरम रूप देख कर कामोपभोगी होंगे"।[3]

---

[1] यह आरूप्यधातु का व्याख्यान है किन्तु जब केवल आरूप्य शब्द का प्रयोग होता है और अरूपी समापत्तियों (८.२ सी) से अभिप्राय होता है तो आरूप्य का अर्थ 'अरूप' अथवा 'आरूप्य (धातु) के अनुकूल' होता है (आरूप्ये वा साधवः)। [व्या २५७.६]

[2] कामानां वा धातुरिति.....कामान् यो दधाति...आरूप्यं यो दधाति। [व्या २५७.९]

[3] संयुक्त, २८.३—प्रथम गाथा अंगुत्तर, ३.४११ में उक्त है जहाँ इसे देवता की उक्ति बताया है। संस्कृत और पालि में इसका आरम्भ इस प्रकार होता है:—न ते कामा यानि [चित्राणि लोके]। संकल्परागः पुरुषस्य कामः। जहाँ तक मुझे ज्ञात है अन्य दो गाथायें पालि में नहीं हैं। व्याख्या में अन्तिम दो पंक्तियाँ दी हैं: शास्तापि ते भविष्यति कामभोगी दृष्ट्वैव रूपाणि मनोरमाणि। [व्या २५७.३३]
आजीवक का तर्क युक्त नहीं है। वह समझता है कि कामोपभोगिन् होने से भिक्षु अभिक्षु हो जाता है और यदि काम राग है तो भिक्षु अर्थों का उपभोग किये बिना ही कामोपभोगी होगा और भिक्षुत्व का त्याग करेगा। किन्तु राग से केवल भिक्षु का शील अपरिशुद्ध होता है। वह अभिक्षु नहीं होता। अभिक्षु होने के लिये काय या वाक् से तथागत के शिक्षापदों का उल्लंघन करना आवश्यक है।
कथावत्थु, ८.३-४ में थेरवादिन् पुब्बसेलिय के विरुद्ध यह सिद्ध करता है कि कामधातु के 'काम' शब्द का अर्थ रूपायतनादि 'रागविषय' नहीं है किन्तु 'राग' है। वह वसुबन्धु की तरह अंगुत्तर, ३.४११ = संयुत्त, १.२२ की गाथा को उद्धृत करता है।
अत्थसालिनी, १६४-१६५ में उद्धृत विभंग, २५६ से तुलना कीजिये; 'वत्थुकाम' और 'किलेसकामों' में भेद—महानिद्देस आन सुत्तनिपात, ७६६; कम्पेंडियम पृ.८१, टिप्पणी २। विभाषा, ७३; धर्मस्कन्ध, ५, १५.

क्या जो धर्म एक धातु में समुदाचार करते हैं उन सब को उस धातु से प्रतिसंयुक्त (आप्त, पतित) [=उस धातु के अवचर] मानना चाहिये ?[२]

नहीं। केवल उन धर्मों को धातु-प्रतिसंयुक्त मानना चाहिये जिनमें उस धातु का राग, कामराग, रूपराग, आरूप्यराग अनुशयन करता है, बहुलता को प्राप्त होता है। प्रत्येक धातु का राग क्या है ?

[९] यह वह राग है जो इस धातु के धर्मों में विपुलता प्राप्त करता है, जो इन धर्मों में अनुशयन करता है।

यह अश्वबन्धीय है : "कोई प्रश्न करता है कि यह किसका अश्वबन्ध है ? जिसका यह अश्व है। यह किसका अश्व है ? जिसका यह अश्वबन्ध है।" उभय उत्तर का कोई अर्थ नहीं जाना जाता।

क्षमा कीजिये। हमने कामधातु के स्थानों का निर्देश किया है। 'कामराग' उसे कहते हैं जो उस सत्त्व का राग है जो इन स्थानों में अवीतराग है, जिसने इन स्थानों के धर्मों के प्रति राग का परित्याग नहीं किया है।[१] अथवा 'कामराग' उस सत्त्व का राग है जो समाहित नहीं है। "रूपराग, आरूप्यराग" = ध्यानसमापत्ति का राग, आरूप्यसमापत्ति का राग।

कामावचर निर्माण-चित्त[२] ध्यान-फल है। अतः इस चित्त का उत्पाद केवल कामवीतराग सत्त्वों में होता है। इस चित्त का कामावचरत्व कैसे है ? वास्तव में इस निर्माण-चित्त का समुदाचार कामवीतराग सत्त्व में नहीं होता और जब निर्माण-चित्त का समुदाचार कामवीतराग सत्त्व में होता है तब कामराग इसका आलम्बन नहीं होता। अतः कामराग के विना ही (कामरागेण विना) [व्या २५९. १] इस चित्त का कामावचरत्व है। यह सदोष है। आपके दिये हुए धातु-लक्षण का यह विरोध करता है।

---

[२] कामधातु में रूपावचर और आरूप्यावचर धर्म का, यथा विविध समापत्तियों का, (८.१९ सी) समुदाचार होता है। इन समापत्तियों के प्रति एक पुद्गल को राग का अनुभव हो सकता है, किन्तु क्योंकि इस राग का आलम्बन एक ऊर्ध्वभूमिक धर्म है इसलिये इसकी वहाँ प्रतिष्ठा नहीं होती यथा तप्त उपल पर पाद की प्रतिष्ठा नहीं होती (५.२, ३९)। इसी प्रकार काम-धातु के सत्वों में अनास्रव धर्मों का अर्थात् आर्य मार्ग-चित्त का समुदाचार होता है। यह धर्म 'राग' के आलम्बन नहीं हैं चाहे किसी धातु का यह राग क्यों न हो (५.१६, ८.२० सी)। अतः यह अधातुपतित, अधात्वाप्त हैं।
इसलिये यह नियम है कि 'तृष्णा' भूमि (कामधातु = एक भूमि, रूपधातु = चार भूमि) को निश्चित करती है; ८.२० सी।
प्रत्येक धर्म जिस में कामोपपन्न सत्त्व की 'तृष्णा' विपुलता को प्राप्त होती है कामभूमिक है।

[१] येषु कामरूपारूप्यरागा अनुशेरते। येषु कामरागोऽनुशेते आलम्बनतः सम्प्रयोगतो वा यथासंभवं ते कामप्रतिसंयुक्ताः...... [व्या २५८. १०]

[२] व्याख्या की सहायता से हम इस भाष्य का अर्थ करते हैं : निर्माणचित्ते कथं कामरागः। श्रुत्वा परिहाय च तदास्वादनात्। निर्माणवशेन वा। गन्धरसनिर्माणाद्वा [कामावचरत्वम्] रूपावचरेण तयोरनिर्माणात्।
७.४९-५१ देखिये।

यह चित्त कामावचर है क्योंकि जो पुद्गल यह सुनता है कि अन्य इस चित्त से समन्वागत है या जो आत्मीय निर्माण-चित्त के पूर्व आस्वादन का अनुस्मरण करता है या जो निर्माण देखता है [१०] उसके वहाँ कामराग उत्पन्न होता है। अथवा यह चित्त-कामावचर है क्योंकि यह चित्त गन्ध और रस का निर्माण करता है। किन्तु रूपावचर चित्त गन्ध-रस का निर्माण नहीं कर सकता क्योंकि रूपधातूपपन्न सत्त्व इन दोनों से विरक्त होते हैं।

क्या यह धातुत्रय एक है?

धातुत्रय आकाश के तुल्य अनन्त हैं।[१] यद्यपि नवीन सत्त्वों का उत्पाद न हो, यद्यपि असंख्य बुद्ध असंख्य सत्त्वों को विनीत करें और उनको निर्वाण का लाभ करावें, तथापि असंख्य धातुओं के सत्त्वों का क्षय कभी नहीं होता।[२]

धातुत्रय कैसे संनिविष्ट हैं?

इनका तिर्यक्[३] अवस्थान है यथा इस सूत्र[४] से सिद्ध होता है: "यथा जब ईषाधार[५] अभ्र की वर्षा होती है तब आकाश से जो जल-बिन्दु गिरते हैं उनमें वीचि या अन्तरिका नहीं होती, उसी प्रकार जब पूर्व की ओर लोकधातु प्रादुर्भाव और तिरोभाव की अवस्था में होते हैं तब वीचि या अन्तरिका नहीं होती। यथा पूर्व की ओर वैसे ही दक्षिण, पश्चिम और उत्तर की ओर।" सूत्र में 'ऊर्ध्व और अधः की ओर' यह शब्द नहीं हैं।

एक दूसरे मत के अनुसार[६] लोक धातु ऊर्ध्व और अधः की ओर एक दूसरे पर अवस्थित हैं क्योंकि अन्य सूत्रों[७] के अनुसार लोकधातु दश दिशाओं में अवस्थित हैं। अतः अकनिष्ठ से ऊर्ध्व [११] एक कामधातु है और कामधातु से अधः एक अकनिष्ठ है।[१] जो कोई एक कामधातु से

---

[१] चार अनन्त हैं: आकासो अनन्तो, चक्कवालानि अनन्तानि, सत्तकायो अनन्तो, बुद्धञाणमनन्तं (अत्थसालिनी, १६०)—९. पृ. २६७ देखिये।

[२] पू-क्वाङ (साएकी ने इसका उल्लेख किया है, ८.५ बी, १०): "महीशासकों के मत के अनुसार नव सत्त्वों की उत्पत्ति होती है (अस्त्याद्युत्पन्नः सत्त्वः) जो कर्म-क्लेश से उत्पन्न नहीं होते।"

[३] विभाषा, ९३, १० में दो मतों का उल्लेख है: लोकधातु का तिर्यक् सन्निवेश, तिर्यक् और ऊर्ध्व सन्निवेश। विभाषा इनकी कठिनाइयों का भी उल्लेख करती है। दीघ, १.३३ से तुलना कीजिये।

[४] यह सूत्र संयुक्त, ३४,७ है। लोकप्रज्ञप्ति के आरम्भ में इसका उपयोग हुआ है बुद्धिस्ट कास्मालजी, पृ. १९६)

[५] ईषाधार = "अभ्र जिसकी बिन्दुएँ ईषाप्रमाण हैं।" कल्प के आरम्भ में चार अभ्र होते हैं। उनमें से यह एक है, शिक्षा-समुच्चय २४७, कोश, ३. ९० सी [एक "अकुलीन" नाग, वैडेल, जे० आर० ए० एस०, १८९४, ९८]। नीचे पृष्ठ १४० देखिये।

[६] पू-क्वाङ के अनुसार यह धर्मगुप्तों का मत है। स्थिरमति का मत, त्सा-त्सी (नांजिओ, ११७८) इत्यादि

[७] यथा संयुक्त, १७, ११, मध्यम, ११, ५, ।

[१] लोकधातुओं के अवस्थान पर हेस्टिंग्स, आर्ट. कास्मालजी, १३७.बी (महावस्तु, १.१२२, लोटस, अध्याय ११, अवतंसक) के हवाले देखिये। नीचे ३.४५, ७३.

विरक्त है वह सब लोकधातुओं के कामधातुओं से विरक्त है। अन्य दो धातुओं के लिये भी यही योजना होनी चाहिये।

जब कोई प्रथम ध्यान का निश्रय लेकर अभिज्ञा का उत्पाद करता है तब जिस निर्माण-सत्त्व का वह निर्माण करता है वह उस लोकधातु के ब्रह्मलोक में ही होता है जहाँ उसका निर्माता उपपन्न हुआ है, अन्य लोकधातुओं में नहीं (७.५० बी.पृ.११६)।

नरकादिस्वनामोक्ता गतयः पञ्च तेषु ताः।
अक्लिष्टाऽव्याकृता एव सत्त्वाख्या नान्तराभवः ॥४॥

४ ए-बी. इन धातुओं में पाँच गतियाँ होती हैं, जिनका नामोल्लेख हो चुका है।[२]

[१२] पाँच गति : नारकीय सत्त्व, तिर्यक्, प्रेत, मनुष्य और देव। कामधातु में पहली चार गति और देवगति का प्रदेश; अन्य दो धातुओं में देवगति का प्रदेश।

गाथा कहती है कि "धातुओं में पाँच गतियाँ हैं।" इसलिये क्या धातुओं का कोई प्रदेश है जो गतियों के अन्तर्गत नहीं है? हाँ। धातुओं के अन्तर्गत कुशल, अकुशल, भाजन-लोक और अन्तराभव हैं। किन्तु पाँच गतियाँ :

---

[२] नरकादिस्वनामोक्ता गतयः पञ्च तेषु
गति ५ हैं या ६?
कथावत्थु, ८.१—मज्झिम, १.७३ (पञ्च खो पनिमा सारिपुत्त गतयो.....) के होते हुए भी अन्धक और उत्तरापथक का मत है कि असुर एक पृथक् गति ह। किन्तु काल-कञ्जकों की गणना प्रेतों में है और वेपचित्ति का गण (संयुत्त, १.२२१, डायालाग्स, २.२८९, ब्रेदरन, ७४९) देवों में अन्तर्भूत है। [औंग-रीज डेविड्स के पाठ और टिप्पणियों के अनुसार]
मज्झिम, १.७३ के अतिरिक्त हम दीघ, ३.२३४, अंगुत्तर, ४.४५९, संयुत्त, ५.४७४ का उल्लेख कर सकते ह।
किन्तु अपाय चार हैं : नरक, तिर्यक्, प्रेत, असुर (देखिये रीज-डेविड्स-स्टीड)—यह शिक्षासमुच्चय, १४७ की 'अक्षणगति', दीघ, ३.२६४ के 'अक्खन', पेतवत्थु के 'दुग्गति' हैं। अमिताभ के सुखावती व्यूह में इनका अभाव है (सुखावती, ११)। सद्धर्मपुण्डरीक में कभी ६ गतियों का (बर्नूफ, ३०९), कभी ५ गतियों का (बर्नूफ़, ३७७) उल्लेख मिलता है। नागार्जुन के सुहृल्लेख में ५ गतियों का उल्लेख है। इसी प्रकार बोध-गया के लेख में भी है। (फ़ूजिशीमा, जे० ए० एस० ने १८८८,२.४२३; शावनेज़, आर० एच० आर १८९६, २)।
किन्तु धर्मसंग्रह, ५७ और उसमें उद्दिष्ट अन्य ग्रन्थों में ६ गति हैं।
किओकूगा की टिप्पणियाँ—(१) असुर : १. प्रेतों में अन्तर्भूत (विभाषा और संभिन्न हृदय, नैञ्जियो, १२८७); २. गतियों के अन्तर्गत नहीं (बुद्धभूमि आदि); ३. षष्ठ गति (महासांघिकादि); ४. प्रेत-तिर्यक्-के अन्तर्गत (सद्धर्मस्मृत्युपस्थानसूत्र); ५ प्रेत-तिर्यक्-देव के अन्तर्गत (सगाथसूत्र)—(२) सूत्र कहता है कि पाँच गति हैं। कैसे कोई कह सकता है कि गति ६ हैं? बुद्ध के निर्वाण से पाँच शताब्दियां हुईं; बहु निकाय हैं; निकायों का ऐकमत्य नहीं है। कुछ ५ गतियों के पक्ष में हैं, अन्य ६ के। प्रथम कहते हैं कि सूत्र में ५ गतियाँ उक्त हैं, दूसरे कहते हैं कि ६। —(३) महायान के अवतंसक का कहना है कि ६ गति हैं।

४ बी-डी. अक्लिष्टाव्याकृत हैं; यह सत्त्वाख्य हैं; इनमें अन्तराभव संगृहीत नहीं है।[1]

विपाकफल होने के कारण (२.५७)[2] गतियाँ अक्लिष्टाव्याकृत हैं। अन्यथा पाँच गतियों का संभेद होगा: [वास्तव में एक पुद्गल नरक-संवर्तनीय, देवोपपत्ति-संवर्तनीय कर्म कर सकता है। यदि कर्म गतियों में पर्यापन्न होते तो मनुष्यगति नरक और देवगति भी साथ साथ होती। कामोपपन्न सत्त्व कामावचर क्लेश से समन्वागत होता है और ऊर्ध्वभूमिक क्लेशों से समन्वागत हो सकता है।]

यह सत्त्वाख्य (१.१० बी) हैं। भाजनलोक गतियों के अन्तर्गत नहीं हैं। अन्तराभव गति नहीं है (नीचे पृ. १४, ३. १०)। गतियों के स्वभाव का प्रतिपादन कई वचनों से होता है। १. प्रज्ञाप्ति में उक्त है: "चार योनियों में (३.८ सी) संगृहीत पाँच गतियाँ हैं। क्या पाँच गतियों में संगृहीत चार योनियाँ हैं? अन्तराभव जिसकी उपपादुक योनि है पाँच गतियों के अन्तर्गत नहीं है।[3]

[१३] २. धर्मस्कन्ध (९, ८) कहता है: "चक्षुर्धातु क्या है? जो रूपप्रसाद उपादाय रूप है और जो नरक में, तिर्यक् योनि में, प्रेत विषय में, देवों में, मनुष्यों में, ध्यानोपपन्न सत्त्वों में, अन्तराभव में चक्षु है, चक्षुरिन्द्रिय है, चक्षुरायतन है, चक्षुर्धातु है।"[1]

३. सूत्र स्वयं कहता है कि अन्तराभव गतियों में संगृहीत नहीं है—"सात भव हैं": नरकभव, तिर्यग्भव, प्रेतभव, देवभव, मनुष्यभव तथा कर्मभव और अन्तराभव।" यह सूत्र[2] पाँच गतियों का (नरकादि भव का) निर्देश सहेतुक और सगमन करता है। हेतु, कर्म या कर्मभव (३.२४ ए) है और गमन अन्तराभव है जिससे एक सत्त्व गतिविशेष को प्राप्त होता है। यह सूत्र साथ साथ यह भी प्रदर्शित करता है कि गतियाँ अक्लिष्टाव्याकृत हैं क्योंकि यह गतियों से (नरकादि भव से) गतियों के हेतु कर्मभव को अर्थात् व्याकृत कर्म (कुशल, अकुशल) को बहिष्कृत करता है। ४. यह अन्तिम वस्तु इस सूत्र से भी व्यवस्थित होता है जिसका पाठ काश्मीरक[3]

---

[1] ताः। अक्लिष्टाव्याकृता एव सत्त्वाख्या नान्तराभवः॥ नीचे पृ. १५, टिप्पणी २ देखिये।

[2] कारणप्रज्ञाप्ति में गति का लक्षण—बुद्धिस्ट कास्मालजी, ३४५ में इसका अनुवाद दिया है।
हम देखेंगे कि इसके अनुसार नारकनिकायसभागता, नारकायतनसमन्वागम, अनिवृताव्याकृत-नारकरूपादि 'नारकेषु प्रतिसन्धिः' के समान नरकगति हैं।

[3] हम उद्धार कर सकते हैं: चतसृभ्यो योनिभ्यः पञ्चगतयः संगृहीताः। किं पञ्चभ्यो गतिभ्यश्चतस्रो योनयः संगृहीताः। अन्तराभवः।

[1] तिब्बती भाषान्तर और परमार्थ के अनुसार हम इसका उद्धार कर सकते हैं: चक्षुर्धातुः कतमः। यश्चत्वारि महाभूतान्युपादाय रूपप्रसादो नरके वा तिर्यग्योनौ वा प्रेतविषये वा देवेषु वा मनुष्येषु वा भावनाजेषु वान्तराभवे वा चक्षुश्चक्षुरिन्द्रियं चक्षुरायतनं चक्षुर्धातुः।

[2] इस सूत्र का विचार विभाषा, ६०, ५ में है। यह सप्तभवसूत्र है। जो निकाय अन्तराभव का प्रतिषेध करते हैं वह उसकी प्रामाणिकता का विरोध करते हैं।
संघभद्र, २३.३, ६ ए देखिये। इसका अनुवाद निर्वाण, १९२५, पृ. २३, टिप्पणी में है।

[3] वसुबन्धु कहते हैं कि "केवल काश्मीरक इस सूत्र का पाठ करते हैं। यह सूत्र मुक्तक है, नीचे पृ० १८९, सिद्धि २७६। यह आगमों में संगृहीत नहीं है। [व्या २५९.३२]
विभाषा, १७२, ३ के अनुसार।

करते हैं: "शारिपुत्र कहते हैं—भदन्त, जब नारक आस्रवों का समुदाचार होता है तब पुद्गल उन कर्मों को करता है, उन कर्मों को उपचित करता है, जिनका विपाक नरक में होता है। काय, वाक् और मन के इन वंक, दोष, कषाय कर्मों का (४.५९) विपाक, नारक रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान हैं। जब यह विपाक निर्वृत्त होता है (निर्वृत्ते विपाके) तब नारक इस संख्या को प्राप्त होता है। भदन्त, इन पांच धर्मों के व्यतिरिक्त किसी नारक सत्त्व का भव नहीं है।" [इसका यह अर्थ है कि इन पाँच "विपाकभूत" धर्मों के व्यतिरिक्त नारक सत्त्व का अस्तित्व नहीं है। अतः यह अनिवृताव्याकृत हैं।]

[१८] किन्तु इस वाद से प्रकरणग्रन्थ (३, ८) के निम्न वचन का विरोध है। इसका परिहार बताना चाहिये : "गतियों में सब अनुशय अनुशयन करते हैं, प्रतिष्ठा-लाभ और पुष्टि-लाभ करते हैं।"[1] इसका यह उत्तर देते हैं कि इस वचन से गतियों का सन्धि-चित्त[2] अभिप्रेत है जो पाँच प्रकार के होते हैं और जो दुःखादि-दर्शन-प्रहातव्य या भावना-प्रहातव्य हैं। अतः सब अनुशय वहाँ अनुशयन करते हैं।[3] यथा 'ग्रामोपविचार' (ग्रामपरिसामन्तक) के लिये 'ग्राम' का ग्रहण होता है, उसी प्रकार प्रकरण ऐसा कह सकता है।

एक दूसरे मत के अनुसार गतियाँ भी कुशल और क्लिष्ट हैं। वास्तव में इस मत के अनुयायी कहते हैं कि सप्तभवसूत्र (पृ. १३, टिप्पणी २) के आधार पर जो युक्ति दी जाती है वह युक्त नहीं है। कर्मभव पाँच गतियों से पृथक् निर्दिष्ट है किन्तु इससे यह नहीं सिद्ध होता कि यह उनसे बहिष्कृत है। पाँच कषायों में क्लेशकषाय और दृष्टिकषाय (३.९३ ए) पृथक् उक्त हैं : क्या कोई कहेगा कि दृष्टि क्लेश नहीं है? अतः कर्मभव गतियों में संगृहीत है।[4] किन्तु इसका पृथक् वचन गति-हेतु के ज्ञापनार्थ है।

सर्वास्तिवादिन्—इस युक्ति से तो अन्तराभव में भी यह प्रसंग होगा। अन्तराभव भी गति होगी।[5]

---

[1] गतिषु सर्वेऽनुशया अनुशेरते [व्या २६०.२]—यदि गति अनिवृताव्याकृत धर्म हैं तो क्योंकि यह धर्म भावना-प्रहातव्य हैं, प्रकरण को इस प्रकार कहना चाहिये : "गतियों में भावना-प्रहातव्य और सर्वत्रग अनुशय अनुशयन करते हैं, प्रतिष्ठालाभ और पुष्टिलाभ करते हैं। (१.४० सी और कोशस्थान ५) 'सर्व अनुशय' ऐसा नहीं कहना चाहिये क्योंकि उनमें ऐसे अनुशय हैं जो अनिवृताव्याकृत धर्मों में अनुशयन नहीं करते।
यह विभाषा, ७२, २ का व्याख्यान है।

[2] सन्धिचित्त = प्रतिसन्धिचित्त = कोश, ३.१३ सी, ३८ का उपपत्तिभव। प्रतिसन्धि = विञ्ञाण, पटिसम्भिदामग्ग १.पृ.५२; प्रतिसन्धिचित्त और विञ्ञाण, विसुद्धि, ५४८, ६५९।

[3] ३.३८, २.१४ के अनुसार।

[4] परमार्थ व्यावृत्त करते हैं : "आप कहते हैं कि यहाँ कर्मभव का निर्देश इसलिये है क्योंकि यह गतियों का हेतु है। स्कन्धों का निर्देश युक्त होगा क्योंकि वह भी गतियों का हेतु है।"

[5] यह कहा जायगा कि अन्तराभव एक गति है यद्यपि इसका पृथक् वचन गति-गमन को ज्ञापित करने के लिये है।

नहीं। 'गति' शब्द का अर्थ है 'जहाँ जाते हैं'।[६] किन्तु अन्तराभव का उत्पाद च्युतिदेश में होता है।

[१५] सर्वास्तिवादिन्—आरूप्यधातु के भवों का भी उत्पाद च्युतिदेश में ही होता है। इसलिये वह गतियों में संगृहीत न होंगे।[१]

अतः हम कहते हैं कि अन्तराभव जो दो गतियों के अन्तराल में होने इस से अन्वर्थ संज्ञा को प्राप्त होता है गति नहीं है। यदि यह गति होता तो अन्तराल में न होने से इसकी संज्ञा अन्तराभव की न होती।

सर्वास्तिवादिन्—हम मान लेते हैं कि आपने सप्तभवसूत्र से आकृष्ट तर्क का खण्डन किया है किन्तु आप शारिपुत्र के वचन का (पृ. १३) क्या करते हैं?

शारिपुत्र कहते हैं कि 'नारक कर्म' के विपाक के निर्वृत्त होने पर नारक सत्त्व होता है। वह यह नहीं कहते कि नारक की गति विपाक ही है: यह गति विपाक-अविपाक-स्वभाव है। सूत्र में उक्त है कि रूपादि धर्मों से अन्यत्र नारक का अस्तित्व नहीं है। इसका अभिप्राय एक ऐसे आश्रय की सत्ता का प्रतिषेध करना है जो एक गति से गत्यन्तर में संक्रमण करता है। इसका आशय यह प्रतिज्ञा करने का नहीं है कि नारक के स्कन्ध (रूपादि) विपाकमात्र हैं। वैभाषिकों के अनुसार गति एकान्ततः अनिवृताव्याकृत धर्म हैं। वैभाषिकों में कुछ का विचार है कि यह विपाकज धर्म हैं; दूसरों का कहना है कि यह विपाकज और औपचयिक[२] धर्म हैं। इस धातुत्रय में जिसमें पाँच गतियाँ हैं अनुलोमक्रम से

> नानात्वकायसंज्ञाश्च नानाकायैकसंज्ञिनः।
> विपर्ययाच्चैककायसंज्ञाश्चारूपिणस्त्रयः॥५॥
> विज्ञानस्थितयः सप्त शेषं तत्परिभेदवत्।
> भवाग्रा संज्ञिसत्त्वाश्च सत्त्वावासा नव स्मृताः॥६॥

[१६] ५ ए—६ ए. सात विज्ञानस्थितियाँ हैं: १. नानात्वकायसंज्ञ, २. नानाकायैकसंज्ञी, ३. विपर्यय, ४ एककायसंज्ञ, ५. तीन प्रकार के अरूपी सत्त्व।[१]

---

[६] गच्छन्ति तामिति [गतिः] [व्या २६०.१९]

[१] आरूप्या न गतिः स्युश्च्युतिदेश एवोत्पादात्। आरूप्यगा हि यत्र च्यवन्ते विहारे वा वृक्षमूले वा यावच्चतुर्थ्यां ध्यानभूमौ तत्रैवोत्पद्यन्ते: "आरूप्यग जहाँ कहीं च्युत होते हैं, चाहे वह विहार हो, वृक्षमूल हो, चतुर्थ ध्यानभूमि हो, उसी स्थान में वह आकाशानन्त्यादि भव में उपपन्न होते हैं।"
(ऊपर ३.३ बी) [व्याख्या २६०.२०]

[२] अनिवृताव्याकृतधर्म विपाकज या औपचयिक होते हैं (१.३७, २.५७)। संघभद्र द्वितीय आचार्यों का मत स्वीकार करते हैं।
२.१० में हमने देखा कि जीवितेन्द्रिय विपाकमात्र है, किन्तु ५ रूपीन्द्रिय, मन-इन्द्रिय और चार वेदना कभी विपाक हैं, कभी नहीं।

[१] नानात्वकायसंज्ञाश्च नानाकायैकसंज्ञिनः। विपर्ययाच्चैककायसंज्ञाश्चारूपिणस्त्रयः॥ विज्ञान-

सूत्र (मध्यम २४-११) के अनुसार :

१. "रूपी सत्त्व हैं जिनके काय और जिनकी संज्ञा भिन्न हैं अर्थात् मनुष्य और कतिपय देव। यह प्रथम विज्ञानस्थिति है।"

यह कतिपय देव कौन हैं?[2] कामावचर ६ देव (१.१) और प्रथमाभिनिर्वृत्तों[3] को वर्जित कर प्रथमध्यानिक (ब्रह्मलोक के) देव।

[१७] यह 'नानात्वकाय' हैं क्योंकि उनके वर्ण, लिंग (वस्त्र, आभरण आदि), संस्थान (दैर्घ्यादि) अनेक हैं। यह 'नानात्वसंज्ञी' हैं क्योंकि इनकी संज्ञा—सुखसंज्ञा, दुःखसंज्ञा, अदुःखा-सुखसंज्ञा—अनेक है।[1]

स्थितयः सप्त।
विभाषा, १३७, ६
जैसा हम देखते हैं कारिका में नानात्वकाय, नानाकाय, नानासंज्ञा, नानात्वसंज्ञिन् अनियत-रूप से प्रयुक्त हुए हैं।
सूत्र (महाव्युत्पत्ति, ११९, १–७) : १. रूपिणः सन्ति सत्त्वा नानात्वकाया नानात्वसंज्ञिनस्तद्यथा मनुष्या एकत्याश्च देवाः, २.....नानात्वकाया एकत्वसंज्ञिनस्तद्यथा देवा ब्रह्मकायिकाः प्रथमाभिनिर्वृत्ताः, ३....एकत्वकाया एकत्वसंज्ञिनस्तद्यथा देवा आभास्वराः, ४....एकत्वकाया एकत्वसंज्ञिनस्तद्यथा देवा शुभकृत्स्नाः, ५– आकाशानन्त्यायतनम् [समीचीन पाठ °आयतनोपगाः], ६. विज्ञानानन्त्यायतनम्, ७. आकिंचन्यायतनम्।
दीघ, २.६८ (३.२५३, २८२, अंगुत्तर, ४.३९, ५.५३) : ७ विज्ञानस्थिति और दो आयतन हैं [विज्ञानस्थिति और आयतन को मिला कर ९ सत्त्वावास होते हैं, कोश, ३.६ सी] : १. सन्ति आनन्द सत्ता नानत्तकाया नानत्तसञ्ञिनो सेय्यथापि मनुस्सा एकच्चे च देवा एकच्चे च विनिपातिका....२. सत्ता नानत्तकाया एकत्तसञ्ञिनो.....और पूर्ववत् यावत् सुभकिण्णा; ५. सन्ति आनन्द सत्ता सब्बसो रूपसञ्ञानं समतिक्कमा पटिघसञ्ञानं अत्थगमा नानत्तसञ्ञानं अमनसिकारा अनन्तो आकासोति आकासानञ्चायतनूपगा, ६......विञ्ञाणानञ्चायतनूपगा, ७..... आकिञ्चञ्ञायतनूपगा।

[2] कामावचराः षट् प्राथमध्यानिकाश्च प्रथमाभिनिर्वृत्तवर्ज्याः [व्या २६१.३]
प्रथम ध्यान के देव बहिर्देशक नय से यह हैं : १. ब्रह्मकायिक २. ब्रह्मपुरोहित, ३. महाब्रह्मा (महाब्रह्माणश्च)। काश्मीर नय से महाब्रह्माओं का ब्रह्मपुरोहितों से अन्य कोई 'स्थान' नहीं है (जैसा हमने पृष्ठ २-४ में देखा है)।
पालिसूत्र का 'विनिपातिक' नहीं है।

[3] विभाषा (१३७) में 'प्रथमध्यानिक देव' यह शब्द नहीं है क्योंकि इन देवों का संज्ञानानात्व आवश्यक नहीं है (कीओकूगा की टिप्पणी)।
शुआन्-चाङ और परमार्थ 'प्रथमाभिनिर्वृत्त' का यह अनुवाद देते हैं : कल्प के आदि में जिनका जन्म होता है।

[1] हम परमार्थ का अनुसरण करते हैं। वसुबन्धु (जिनका अनुसरण लोत्सवा और शुआन्-चाङ करते हैं) 'नानात्वसंज्ञा' का यह व्याख्यान करते हैं : "संज्ञानानात्व क्योंकि संज्ञाएं भिन्न हैं; इस नानात्व से समन्वागत होने के कारण उनकी संज्ञाएं अनेक हैं।" नानात्व संज्ञा पर रीज डेविड्स-स्टीड और फ्रैंके, दीघ, पृ० ३४, टिप्पणी ८ के हवाले देखिये।

२. "रूपी सत्त्व जिनके काय भिन्न हैं और संज्ञा एक है, अर्थात् प्रथमाभिनिर्वृत्त ब्रह्मकायिक देव।[२] यह द्वितीय विज्ञानस्थिति है।"

इन सब प्रथमाभिनिर्वृत्त देवों की संज्ञा एक है क्योंकि सब को एक ही हेतु की संज्ञा होती है। ब्रह्मा विचार करता है : "मैंने इनका निर्माण किया है" और ब्रह्मा के पार्षद विचार करते हैं कि "ब्रह्मा ने हमारा निर्माण किया है।"[३] काय का नानात्व है क्योंकि ब्रह्मा और उसके पार्षद आरोह, परिणाह, आकृति-विग्रह, वाग्भाषा, वस्त्र और आभरण में भिन्न हैं।[४]

[१८] सूत्र में यह पठित है कि देव यह अनुस्मरण करते हैं कि "हमने इस दीर्घायु सत्त्व को इतने दीर्घ काल तक अवस्थान करते देखा है.......जब उसने प्रणिधान किया कि अन्य सत्त्व भी मेरी सभागता में उपपन्न हों, हम यहाँ उपपन्न हुए"[१] (३.९० सी-डी देखिये)। हम प्रश्न करते हैं कि यह देव कहाँ थे जब इन्होंने ब्रह्मा को देखा।[२]

कुछ आचार्यों के अनुसार [जो उस सूत्र का प्रमाण देते हैं जिसमें उपदिष्ट है कि ब्रह्मकायिक आभास्वर लोक से च्युत हो कर ब्रह्मालोक में पुनरुपपन्न होते हैं] उन्होंने ब्रह्मा को उस समय देखा था जब वह आभास्वर लोक में थे। किन्तु हम कहेंगे कि द्वितीय-ध्यानभूमिक आभास्वर लोक से च्युत हो कर उन्होंने द्वितीय ध्यान का त्याग किया है और द्वितीय ध्यानभूमिक (कोश ७ पृ.

---

[२] ब्रह्मकायिक से सब प्रथमध्यानिक देवों का अर्थ लेना चाहिये। प्रथम का निर्देश करने से दूसरों का भी निर्देश होता है।

[३] दीघ, १.१८, ३.२९ से तुलना कीजिये। ब्रह्मा विचार करते हैं : मया इमे सत्ता निम्मिता......; दूसरे देव विचार करते हैं : इमिना मयं भोता ब्रह्मुणा निम्मिता।
तिब्बती भाषान्तर का यह अनुवाद हो सकता है : "संज्ञा का आकार भिन्न न होने से उनकी एक ही संज्ञा है।"--परमार्थ बहुत स्पष्ट हैं : क्योंकि उनकी समान रूप से यह संज्ञा होती है कि ब्रह्मा एकमात्र कारण है।"--संघभद्र इस दोष का प्रतिषेध करते हैं : "संज्ञा का नानात्व है क्योंकि ब्रह्मकायिक विचार करते हैं कि वह निर्मित हैं और ब्रह्मा यह विचार करता है कि वह निर्माण करता है।" वास्तव में वह कहते हैं कि दोनों में एक हेतु की संज्ञा होती है, दोनों में निर्माण की संज्ञा होती है।

[४] आरोह (उत्तरता), परिणाह = (स्थौल्यप्रमाण), आकृति-विग्रह अर्थात् आकृतिलक्षण विग्रह। अतः यह शरीर का समानवाची है। [पुनः 'वेदनानिग्रह' = वेदनासमूह आदि भी हैं]; वाग्भाषा (वागुच्चारण)। शुआन्-चाङ और परमार्थ का अनुवाद = वाग् भासः।

[१] इमं वयं सत्त्वं अद्राक्ष्म दीर्घायुषं दीर्घमध्वानं तिष्ठन्तं....अहो बतान्येऽपि सत्त्वा मम सभागतायामुपपद्येरन्निति चेतसः प्रणिधिः। वयं चोपपन्नाः [व्या २६१.२३]। दीघ का पाठ भिन्न है। ब्रह्मा का प्रणिधि-वाक्य यह है :.....अहो बत अञ्ञेपि सत्ता इत्थत्तं आगच्छेय्युन्ति और देवों का विचार यह है : इमं हि मयं अद्दसाम इध पठममुपपन्नं। मयं पनम्हा पच्छा उपपन्ना "क्योंकि हमने उनको अपने से पूर्व यहाँ उपपन्न देखा और हम उनके पश्चात् उपपन्न हुए।"

[२] पू-क्वाङ कहते हैं कि इस प्रश्न के तीन उत्तर हैं। संघभद्र में ६ उत्तर का उल्लेख हैं; विभाषा, ९८ पाँच उत्तरों का उल्लेख करती है जिनमें से पहले तीन वसुबन्धु ने दिये हैं।

१०५) पूर्व निवास की स्मृति के लिये द्वितीय ध्यान आवश्यक है। इसके अतिरिक्त उन्होंने द्वितीय ध्यान का पुनः लाभ नहीं किया है क्योंकि महाब्रह्मा को निर्माता अवधारित करने की शीलव्रत-परामर्श-दृष्टि में वह पतित हैं। हम यह नहीं कह सकते कि यह मिथ्यादृष्टि द्वितीयध्यानभूमिक है क्योंकि किसी भूमि की मिथ्यादृष्टि (या कोई क्लेश) अधरभूमि को आलम्बन नहीं बनाती।

एक दूसरे मत के अनुसार ब्रह्मालोक में उत्पन्न होने से पूर्व जब वह अन्तराभवस्थ थे तब उन्होंने ब्रह्मा को देखा था। यह पक्ष भी नहीं घटता। यह आक्षेप होगा कि अन्तराभव में दीर्घकाल तक अवस्थान करना सम्भव नहीं है क्योंकि इस लोक में उपपत्ति-प्रतिबन्ध का [१९] अभाव है।[1] अतः उनकी यह बुद्धि कैसे हो सकती है कि "हमने इस दीर्घायु सत्त्व को दीर्घकाल तक अवस्थान करते देखा है।"

अतः यह तृतीय मत है कि "ब्रह्मालोक में ही यह देव ब्रह्मा के पूर्व वृत्तान्त का स्मरण करते हैं। जिस काल में वह उपपन्न हुए उस समय उन्होंने उस पूर्वोत्पन्न को दीर्घकाल तक अवस्थान करते हुए देखा है। देखकर पश्चात् उनकी यह बुद्धि होती है कि "हमने इस सत्त्व को देखा है······"; और वह उपपत्तिप्रतिलम्भिक प्रथम-ध्यानभूमिक स्मृति से इस सत्त्व की चित्त-प्रणिधि को जानते हैं। अथवा ब्रह्मा से उन्होंने सुना है।[2]

३. "एक काय किन्तु अनेक संज्ञा के रूपी सत्त्व अर्थात् आभास्वर देव—यह तृतीय विज्ञान-स्थिति है।"

द्वितीय ध्यान के ऊर्ध्वतम देवों का अर्थात् आभास्वरों का निर्देश करके सूत्र परीत्ताभ और अप्रमाणाभ देवों को भी निर्दिष्ट करता है। यदि अन्यथा होता तो यह दो प्रकार के देव किस विज्ञानस्थिति के होते?

वर्ण, लिंग, संस्थान की अनेकता नहीं है। अतः इन देवों का एक काय है। इनमें सुख, अदुःखासुख की संज्ञा होती है। अतः इनकी संज्ञा का नानात्व है।

वास्तव में ऐसा कहा गया है (विभाषा, ३८, ६)—यद्यपि हमारे अनुसार (किल) यह यथार्थ नहीं है—कि यह देव मौल द्वितीय ध्यान की सौमनस्य वेदना से परिखिन्न हो कर इस ध्यान के सामन्तक में प्रवेश करते हैं और वहाँ उपेक्षा वेदना (८.२२) का संमुखीभाव करते हैं।[3] इस

---

[1] अन्तराभव का अवस्थान तभी दीर्घ हो सकता है जब उसकी प्रतिसन्धि कामधातु में होती है ३.१४ डी।

[2] व्याख्या के अनुसार—भाष्य इस प्रकार है: तस्मात् तत्रस्था एव तस्य पूर्ववृत्तान्तं समनुस्मरन्तः। दीर्घमध्वानं तिष्ठन्तं दृष्टवन्तः। दृष्ट्वा च पश्चादद्राक्ष्मैतेषां बभूव। [व्या २६१.२५] परमार्थ इस प्रकार अर्थ करते हैं: "ब्रह्मा के लोक में देव पूर्व वृत्तान्त का स्मरण करते हैं। उन्होंने दीर्घायु ब्रह्मा को दीर्घकाल तक अवस्थान करते हुए पहले ही [= ब्रह्मालोक में पूर्वजन्म में] देखा है। पश्चात् वह उसको पुनः देखते हैं और इसलिये कहते हैं....। शुआन्-चाङ: "देव इस सत्व के पूर्व वृत्तान्त का इसी लोक में स्मरण करते हैं। उन्होंने पूर्व उसको देखा है....।"

[3] ते हि मौल्यां भूमौ सुखेन्द्रियपरिखिन्नाः सामन्तकोपेक्षेन्द्रियं सम्मुखीकुर्वन्ति [व्या २६१.३४]।

[२०] द्वितीय वेदना से परिखिन्न हो वह मौल द्वितीय ध्यान और सौमनस्य वेदना का पुनः ग्रहण करते हैं। यथा कामसुख से परिखिन्न हो अधिपति राज्य-(या धर्म) सुख का ग्रहण करते हैं और धर्म से परिखिन्न हो कामसुख का पुनः ग्रहण करते हैं। यह आक्षेप होगा कि यथा द्वितीय ध्यान के देव होते हैं वैसे ही तृतीय ध्यान के देवों को (शुभकृत्स्नादि : चतुर्थ विज्ञानस्थिति) भी होना चाहिये, किन्तु तृतीय ध्यान के देव सामन्तक में प्रवेश नहीं करते और सदा सुखेन्द्रिय से समन्वागत होते हैं। किन्तु यह आक्षेप वृथा है। शुभकृत्स्न स्वसुख से परिखिन्न नहीं होते क्योंकि यह शान्त है किन्तु आभास्वरों का सुख सौमनस्य होने से चित्त का उत्प्लावक है[१] और शान्त नहीं है।

सौत्रान्तिकों का भिन्न मत है। वह सूत्र (सप्तसूर्य-व्याकरण, दीर्घ, २१, ८, मध्यम, २, ८)[२] उद्धृत करते हैं : "आभास्वर लोक में अचिरोपपन्न सत्त्व लोकधातु-संवर्तनी के नियमों को यथार्थ नहीं जानते। जब तेजःसंवर्तनी होती है तब वह अर्चि को ऊपर उठते और ब्राह्म विमानों को दग्ध होते देखते हैं; वह भयभीत, दुःखी और विक्षिप्त होते हैं और कहते हैं कि "यह अर्चि यहाँ तक न आये" किन्तु जो सत्त्व आभास्वर लोक में चिरोपपन्न होते हैं वह कल्प के प्रवर्तनों को जानते हैं और अपने भीत साथियों को यह कह कर आश्वासन देते हैं कि "मित्रो! भय न करो। मित्रो! भय न करो। यह अर्चि ब्राह्म विमान को पूर्व दग्ध कर अन्तर्हित हो गयी है।" इससे हम अच्छी तरह देखते हैं कि द्वितीय ध्यानभूमिक देव कैसे नानात्वसंज्ञी हैं। प्रथम ध्यान के लोकों के दाह पर उनमें अर्चि के आगम या व्युपगम की संज्ञा होती है, भीत या अभीत की संज्ञा होती है।[३] वैभाषिकों का यह विवेचन कि यह देव सुखादुःखासुखसंज्ञी हैं, सुष्ठु नहीं है।

४. "एक काय और एक संज्ञा के रूपी सत्त्व अर्थात् शुभकृत्स्न देव। यह चतुर्थ विज्ञान-स्थिति है।"

इनकी एकत्व-संज्ञा है क्योंकि यह सुखेन्द्रिय से समन्वागत हैं।

[२१] प्रथम ध्यान में संज्ञा का एकत्व है। यह क्लिष्ट संज्ञा है, क्योंकि यह शीलव्रतपरामर्श से संप्रयुक्त है। द्वितीय ध्यान में संज्ञा का नानात्व है। यह मौल ध्यान और सामन्तक की कुशल संज्ञा है। तृतीय ध्यान में संज्ञा का एकत्व है। यह संज्ञा विपाकज है।

५-७. यथा सूत्र में कहा है, प्रथम तीन आरूप्य अन्तिम तीन विज्ञान-स्थिति हैं।[१]

विज्ञान-स्थिति क्या हैं?—यथायोग पाँच स्कन्ध या चार स्कन्ध। काम और प्रथम तीन ध्यान (३.७ सी देखिये) से प्रतिसंयुक्त पाँच स्कन्ध हैं; आकाशानन्त्यायतनादि तीन आरूप्य से प्रतिसंयुक्त चार स्कन्ध हैं।

---

[१] **चेतस उत्प्लावकत्वादिति चेतस औद्बिल्यकरत्वात् [व्या २६२.३]**

[२] **अग्नि से लोकधातु का क्षय, ३.९० ए-बी, १०० सी-डी।**

[३] **आगमव्यपगमसंज्ञित्वाद् भीताभीतसंज्ञित्वात् [व्या २६२.६]**

[१] **अरूपिणः सन्ति सत्त्वा ये सर्वशो रूपसंज्ञानां समतिक्रमादनन्तमाकाशमित्याकाशानन्त्यायतनमुपसंपद्य विहरन्ति तद्यथाकाशानन्त्यायतनोपगा देवाः। इयं पंचमी विज्ञानस्थितिः।**

शेष विज्ञानस्थिति क्यों नहीं है ?

६ बी . शेष में विज्ञान का परिभेद है ।[2]

शेष से दुर्गति (नरकादि अपाय), चतुर्थ ध्यान और चतुर्थ आरूप्य (नैवसंज्ञानासंज्ञायतन) जिसे भवाग्र, भव का अग्र कहते हैं, अभिप्रेत हैं।

वहाँ विज्ञान का परिभेद होता है, विज्ञान व्युच्छिन्न[3] होता है। अपायों में दुःखवेदना विज्ञान का अपघात करती है; चतुर्थ ध्यान में योगी असंज्ञिसमापत्ति (२ . ४२) की भावना कर सकता है और इस ध्यान में आसंज्ञिक होता है अर्थात् वह धर्म (२ . ४१ बी) जो देवों को असंज्ञि-सत्त्व बनाता है; भवाग्र में योगी निरोधसमापत्ति की (२ . ४३ ए) भावना कर सकता है ।

एक दूसरे व्याख्यान के अनुसार (विभाषा, १३७, ९) "वह स्थान जहाँ इहस्थों की जाने की इच्छा होती है; वह स्थान जहाँ से तत्रस्थों की व्युच्चलित होने की इच्छा नहीं होती" [२२] विज्ञानस्थिति कहलाता है।[1] अपाय में उभय का अभाव है। चतुर्थ ध्यान में जो समापन्न होते हैं, वह वहाँ से व्युत्थान करना चाहते हैं। पृथग्जन असंज्ञि-सत्वों में प्रवेश करना चाहते हैं (आसंज्ञिक-प्रविविक्षा); आर्य शुद्धावासिकों में [या आरूप्यायतनों में; शुद्धावासिक शान्तनिरोध का संमुखीभाव चाहते हैं][2] प्रवेश चाहते हैं। भवाग्र विज्ञानस्थिति नहीं है क्योंकि यहाँ विज्ञान का प्रचार अपटु है।[3]

सात विज्ञानस्थिति,

६ सी-डी . भवाग्र और असंज्ञि-सत्त्व, यह ९ सत्त्वावास हैं।[4] क्योंकि सत्त्वों का वहाँ वस्तु-कामता के साथ आवास होता है।

अरूपिणः सन्ति सत्त्वा ये सर्वश आकाशानन्त्यायतनं समतिक्रम्यानन्तं विज्ञानमित्य्..... [व्या २६२ . १२ आनन्त्यं –व्याख्या का पाठ]। ८ . ४ देखिये।

[2] शेषं तत् परिभेदवत्। व्याख्या—परिभिद्यतेऽनेनेति परिभेदः [व्या २६२ . २३]।

[3] वसुबन्धु विभाषा, १३७, ८ के आठ आख्यानों में से सातवें को उद्धृत करते हैं।

[1] इहस्थानां गन्तुकामता। न तत्रस्थानां व्युच्चलितुकामता। [व्या २६२ . २६]

[2] यह अधिक वाक्य शुआन्-चाङ का है जो संघभद्र का अनुसरण करते हैं (जिसे व्याख्या ३ . ७ ए की व्याख्या में उद्वृत करती है) :—"जो आर्य चतुर्थ ध्यान के पहले तीन लोकों में उपपन्न होते हैं वह शुद्धावासों में (चतुर्थ ध्यान के अन्तिम पाँच लोक) या आरूप्य में प्रवेश चाहते हैं और शुद्धावास निर्वाण चाहते हैं।"

[3] ईषत्प्रचारत्वात्—व्याख्या : चित्तचैत्तानां मन्दप्रचारत्वादबलवद् विज्ञानं न तिष्ठति। [व्या २६२ . २६]

[4] भवाग्रासंज्ञिसत्वाश्च सत्वावासा नव स्मृताः॥ [व्या २६२ . २९]।

फ़ा-पाओ कहते हैं कि सूत्र की शिक्षा ९ सत्त्वावासों की नहीं है किन्तु विभाषा (१३७, ३) स्पष्ट है : "इस शास्त्र की रचना किसलिये है ? सूत्र के अर्थ का व्याख्यान करने के लिये सूत्र की शिक्षा है कि सात विज्ञानस्थिति, चार विज्ञानस्थिति, ९ सत्त्वावास हैं किन्तु यह उनका विशेष नहीं बताता और यह नहीं कहता कि वह कैसे एक दूसरे में संगृहीत होते हैं या नहीं संगृहीत होते...."।

नवसत्त्वावाससूत्र : नव सत्त्वावासाः। कतमे नव। रूपिणः सन्ति सत्त्वा नानात्वकाया नानात्व-

[२३] अनिच्छावसनान्नान्ये चतस्रः स्थितयः पुनः।
चत्वारः सास्रवाः स्कन्धाः स्वभूमावेव केवलम् ॥७॥
विज्ञानं न स्थितिप्रोक्तं चतुष्कोटि तु संग्रहे।
चतस्रो योनयस्तत्र सत्त्वानामण्डजादयः ॥८॥

७ ए. अन्य सत्त्वावास नहीं हैं क्योंकि अन्यत्र आवास की इच्छा नहीं होती।[1]

यह अन्य कौन हैं? अपाय हैं। यह कर्म-राक्षस सत्त्वों को वहाँ ले जाता है और सत्त्व अनिच्छा से वहाँ निवास करते हैं। यह 'आवास' नहीं हैं यथा बन्धन-स्थान सत्त्वावास नहीं है।[2]

यदि एक सूत्र का वचन है कि सात विज्ञानस्थिति हैं तो एक दूसरे सूत्र के अनुसार

७ बी. अन्य चार स्थितियाँ हैं।[3]

संज्ञिनस्तद्यथा मनुष्या एकत्याश्च देवा। अयं प्रथमः सत्त्वावासः.....पाँचवा सत्त्वावास असंज्ञियों का है: रूपिणः सन्ति सत्त्वा असंज्ञिनोऽप्रतिसंज्ञिनः। तद्यथा देवा असंज्ञिसत्त्वाः। अयं पञ्चमः सत्त्वावासः.....नवाँ सत्वावास: अरूपिणः सन्ति सत्त्वा ये सर्वश आकिंचन्यायतनं समतिक्रम्य नैवसंज्ञानासंज्ञायतनमुपसंपद्य विहरन्ति। तद्यथा देवा नैवसंज्ञानासंज्ञायतनोपगाः। अयं नवमः सत्त्वावासः—दीघ, ३.२६३, २८८, अंगुत्तर, ४.४०१ के संस्करण के अति समीप।

महाव्युत्पत्ति, ११९ में विज्ञानस्थितियों के अतिरिक्त नैवसंज्ञानासंज्ञायतन (९ वाँ सत्त्वावास) और असंज्ञि-सत्त्व अधिक हैं। यही दीघ, २.६८ में है। दीघ की सूची में 'नैवसंज्ञा' के पूर्व असंज्ञिसत्त्व हैं।

[1] अनिच्छावसनान्नान्ये [व्या २६३.१७]

[2] शुआन्-चाङ में इतना अधिक है: यथा पूर्व व्याख्यात है 'असंज्ञि सत्त्वों से अन्य चतुर्थध्यानोपग-सत्त्वावास नहीं हैं।"
व्याख्या कहती है कि वसुबन्धु मुखमात्र अपायों का उल्लेख करते हैं। उनकी अभिसन्धि चतुर्थध्यानोपग देवों से भी है। चतुर्थ ध्यान 'आवास' नहीं है क्योंकि वहाँ अवस्थान करने की इच्छा नहीं होती। संघभद्र का यही मत है—अन्य व्याख्याकारों का विचार है कि वसुबन्धु केवल अपायों को वर्जित करते हैं और चतुर्थ ध्यान को सत्त्वावास मानते हैं। उनकी युक्ति का अन्वेषण करना होगा [व्या २६३.४]

[3] चतस्रः स्थितयः पुनः। —८.३ सी. पृ. १३८-९।
दीर्घ, ९, ७, संयुक्त, ३, ६—दीघ, ३.२२८ में संयुत्त, ३.५४ के अनुसार चार विज्ञानस्थिति परिगणित हैं: रूपूपायं वा आवुसो विञ्ञाणं तिट्ठमानं तिट्ठति रूपारम्मणं रूपपतिट्ठं नन्दूपसेवनं वुद्धिं विरूळ्हिं वेपुल्लं आपज्जति। वेदनूपायं....संस्कृत संस्करण इसके अतिसमीप होगा; प्रधान पाठान्तर 'रूपोपग' है। अर्थ स्पष्ट है: "रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार के समीप जाने से विज्ञान आश्रय का ग्रहण करता है; रूप को आलम्बन और प्रतिष्ठा बना, सुख से संप्रयुक्त हो, विज्ञान वृद्धि को प्राप्त होता है....।"
किन्तु अभिधर्म (विभाषा, १३७, ३) के अनुसार सूत्र में यह पद है: रूपोपगा विज्ञानस्थिति, वेदनोपगा विज्ञानस्थिति। इनका जो कारकार्थ दिया जाता है वह युक्त नहीं हो सकता।

ए. वैभाषिकों का अर्थ: जिस पर विज्ञान स्थित होता है (तिष्ठति) वह विज्ञानस्थिति कहलाता है। यह स्थिति (विज्ञान का यह आलम्बन) विज्ञान का उपग है अर्थात् विज्ञान

(२४) चार स्थितियाँ यह हैं—रूपोपगा विज्ञानस्थितिः, वेदनोपगा विज्ञानस्थितिः, संज्ञोपगा विज्ञानस्थितिः, संस्कारोपगा विज्ञानस्थितिः ।

७ सी-डी. यह स्वभूमिक चार सास्रव स्कन्ध हैं।[1]

विज्ञान एक भिन्न भूमि के रूपादि स्कन्धों को आलम्बन बना सकता है किन्तु वह तृष्णा से प्रेरित हो उन आलम्बनों का ग्रहण नहीं करता। अतः वे उसकी स्थिति (३. पृ. ८, टिप्पणी २) नहीं अवधारित होते।

किन्तु स्वयं विज्ञान (चित्त और चैत्त) जो पञ्चम स्कन्ध है, क्यों नहीं विज्ञान की स्थिति अवधारित होता है ?

वैभाषिक कहते हैं कि स्थिति 'जिस पर, जिसमें, अवस्थान करते हैं' स्थाता से (जो अवस्थान करता है उससे) अन्य है। देवदत्त गृहादि स्थान से अन्य है। राजा सिंहासन से अन्य है। अथवा विज्ञान-स्थिति से अभिप्राय उन धर्मों से है जिनके प्रवर्तन के लिये (वाहयति, प्रवर्तयति) विज्ञान उन पर अभ्यारूढ़ होता है यथा नाविक नौका को खेता है, किन्तु विज्ञान, विज्ञान का अभिरोहण कर, उसका वाहन नहीं करता । अतः विज्ञान 'विज्ञानस्थिति' नहीं है ।

किन्तु एक अन्य सूत्र का वचन है कि "इस विज्ञानाहार के प्रति (३. ४० ए) नन्दी (सौमनस्य) होती है, राग होता है।" यदि विज्ञान के प्रति नन्दी और राग होता है तो इसीलिये [२५] विज्ञान वहाँ अभिरोहण करता है और प्रतिष्ठित होता है।[1] दूसरी ओर आपकी शिक्षा है कि सप्त विज्ञानस्थिति (३. ५ए) पञ्चस्कन्धस्वभाव (विज्ञान इनमें संगृहीत है) है। आप विज्ञान को विज्ञानस्थिति-चतुष्क में क्यों नहीं जोड़ते ?

को 'समीपचारिणी' है। यह रूपस्वभाव है। रूप तथा समीप होने से इसका 'रूपोपगा' विशेषण है। [व्या० २६३. १८]

बी. भगवद्विशेष कहते हैं कि सौत्रान्तिक दो नय से व्याख्यान करते हैं—१. विज्ञानस्थिति का अर्थ हम विज्ञान का अवस्थान, विज्ञानसन्तति का अनुपच्छेद करते हैं। इस स्थिति से रूप 'उपगत' होता है (उपगम्यते), रूप का तादात्म्य होता है (तदात्मीक्रियते)। अतः स्थिति रूपोपगा है : "विज्ञान की स्थिति जो रूप को उपगत होती है।" २. अथवा स्थिति तृष्णा है क्योंकि तृष्णा से विज्ञान की स्थिति होती है। अतः विज्ञानस्थिति = "तृष्णाभूत विज्ञान की स्थिति"। यह तृष्णा रूप को उपगत होती है, रूप में अभिष्वक्त होती है। अतः रूपोपगा विज्ञानस्थितिः = "तृष्णा जो रूप में अभिष्वक्त होती है और विज्ञान का अवस्थान करती है।" इन दोनों व्याख्यानों में विज्ञानस्थिति रूप से व्यतिरिक्त है किन्तु यह रूप है जो विज्ञानस्थिति है। अतः व्याख्यान (ए) को स्वीकार करना चाहिये। [किन्तु यह कारिकार्थ युक्त नहीं है।] और अन्य 'रूपोपगा विज्ञानस्थितिः' का यह अर्थ करते हैं : "रूपस्वभावा विज्ञानस्थितिः"। वास्तव में 'गम्' धातु का अर्थ स्वभाव है यथा खक्खटखरगत, इत्यादि में [किन्तु हम कहते हैं कि 'गत' 'उपग' नहीं है।]

[1] चत्वारः सास्रवाः स्कन्धाः स्वभूमावेव [व्या० २६३. ३१]
विभाषा, १३७. ३ इसकी समीक्षा करती है कि यह स्कन्ध सत्त्वाख्य हैं या असत्त्वाख्य। दो मत हैं।

[1] संयुक्त, १५, ७; संयुत्त, २. १०१ (नेत्तिप्पकरण, ५७) : विञ्ञाणे चे भिक्खवे आहारे अत्थि नन्दी अत्थि रागो अत्थि तण्हा पतिट्ठितं तत्थ विञ्ञाणं विरूळ्हं—मैंने शुआन्-चाङ

वैभाषिक उत्तर देता है—यदि हम उपपत्त्यायतन (निकाय-सभाग) में संगृहीत पंचस्कन्धों के प्रति साभिराम विज्ञान-प्रवृत्ति का, स्कन्धों में भेद किए बिना, अवधारण करें तो हम कह सकते हैं कि विज्ञान विज्ञानस्थिति है। किन्तु यदि हम एक एक स्कन्ध का विचार करते हैं तो हम देखते हैं कि रूप, वेदना, संज्ञा और संस्कार, जो विज्ञान के आश्रय, विज्ञान से संप्रयुक्त और विज्ञान के सहभू हैं, विज्ञान के संक्लेश में हेतु हैं। किन्तु विज्ञान इस प्रकार विज्ञान-संक्लेश का हेतु नहीं है क्योंकि दो विज्ञानों के युगपदाश्रयत्व का अयोग है। अतः चार विज्ञानस्थिति की देशना में ७ डी-८ ए. केवल (पृथग्) विज्ञान विज्ञानस्थिति नहीं कहा गया है।[२] पुनः भगवत् चार विज्ञान-स्थिति की देशना क्षेत्रभाव से करते हैं और सोपादान कृत्स्न-विज्ञान की देशना बीजभाव से करते हैं।[३] वह बीज को बीज के क्षेत्रभाव से व्यवस्थापित नहीं करते और हम देखते हैं [२६] कि जो धर्म विज्ञान के सहवर्ती हैं उन्हीं का साधुरूप से क्षेत्रभाव होता है। प्रश्न है कि क्या चार स्थितियों में सात का संग्रह है या सात स्थितियों में चार का संग्रह है? नहीं।

८ बी. संग्रह में चार कोटि हैं।[१]

प्रथम कोटि : सात में संगृहीत विज्ञान का ग्रहण चार में नहीं है।

द्वितीय कोटि : अपाय, चतुर्थ ध्यान और भवाग्र के चार स्कन्ध (विज्ञान को वर्जित कर) चार में संगृहीत हैं।

तृतीय कोटि : सात में संगृहीत चार स्कन्ध चार में भी संगृहीत हैं।

चतुर्थ कोटि : इन आकारों को स्थापित कर अन्य धर्म न सात में संगृहीत हैं, न चार में [अर्थात् अपायादि का विज्ञान, अनास्रव धर्म]।

हमने कहा है कि धातुत्रय में गत्यादि भेद हैं।

८ सी-डी. वहाँ अण्डज आदि सत्त्वों की चार योनियाँ हैं।[२]

और परमार्थ का अनुसरण किया है। लोत्सवा के अनुसार : विज्ञानाहारे अस्ति नन्दी, अस्ति रागः। यत्र नन्दी तत्र रागः। तत्र प्रतिष्ठितं विज्ञानं तिष्ठति।
पालि 'विरूळ्ह' के अनुरूप अभ्यारूढ है (इस शब्द का प्रयोग नाविक के नौका पर चढ़ने के लिये किया गया है)

[२] केवलम्। विज्ञानं न स्थितिः प्रोक्तम्। [व्या २६४.२०]

[३] संयुक्त, २, ६—संयुत्त, ३.५४ से तुलना कीजिये।
क्षेत्रभावेन चतस्रो विज्ञानस्थितयो देशिताः। विज्ञानं बीजभावेन सोपादानम् [= स्वभूमिकया तृष्णया सतृष्णम्] कृत्स्नम् [= सर्वसन्तानगतम्] [व्या २६४.२३]
अतीत और अनागत चार स्कन्ध अतीत और अनागत विज्ञान की स्थिति हैं।

[१] चतुःकोटिस्तु संग्रहे। [व्याख्या २६३.३३—व्याख्या का पाठ 'चतुष्कोटि' है]

[२] चतस्रो योनयस्तत्र सत्त्वानामण्डजादयः॥
समानार्थक शब्द के लिये 'मातृका' उपयुक्त है। साधुतर यह होगा : "चार प्रकार की उत्पत्ति।"
कारणप्रज्ञाप्ति, अध्याय १५ (बुद्धिस्ट कास्मालजी, ३४५) में चार योनि और उनका पाँच गतियों से सम्बन्ध व्याख्यात है। वसुबन्धु अपनी सूचनाओं को (कपोत-

योनि का अर्थ उत्पत्ति है। नैरुक्त विधि से योनि का अर्थ 'मिश्रीभाव' है। उत्पत्ति में–जो सब सत्त्वों को सामान्य है—सब सत्त्व आकुल होते हैं।[3]

[२७] अण्डजयोनि : जो सत्त्व अण्ड से उत्पन्न होते हैं : हंस, क्रौंच, मयूर, शुक, सारिका आदि।

जरायुजयोनि : जो सत्त्व जरायु से उत्पन्न होते हैं : गज, अश्व, गो, महिष, गर्दभ, शूकर आदि।[1]

संस्वेदजयोनि[2] : पृथिवी आदि भूतों के संस्वेद से उत्पन्न सत्त्व : कृमि, कीट, पतंग, मशक।

उपपादुकयोनि[3] : जो सत्त्व सकृत् उत्पन्न होते हैं, जिनकी इन्द्रियां अविकल और अहीन हैं[4] और जो सर्व अंग-प्रत्यंग से उपेत हैं। उन्हें उपपादुक कहते हैं क्योंकि वह उपपादन[5] कर्म में

नालिनी, "आश्रमोत्पन्न' भिक्षुणी आदि की कथा) वहीं से लेते हैं। विसुद्धिमग्ग, ५५२ में इसी विषय का अध्ययन है।

दीघ, ३.२३० : चतस्सो योनियो, अण्डजयोनि, जलाबज योनि, संसेदज योनि, ओपपातिक योनि; मज्झिम, १.७३ : अण्डजा योनि..... (लक्षणों के साथ); विसुद्धि, ५५२, ५५७; महाव्युत्पत्ति, ११७ : जरायुजाः, अण्डजाः, संस्वेदजाः, उपपादुकाः।

[3] योनि = उत्पत्ति, शुआन्चाङ ; परमार्थ = मिश्रीभाव। परमार्थ (२३. १, फ़ोलिओ ३५ए, पंक्ति ७)—शुक्रशोणितसन्निपातो योनिः, प्रशस्तपाद में (विज़. एस. एस. पृ. २७)। वहाँ योनिज और अयोनिज के लक्षण दिये हैं।

[1] जरायुज—जरायुर्येन मातुः कुक्षौ गर्भो वेष्टितस्तिष्ठति। तस्माज्जाताः जरायुजाः [व्या २६५.८]—मज्झिम—ये सत्ता वत्थिकोसमभिनिभिज्ज जायन्ति अयं वुच्चति जलाबुजा योनि। गर्भधारण के अनेक प्रकार पर मिलिन्द, १२३, समन्तपासादिका, १.२१३; विंडिश, गेबुर्त, २४।

[2] संस्वेदज—भूतानां पृथिव्यादीनां संस्वेदाद् द्रवत्वलक्षणाज्जाताः.....[व्या २६५.९] मज्झिम—ये सत्ता पूतिमच्छे वा....जायन्ति।

[3] उपपादुक सत्त्व।

महाव्युत्पत्ति, कोशव्याख्या, महावस्तु में उपपादुक; औपपादुक, दिव्य, अवदानशतक; औपपादिक, चरक (विंडिश, गेबुर्त, १८७ में उद्धृत), जैन 'उववाइय', पालि औपपातिक।

उपपातिक, उपपत्तिक, ओपपातिक (सुमंगलविलासिनी में इसका लक्षण दिया है : चवित्वा उप्पज्जनकसत्ता = "जो [तत्काल] मर कर पुनः उत्पन्न होते हैं।"

सद्धर्मपुण्डरीक, ३९४ : "ऋद्धिवश लोक में उत्पन्न"। ग्रन्थसूची बहुत विस्तृत है, सेना, जे० एएस्, १८७६, २.४७७, विंडिश, गेबुर्त, १८४, से लेकर एस्० लेवी, जे० एएस्, १९१२,२.५०२ तक (जिसे वेबर, चाइल्डर्स, लाएमन आदि उद्धृत करते हैं।)

'उपपात' का अर्थ केवल 'उत्पत्ति' है (च्युत्युपपातज्ञान, ७.२९ इत्यादि) यह आवश्यक नहीं है कि इसका यह अर्थ हो "आकस्मिक और असामान्य उत्पत्ति।" (रीज़ डविड्स-स्टीड)

उपपादुकों का निषेध, कोश, ९ पृ. २५८।

[4] अविकलेन्द्रिय; अहीनेन्द्रिय : चक्षुरिन्द्रिय हीन है जब पुद्गल काण है, विभ्रान्त है। हस्त-पादादि अंग हैं; अंगुल्यादि प्रत्यंग हैं।

[5] उपपादन उपपत्तौ साधुकारित्वात्। [व्या २६५.१३]

प्रवीण हैं, क्योंकि वह सकृत् (कललादि अनुक्रम से नहीं; शुक्रशोणित-उपादान के बिना) [२८] उत्पन्न होते हैं। देव, नारक, अन्तराभव ऐसे सत्त्व हैं।[१]

गतियों में योनि कैसे विभक्त हैं?

चतुर्धा नरतिर्यञ्चो नारका उपपादुकाः।
अन्तराभवदेवाश्च प्रेता अपि जरायुजाः॥९॥

९ ए. मनुष्य और तिर्यक् चतुर्विध हैं।[२]

अण्डज मनुष्य यथा शैल और उपशैल स्थविर जो क्रौंची के अण्डों से निर्जात थे।[३] ऐसे ही मृगार माता [विशाखा] के ३२ पुत्र थे;[४] ऐसे ही पंचालराज के ५०० दारक थे।[५]

जरायुज मनुष्य, जैसे आज के मनुष्य।

संस्वेदज मनुष्य, यथा मान्धाता[६], चारु और उपचारु, कपोतमालिनी[७], आम्रपाली[८] प्रभृति।

[२९] उपपादुक मनुष्य (२.१४), प्राथमकल्पिक मनुष्य (२.१४, ३.९७ सी)। तिर्यक् भी चतुर्विध हैं। तीन प्रकार तो सामान्य अनुभव से ज्ञात हैं। नाग और गरुड़ उपपादुक भी हैं। (नीचे पृ. ३१ टिप्पणी ३)

---

[१] मज्झिम : कतमा च ओपपातिका योनि। देवा नेरयिका एकच्चे च मनुस्सा एकच्चे च विनिपातिका।

[२] चतुर्धा नरतिर्यञ्चः

[३] क्रौञ्चीनिर्जातौ—दो बनियों ने जिनका यानपात्र भिन्न हो गया था समुद्र तीर पर एक क्रौञ्ची को पाया (समधिगत)। उससे स्थविर शैल और उपशैल उत्पन्न हुए (व्या २६५. १४)। एक दूसरे ग्रन्थ के अनुसार—"शैल = पर्वत, उपशैल = क्षुद्रपर्वत; एक क्रौंच ने वहाँ दो अण्डे दिये जिनसे दो मनुष्य उत्पन्न हुए। अतः उनका नाम शैल, उपशैल हुआ।

[४] विशाखा के ३२ अण्डे हुए, राल्स्टन-शीफ़नर, पृ. १२५—पद्मावती के अण्डे, शावने, सैंक सैंत कांत, १.८१ (माता का दुग्ध)।

[५] पंचालराज की महादेवी के ५०० अण्डे उत्पन्न हुए। उन्हें एक मंजूषा में रख कर गंगा में प्रवाहित किया गया। लिच्छविराज ने उस मंजूषा को पाया और उसे उद्घाटित कर उसमें से ५०० दारक पाये। व्याख्या [२६५.१६]

[६] उपोषध राजा के सिर पर एक पिटक हुआ। उसके परिपाक-परिभेद से मान्धाता दारक उत्पन्न हुआ। मान्धाता (चक्रवर्ती राजा, कोश, ३.९७ डी देखिये) की जानु पर दो फोड़े हुए। उसके फूटने पर दो दारक, चारु-उपचारु, उत्पन्न हुए। दिव्य, २१०, राल्स्टन-शीफ़नर पृ. ३७—बुद्धचरित, १.२९ और कावेल के हवाले (विष्णुपुराण, ४.२, महाभारत, ३.१०४५०), हापकिंस, ग्रेट इपिक, १९१५, १६९।

[७] कपोतमालिनी—ब्रह्मदत्त राजा की छाती पर एक पिटक हुआ। उससे यह दारिका उत्पन्न हुई।

[८] सुनते हैं आम्रपाली कदलीस्तम्भ से उत्पन्न हुई थी। शावने, सैंक सैंत कांत, ३.३२५, नैञ्जियो, ६६७ (१४८ और १७० के बीच अनूदित) में आम्रपाली और जीवक का इतिहास देखिये; राल्स्टन-शीफ़नर, पृ० ५२—थेरीगाथा, पृ. १२२० में उत्पत्ति उपपादुक मानी गयी है।

९ बी-सी. नारक, अन्तराभव और देव उपपादुक हैं।[1]

यह तीन प्रकार के सत्त्व एकान्ततः उपपादुक योनि के हैं।

९ डी. प्रेत भी जरायुज हैं।[2]

यह दो प्रकार के हैं, उपपादुक और जरायुज। इनका जरायुजत्व प्रेती-मौद्गल्यायन संवाद से सिद्ध होता है : मैं रात्रि में पाँच बच्चे देती हूँ और पांच दिन में मैं उनको खाती हूँ और तिस पर भी मुझको तृप्ति नहीं होती।"[3]

श्रेष्ठ योनि कौन है ?

उपपादुक योनि।

[३०] किन्तु चरमभविक बोधिसत्त्व को उपपत्तिवशित्व प्राप्त होता है।[1] वह जरायुजोपपत्ति को क्यों पसन्द करते हैं? (३.१७ देखिये)[2]

इस प्रश्न के दो उत्तर हैं—१. बोधिसत्त्व इसमें बहु उपकार देखते हैं। एक ही वंश का होने के कारण शाक्यों का महावंश सद्धर्म में प्रवेश करता है। उनको चक्रवर्तियों के कुल का समझ कर मनुष्य उनके प्रति महान् आदर प्रदर्शित करते हैं। यह देखकर कि मनुष्य होकर इन्होंने यह सिद्धि प्राप्त की है मनुष्यों का उत्साह बढ़ता है। यदि बोधिसत्त्व की जरायुजोपपत्ति न होती तो लोगों को

---

[1] नरका उपपादुकाः। अन्तराभवदेवाश्च
मज्झिम, १.७३, विभंग, ४१६ से तुलना कीजिये।

[2] प्रेता अपि जरायुजाः

[3] यह परिच्छेद विभाषा, १२०, १२ और कारणप्रज्ञाप्ति, १५ के अनुसार है (बुद्धिस्ट कास्मालजी पृ. ३४५-६)।—एक बात में वसुबन्धु इससे व्यावृत्त होते हैं : "प्रेत केवल उपपादुक हैं। कुछ आचार्य कहते हैं कि यह जरायुज भी होते हैं। एक प्रेती आयुष्मान् मौद्गल्यायन से कहती है.......।" व्याख्या कहती है कि प्रेती के संवाद से यह प्रतीत होता है कि उसके बच्चे उपपादुक हैं। यदि वह जरायुज होते तो माता उनको खाकर तृप्त होती। किन्तु इतने बच्चों का सकृत् जन्म विरुद्ध नहीं है क्योंकि इतने ही काल में प्रेत के बच्चों का आत्मभाव परिपूरित हो जाता है और माता की अभिप्रवृद्ध जिघांसा के दोष से इतने भोजन से भी उसकी तृप्ति नहीं होती।
पेतवत्थु, १.६ : कालेन पंच पुत्तानि सायं पंच पुनापरे। विजयित्वान खादामि ते पि न होन्ति मे अलम्॥ व्याख्या में संस्कृत गाथा के कियदंश पाये जाते हैं : [अहम्] रात्रौ पञ्च सुतान् दिवा पञ्च तथापरान्। जनयित्वा [पि खादामि] नास्ति तृप्तिस्तथापि मे॥ [व्याख्या २६५. ३०] सिंहल में एक निज्झामतण्हिकपेत हैं जो केवल उपपादुक हैं और अन्य प्रेत हैं जो चार प्रकार के हैं। रीज डेविड्स-स्टीड में 'पेत' शब्द देखिये।

[1] महाव्युत्पत्ति, २७ के अनुसार पांचवीं बोधिसत्त्ववशिता; मध्यमकावतार, ३४७ में इनका लक्षण दिया है।

[2] महावस्तु, १.१४५ में "बुद्ध अपने विशेष गुणों से उत्पन्न होते हैं और उनकी उत्पत्ति उपपादुक है"; १.१५४, "राहुल साक्षात् तुषितलोक से अवतीर्ण हो अपनी माता की कुक्षि में प्रवेश करते हैं। उनका जन्म अद्भुत है किन्तु चक्रवर्तियों के समान औपपादुक उपपत्ति नहीं है।" इन वचनों पर और महावस्तु के अन्य लोकोत्तरवादी वचनों पर बार्थ, जे० द० सावां, अगस्त, १८९९ देखिये। ललित, लेफ़मान, ८८ से तुलना कीजिये।

उनका कुल अज्ञात होता और वह कहते कि "यह मायावी कौन है, देव है या पिशाच ?" वास्तव में अन्य तीर्थ्य अपभाषण करते हैं : कल्पशत के अन्त में लोक में ऐसा मायावी प्रादुर्भूत होता है जो अपनी माया से लोक का भक्षण करता है।[३] २. अन्य[४] कहते हैं कि बोधिसत्व इसलिये जरायुजयोनि से उत्पन्न होते हैं जिसमें निर्वाण के अनन्तर उनके शरीर-धातु का अवस्थापन हो सके।[५] इन शरीर धातुओं की पूजा से सहस्रों मनुष्य तथा अन्य सत्त्व स्वर्ग और मोक्ष का [३१] लाभ करते हैं। वास्तव में बाह्य बीज (शुक्र, शोणित, कर्दमादि) के अभाव से औपपादुक सत्त्वों का शरीर मृत्यु के पश्चात् अवस्थान नहीं करता। अर्चि के सदृश यह निरवशेष अन्तर्हित होता है।[१] किन्तु हम देखते हैं कि जो आचार्य बुद्ध की आधिष्ठानिकी[२] ऋद्धि मानते हैं उनको यह परिहार युक्त नहीं लगेगा। एक प्रश्न से प्रश्नान्तर उत्पन्न होता है।

यदि औपपादुक सत्त्वों का काय-निधन होता है, तो सूत्र में यह कैसे उक्त है कि "उपपादुक गरुड़ उपपादुक नाग को खाने के लिये ले जाता है?"[३]

सूत्रवचन है कि वह उसे खाने के लिये (भक्षार्थम्) नाग का उद्धरण करता है (उद्धरति)।

---

[३] यथान्यतीर्थिका अपभाषन्ते.....। यह तीर्थिक मस्करिन् आदि हैं---निर्ग्रन्थशास्त्र में पठित है : ऋद्धिं भदन्त को दर्शयति। मायावी गौतमः। अन्यत्र भगवत् को उद्दिष्ट कर कहा है : कल्पशतस्याऽत्ययादेवंविधो लोके मायावी प्रादुर्भूय लोकं भक्षयति [व्या २६६.८ व्याख्या का पाठ---मायया लोकम्]। वसुबन्धु इसे उद्धृत करते हैं। ["लोक का भक्षण करना", "लोकोपजीवी होना"]---मज्झिम, १.३७५ से तुलना कीजिये : समणो हि भन्ते गोतमो मायावी---....संयुत्त, ४.३४१; थेरगाथा, १२०९ की अर्थकथा।
विभाषा, ८, ९---"तीर्थिक बुद्ध को उद्दिष्ट कर अपभाषण करते हैं कि वह बड़ा मायावी है और लोगों के चित्त को विक्षिप्त करता है।" और २७, ८ : पाटलि-तीर्थिक कहता है कि "गौतम, क्या तुम माया जानते हो? यदि तुम नहीं जानते तो तुम सर्वज्ञ नहीं हो; यदि तुम जानते हो तो मायावी हो।"

[४] विभाषा, १२०, १५।

[५] शरीरधातूनामवस्थापनार्थम् [व्याख्या २६६.१३]
सुवर्णप्रभास के अनुसार शरीरधातु वैसे ही निःस्वभाव हैं जैसे कि बुद्ध। (जे. आर. ए. एस. १९०६, ९७०)।

[१] एक काय-निधन है अर्थात् कायनाश : मरणकाल में शरीर अन्तर्हित होता है (अन्तर्धीयते) ......---कारणप्रज्ञाप्ति की यह शिक्षा है।

[२] शरीरधातु के अधिष्ठान और ऋद्धि पर ७.५२ देखिये।
व्याख्या का व्याख्यान: "अधिष्ठान उस वस्तु को कहते हैं जिसका अधिष्ठान (अधितिष्ठति) मायावी यह कह कर करता है कि 'यह ऐसा हो'। इस ऋद्धि का यह प्रयोजन है अथवा इस ऋद्धि का इस वस्तु में उत्पाद होता है। अतः यह ऋद्धि आधिष्ठानिकी कहलाती है।"

[३] चार प्रकार के गरुड और नागों पर (डब्लू. दविसेर, ड्रैगन इन चाइना एंड जापान, १९१३) और किस क्रम से प्रथम द्वितीय का भक्षण करते हैं, दीर्घ, १९, २०, संयुत्त, ३.२४०, २४६।

१६ नाग हैं जिनकी (सागर, नन्दादि) गरुड़ों के आक्रमण से रक्षा होती है, डब्लू० द० विसेर की टिप्पणी---३.८३ बी, बोल ४८ देखिये।

सूत्र यह नहीं कहता कि वह उसे खाता है। अथवा जब तक नाग मृत नहीं होता तब तक वह उसे खाता है किन्तु वह मृत नाग से तृप्त नहीं होता (न पुनर्मृतस्यास्य तृप्यति)।

सब से विस्तृत योनि कौन है?

उपपादुक योनि। क्योंकि इसमें सर्व नरकगति, सर्व देवगति तथा अन्य तीन गतियों का एक प्रदेश और अन्तराभव संगृहीत हैं।[४]

अन्तराभव-सत्व, अन्तराभव क्या है?

[३२] मृत्यूपपत्तिभवयोरन्तरा भवतीति यः।
गम्यदेशानुपेतत्वान्नोपपन्नोऽन्तराभवः॥१०॥

१०. अन्तराभव मरणभव और उपपत्तिभव के बीच अन्तराल है। गम्य देश में प्राप्त न होने से हम नहीं कह सकते कि यह उपपन्न है।[१]

---

[४] संघभद्र एक दूसरे मत का निर्देश करते हैं जिसके अनुसार संस्वेदज योनि सब से अधिक विस्तृत है।

[१] मृत्यूपपत्तिभवयोरन्तराभवतीह यः।
गम्यदेशानुपेतत्वान्नोपपन्नोऽन्तराभवः॥—पृ. ४१ देखिये। [व्या २६७.६]
अन्तराभव की संक्षिप्त पुस्तक-सूची।
कोश, ३.१०-१५, ४०सी; ४.५३ ए-बी; ४.३४ए, ३९; ९, अनुवाद पृ २५८।
कथावत्थु, ८.२—सम्मितीय और पुब्बसेलिय के विरुद्ध थेरवादी अन्तराभव का प्रतिषेध करता है। सम्मितीय और पुब्बसेलिय अन्तरापरिनिर्वायिन् नामक अनागामिन् के भव को मानते हैं (नीचे पृ० ३८ और ३.४० सी, टिप्पणी देखिये)। इनके अनुसार नारक, असञ्ज्ञसत्त और आरूप्यगति के सत्त्वों का अन्तराभव नहीं होता।
सम्मितीयनिकायशास्त्र, नैञ्जियो, १२७२, तृतीय अध्याय, कारणप्रज्ञप्तिशास्त्र, ११.५ (बुद्धिस्ट कास्मालजी, ३४१)। वे निकाय जो अन्तराभव का प्रतिषेध करते हैं: महासांघिक, एकव्यवहारिक, लोकोत्तरवादिन्, कुक्कुटिक, महीशासक, (वसुमित्र), महासांघिक, महीशासक, विभज्यवादिन् (विभाषा, १९.४)—विभाषा कई मतों का उल्लेख, करती है: अन्तराभव का निषेध; त्रैधातुक उत्पत्ति से पूर्व अन्तराभव; कामोपपत्ति से पूर्व अन्तराभव; कामरूपोपपत्ति से पूर्व अन्तराभव—केवल यही मत युक्त है।
विभाषा, ६८, ८-७०: "यद्यपि मरण और उपपत्ति के काल और देश में भेद हो तथापि क्योंकि अन्तराल में कोई विनाश नहीं होता जिसके अनन्तर उपपत्ति हो यह निकाय अन्तराभव नहीं मानते।" विसुद्धिमग्ग, ६०४, मध्यमकवृत्ति, ५४४ में मरण के अनन्तर ही उपपत्ति होती है: तेसमन्तरिका नत्थि।
ब्राह्मणों के ग्रन्थ, विशेषकर श्लोकवार्तिक, आत्मवाद, ६२:—"विन्ध्यवासिन् ने अन्तराभव देह का प्रतिषेध किया है।" गोल्डस्टकर, अन्तराभव और अतिवाहिक, आतिवाहिक; सांख्य सूत्र, ५.१०३। [ए. बी. कीथ, कर्ममीमांसा, पृ.५९, बुलेटिन स्कूल ओरियंटल स्टडीज, १९२४, पृ.५५४ का विचार है कि यह विन्ध्यवासिन् सांख्य का आचार्य नहीं है जिसका ताकाकुसु ने लाइफ़ आव् वसुबंधु, जे. आर. ए. एस., १९०५ जनवरी के अंक में उल्लेख किया है।]
किस प्रकार "अशरीरी जीव एक नूतन आयतन प्राप्त करने के पूर्व महामेघ के तुल्य संसरण करता है" इस पर हापकिन्स, ग्रेट इपिक, ३९, जे. ए. ओ. एस. २२, ३७२। मृत

मरणभव अर्थात् मरणकाल के पंचस्कन्ध और उपपत्तिभव अर्थात् उपपत्तिकाल के पंचस्कन्ध—के अन्तराल में एक भव—एक 'काय', एक पंचस्कन्ध—होता है जो उपपत्ति-देश को जाता है।

[३३] यह भव दो गतियों के अन्तराल में होता है। अतः इसे 'अन्तराभव' कहते हैं।[1]

इस भव का उत्पाद होता है। क्यों नहीं कहते कि यह उपपन्न होता है, क्यों नहीं कहते कि इसकी 'उपपत्ति' होती है ? हम कहते हैं कि यह उपपद्यमान है किन्तु यह उपपन्न नहीं है (३.४० सी. देखिये)। वास्तव में नैरुक्त विधि से (पद् = गम्, उपपन्न = उपगत) 'पद्' धातु गत्यर्थक है और उपपन्न का अर्थ उपगत है। जब अन्तराभव का (अथवा अन्तराभव-सत्त्व का) आरम्भ होता है तब गम्य देश में अर्थात् उस स्थान में जहाँ कर्मविपाक की अभिव्यक्ति और परिसमाप्ति होती है वह उपगत नहीं होता।[2]

अन्य निकायों[3] के अनुसार मरणभव और उपपत्तिभव के बीच विच्छेद होता है, अन्तराभव नहीं होता। यह मत अयुक्त है जैसा कि युक्ति और आगम से सिद्ध होता है।

व्रीहिसन्तानसाधर्म्यादविच्छिन्नभवोद्भवः।
प्रतिबिम्बमसिद्धत्वादसाम्याच्चानिदर्शनम् ॥११॥

११ ए-बी. व्रीहि-सन्तान के सदृश होने से विच्छिन्न भव का उद्भव नहीं होता।[4]

क्षणिक धर्म सन्तानवर्ती हैं। जब वह एक देश से अपेत हो देशान्तर में प्रादुर्भूत होते हैं तब [३४] इसका कारण यह है कि उनका उद्भव अविच्छेदेन अन्तराल-देशों में होता है। जैसे एक

नरक गमन के लिये प्रेत काय का ग्रहण करता है, सांख्यप्रवचनभाष्य, ३.७। जे. आर. ए. एस. १८९७, ४६६, जे. एएस. १९०२, २.२९५ में विविध सूचनायें; निर्वाण (१९२५), २८; कीथ, बुद्धिस्ट फ़िलासफ़ी, २०७; सूत्रालंकार, पृ. १५२, मध्यमक-वृत्ति, २८६, ५४४—बार-दो पर जाश्के और शरच्चन्द्रदास [और एक समृद्ध साहित्य]।

[1] यह कठिनाई उपस्थित करता है। हमने देखा है कि गति अनिवृताव्याकृत है। उपपत्तिभव एकान्तेन क्लिष्ट है (३.३८)। मरणभव भी कभी कुशल और कभी क्लिष्ट होता है। अन्तराभव मरणभव और उपपत्तिभव के अन्तराल में होता है। उसके लिये यह कैसे कह सकते हैं कि यह दो गतियों के अन्तराल में होता है (गत्योरन्तराले) ? उत्तर—मरण और उपपत्ति-भव में अनिवृताव्याकृत निकायसभाग, जीवितेन्द्रिय, जात्यादि तथा कायेन्द्रिय (२.३५) जो गति-स्वभाव हैं विद्यमान होते हैं। [व्याख्या २६६.३१]

[2] यत्र यथाक्षिप्तस्य विपाकस्याभिव्यक्तिः समाप्तिश्च [व्याख्या २६७.७]—४.९५ के अनुसार जन्माक्षेपक कर्म (देव, मनुष्यादि) से अभिव्यक्ति होती है; परिपूरक कर्मों से (वर्णसंस्थानादि) परिसमाप्ति होती है। अथवा : वह देश जिसमें कर्म से आक्षिप्त विपाक अर्थात् नामरूप की अभिव्यक्ति होती है और जहां षडायतन की पूर्ति होती है।

[3] महासांघिकादि चार निकाय अन्तराभव का अस्तित्व नहीं मानते। मैटीरियल्स आव जे. प्रिजुल्स्की में वसुमित्र की समयभेद की टीका देखिये। महीशासकों का भी यही मत है। (साएकी)

[4] व्रीहिसन्तानसाधर्म्याद् अविच्छिन्नभवोद्भवः। [व्याख्या २६७.१३]

व्रीहिसन्तान को जब एक दूरवर्ती ग्रामान्तर में ले जाते हैं तब वह अन्तराल के ग्रामों में से होकर उस ग्रामान्तर में आनीत होता है, इसी प्रकार चित्त-सन्तति मरण–(मरणभव) देश से अपेत हो कर अविच्छेदेन (अन्तराभव) उद्भूत हो उत्पत्ति (उपपत्तिभव) ग्रहण करती है ।[1]

किन्तु इसमें यह दोष दिखायेंगे कि सन्तानवर्ती प्रतिबिम्ब बिम्ब से विच्छिन्न होकर भी आदर्श, उदक आदि में उत्पद्यमान होता है। अतः मरण-भव-देश और उपपत्ति-भव-देश के अन्तराल में अविच्छिन्नसन्तानवर्तिरूपपूर्वक उपपत्ति-भव-रूप नहीं होता।

११ सी-डी. प्रतिबिम्ब का अस्तित्व असिद्ध है। यदि सिद्ध हो तब भी प्रतिबिम्ब में साम्य नहीं है। अतः प्रतिबिम्ब का उदाहरण ठीक नहीं है ।[2]

प्रतिबिम्ब से वह एक द्रव्य का ग्रहण करते हैं जो वर्ण-विशेष है। प्रतिबिम्ब नाम का कोई धर्मान्तर नहीं है। यह प्रतिसाधन साधु नहीं हैं। यदि प्रतिबिम्ब का अस्तित्व सिद्ध हो तब भी असाम्य होने से यह अनिदर्शन है। कैसे यह असिद्ध है?

सहैकत्र द्वयाभावाद् असन्तानाद् द्वयोदयात्।
कण्ठोक्तेश्चास्ति गन्धर्वः पञ्चोक्तेर्गतिसूत्रतः ॥१२॥

१२ ए. क्योंकि दो वस्तुओं का एकदेश में सहभाव नहीं होता ।[3]

ए. एक ही देश में अर्थात् आदर्श में, पार्श्व-स्थित पुद्गल आदर्श-रूप को, जो उपादाय रूप है, देखता है; अभिमुख अवस्थित पुद्गल वहाँ अपना प्रतिबिम्ब देखता है। यह प्रतिबिम्ब एक 'वर्ण-विशेष', उपादाय-रूप होगा। हम यह नहीं मान सकते कि दो उपादाय-रूप का एक ही देश में सहभाव होता है, क्योंकि उनके आश्रय-भूत भिन्न हैं। (४, अनुवाद पृ. २६,२९ देखिये)।

(३५) बी. दो पुरुष जो घटादि किसी एक रूप को देखते हैं, उनका सहदर्शन होता है। एक ही तटाक, जल-देश की दो भिन्न दिशाओं में व्यवस्थित दो पुरुष स्वाभिमुख देश में स्थित रूपों के प्रतिबिम्ब को देखते हैं। एक ही प्रतिबिम्ब की उपलब्धि एक ही काल में दोनों को नहीं होती।

सी. लोक में छाया और आतप का एक साथ एकत्रभाव नहीं देखा जाता। किन्तु यदि कोई सूर्य से प्रकाशित तटाक के तट के समीप स्थित मण्डप की छाया में आदर्श स्थापित करता है तो

---

[1] व्याख्या कहती है : अत्राचार्यगुणमतिः सह शिष्येणाचार्यवसुमित्रेण स्वनिकायानुराग-भावितमतिर्व्याख्यानव्यापारमपास्य प्रत्यवस्थानपर एव वर्तते। वयमिह शास्त्रार्थविवरणं प्रत्याद्रियामहे न तद्दूषणं निःसारत्वाद् बहुवक्तव्यभयाच्च। [व्या २६७.२५]
यशोमित्र व्याख्या के आरम्भ के श्लोकों में कहते हैं कि गुणमति, वसुमित्र आदि व्याख्याकारों की "जो पदार्थ-विवृति सुष्ठु है वह मुझको अभिमत है।" १.१ की व्याख्या करते हुए 'तस्मै नमस्कृत्य' का जो व्याख्यान गुणमति और उनके शिष्य वसुमित्र ने किया है उसको वह अयुक्त बताते हैं (पृ.७, पेट्रोग्राड संस्करण)। इस व्याख्या से यह ज्ञात होता है कि गुणमति और वसुमित्र किसी दूसरे निकाय के हैं। और विवरण नहीं हैं।

[2] प्रतिबिम्बमसिद्धत्वाद् असाम्याच्चानिदर्शनम्॥ [व्याख्या २६८.७]

[3] सहैकत्र द्वयाभावात् [व्या २६८.११]

वह इस आदर्श में तटाकस्थ सूर्य-प्रतिबिम्ब का अपर प्रतिबिम्ब देखता है। अतः इन तीन निदर्शनों से यह सिद्ध हुआ कि प्रतिबिम्ब द्रव्यसत् नहीं है।

कारिका का एक दूसरा अर्थ भी हो सकता है। हम इसका अनुवाद देते हैं : "क्योंकि दो रूपों का एक ही देश में सहभाव नहीं होता।" दो रूप आदर्शतल और चन्द्र का प्रतिबिम्ब हैं। चन्द्र का प्रतिबिम्ब आदर्श पर पड़ता है। एक ही देश में हम आदर्शतल और चन्द्र-प्रतिबिम्ब को नहीं देखते : यह प्रतिबिम्ब दूरान्तर्गत दिखाई पड़ता है, जैसे कूप में उदक।[1] किन्तु यदि वर्णद्रव्य प्रतिबिम्ब का प्रादुर्भाव होता है तो वह आदर्शतल में उत्पन्न होगा, उसकी उपलब्धि आदर्शतल से अन्यत्र न होगी। अतः प्रतिबिम्ब कुछ नहीं है। यह केवल प्रतिबिम्बाकार भ्रान्त विज्ञान है [व्या २६८.३]। इस विम्ब-आदर्शादि सामग्री का ऐसा प्रभाव है कि तथादर्शन होता है, एक प्रतिविम्ब का, रूपसदृश प्रतिबिम्ब का दर्शन होता है। धर्मों का शक्ति-भेद अचिन्त्य है (धर्माणां शक्तिभेदोऽचिन्त्यः)

मान लीजिये कि प्रतिविम्ब द्रव्यसत् है। किन्तु आपके नय में यह निदर्शन का काम नहीं दे सकता क्योंकि इसकी तुलना उपपत्ति-भव से नहीं हो सकती। यह उपपत्ति-भव के सदृश नहीं है :

१२ बी. क्योंकि यह सन्तानवर्ती नहीं है।

प्रतिबिम्ब विम्बसन्तानभूत नहीं है क्योंकि प्रतिबिम्ब का प्रादुर्भाव आदर्शसम्बद्ध है, [३६] क्योंकि प्रतिबिम्ब और विम्ब का सहभाव है। यथा मरण-भव का उपपत्ति-भव सन्तानभूत है उस प्रकार बिम्ब का प्रतिबिम्ब नहीं है। उपपत्तिभव मरणभव के पश्चात् होता है और [अन्तराभव के कारण] दोनों में विच्छेद हुए बिना उसकी उत्पत्ति देशान्तर में होती है। इसलिये प्रतिबिम्ब के दृष्टान्त का साम्य नहीं है।

१२ बी. क्योंकि इसकी उत्पत्ति दो कारणों से होती है।

दो कारणों से, विम्ब और आदर्श से, प्रतिबिम्ब का प्रादुर्भाव होता है। इन दो कारणों में आदर्श का, जो प्रधान कारण है, आश्रय लेकर प्रतिबिम्ब उत्पन्न होता है। इसके विरुद्ध उपपत्तिभव का सम्भव दो कारणों से नहीं होता, केवल एक कारण से होता है और मरण-भव से अन्य इसका प्रधान कारण नहीं होता। उपपादुक-सत्त्वों के उपपत्तिभव का कोई बाह्य आश्रय नहीं होता क्योंकि उनका आकाश में प्रादुर्भाव आकस्मिक होता है और जो सत्त्व शुक्र-शोणित-कर्दम से उत्पन्न होते हैं उनके यह बाह्य रूप प्रधान कारण नहीं हो सकते क्योंकि वह अचेतन हैं।

अतः युक्ति अन्तराभव के अस्तित्व को सिद्ध करती है क्योंकि इन दो भवों के बीच विच्छेद हुए बिना उपपत्ति-भव मरण-भव से प्रवृत्त होता है।

आगम भी अन्तराभव के अस्तित्व को सिद्ध करता है।

---

[1] शाक्ने, सैंक सांत कांत, २.२०० से तुलना कीजिये।

१२ सी. अन्तराभव का नाम से निर्देश है।[1]

सूत्रवचन है कि "सात भव हैं : नरक, तिर्यग्योनि, प्रेत, देव, मनुष्य, कर्म और अन्तराभव।"[2]

यदि निकायान्तर के आम्नाय में यह सूत्र पठित नहीं है तो कम से कम गन्धर्व-सम्बन्धी वचन तो पठित होंगे।

१२ सी. यह गन्धर्व है।

हम सूत्र में पढ़ते हैं कि "तीन हेतु हों तो गर्भावक्रान्ति होती है [तो पुत्र या दुहिता का जन्म होता है] : माता नीरोग और ऋतुमती हो, माता-पिता मैथुन-धर्म करें और गन्धर्व-[३७] प्रत्युपस्थित हो।" अन्तराभव के व्यतिरिक्त गन्धर्व क्या होगा ?[3]

---

[1] १२ सी-डी. कण्ठोक्तेश्चास्ति गन्धर्वः पञ्चोक्तेर्गतिसूत्रतः॥ [व्या २७०.९]

[2] ऊपर पृ. १३, टिप्पणी २ देखिये।

[3] मज्झिम, २.१५६ : जानन्ति पन भोन्तो यथा गब्भस्य अवक्कन्ति होति। जानाम मयं भो यथा गब्भस्स अवक्कन्ति होति। इध मातापितरो च सन्निपतिता होन्ति माता च उतुनी होति गन्धब्बो च पच्चुपट्ठितो होति। एवं तिण्णं सन्निपाता गब्भस्स अवक्कन्ति होति। यही वाक्य मज्झिम, १.२६५ में हैं।

[इन वाक्यों के सम्बन्ध में रीज डेविड्स-स्टीड कहते हैं कि गन्धर्व के विषय में कहा जाता है कि वह "प्रतिसन्धि का अधिष्ठाता है"]—[प्रतिसन्धि के अन्य प्रकार, असुचिपानेन आदि, समन्तपासादिका, १.२१४, मिलिन्द, १२३, जिनमें मज्झिम का वाक्य भी दुहराया गया है।]

[हम इसकी तुलना नामरूप की अवक्रान्ति से कर सकते हैं जो विज्ञान के प्रतिष्ठित होने पर होती है, संयुत्त, २.६६; अन्यत्र विज्ञान की अवक्रान्ति, संयुत्त, २.९१]

भिन्न संस्करण, दिव्य, १, ४४० : त्रयाणां स्थानानां सम्मुखीभावात् पुत्रा जायन्ते दुहितरश्च। कतमेषां त्रयाणां। मातापितरौ रक्तौ भवतः सन्निपतितौ। माता कल्या भवति ऋतुमती। गन्धर्वः प्रत्युपस्थितो भवति। एषां त्रयाणां........ [विंडिश, गेबुर्ट, पृ.२७ का यह पाठ 'गन्धर्वप्रत्युपस्थिता' अवश्य सदोष है : चार हस्तलिखित पोथियों का पाठ 'प्रत्युपस्थितो' है।]

हमारे सूत्र का पाठ 'गर्भावक्रान्ति' है ('पुत्रा जायन्ते .... नहीं है); हमारे सूत्र में पहले माता की अवस्था का वर्णन है, पश्चात् माता-पिता का मैथुन-कर्म है, शेष दिव्य के अनुसार है। विभाषा, ७०, ९ में इसका विवेचन है; 'कल्या' का अर्थ 'नीरोग' है; ऋतुमती का विवरण। गन्धर्व पर पृ. ३२, टिप्पणी १ में दिये ग्रन्थों को देखिये—इस्त्वार द ल' इंद (कवैग्नक, इस्त्वार द मांद, तृतीय भाग) १.२८७ की टिप्पणियाँ भी देखिये।—ओल्डेनबर्ग ने 'रिलिजन आव् दि वेद', २०९ में दिखाया है कि बौद्धों का गन्धर्व जीव है जो पूर्वजन्म से जन्मान्तर में संसरण कर गर्भ होने के लिये उत्पाद-क्रिया के क्षण की प्रतीक्षा करता है और उस क्षण का ग्रहण करता है।" [इसके विरुद्ध हिलेब्रांडके अनुसार गन्धर्व ऋतु का अधिष्ठातृ-देवता है। यही मत रीज डेविड्स-स्टीड का है —गन्धर्व 'प्रतिसन्धि का अधिष्ठाता कहा जाता है।' इसके विरुद्ध पिशेल के अनुसार गन्धर्व गर्भ है] गन्धर्व अशरीरी जीव का 'वैदिक' नाम है। जीव का जो भाव 'पूर्वों' का था उसको वह इस शब्द से व्यक्त करते थे।

किन्तु हमारे प्रतिपक्षी इस सूत्र का पाठ इन शब्दों में नहीं करते। तृतीय हेतु के स्थान में उनके सूत्र में यह पठित है : "स्कन्ध-भेद [अर्थात् मरण-भव] प्रत्युपस्थित है।"[२]

[३८] बहुत अच्छा, किन्तु इसमें सन्देह है कि वह आश्वलायनसूत्र[१] का परिहार कर सकते हैं : "इस गन्धर्व के बारे में जो प्रत्युपस्थित है क्या आप जानते हैं कि यह किस वर्ण का है, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र ? क्या आप जानते हैं कि यह किस दिशा से आता है, पूर्व, दक्षिण, पश्चिम या उत्तर ?" यह 'आगमन' शब्द दिखाता है कि यहाँ अन्तराभव इष्ट है, 'स्कन्ध-भेद' नहीं। यदि यह सूत्र हमारे विपक्षियों के आम्नाय में पठित नहीं है तो,

१२ डी. अन्तराभव पंचोक्ति से सिद्ध होता है।

भगवत् की शिक्षा है कि पाँच अनागामिन् हैं : अन्तरापरिनिर्वायिन्, उपपद्यपरिनिर्वायिन्, अनभिसंस्कारपरिनिर्वायिन्, साभिसंस्कारपरिनिर्वायिन्, ऊर्ध्वस्रोतसूपरिनिर्वायिन्।[२] प्रथम वह आर्य है जो 'अन्तरा' में, अन्तराभव में, निर्वाण का लाभ करता है; द्वितीय वह है जो पुनः उपपन्न होकर निर्वाण का लाभ करता है.....।

कुछ आचार्यों का (विभाषा, ७९, ७) मत है कि अन्तरापरिनिर्वायिन् वह आर्य है जो 'अन्तर' नाम के देवों में उपपन्न हो परिनिर्वृत होता है। किन्तु फिर उनको 'उपपद्य' आदि देव भी मानना होगा, जो अयुक्त है।

१२ डी. और गतिसूत्र से।

सप्तसत्पुरुषगतिसूत्र से।[३] इस सूत्र की शिक्षा है कि काल और देश के प्रकर्ष-भेद से तीन अन्तरापरिनिर्वायी कहे गये हैं : प्रथम परीत्त शकलिकाग्नि के सदृश है जिसका उत्पद्यमान होते ही निर्वाण होता है; दूसरा तप्त लोहे की प्रपाटिका के सदृश है जो उड़ उड़ कर अन्तर्हित हो जाती है; [३९] तीसरा तप्त लोहे की प्रपाटिका के सदृश है जो उत्प्लुत हो पृथिवी पर बिना गिरे ही

---

[२] लोत्सव के अनुसार—शुआन्-चाङ : ".......गन्धर्व प्रत्युपस्थित है। यदि वह अन्तराभव नहीं है तो गन्धर्व क्या है? पूर्व स्कन्धों का भेद कैसे प्रत्युपस्थित होगा? यदि उनके आम्नाय में यह सूत्र पठित नहीं है तो वह आश्वलायनसूत्र का क्या व्याख्यान करते हैं?.......". हमारे अनुमान से अर्थ यह है : "जो निकाय हमारे विपक्ष में है उसका ऐसा कहना है कि 'गन्धर्व' शब्द का अर्थ मरणभव या स्कन्ध-भेद है.....।"
व्याख्या : स्कन्धभेदश्च प्रत्युपस्थित इति मरणभवः। [व्या २७०.१६]

[१] अस्सलायनसुत्त, मज्झिम, २.१५७ का संस्करण हमारे सूत्र से प्राचीन है।

[२] संयुक्त, ३७, २०, दीर्घ, ८, १४, दीघ, ३.२३७; कोश, ६.३७। कथावत्थु, ८.२ और पुग्गलपञ्ञत्ति (नीचे पृ. ४०, टिप्पणी १ में उद्धृत) का अन्तरापरिनिर्वायिन् के सम्बन्ध में जो भी विचार हो, अंगुत्तर, २.१३४ में इस आर्य की जो व्याख्या की गयी है उससे अन्तराभव की सिद्धि होती है (नीचे ३.४०सी-४१ ए. पर टिप्पणी देखिये)

[३] मध्यम, २, १, अंगुत्तर, ४.७०, कोश, ६.४०—संस्कृत रूप व्याख्या में अविकल दिया है। मैंने पालि रूप से जे. आर. ए. एस. १९०६, ४४६ में उसकी तुलना की है।

अन्तर्हित होती है। इस सूत्र के होते हुए यह मानना कि अन्तरापरिनिर्वायी अन्तर देवों के लोक का निवासी है शुद्ध परिकल्प है क्योंकि काल और देश के प्रकर्ष से इन अन्तरों को तीन भाग में विभक्त नहीं कर सकते।

किन्तु अन्य आचार्य– विभाषा, ६९, ७ के साक्ष्यी के अनुसार यह विभज्यवादिन् हैं—इस प्रकार इसका व्याख्यान करते हैं। वह अन्तरापरिनिर्वायी है जो आयुःप्रमाण के अन्तर में या देवसमीपान्तर में क्लेशों का प्रहाण करता है।[1] वह त्रिविध है। वह 'धातुगत' कहलाता है यदि धातुगतमात्र हो, [अर्थात् रूपधातु के लोक में उपपन्नमात्र हो—इस प्रकार वह उन क्लेशों का प्रहाण करता है जिनके कारण उसकी उपपत्ति रूपधातु में होती है और जो अब भी बीजावस्था में हैं] वह निर्वाण का लाभ करता है। 'संज्ञागत' वह कहलाता है जो रूपावचर विषयों की संज्ञा के समुदाचार की अवस्था में देर से परिनिर्वृत होता है। 'वितर्कगत' वह है जो और भी देर से विषयोत्पादित वितर्कों (चेतनादि) के समुदाचार की अवस्था में परिनिर्वृत होता है। इस प्रकार तीन अन्तरापरिनिर्वायी होते हैं जो सूत्र के लक्षणों के अनुसार हैं और जो आयुःप्रमाण के अन्तर में अर्थात् उस लोक के देवों के आयुष्य-प्रमाण के परिसमाप्त हुए बिना निर्वाण का लाभ करते हैं जहाँ वह उपपन्न होते हैं। अथवा प्रथम अन्तरापरिनिर्वायी देवनिकायसभाग का परिग्रह कर वैसे ही निर्वाण का लाभ करता है; दूसरा देवसमृद्धि का अनुभव कर; तीसरा देवों की धर्मसंगीति (= धर्मसांकथ्य) में प्रवेश पाकर, निर्वाण का लाभ करता है। [व्या २७२. १५] एक दोष दिखाते हैं : "यदि अन्तरापरिनिर्वायिन् एक आर्य है जो पुनः उपपन्न होता है, देवसमृद्धि का अनुभव करता है, देवों की धर्मसंगीति में प्रवेश करता है तो उपपद्य-परिनिर्वायी (अक्षरार्थ—जो पुनः उपपन्न हो निर्वाण का लाभ करता है) कैसा होगा ?" इसका वह यह उत्तर देते हैं कि उपपद्य-परिनिर्वायी प्रकर्षयुक्त संगीति में प्रवेश कर परिनिर्वृत होता है और यह समझ कर कि कुछ कहने का अभी अवकाश है वह पुनः कहता है कि उपपद्यपरिनिर्वायी आयु का बहुक्षय [४०] [अन्तरापरिनिर्वायी से अधिक] करता है : [उसे 'उपपद्य' कहते हैं क्योंकि वह आयु का उपघात कर (आयुरुपहत्य) निर्वाण का लाभ करता है।][2]

किन्तु इन सब धातुगतादि की देशगति में विशेष का अभाव है। अतः वह सूत्र के दृष्टान्तों से सम्बन्धित नहीं होते। आरूप्यधातु में भी ऐसे आर्य हैं जो आयुःप्रमाणान्तर में ही (३.८५ ए.)[3]

---

[1] मूलपाठ—आयुःप्रमाणान्तरे देवसमीपान्तरे वा यः क्लेशान् प्रजहाति सोऽन्तरापरिनिर्वायी [व्याख्या २७२.५]

[2] विभज्यवादियों के इस व्याख्यान से पुग्गलपञ्ञत्ति, १६ के व्याख्यान की तुलना करनी चाहिये। अन्तरापरिनिर्वायी 'उपपन्नं वा समनन्तरा अप्पत्तं वा वेमज्झं आयुपमाणं' मार्ग का संमुखीभाव करता है; उपहच्चपरिनिब्बायी 'अतिक्कमित्वा वेमज्झं आयुपमाणं उपहच्च वा कालकिरियं' मार्ग का साक्षात्कार करता है [टीका के अनुसार उपहच्च = उपगन्त्वा, अतः "मरण-स्थान पर अवस्थित"]—कथावत्थु, ४.२ पर (क्या उपपन्न होकर अर्हत् हो सकता है) बुद्धघोस उपहच्चपरिनिब्बायिन् के स्थान में 'उपपज्जपरिनिब्बायिन्' का प्रयोग करने के लिये उत्तरापथकों की भर्त्सना करते हैं।

निर्वाण का लाभ करते हैं किन्तु वहाँ अन्तरापरिनिर्वायी नहीं होते। इस श्लोक में यह बात स्पष्ट कर दी गई है—"ध्यानों से चार दशिका, आरूप्यों से तीन सप्तिका, संज्ञा से एक षट्किका। इस प्रकार वर्ग बद्ध होता है।"[३]

यदि हमारे विपक्षी इस सूत्र का पाठ नहीं करते तो हम क्या कर सकते हैं? शास्ता के परिनिर्वृत होने पर सद्धर्म का कोई नायक न रहा। अनेक निकाय बन गये हैं जो अपनी कल्पना के अनुसार अर्थ और अक्षर को बदलते हैं[४]। हमारा कहना है कि जो आचार्य इन सूत्रों को मानते हैं उनके लिये युक्ति और आगम दोनों से अन्तराभव या 'अन्तराभव-स्कन्ध' का अस्तित्व सिद्ध होता है।

किन्तु हम कुछ दोष देखते हैं।

ए. अन्तराभव-वाद का दूषीमारसूत्र से जो विरोध है उसका परिहार करना चाहिये। [४१] इस सूत्र का वचन है : "दूषीमार [ककुच्छन्द तथागत के श्रावक विदुर के सिर को मुष्टि से अभिघात पहुँचा कर] स्वशरीर से ही अवीचि महानरक में पतित हुआ[१] [व्या २७६.५] (स्वशरीरेणैव प्रपतितः)। (आशय और क्षेत्रविशेष के योग से) अति उदीर्ण और परिपूर्ण (अर्थात् 'उपचित', ४.१२०) कर्मों का विपाक मरण के भी पूर्व होता है।[२] अतः मार पहले दृष्टधर्म में विपाक का प्रतिसंवेदन करता है और पश्चात् नारक विपाक का अनुभव करता है। अतः सूत्र में उक्त है कि मार जीते ही नारकी ज्वालाओं से आलिंगित होता है, उसकी मृत्यु होती है, वह अन्तराभव का परिग्रह करता है। यह अन्तराभव नरकगमन करता है और वहाँ नरकोपपत्ति होती है।

बी. सूत्र के अनुसार पाँच सावद्य आनन्तर्य हैं: इनके कारण सत्व नरक में समनन्तर उपपन्न होता है। (समनन्तरं नरकेषूपपद्यते) (४.९७) [व्या २७६.१३]। हमारा कहना है कि 'समनन्तर' शब्द का अर्थ 'अन्तर के बिना', 'अन्य गति में गये बिना' है। यह उपपद्यवेदनीय (४.५० बी) कर्म हैं। यदि आप सूत्र की यथारुत कल्पना करें तो यह प्रसंग प्राप्त होंगे। आप कहेंगे कि पाँच आनन्तर्यों के करने से ही नरकगमन होता है; आप कहेंगे कि सावद्यकारी आनन्तर्य-

---

[२] आरूप्य में अन्तरा-मरण होता है। अतः आरूप्यावचर सत्व आरूप्यभव के सहस्रों कल्पों की परिसमाप्ति के पूर्व निर्वाण में प्रवेश कर सकता है।

[३] इस श्लोक के व्याख्यान के लिये बुद्धिस्ट कास्मालॉजी, १४१, २३५, अंगुत्तर, ४.४२२ देखिये।

[४] शुआन्-चाङ: धर्मराज शास्ता बहुकाल हुआ (विवृति—९०० वर्ष हुए) कि परिनिर्वाण में प्रवेश कर गये; धर्म के महासेनापति (विवृति—शारद्वतीपुत्र, आदि) भी परिनिर्वाण में प्रवेश कर चुके हैं......।

[१] मध्यम, ३०, २५; मज्झिम, १.३३२ जहाँ ककुसन्ध और विधुर (= विदुर) का उल्लेख है; थेरगाथा, ११८७ (पाठान्तर, विधूर और विदूर)—मिसेज रीज़डेविड्स "दुस्सि-मार का पूर्व जन्म का नाम है;" व्याख्या : दूषी नाम मारः [व्याख्या २७६.६]। कथावत्थु, ८.२ के अन्यतीर्थिक का मत है कि नरकोपपत्तिभव के पूर्व अन्तराभव नहीं होता।

[२] पंचानन्तर्यकर्माणि यानि कृत्वोपचित्य समनन्तरं नरकेषूपपद्यते।

क्रिया के अनन्तर ही नरक में उपपन्न होता है अथवा वह दृष्टधर्म में मृत्यु को प्राप्त हुए बिना वहाँ उपपन्न होता है। [पुनः हमारे वाद के अनुसार नरकोपपत्ति समनन्तर होती है; यह अन्तराभवोपपत्तिपूर्वक नहीं होती।] हमको अन्तराभव का उपपद्यमानत्व इष्ट है क्योंकि यह मरण-भव के अनन्तर की उपपत्ति के अभिमुख है। हम यह नहीं कहते कि यह उपपन्न होता है (उपपन्नो भवति) (३.१० डी)[३]।

[४२] आपको इस श्लोक का व्याख्यान करना चाहिये : "हे ब्राह्मण! तुम्हारा मृत्युकाल समीप है, तुम जराजीर्ण और रुग्ण हो, तुम यम के समक्ष हो, तुम्हारे लिये अन्तरावास नहीं है और तुम्हारे पास पाथेय भी नहीं है"।[१]

वसुबन्धु—आप सोचते हैं कि इस श्लोक से यह प्रदर्शित होता है कि अन्तराभव का अस्तित्व नहीं है। किन्तु हम 'अन्तरावास' का अर्थ 'मनुष्यों में (मनुष्येषु) आवास' करते हैं। "मरणगत हो कर तुम पुनः यहाँ नहीं आओगे।" अथवा श्लोक का यह अभिप्राय है कि "अन्तराभव के गमन में कोई विराम नहीं है, तुमको नरकोपपत्ति-देश को जाना होगा।"

अन्तराभव का प्रतिषेधक पूछेगा कि यह कहने के लिये हमारे पास क्या आधार है कि इस वाक्य का यह अभिप्राय है। यह अभिप्राय नहीं है। आपके लिये भी समान प्रश्न है।[२] यदि इस प्रकार दो दोष तुल्य हों तो अन्त में आप क्या प्रमाण देंगे? हम कहना चाहते हैं कि दूषीमारसूत्रादि का जो व्याख्यान अन्तराभव के प्रतिषेधक ने दिया है और जो व्याख्यान हमने दिया है उनका उक्त सूत्र से विरोध नहीं है। अतः यह सूत्र अन्तराभव के अस्तित्व या अभाव में ज्ञापक नहीं हैं। वही सूत्र ज्ञापक है जो अनन्यगतिक है[३]; जो एक ही अर्थ द्योतित करते हैं और तद्विरुद्ध अर्थान्तर को द्योतित नहीं करते। [उनके सदृश जिनको हमने पृ० ३६-३८ में उल्लिखित किया है]।

प्रश्न है कि अन्तराभव की आकृति क्या है?

---

[३] को वा अन्तराभवस्य उपपद्यमानत्वं नेच्छति [मरणभवानन्तरोपपत्त्यभिमुखत्वान्नरकेषूपद्यत इति ब्रूमः] न तु ब्रूम उपपन्नो भवतीति।
शुआन्-चाङ : अथवा किसको अन्तराभव का उपपद्यमानत्व इष्ट नहीं है? 'नारक सत्त्व' इस शब्द से अन्तराभव भी प्रज्ञप्त होता है। जब मरण-भव के समनन्तर अन्तराभव का उत्पाद होता है, तब हम इसके लियें उपपत्ति भी कह सकते हैं क्योंकि यह उपपत्ति का उपाय है। सूत्रवचन है कि सावद्यकारी की उत्पत्ति 'नारक सत्व' के रूप में अनन्तर होती है। सूत्र यह नहीं कहता कि उस काल में उपपत्ति-भव होता है।

[१] संयुक्त, ५, ३, विभाषा, ६९, ५—व्याख्या में इसके अंश हैं : उपनीतवया द्विज...... वासोऽपि हि नास्ति तेऽन्तरा। पाथेयं च न विद्यते तव॥ [व्या २७६.२४]
शुआन्-चाङ : पूर्व मार्ग से जाना चाहते हो, तुम्हारे पास पाथेय नहीं है। मार्ग में वास करना चाहते हो, अन्तरा में कोई वासन हीं है।"
धम्मपद, २३७ का पाठ : उपनीतवयो व दानि सि,। सम्पयातो सि यमस्स सन्तिके। वासो पि च ते नत्थि अन्तरा। पाथेय्यं पि च ते न विज्जति।

[२] तुल्य एष भवतोऽप्यनुयोगः। [व्या २७७.६]

[३] तज्ज्ञापकमनन्यगतिकम्। [व्या २७७.११]

[४३] एकाक्षेपादसावैष्यत्पूर्वकालभवाकृतिः।
स पुनर्मरणात्पूर्वं उपपत्तिक्षणात्परः॥१३॥

१३ ए-बी. जिस कर्म से पूर्वकालभव अर्थात् प्रतिसन्धि के पश्चात् अनागत गति का सत्त्व आक्षिप्त होता है उसी कर्म से अन्तराभव भी आक्षिप्त होता है। अतः अन्तराभव की आकृति पूर्वकालभव की आकृति के तुल्य होती है।[1]

जो कर्म नरकादि गति को आक्षिप्त करता है वही कर्म तत्प्रापक अन्तराभव को भी आक्षिप्त करता है।[2] अतः अन्तराभव की आकृति उस गति के अनागत पूर्वकालभव (पृ. ४५) की सी होती है जिसके वह अभिमुख है।

आक्षेप—शुनी, शूकरी प्रभृति के गर्भ में पंचगतिक सत्त्व गर्भस्थ ही मर सकता है। मान लीजिये कि इस गर्भ का स्थान नारक अन्तराभव लेता है।[3] यदि इस अन्तराभव की आकृति नारक की है तो यह शुनी की कुक्षि का दाह करेगा। पूर्वकालभव में भी नारक नित्य प्रज्वलित नहीं होते, यथा उत्सदों में (३.५८ डी)। किन्तु यद्यपि नारक अन्तराभव प्रज्वलित हों तब भी, क्योंकि उनका आत्मभाव अच्छ (८.३ सी) होता है, वह स्प्रष्टव्य नहीं है जैसे वह दृश्य नहीं हैं। अतः अन्तराभव का संश्लेष नहीं होता।[4] इसीलिये कुक्षि का दाह नहीं होता। पुनः कर्म का प्रतिबन्ध भी होता है।

अन्तराभव का प्रमाण पांच या छ वर्ष के शिशुका होता है किन्तु उसकी इन्द्रियाँ व्यक्त होती हैं।

[४४] बोधिसत्त्व का अन्तराभव पूर्ण यौवन को प्राप्त बोधिसत्त्व के सदृश होता है। वह लक्षण और अनुव्यञ्जनों के सहित होता है।[1] अतः जब इस अन्तराभवस्थ ने माता की कुक्षि में प्रवेश करने की इच्छा की तब इसने चार द्वीपों के कोटिशत लोकधातुओं को अवभासित कर दिया।[2]

किन्तु हम जानते हैं कि बोधिसत्त्व की माता ने अपनी कुक्षि में प्रवेश होते एक श्वेत गजपोत[3]

---

[1] एकाक्षेपादसावैष्यत्पूर्वकालभवाकृतिः। [व्या २७७.१६, १३]

[2] अन्तराभवादि के आक्षेपक कर्म पर ४.५३ ए. देखिये—यह वाद कथावत्थु ८.२ (पृ. १०६) के तीर्थिकों का बताया जाता है: "कोई विशेष कर्म नहीं है जो अन्तराभव का उत्पाद करता है......।"

[3] शुआन्-चाङ का विचार है कि पाँच गर्भों से पाँच अन्तराभवों की उत्पत्ति होती है। इनमें से प्रत्येक एक भिन्न गति को जाता है। अतः यह कहा जाता है कि यह पांच अन्तराभव, चाहे यह एक ही कुक्षि में क्यों न हों, न स्पृष्ट होते हैं और न प्रज्वलित होते हैं।

[4] भाष्य का पाठ 'कुक्षावसंश्लेषात्' है: "क्योंकि कुक्षि से संश्लेष नहीं है।" व्याख्या: "अन्तराभव के आत्मभाव के अच्छ होने से अन्योन्यसंश्लेष नहीं होता। अतः दाह नहीं होता...इस कारण से कुक्षि का दाह नहीं होता।" [व्या२७७.२३]

[1] पूर्णयून इव बोधिसत्त्वस्यान्तराभवः सलक्षणानुव्यञ्जनश्च। [व्या २७७.२७]

[2] कोटिशतं चातुर्द्वीपकानामवभासितम् [व्या २७७.२६]—यह एक त्रिसाहस्रमहासाहस्र लोकधातु (३.७४) के बराबर है अर्थात् एक बुद्ध-क्षेत्र है।

[3] पाण्डर गजपोत। [व्या २७७.३०]

को देखा था। यह कैसे ? यह निमित्तमात्र है[4] क्योंकि दीर्घकाल हुआ कि बोधिसत्त्व तिर्यग्योनि से व्यावर्तित हुए।[5] यथा कृकी राजा ने दस स्वप्न देखे : करि, कूप, सक्तु, चन्दन, आराम, कलभ, दो कपि, पट और कलह—यह भविष्य अर्थ के निमित्तमात्र हैं।[6] पुनः अन्तराभव कुक्षि को विदीर्ण कर योनि में प्रवेश नहीं करते किन्तु उत्पत्ति-द्वार से प्रवेश करते हैं। इसीलिये जुड़ियों में वह बड़ा होता है जो पीछे उत्पन्न होता है। किन्तु आप भदन्त धर्मसुभूति[7] के इस श्लोक का क्या व्याख्यान करते हैं : "षड्दन्त और चतुष्पाद से विभूषित श्वेत हस्ती का काय धारण कर वह योनि में प्रवेश करते हैं और वहाँ पूर्ण ज्ञान के साथ शयन करते हैं यथा एक ऋषि अरण्य में प्रवेश करता है" ?—इस श्लोक के व्याख्यान का स्थान नहीं है। यह न सूत्र है, न विनय, न अभिधर्म। यह एक व्यक्ति की रचना है......।[8] किन्तु यदि इसका विवेचन करना आवश्यक है तो हम कहेंगे कि यह श्लोक बोधिसत्त्व का वर्णन करता है जैसा कि उनकी माता ने स्वप्न में उनको देखा था।

[४५] रूपधातु के अन्तराभव उत्कट अपत्राप्य के कारण संपूर्ण और सवस्त्र होते हैं (३. ७० सी)[1]। अन्तराभवस्थ बोधिसत्व भी सवस्त्र होते हैं। इसी प्रकार अपने प्रणिधान के बल से भिक्षुणी शुक्ला अन्तराभव में सवस्त्र थी। वह सवस्त्र योनि में प्रवेश करती है, सवस्त्र योनि से

---

[4] निमित्तमात्र [व्या २७७. ३३]

[5] 'कल्पशत' से आरम्भ कर, ४. १०८

[6] व्याख्या में विस्तार के साथ कृकी के गीत उद्धृत हैं। इसकी तुलना महीशासकों के संस्करण से करनी चाहियें, नैञ्जियो, ११२२। यह शावाने, सैंक सांत कांत, २. ३४३ में दिया है।

कृकी के गीतों पर बर्नूफ़, इन्ट्रोडक्शन, पृ० ५६५; फिअर, कातालाग द पापिए द बर्नूफ़, ६५। तोकिबाई, स्टूडियन सुम सुमागधावदान (डार्मस्टाड, १८९८); मिनयेव, रेशर्शे, ८९; ओल्डनबर्ग, जापिस्की १८८८, जे. आर. ए. एस, १८९३, ५०९; बुद्धिस्ट कास्मालजी, २३७ में दी हुई टिप्पणियाँ। बिम्बिसार के स्वप्नों से कई बातों में सादृश्य है, यथा इत्सिंग, तककुसु, १३, शावाने, २. १३७, अर्हत् की माता और चक्रवर्तिन् के स्वप्न (हस्ती आदि) एस बी ई. २२. २३१, २४६।

[7] इन्हीं आचार्य का ३. ५९ ए-सी में उल्लेख है जहाँ हमने कुछ सूचनायें एकत्र की हैं।

[8] शुआन्-चाङ : "इस श्लोक के व्याख्यान करने का कोई स्थान नहीं है क्योंकि यह त्रिपिटक में नहीं है, क्योंकि श्लोकों के ग्रन्थकार सत्य (?) का उल्लंघन करते हैं।"
परमार्थ : यह सूत्र में नहीं है.....यह केवल शब्द-विन्यास है। बुद्धिमान् पुरुष अर्थ को शास्त्र में उपनिबद्ध करते हैं.....।"
वसुमित्र : महासांघिकों का विचार है कि बोधिसत्त्व की कलल-अर्बुदादि की अवस्था नहीं होती; उनका विचार है कि वह महाहस्ती के रूप में कुक्षि में प्रवेश करते हैं और कुक्षि को विदीर्ण कर उत्पन्न होते हैं। भव्य एक-व्यवहारिकों का ऐसा ही मत बताते हैं (वासीलीफ़, २३६, राकहिल, १८८)।

[1] विभाषा, ७१, ६।

वहिर्गत होती है और निर्वाण तथा दाहपर्यन्त सवस्त्र रहती है ।[१] जिनमें अपत्राप्य का अभाव है ऐसे कामधातु के अन्य अन्तराभव नग्न होते हैं।

यह पूर्वकालभव क्या है जिसके सम्बन्ध में हमने यह कहा है कि अन्तराभव इसके सदृश है?

१३ सी-डी. वह मरण के पूर्व और उपपत्ति-क्षण के पर होता है।[३]

भव, सत्त्व, पंचस्कन्ध।

यह क्रम है—अन्तराभव, दो गतियों के अन्तराल का पंचस्कन्ध; उपपत्तिभव, प्रतिसन्धि-क्षण के (३.३८ और पृ. १४), गतिप्रवेश-क्षण के, स्कन्ध; पूर्वकालभव, पर क्षणों के सर्व स्कन्ध यावत् मरण-भव। मरण-भव गति का अन्त्य क्षण है जिसके अनन्तर अपूर्व अन्तराभव होगा।[४]

[४६] जब आरूप्यधातु का उल्लेख हो तब अन्तराभव को वर्जित कीजिये।

हम अन्तराभव का पुनः वर्णन करते हैं:—

सजातिशुद्धदिव्याक्षिदृश्यः कर्मर्द्धिवेगवान्।
सकलाक्षोऽप्रतिघवाननिवर्त्यः स गन्धभुक्॥१४॥

१४ ए-बी. वह समानजातीय अन्तराभव से और सुविशुद्ध दिव्यचक्षु से देखा जाता है।[१]

वह देवादि सजातीय अन्तराभव से देखा जाता है। वह सुविशुद्ध दिव्यचक्षु से भी देखा जाता है अर्थात् उस दिव्यचक्षु से जो अभिज्ञामय (७.५५ डी) है क्योंकि वह चक्षु सुविशुद्ध है।[२] वह 'प्राकृतिक' या 'उपपत्ति-प्रतिलम्भिक' दिव्यचक्षु से, यथा देवों के दिव्यचक्षु से, नहीं देखा जाता। अन्य आचार्यों के अनुसार देवान्तराभविक सब अन्तराभवों को देखता है। मनुष्य-प्रेत-तिर्यक्-नारक अन्तराभविक पूर्व-पूर्व को अपास्त कर शेष को देखता है।[३]

---

[२] भिक्षुणी dkar mo, sien-pe (मत्स्य+भेड़), शुआन्-चाङ के अनुसार; परमार्थ: शु-को-लो—अवदानशतका, २.१५ (७३)।
परमार्थ मूल को विस्तृत करते हैं। यह अनुवाद उन्हीं के अनुसार है। शुआन्-चाङ: "लोक से लोकान्तर में वह स्वयंजात वस्त्रों से विभूषित होती है जो कभी उसके शरीर का त्याग नहीं करते और जो समयानुसार परिवर्तित होते रहते हैं यहाँ तक कि अन्त में उसका निर्वाण होता है और सवस्त्र-काय प्रज्वलित होता है।" शाणवास की कथासे तुलना कीजिये, शुआन्-चाङ, जुलिअन, १.३९— प्रिनिलुस्की, प्यूनरे, १११ में यह उद्धृत है; नागसेन की कथा से तुलना कीजिये, देमीएविल, मिलिन्द ८०] पालि ग्रन्थों (थेरीगाथा, ५४, संयुत्त, १.५१२) में इसके सदृश कुछ नहीं है।

[३] स पुनर्मरणात्पूर्व उपपत्तिक्षणात्परः।

[४] इन चार भवों का उल्लेख महाव्युत्पत्ति, २४५, १२७१ में है। इस गणना में मरण-भव का शीर्ष स्थान है।

[१] सजातिशुद्धदिव्याक्षिदृश्यः

[२] व्याख्या—सुविशुद्धम् इत्येकादशदिव्यचक्षुरपक्षालवर्जितम्। [व्या २७९.६] सूत्र के अनुसार यह ग्यारह अपक्षाल इस प्रकार हैं: विचिकित्सा, अमनसिकार, कायदौष्ठुल्य, स्त्यान-मिद्ध, औद्धत्य, अत्यारभ्यवीर्य, औद्बिल्य, छम्बितत्व, नानात्वसंज्ञा, अभिजल्प, अतिध्यायित्वम्, ज्ञेयेषु।

[३] विभाषा, ७०, १३—क्या अन्तराभव एक दूसरे को देखते हैं? हाँ—कौन किसको देखता

१४ बी. वह कर्म के ऋद्धि-वेग से समन्वागत है।[४]

वह कर्मर्द्धिवेगवान् है : कर्म से प्रवृत्त ऋद्धि—अर्थात् आकाशगमन—के वेग से समन्वागत (वान्) है (७.५३ सी)। स्वयं बुद्ध उसके वेग को नहीं रोक सकते क्योंकि वह कर्म-बल से समन्वागत है।

१४ सी. उसकी इन्द्रियाँ सकल, सम्पूर्ण हैं।[५]

[४७] वह सकलाक्ष है। 'अक्ष' शब्द का अर्थ 'इन्द्रिय' है।

१४ सी. वह अप्रतिघवान् है।[१]

वह अप्रतिघवान् है : प्रतिघ, जो प्रतिघात करे; अप्रतिघवान्, जिसको कोई प्रतिघात न हो। वज्र भी उसके लिये अप्रतिघ है। क्योंकि कहते हैं कि प्रदीप्त अयःपिण्ड को काटने से वहाँ क्षुद्र जन्तु पाये जाते हैं।

जब एक अन्तराभव की उत्पत्ति किसी गति-विशेष में निश्चित होती है तो उस गति से, किसी बल से भी,

१४ डी. उसका निवर्तन नहीं हो सकता।[२]

मनुष्य अन्तराभव मनुष्य अन्तराभव न रह कर देव अन्तराभव कभी नहीं होता। जिस गति के अनुसार उसकी आकृति है उस गति में उपपन्न होने वह जायगा।

कामधातु का अन्तराभव क्या अन्य कामावचर सत्त्वों के सदृश कवडीकार आहार (३.३९) का भक्षण करता है?—हाँ, किन्तु स्थूल आहार का नहीं।

१४ डी. वह गन्ध का भक्षण करता है।[३]

इससे उसका नाम गन्धर्व है। 'गन्धर्व' वह है जो गन्ध (गन्धं) खाता है (अर्वति)। धातुओं का अनेक अर्थ होता है :'अर्व्' धातु को यदि हम गति के अर्थ में लें तो इसमें दोष नहीं है :" जो

है?—विविध मत हैं।
कुछ के अनुसार नारक अन्तराभव केवल नारक अन्तराभवों को देखता है.....
देव अन्तराभव केवल देव अन्तराभवों को देखता है। दूसरे आचार्यों के अनुसार तिर्यक् अन्तराभव नारक और तिर्यक् अन्तराभव दोनों को देखता है...अन्य आचार्यों के अनुसार पांच जाति पाँचों जातियों को देखती हैं।

[४] कर्मर्द्धिवेगवान्—कथावत्थु के तीर्थिकों के अनुसार—सत्तो दिब्बचक्खुको विय अदिब्ब-चक्खुको इद्धिमा विय अनिद्धिमा.......

[५] सकलाक्षः

[१] अप्रतिघवान्—उसका आत्मभाव अच्छ है, ८.३ सी, पृ. १३७

[२] अनिवर्त्यः।
विभाषा ६९, १४ में इसका विचार है।—दार्ष्टान्तिकों के अनुसार यह अयथार्थ है कि अन्तराभव-धातु, गति या नवीन भव का देश नहीं बदल सकता। सब कर्म जिनमें ५ आनन्तर्य संगृहीत हैं 'परिवर्तित' हो सकते हैं.......। जो अन्तराभव चतुर्थ ध्यान में उपपन्न होने जाता है वह मिथ्यादृष्टि का उत्पाद कर सकता है। उसका तब विनाश होता है और अनन्तर ही उसका स्थान नारक अन्तराभव लेता है......।

[३] स गन्धभुक्॥
लोत्सव और परमार्थ इसका निर्वचन नहीं देते। शुआन्-चाङ ने अंशतः इसका अनुवाद दिया है। धातुपाठ, १.६१५, अर्व हिंसायाम्—शकन्ध, ६.१. ९४।

गन्ध-भक्षण के लिये जाता है" (अर्वति गच्छति भोक्तुम्)। सिद्ध रूप गन्धर्व है, गान्धर्व नहीं। ह्रस्वत्व शकन्धु, कर्कन्धु के समान है।

[४८] अल्पेशाख्य[1] (हीनजातीय) गन्धर्व दुर्गन्ध खाता है । महेशाख्य सुगन्ध खाता है।

अन्तराभव कितने काल तक अवस्थान करता है?

ए. भदन्त[2] कहते हैं कि कोई नियम नहीं है। जब तक उत्पत्ति के लिये आवश्यक हेतुओं का सन्निपात नहीं होता तब तक वह अवस्थान करता है। वास्तव में एक ही कर्म से अन्तराभव और तदनन्तर का उपपत्ति-भव आक्षिप्त होता है और उनका एक निकायसभागत्व है [वह एक भव के हैं, २.४१][3] : अन्यथा अन्तराभव के आयुष्य (या जीवितेंद्रिय) के क्षीण होने से मरण-भव का प्रसंग होगा।

आक्षेप—मेरु पर्वतके प्रमाण का भोजन-समुदाय ग्रीष्म की वर्षा में कृमि-समुदाय में परिवर्तित होता है। क्या इस देश में वह अन्तराभव प्रतीक्षा करते थे जो एक साथ बहुसंख्या में इन कृमियों में उपपन्न होते हैं अथवा यह अन्तराभव कहाँ से आते हैं? सूत्र और शास्त्र दोनों इस प्रश्न का उत्तर नहीं देते। हमारा कहना है कि अनन्त क्षुद्र जन्तु होते हैं जिनकी आयु अल्प होती है और जो गन्ध और रस में अभिगृद्ध होते हैं। यह गन्ध का घ्राण कर और तत्संप्रयुक्त अनुभूत रस का अनुस्मरण कर गन्ध और रस पर लुब्ध होते है और काल कर कृमिनिकायसभागोत्पादक कर्म का बोध करते है (विबोध्य) और गन्ध-रस की तृष्णा से वह कृमियों में उत्पन्न होते हैं। अथवा उसी काल में जब कि कृमियों की उत्पत्ति (बहु समुदाय, विलीनावस्था में) के लिये आवश्यक बाह्य प्रत्यय प्रचुर रूप से सन्निपतित होते हैं कृमि-संवर्तनीय [४९] कर्म विपाकाभिनिर्वृत्ति के लिये वृत्ति का लाभ करते हैं (विपाकाभिनिर्वृत्तौ वृत्तिं लभन्ते)[1] [व्या २८०.५]। यथा एक सत्त्व चक्रवर्ति-संवर्तनीय कर्म करता है: यह कर्म वृत्ति-लाभ नहीं करते जब तक कि वह कल्प नहीं आता जिसमें कि मनुष्य का आयुष्य अस्सी सहस्त्र वर्ष का होता है (३.९५)। इसी कारण से भगवत् ने कहा है कि कर्म-विपाक अचिन्त्य है (संयुक्त, २१)।

---

[1] अल्पेशाख्य अर्थात् अनुदार हीनवीर्य। निर्वचन—ईष्टे इतीशः । अल्प ईशोऽल्पेशः, अल्पेश आख्या यस्य सोऽल्पेशाख्यः। [व्या २७९.२५]—ट्रेंकनर, मिलिन्द, ४२२ (=अप्पपरिवार)—शुआन्-चाङः : "स्वल्प पुण्य का", परमार्थ—"स्वल्प पुण्य-कुशल का।"

[2] यह विभाषा, ७२, ३ में व्याख्यात चतुर्थ मत है। अन्य मत और नीचे बी, सी, डी में दिये हैं। —यदि हम चीनी व्याख्याकारों का विश्वास करें तो वसुबन्धु इस चतुर्थ मत को पसन्द करते हैं।

[3] एकनिकायसभागत्वात्—हम समझते हैं कि अन्तराभव अति दीर्घकाल तक अवस्थान कर सकता है क्योंकि जिस हेतु से यह आक्षिप्त हुआ है, उसी से पूर्वकालभव की आयु, जो प्रायः दीर्घ होती है, आक्षिप्त होती है। [व्या २७९.२८] ऊपर पृ० ४३ टिप्पणी २।

[1] 'सामग्रीं प्राप्य कालं च फलन्ति खलु देहिनाम्' [व्या २८०.७] इस श्लोक के अनुसार; दिव्यावदान, ५४,

बी. भदन्त वसुमित्र कहते हैं कि "अन्तराभव सात दिन अवस्थान करता है। यदि उपपत्ति के लिये आवश्यक प्रत्यय-सामग्री नहीं है तो अन्तराभव की मृत्यु होती है और वह पुनः उत्पन्न होता है।"[२]

सी. अन्य आचार्यों का कहना है कि उसका अवस्थान-काल सात सप्ताह का है।[३]

डी. वैभाषिक[४] कहते हैं कि "क्योंकि यह उपपत्ति (सम्भव) की अभिलाषा करता है इसलिये यह अल्पकाल के लिये ही अवस्थान करता है और प्रतिसन्धि-ग्रहण के लिये वेग से जाता है। मान लीजिये कि बाह्य प्रत्यय-सामग्री विद्यमान नहीं है। तो दो में से एक बात होगी : या तो पूर्वकृत कर्म ऐसे हैं कि उपपत्ति का स्थान और उपपत्ति का स्वभाव नियत है। इस अवस्था में यह कर्म प्रत्यय-सामग्री का आवाहन करते हैं।[५] अथवा यह नियत नहीं हैं। उस अवस्था में उपपत्ति एक अन्य स्थान में होती है और अन्य स्वभाव की होती है।[६]

दूसरों के अनुसार (विभाषा, ७०,२) यदि प्रत्ययों का सन्निपात नहीं होता तो अन्तराभव की उत्पत्ति अन्यत्र उन अवस्थाओं में होगी जो उस देश की अवस्थाओं के सदृश हैं जहाँ उसकी उपपत्ति होनी चाहिये थी। वृषभ वर्षा में, श्वान [५०] हेमन्त में, कृष्ण ऋक्ष शिशिर में, अश्व ग्रीष्म में, मैथुन नहीं करते। दूसरी ओर महिषादि के लिये कोई ऋतु नियत नहीं है। यदि वर्षा की ऋतु हो तो जिस अन्तराभव को वृषभों में उपपन्न होना चाहिये वह महिषों में उपपन्न होगा। इसी प्रकार श्वान के स्थान में शृगाल, कृष्ण ऋक्ष के स्थान में भूरा ऋक्ष, अश्व के स्थान में गर्दभ होता है।[१] किन्तु हम ऐसे वाद को नहीं स्वीकार कर सकते।[२] हम जानते हैं कि जिस कर्म से निकायसभाग का आक्षेप

---

[२] विभाषा का तृतीय मत।

[३] विभाषा का द्वितीय मत। यह शमदत्त (?) का मत है।
कथावत्थु के तीर्थिक : सत्ताहं वा अतिरेकसत्ताहं व तिट्ठति।
जो वाद तिब्बत में पाये जाते हैं उनके लिये जाश्के और शरच्चन्द्रदास, बार-दो देखिये : ......कम या अधिक काल के; सामान्यतः ४९ दिन से कम के ......और ४९ दिन से अधिक के नहीं।

[४] विभाषा का प्रथम मत [इससे क्या यह परिणाम निकल सकता ह कि वसुबन्धु के अनुसार वैभाषिक विभाषा की प्रथम पंक्ति में सूचित मत ग्रहण करते हैं ? पृ. ६१, टिप्पणी देखिये]

[५] कर्माण्येव प्रत्ययसामग्रीमावहन्ति—यदि अन्तराभव की उपपत्ति अश्व की होनी है तो कर्मों के आधिपत्य से अश्वों का मैथुन प्रसिद्ध काल का अतिक्रम कर कालान्तर में होता है। [व्या २८०.१२]

[६] घोषक (विभाषा, ७०, १)—पिता सन्निपात चाहता है, माता नहीं चाहती। पिता दूसरी स्त्री से मैथुन-कर्म करता है।

[१] येन अन्यत्र काले गोषूपपत्तव्यं स गवयेषूपपद्यते। [व्या २८०.१६]

[२] किन्तु जिस वाद की निन्दा वसुबन्धु करते हैं उसे आचार्य संघभद्र निर्दोष बताते हैं। कल्माषपाद आदि का दृष्टान्त यह दिखाता है कि गति-नियत कर्मों का उपपत्ति-वैचित्र्य देखा जाता है। न निकायभेदादेकाक्षेपकत्वं हीयते तत्कर्मण एकजातीयत्वाद् गव्याकृतिसंस्थानान्तरापरि-

होता है उसी कर्म से उसके अन्तराभव का भी आक्षेप होता है। कोई यह नहीं कह सकता कि महिष-भव के पूर्व वृषभ का अन्तराभव होता है।

'प्रतिसन्धि' कैसे होती है?

विपर्यस्तमतिर्याति गतिदेशं रिरंसया।
गन्धस्थानाभिकामोऽन्य ऊर्ध्वपादस्तु नारकः॥१५॥

१५ ए-बी. विपर्यस्तमति रमण करने की इच्छा से गति-देश को जाता है।[3]

गम्य गति-देश को गमन करने के लिये अन्तराभव का उत्पाद होता है। कर्मों के योग से यह दिव्य-चक्षु से समन्वागत होता है। यह अपने उत्पत्ति-देश को, चाहे वह विप्रकृष्ट क्यों न हो, देखता है। वहाँ वह अपने माता-पिता की विप्रतिपत्ति को देखता है। उसकी गति अनुनय-सहगत और प्रतिघ-सहगत चित्त से विपर्यस्त होती है। यदि वह पुरुष है तो माता के प्रति उसमें पौंस्न राग उत्पन्न होता है; यदि वह स्त्री है तो उसमें पिता के प्रति स्त्रैणराग उत्पन्न होता है। इसके विपर्यय, पिता के लिये यह माता के लिये उसके प्रतिघ उत्पन्न होता है। इनको वह सपत्न या सपत्नी के समान देखता है।[4] यथा प्रज्ञाप्ति में कहा है कि "तब गन्धर्व [५१] में रागचित्त या द्वेषचित्त उत्पन्न होता है।"

इन दो विपर्यस्त चित्तों से विपर्यस्तमति होकर, रमण करने की कामना से, वह उस देश में आश्लिष्ट होता है जहाँ इन्द्रिय-द्वय आश्लिष्ट हैं और उस विप्रतिपत्ति-अवस्था की अपने में अधिमुक्ति करता है। उस समय गर्भ-स्थान में अशुचि, शुक्र और शोणित होते हैं। अन्तराभव सुख का आस्वादन कर वहाँ अभिनिविष्ट होता है। उस काल से स्कन्धों का काठिन्य होता है। अन्तराभव विनष्ट होता है। उपपत्ति-भव, जिसे 'प्रतिसन्धि' कहते हैं, उत्पन्न होता है। यदि गर्भ पुरुष है तो यह योनि के दक्षिण पार्श्व में पृष्ठाभिमुख उत्कुटुक अवस्थित होता है। यदि यह स्त्री है तो गर्भ योनि के वाम पार्श्व में कुक्षि के अभिमुख[1] अवस्थित होता है। जो अव्यंजन है वह उस ईर्यापथ में पाया जाता है जिसमें अन्तराभव उस समय होता है जब वह कल्पना करता है कि मैं रति की क्रिया कर रहा हूँ। वास्तव में अन्तराभव सकल इंद्रियों से समन्वागत होता है। अतः वह पुरुष या स्त्री के रूप में प्रवेश करता है और अपने व्यंजन के

त्यागाच्च। गतिनियतानां हि कर्मणाम् उपपत्तिवैचित्र्यम् दृष्टं कल्माषपादादिवद् इति नास्त्येष दोष इत्याचार्यसंघभद्रः [व्या २८०.१७]।
व्याख्या के तिब्बती संस्करण के अनुसार : उपपत्तिप्रत्ययवैचित्र्यम्।

[3] विपर्यस्तमतिर्याति गतिदेशं रिरंसया। [व्या २८०.२१]

[4] यह वाद कामोन्मत्त प्रेतों का स्मरण दिलाता है जो प्राचीन गन्धर्व हैं। इस वाद ने तन्त्रसाहित्य में स्थान पाया है : थियरी दे दूज काजे, १२५ में चण्डमहारोषणतन्त्र, अध्याय १६ देखिये।

[1] दक्षिण में पुत्र, वाम में दुहिता, अवदानशतक, १. १४; शावान, एक सैंत कांत, १. ३८० के चीनी संस्करणों में स्थान परिवर्तित है।

अनुरूप अवस्थान करता है। प्रतिसन्धि के अनन्तर गर्भ की वृद्धि होती है और तभी वह अपने व्यंजन का त्याग कर सकता है।

प्रश्न है कि अभिनव सत्त्व के चक्षुरादि इन्द्रियभूत इस उपादायरूप का आश्रय क्या है ?[2] एक मत के अनुसार शुक्र और शोणित के महाभूत। एक दूसरे मत के अनुसार इनसे भिन्न महाभूत जो कर्म से अभिनिर्वृत्त होते हैं और जिनका संनिश्रय शुक्र और शोणित है।

प्रथम मत—शुक्र और शोणित अनिन्द्रिय हैं। जब अन्तराभव निरुद्ध होता है तब उनके इन्द्रियाँ होती हैं। यह गर्भ की प्रथमावस्था है जिसे 'कलल' कहते हैं। यथा बीज के निरोध के क्षण में अंकुर का उत्पाद होता है।[3] इस प्रकार सूत्र के यह पद युक्त हैं: "शुक्र-शोणितभूत कलल से शरीर का उत्पाद होता है[4] [यथारुत : माता-पिता की अशुचि में] (मातापित्र- [५२] शुचिकललसंभूत)" और "हे भिक्षुओ ! दीर्घकाल से तुमने श्मशान को वर्धित किया है और रुधिरविन्दु ग्रहण किया है।"[1]

द्वितीय मत—भिन्न महाभूत इन्द्रियों के आश्रय हैं, यथा पर्णकृमि की इन्द्रियों का होता है। [पर्ण-महाभूतों का संनिश्रय लेकर (पर्णमहाभूतानि उपनिश्रित्य) कर्म-बल से भूतान्तर उत्पन्न होते हैं जो इन्द्रिय-स्वभाव को आपन्न होते हैं] यह आक्षेप होगा कि इस विकल्प में "माता-पित्रशुचिकललसंभूत" [व्या २८१.१२] इस सूत्रपद का व्याख्यान नहीं किया गया है। सूत्र के अनुसार शुक्रशोणितभूत कलल से (मातापित्रशुचि) (सेन्द्रिय) शरीर संभूत होता है। किन्तु 'कलल' शब्द के वचन से यह अभिप्राय है कि अशुचि (शुक्र-शोणित) के संनिश्रय से भूतान्तर की उत्पत्ति होती है : [शुक्र-शोणित का संनिश्रय ले कर कललाख्य अन्य सेन्द्रिय महाभूतों का सहोत्पाद होता है]। इस प्रकार जरायुज और अण्डज योनि के सत्त्व अपने गति-देश को जाते हैं। अभिधर्माचार्य कहते हैं कि अन्य योनियों के लिये यथायोग कहना चाहिये।

१५ सी. अन्य गन्ध और स्थान की अभिलाषा से जाते हैं।[2]

---

[2] वाग्भट और चरक के आयुर्वेद के वादों से (बौद्ध) तुलना कीजियें, विंडिश, बुद्धज गेबुर्त, ४८ और प्रशस्तपाद (वी. एस. एस. १८९५), ३३-३४।

[3] व्याख्या—एकस्मिन्नेव क्षणे बीजं निरुध्यते अंकुरश्चोत्पद्यते तुलादण्डनामोन्नामवत् [व्या २८१.२]

[4] संस्कृत पाठ—वल्मीक इति भिक्षो अस्य कायस्यैतदधिवचनं रूपिण औदारिकस्य चातुर्महाभूत् [इक्] अस्य ओदनकुल्माषोपचितस्य मातापित्रशुचिकललसंभूतस्य..... [व्या २८१.६]। पालिपाठ—मज्झिम, १.१४४ : वम्मीको ति खो भिक्खु इमस्सेतं चातुम्महाभूतिकस्स कायस्स अधिवचनं मातापेत्तिकसंभवस्स ओदनकुम्मासूपचयस्स अनिच्चुच्छादन-परिमद्दनभेदनविद्धंसनधम्मस्स।

[1] [दीर्घकालं वो भिक्षवः] कटसी [वर्धिता] [व्या—कटसि] रुधिरबिन्दुरुपात्तः [व्या २८१.९]—इस वाक्य का पहला अंश, संयुत्त, २.१७८, चुल्लवग्ग, १२.१.३, अंगुत्तर, २.५४, थेरगाथा, ४५६, ५७५, उदान, ६.८, नेत्तिप्पकरण, १७४।

[2] गन्धस्थानाभिकामोऽन्यः।

संस्वेदज योनि के सत्त्व गन्ध की कामना से अपने गति-देश को जाते हैं। कर्म-प्रत्ययवश यह शुद्ध या अशुद्ध होता है। उपपादुक योनि के सत्त्व स्थान की अभिलाषा से जाते हैं।

किन्तु प्रश्न है कि नरक में आवास की अभिलाषा कैसे हो सकती है? [जैसा हमने [५३] देखा है, योनि में प्रतिसन्धि ग्रहण करने के लिये जब वह जाता है तब अन्तराभवस्थ की मति राग और द्वेष से विपर्यस्त होती है।] प्रस्तुत अवस्था में भी अन्तराभव की मति विपर्यस्त होती है और वह अयथार्थ का ग्रहण करता है। वर्षा और वायु के शैत्य से वह अपने को पीड़ित पाता है। वह उष्ण नरक के प्रदीप्त देश को देखता है, उष्णता की अभिलाषा से वह वहाँ दौड़ कर जाता है। वह सूर्य और प्रज्वलित वायु के ताप से पीड़ित होता है। वह शीत नरक के शीत देश को देखता है; शैत्य की कामना से वह वहाँ दौड़ कर जाता है।—पूर्वाचार्यों[1] के अनुसार वह देखता है कि नरकवेदनीय पूर्वकृत कर्मों के विपाक का प्रतिसंवेदन करने के लिये मेरी क्या अवस्था होगी[2]; वह तादृश सत्त्वों को देखता है; वह उस देश में दौड़कर जाता है जहाँ वह सत्त्व हैं।

देव अन्तराभव—जो देवगति को प्राप्त होते हैं—ऊर्ध्व गमन करते हैं जैसे कोई आसन से उठता हो। मनुष्य, तिर्यक्, प्रेत अन्तराभव मनुष्यादिवत् गमन करते हैं।

१५ डी. नारक पैर ऊपर कर के जाता है।[3]

यथा श्लोक में उक्त है: "जो ऋषि, संयत और तपस्वियों का अपवाद करते हैं वह सिर नीचे और पैर ऊपर कर नरक में पतित होते हैं।[4]

हमने कहा है कि जो अन्तराभव कुक्षि में (जरायुज और अण्डज) प्रतिसन्धि ग्रहण [५४] करते हैं वह विपर्यस्तमति मैथुन की कामना से वहाँ गमन करते हैं। क्या यह सामान्य नियम है? नहीं। सूत्र का उपदेश है कि गर्भावक्रान्ति चार हैं।[1]

---

[1] पूर्वाचार्या योगाचारा आर्यासङ्गप्रभृतयः (व्य २८१.२७)—पू-कुआंग के अनुसार, जिनका उल्लेख साएकी ने किया है, यह सौत्रान्तिक या सर्वास्तिवादी हैं।

[2] मैं समझता हूँ कि यही अर्थ ठीक है किन्तु मैं लोत्सव, परमार्थ और शुआन्-चाङ के संस्करण और व्याख्या की विवृतियों को एक दूसरे से मिलाने में सफल नहीं हूँ।

[3] ऊर्ध्वंपादास्तु नारकाः।

[4] संयुक्त, २७, ५; जातक, ५.२६६: एते पतन्ति निरये उद्धपादा अवंसिरा। इसीनं अतिवत्तारो संयतानं तपस्सिनं।——ऊर्ध्वपाद, अवाक्शिरः के लिये रीजडेविड्स-स्टीड, अवंसिर, सुत्तनिपात, २४८, संयुत्त, १.४८, इत्यादि देखिये। प्रायः यह "नारकों की विशेष अवस्था नहीं है" (जैसा महावस्तु, ३.४५५, ३ में है) किन्तु यह उस सत्त्व की अवस्था है जो नरक में पतित होता है; यथा मनु, ३.२४९, ८.९४। साएकी की विवृतियों के अनुसार ऋषि बुद्ध हैं; संयत प्रत्येक हैं, तपस्वी बोधिसत्व हैं। लोकप्रज्ञाप्ति (कास्मालजी, पृ.२३९) के व्याख्यान भिन्न हैं।
अतिवक्तारः = अधिक्षेप्तारः = अपवदितारः [व्या २८१.३१]

[1] पृ.५५, टिप्प.१ में उद्धृत सूत्र के अनुसार 'गर्भसंक्रान्ति' पाठ होना चाहियें किन्तु गब्भावक्कन्ति, गब्भे ओक्कन्ति (दीघ, ३.१०३, २३१, चूलनिद्देस, ३०४) और कारिका १७ में 'गर्भावक्रान्ति' है।

संप्रजानन् विशत्येकस्तिष्ठत्यप्यपरोऽपरः।
निष्क्रामत्यपि सर्वाणि मूढोऽन्यो नित्यमण्डजः ॥१६॥

१६. एक संप्रजन्य के साथ प्रवेश करता है; अपर संप्रजन्य के साथ अवस्थान भी करता है; अपर संप्रजन्य के साथ निष्क्रमण भी करता है; अपर मूढ़चित्त से यह सब करता है। अण्डज नित्य इस अन्त्य प्रकार का होता है।[२]

प्रथम संप्रजन्य के साथ अवस्थान और निष्क्रमण नहीं करता; द्वितीय संप्रजन्य के साथ निष्क्रमण नहीं करता; तृतीय का इन सब क्षणों में संप्रजन्य होता है; चतुर्थ इन सब कर्मों में बिना संप्रजन्य के होता है। आचार्य इन चार गर्भावक्रान्तियों का निर्देश अपनी कारिका में सूत्र के प्रतिलोम करते हैं।[३]

---

[२] संप्रजानन् विशत्येकस्तिष्ठत्यपरोऽपरः।
निष्क्रामत्यपि सर्वाणि मूढो नित्यमण्डजः॥

[३] दीघ, ३.१०३, २३१, विभाषा, १७१, १२।
विभाषा, १७१, १२—चार प्रकार की गर्भावक्रान्ति हैं (योनि में प्रवेश) : संप्रजन्य के बिना कुक्षि में प्रवेश, स्थिति और वहाँ से निष्क्रमण; संप्रजन्य के साथ प्रवेश, संप्रजन्य के बिना स्थिति और निष्क्रमण; संप्रजन्य के साथ प्रवेश और स्थिति, संप्रजन्य के बिना निष्क्रमण; संप्रजन्य के साथ प्रवेश, स्थिति और निष्क्रमण। यह शास्त्र क्यों है?—सूत्र के अर्थ को विभक्त करने के लिये (विभक्तुम्)। सूत्र की शिक्षा है कि चार गर्भावक्रान्ति हैं.... किन्तु उसमें उनका व्याख्यान नहीं है। इस शास्त्र का आश्रय मूलसूत्र है। जो सूत्र में उक्त नहीं है उसके कहने के लिये हम इस शास्त्र की रचना करते हैं। संप्रजन्य के बिना प्रवेश, स्थिति और निष्क्रमण कैसे होता है?—दो प्रकार हैं : १. जिसका पुण्य अल्प होता है, प्रवेश-काल में उसके संज्ञा और अधिमोक्ष विपरीत होते हैं। वह विचारता है : "देव बरसता है...." २. जिसका बहुपुण्य होता है वह विश्वास करता है कि मैं प्रासाद में प्रवेश कर रहा हूँ....
विभाषा १७१, १४ में चार गर्भावक्रान्तियों की समीक्षा अनुलोम-क्रम से की गई है। चतुर्थ—संप्रजन्य के साथ प्रवेश, स्थिति और निष्क्रमण; तृतीय—संप्रजन्य के साथ प्रवेश और स्थिति; द्वितीय—संप्रजन्य के साथ प्रवेश; प्रथम—संप्रजन्य का नित्य अभाव।—पांच मत हैं। साएकी ने जो उद्धरण दिया है उसके अनुसार : १. चतुर्थ : बोधिसत्त्व, तृतीय : प्रत्येक, द्वितीय : पा-र-मि-त-श्रावक, प्रथम : अन्य। २. द्वितीय : स्रोतआपन्न, सकृदागामी। ३. सत्वों के ज्ञान और विशद कर्म होता है, ज्ञान होता है और विशद कर्म नहीं, ज्ञान नहीं होता किन्तु विशद कर्म होता है; न ज्ञान होता है और न विशद कर्म। चार गर्भावक्रान्ति इस वर्गीकरण के अनुरूप हैं। जब प्रथम कुक्षि में प्रवेश करते हैं तब गर्भावक्रान्ति विशद होती है और विक्षेप करने वाले सर्व स्प्रष्टव्य से विनिर्मुक्त होती है। जब वह वहाँ अवस्थान करते हैं..., जब वह वहाँ से निष्क्रान्त होते हैं तो उत्पत्तिद्वार उन्मुक्त, सुगम और प्रतिबन्धरहित होता है। इसका यह परिणाम होता है कि इन सत्वों का किसी काल में स्मृतिमोष नहीं होता। [अन्य प्रकार के सत्त्वों के निष्क्रमण, स्थिति और प्रवेश की अवस्था उत्तरोत्तर बिगड़ती जाती है। इससे 'स्मृतिमोष' होता है।] क्रम से बोधिसत्त्व आदि—४. तीन शुभ गर्भावक्रान्ति वह हैं जिन्हें बोधिसत्त्व अपनी चर्या के तीन असंख्येय कल्पों में ग्रहण करते हैं।
दीघ, ३.१०३ (डायलाग्ज ३. पृ. ९८) पर बुद्धघोस : चतुर्थ—सर्वज्ञ बोधिसत्त्व; तृतीय—दो महाश्रावक, प्रत्येक, बोधिसत्त्व; द्वितीय—८० महाथेर; प्रथम—सामान्य पुद्गल।

[५५] अण्डज नित्य मूढ़ होते हैं।[1]

किन्तु क्या यह कहना यथार्थ है कि "अण्ड से संजात सत्त्व कुक्षि में प्रवेश करता है?"—यह अदोष है। जो अण्ड से उत्पन्न होता है वह पूर्व कुक्षि में प्रवेश करता है।[2] अथवा यहाँ भाविनी संज्ञा है।[3] यथा सूत्र-वचन है कि 'संस्कृतम् अभिसंस्करोति' और लोक में कहते हैं : "वह ओदन को पकाता है",[4] "पिष्ट को पीसता है।"

प्रवेश, स्थिति और निष्क्रमण के समय संप्रजन्य और संप्रजन्य का अभाव क्या है? जिसका पुण्य अल्प है वह प्रवेश करता है क्योंकि वह विचारता है कि "वायु बहती है, देव बरसता है; इससे शीत होती है, आँधी चलती है; लोग कोलाहल मचाते हैं" और क्योंकि वह इन क्लेशों से बचना चाहता है इसलिये वह विश्वास करता है कि मैं वन, वनषण्ड, मूल या पर्ण की कुटी में शरण के लिये प्रवेश करता हूँ अथवा वृक्षमूल या कुड्यमूल का आश्रय लेता हूँ। पश्चात् वह कल्पना करता है कि मैं इस वनषण्ड, इस कुटी में अवस्थान करता हूँ और इससे निष्क्रमण करता हूँ। यह विपरीत संज्ञा और अधिमुक्ति हैं। इसी प्रकार जिस सत्त्व का प्रभूत पुण्य होता है वह विश्वास करता है कि मैं आराम, उद्यान, प्रासाद, परिगण, मण्डप में प्रवेश करता हूँ, वहाँ अवस्थान करता हूँ और वहाँ से निष्क्रमण करता हूँ।

[५६] जिस सत्त्व का संप्रजन्य है वह जानता है कि मैं कुक्षि में प्रवेश करता हूँ, वहाँ अवस्थान करता हूँ और वहाँ से निष्क्रान्त होता हूँ।[1]

सूत्र में उपदिष्ट हैं

गर्भावक्रान्तयस्तिस्रश्चक्रवर्तिस्वयंभुवाम्।
कर्मज्ञानोभयेषां वा विशदत्वाद् यथाक्रमम् ॥१७॥

१७. तीन गर्भावक्रान्ति—चक्रवर्तिन् और दो स्वयंभू—यथाक्रम कर्म की विशदता से, ज्ञान की विशदता से, कर्म और ज्ञान की विशदता से।[2] दो स्वयंभू प्रत्येक बुद्ध और संबुद्ध हैं।

---

[1] सूत्र वचन है : यः सर्वाण्यसंप्रजानन् करोति एषा प्रथमा गर्भसंक्रान्तिः.... (व्याख्या का पाठ—गर्भावक्रान्ति) [व्याख्या २८२.५ के अनुसार]

[2] शुआन्-चाङ के अनुसार—मूल में यह है : योऽपि जनिष्यते सोऽप्यण्डजः अर्थात्—अंडाज्जनिष्यतेऽण्डज इति। [व्याख्या २८२.६]
संघभद्र के अनुसार—अण्डाज्जातो जनिष्यते जायते चेत्यण्डजः—यह पाणिनि ३.२.७५ के अनुसार है। [व्या २८२.११]

[3] भाविनी संज्ञा = भविष्यन्ती संज्ञा। [व्या २८२.१३]

[4] ओदनं पचति। [व्या २८२.१७]

[1] यदि वह सम्यक् रीति से जानता है तो कैसे क्लिष्टचित्त [३.३८] से प्रतिसन्धि-बन्ध व्यवस्थापित होता है? क्योंकि मातृ-स्नेहादि के योग से चित्त क्लिष्ट होता है। [व्या २८२.२५]

[2] गर्भावक्रान्तयस्तिस्रश्चक्रवर्तिस्वयंभुवाम्।
कर्मज्ञानोभयेषां वा विशदत्वाद्यथाक्रमम्॥
मध्यमकावतार, १४९, म्यूसिआं १९१०, ३३६ देखिये।

यह सब 'भाविनी' संज्ञा हैं : हम उस सत्त्व का उल्लेख करते हैं जो इस भव में चक्रवर्तिन् आदि होगा।

चक्रवर्तिन् संप्रजन्य के साथ प्रवेश करता है किन्तु संप्रजन्य के साथ वहाँ अवस्थान नहीं करता और न संप्रजन्य के साथ वहाँ से निष्क्रमण करता है। प्रत्येक अवस्थान करता है किन्तु संप्रजन्य के साथ निष्क्रमण नहीं करता। बुद्ध नित्य संप्रजन्यसहित होते हैं।

प्रथम का पुण्यसंभार महान् है; वह कर्म से उज्ज्वल, देदीप्यमान है। द्वितीय में श्रुतमयी, चिन्तामयी, भावनामयी प्रज्ञा होती हैं। तृतीय में पुण्य, श्रुतमयी आदि प्रज्ञा : कर्म और प्रज्ञा।

चतुर्थ गर्भावक्रान्ति वह है जो संप्रजन्य के बिना होती है। यह उन सत्त्वों के लिये है जिनके महान् कर्म नहीं हैं और न जिनकी प्रज्ञा महती है।

तीर्थिक जो आत्मा में प्रतिपन्न हैं[३] कहते हैं कि "यदि आप यह स्वीकार करते हैं कि सत्त्व अन्य लोक को जाता है तो जिस आत्मा में मैं प्रतिपन्न हूँ वह सिद्ध होता है।" इस वाद का प्रतिषेध करने के लिये आचार्य कहते हैं :

नात्मास्ति स्कन्धमात्रं तु क्लेशकर्माभिसंस्कृतम्।
अन्तराभवसन्तत्या कुक्षिमेति प्रदीपवत्॥१८॥

१८ ए. आत्मा का अस्तित्व नहीं है।[४]

जिस आत्मा में आप प्रतिपन्न हैं, जिसे आप एक द्रव्य मानते हैं, जो एक भव के स्कन्धों [५७] का परित्याग कर अन्य भव के स्कन्धों का ग्रहण करता है, जो अन्तरात्मा, पुरुष है, उस आत्मा का अस्तित्व नहीं है। भगवत् ने वास्तव में कहा है कि "कर्म है, फल है, किन्तु कोई कारक नहीं है जो धर्मों के संकेत अर्थात् हेतुफल-सम्बन्ध-व्यवस्था से पृथक् इन स्कन्धों का परित्याग और उन स्कन्धों का ग्रहण करता है। यह संकेत क्या है? अर्थात् इसके होने पर वह होता है; इसकी उत्पत्ति से उसकी उत्पत्ति होती है; प्रतीत्यसमुत्पाद" (५.पृ.५७, ९.पृ.२६०) (तत्रायं धर्मसंकेतो यद्....)

तीर्थिक पूछता है कि क्या एक प्रकार का आत्मा है जिसका प्रतिषेध आप नहीं करते? १८.ए-डी. कर्म और क्लेश से अभिसंस्कृत स्कन्धमात्र अन्तराभव-सन्तति के द्वारा कुक्षि में प्रवेश करता है। दृष्टान्त : प्रदीप।[१]

हम प्रज्ञप्तिसत् आत्मा का जो स्कन्धों की संज्ञामात्र है निषेध नहीं करते। किन्तु यह विचार हम से अति दूर है कि स्कन्ध परलोक में गमन करते हैं। यह क्षणिक हैं, यह संसरण में

---

[३] अर्थात् सांख्य और वैशेषिक।

[४] नात्मास्ति। अध्याय ९, पुद्गलप्रतिषेधप्रकरण, पृ० २५९ देखिये। कारिका १८ और १९ बोधिचर्यावतारपंजिका, ९.१५, ७३ में उद्धृत हैं।

[१] स्कन्धमात्रं तु कर्मक्लेशाभिसंस्कृतम्। [व्या २८३.८]
अन्तराभवसन्तत्या कुक्षिमेति प्रदीपवत्॥

असमर्थ हैं। हम कहते हैं कि किसी आत्मा के अभाव में, किसी नित्य द्रव्य के अभाव में क्लेश और कर्म से अभिसंस्कृत (अभिसंस्कृत पर १.१५ ए) स्कन्धों की सन्तान माता की कुक्षि में प्रवेश करता है और यह सन्तान मरण-भव से उपपत्ति-भव पर्यन्त विस्तृत होता है और इसका स्थान अन्तराभव-सन्तति लेती है।

यथाक्षेपं क्रमाद् वृद्धः सन्तानः क्लेशकर्मभिः।
परलोकं पुनर्यातीत्यनादिभवचक्रकम् ॥१९॥

१९ ए-सी. आक्षेपक हेतु के अनुरूप सन्तान की क्रमशः वृद्धि होती है और कर्म तथा क्लेश के योग से यह पुनः परलोक को जाता है।[२]

आयुष्य कर्म (२.१० ए) सत्त्वों के अनुसार भिन्न होते हैं। अतः सब स्कन्धसन्ततियाँ एक ही काल के लिये उस भव में आक्षिप्त नहीं होती हैं जहाँ वह प्राप्त होती हैं। अतः सन्तति [५८] की वृद्धि उतने काल तक होती है जितने काल के लिये वह आक्षिप्त है। यह वृद्धि क्रमशः होती है जैसा कि आगम की शिक्षा है: "प्रथम कलल, कलल से अर्बुद होता है, अर्बुद से पेशिन् होता है, पेशिन् से घन होता है, घन से प्रशाखा, केश, लोम, नखादि और उनके साथ उनके अधिष्ठान, रूपीन्द्रिय उत्पन्न होते हैं।"[१]—कललादि गर्भ की पांच अवस्था हैं।

---

[२] यथाक्षेपं क्रमाद् वृद्धः सन्तानः क्लेशकर्मभिः।
परलोकं पुनर्याति

[१] पथमं कललं होति कलला होति अब्बुदं।
अब्बुदा जायते पेसी पेसी निब्बत्तति घनो ॥
घना पसाखा जायन्ति केसा लोमा नखानि च।
यं चस्स भुंजति माता..........
[संयुत्त, १.२०६ (जातक, ४.४९६ की अर्थकथा, कथावत्थु, १४.२); महानिद्देस, १२०, महाव्युत्पत्ति, १९०—विंडिश, बुद्धज़ गेबुर्त ८७ में, निरुक्त, गर्भ-उपनिषद्, सांख्य और आयुर्वेद के ग्रन्थों की तुलना करते हैं।
हम देखते हैं कि मिलिन्द, ४० और विसुद्धिमग्ग, २३६ अकाल मरण का वर्णन करते हुए 'पसाखा' का उल्लेख नहीं करते: "गर्भ कललावस्था में... ......घनावस्था में, एक मास में, दो मास में.......मृत होता है।" महानिद्देस में: ".......यह पसाखावस्था में मृत होता है; यह अनुत्पन्न हो मृत होता है ...."]
संस्कृत पाठ (संयुक्त, ४९, ६) में चतुर्थ पंक्ति इस प्रकार है: [रूपीन्द्रियाणि जायन्ते] व्यंजनान्यनुपूर्वशः। 'रूपीन्द्रिय' चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, और जिह्वा के रूप प्रसाद हैं; [= जिसे चक्षु कहना चाहिये, जो देखता है.....] व्यंजन इन चक्षुरादि के अधिष्ठान हैं क्योंकि अधिष्ठान के कारण इन्द्रिय की अभिव्यक्ति होती है (अभिव्यज्यते)। [कायेन्द्रिय आदि से ही होती है]
कललादि पर पृ.५१-५२, ६२. टिप्पणी १— नैञ्जियो, १३२५।
कथावत्थु, १४.२ की अर्थकथा के अनुसार ७७ दिन के अनन्तर चक्षुरादि इन्द्रियों का प्रादुर्भाव होता है।
महायान की एक टीका के अनुसार गर्भावस्था आठ हैं: १—५. कललावस्था......प्रशाखावस्था, ६. केशलोमावस्था, ७. इन्द्रियावस्था, ८. व्यंजनावस्था (अर्थात् वह काल

उस समय[1] जब यह गर्भ, यह शल्य परिपक्व होता है तो कुक्षि में वायु समुत्थित होती है जो कर्म-विपाक से उत्पन्न होती हैं। यह वायु गर्भ का उत्पत्ति-द्वार की ओर संचालन करती [५९] हैं : इसका संचालन कठिन है क्योंकि वहाँ बहु अशुचि एकत्र रहती है। कभी माता के आहार के प्रतिकूल प्रत्ययों के कारण या कर्म के कारण गर्भ का निरोध होता है। तब एक कुशल स्त्री अपने हाथों को सब प्रकार की ओषधियों से अभिषिक्त कर एक तीक्ष्ण शस्त्र ले कर उनको योनि में प्रवेश करती है। योनिस्थान वर्चःकूप के समान है; वहाँ उग्र दुर्गन्ध और अन्धकार होता है; वह मल का पल्वल है; शुक्र, शोणित, लसीका आदि मल से वह क्लिन्न, विक्लिन्न होता है। वह स्त्री उस गर्भ के अंग-प्रत्यंग का छेद कर उसे बाहर आकृष्ट करती है और गर्भ-सन्तान अपरपर्याय-वेदनीय (४.५० बी) कर्मों के योग से न मालूम कहाँ जाता है।

अथवा गर्भोत्पत्ति सुखकर होती है। माता और परिचारक अचिरोत्पन्न बालक को हाथों में लेते हैं। इनके हाथ का संस्पर्श इस काय के लिये, जो तरुण व्रण के तुल्य है, शस्त्र और क्षार का सा प्रतीत होता है। वह बालक को स्नान कराते हैं[1]; उसका आहार दुग्ध और नवनीत होता है; पश्चात् उसे कबडीकार आहार देते हैं। इस प्रकार उसकी वृद्धि होती है। इस वृद्धि के कारण[2] इन्द्रियों का परिपाक होता है और क्लेशों का समुदाचार होता है। इससे कर्म का उत्पाद होता है। और जब काय का विनाश होता है तब पूर्ववत् कर्म-क्लेशवश सन्तान अन्तराभव द्वारा अन्य भव को गमन करता है।

१९ डी. इस प्रकार भवचक्र अनादि है।[3]

जब इन्द्रियों के अधिष्ठान स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त होते हैं।)—पूउ-कुआंग। और फ़ा-पाओ हीनयान के टीकाकारों से सहमत हैं और कहते हैं कि केश, रोम, नख आदि यावत् इन्द्रिय-व्यंजनों की संपूर्णता पाँचवीं अवस्था है। किन्तु साम्मितीयों के अनुसार केशादि की छठी अवस्था है।

[2] बुद्धिस्ट कास्मोलाजी, पृ. ३० में हमने तिब्बती संस्करण का अक्षरार्थ देने की चेष्टा की है। यहाँ हम इस वर्णन का सारांश मात्र देते हैं।
व्याख्या में कुछ अंश मिलते हैं : तस्मिन् वर्चः कूप इव कायनाडीव्रण उग्रदुर्गन्धान्धकारमल-पल्वले सततं कर्तव्यप्रतिक्रिये शुक्रशोणितलसीकामलसंक्लिन्नविक्लिन्नक्वथितपिच्छिले पाणी संप्रवेश्याङ्गप्रत्यङ्गं निकृत्य व्याहरति। [व्या २८३.१८] [व्याख्या का पाठ 'प्रत्याहरति' है]

[1] तरुणव्रणायमानात्मानं बालकं शस्त्रक्षारायमाणसंस्पर्शाभ्यां पाणिभ्यां परिगृह्य स्नापयन्ति। [व्या २८३.२६]
मज्झिम, १.२६६ का वर्णन कम अतिरंजित है : "......जब वह उत्पन्न होता है तब माता अपने रक्त से उसका पोषण करती है क्योंकि हे भिक्षुओ! विनय के अनुसार माता का दुग्ध रक्त है......"।

[2] तस्य वृद्धेरन्वयात् [व्या २८३.२९]—मज्झिम, १.२६६ से तुलना कीजिये : .....बुद्धिमन्वाय परिपाकमन्वाय।

[3] इत्यनादिभवचक्रकम् ॥
साएकी; की टिप्पणी : आचार्य महीशासकों का खण्डन करते हैं जो मानते हैं कि आदि है, एक नित्य हेतु है, अहेतुक कार्य हैं; ऊपर पृ; १०, टिप्पणी २।

कर्म-क्लेशप्रत्ययवश उत्पत्ति; उत्पत्तिवश कर्म-क्लेश; कर्म-क्लेशप्रत्ययवश उत्पत्ति : अतः भव-चक्र अनादि है। यदि आदि हो तो आदि का अहेतुकत्व मानना होगा और यदि किसी [६०] एक धर्म की उत्पत्ति अहेतुक होती है तो सब धर्मों की उत्पत्ति अहेतुक होगी। किन्तु देश और काल के प्रतिनियम से यह देखा जाता है कि बीज अंकुर का उत्पाद करता है, अग्नि पाकज का उत्पाद करती है। अतः कोई प्रादुर्भाव निर्हेतुक नहीं है। दूसरी ओर नित्यकारणास्तित्ववाद का प्रतिषेध हम ऊपर (२·६५) कर चुके हैं। अतः भवचक्र अनादि है।

किन्तु यदि हेतु-प्रत्यय का विनाश हो तो हेतु-प्रत्यय से अभिनिर्वृत्त उत्पत्ति नहीं होगी यथा बीज के दग्ध होने से अंकुर की उत्पत्ति नहीं होती।

जैसा हमने देखा है यह स्कन्ध-सन्तति तीन भवों में वृद्धि को प्राप्त होती है।

स प्रतीत्यसमुत्पादो द्वादशाङ्गस्त्रिकाण्डकः।
पूर्वापरान्तयोर्द्वे द्वे मध्येऽष्टौ परिपूरिणः॥२०॥

२०. यह प्रतीत्यसमुत्पाद है जिसके बारह अंग और तीन काण्ड हैं। पूर्व काण्ड के दो, अपरान्त के दो और मध्य के आठ अंग हैं, कम से कम यदि हम उस सन्तति का विचार करें जो सर्वांग है।[1] [६१] बारह अंग यह हैं—अविद्या, संस्कार, विज्ञान, नामरूप, षडायतन, स्पर्श, वेदना, तृष्णा, उपादान, भव, जाति, जरामरण।

---

[1] **स प्रतीत्यसमुत्पादो द्वादशाङ्गस्त्रिकाण्डकः।**
पूर्वापरान्तयोर्द्वे द्वे मध्येऽष्टौ परिपूरिणः॥
वसुबन्धु कारिका २०-२४ में आवस्थिक प्रतीत्यसमुत्पाद (२५ ए) (अर्थात् सन्तान का बारह उत्तरोत्तर दशाओं में (अवस्थाओं में) अवधारण) का निर्देश करते हैं।
तीन 'काण्ड' और तीन 'वर्त्म' के वाद पर जो दो शास्त्रकारों को सामान्य है प्रतीत्यसमुत्पाद पर दो टिप्पणियाँ देखिये (कांग्रेस आव अलजीरिया, १९३५); श्वे ज्ञान औंग कम्पेंडियम, २५९; थियरी आव ट्वेल्व काजेज, गांड, १९१३; पृ० ३४-३८, संस्कृत ग्रन्थ ज्ञानप्रस्थानशास्त्र है।
संघभद्र (न्यायानुसार) अवस्थापित करते हैं कि हेतु-फल-सम्बन्ध-व्यवस्था आध्यात्मिक और बाह्य दोनों होती है—एक ओर कललादि, दूसरी ओर बीजादि—और इसी को प्रतीत्यसमुत्पाद कहते हैं (शालिस्तम्बसूत्र, थियरी आव ट्वेल्व काजेज, पृ. ७३ से तुलना कीजिये]। अतः प्रतीत्यसमुत्पाद केवल बारह अंग नहीं है। हम कैसे जानते हैं? शास्त्र से [प्रकरण, नीचे, पृ. ६७ पंक्ति ६]। शास्त्र कहता है : "प्रतीत्यसमुत्पाद क्या है?—सर्व संस्कृत धर्म।" पुनः सूत्र की ही सूचनायें भिन्न हैं। कभी इन्हें द्वादश भवांग कहते हैं, यथा परमार्थशून्यतासूत्रादि में; कभी ग्यारह का निर्देश है, यथा चे-च-किङ् [ज्ञानवस्तुसूत्र = संयुत्त, २.५६] आदि में; कभी दस का निर्देश है, यथा नगरोपमादिसूत्र में [दिव्य, ३४०]; कभी नौ का निर्देश है, यथा महानिदानपर्यायसूत्र में; कभी आठ का, यथा उस सूत्र में जिसका वचन है कि "जो श्रमण-ब्राह्मण धर्मों के स्वभाव को यथाभूत नहीं जानते हैं.....।" यह भेद हैं। [अन्य भेदों के लिये सेना, मेलांग हार्ले २८१, प्रिज़िलुस्की, जे. एएस. १९२०, २.३२६]—सूत्रों का वाद शास्त्रों के वाद से क्यों भिन्न है? शास्त्रों का उपदेश धर्म-स्वभाव के अनुसार है। सूत्र

यह विभक्त हैं—अविद्या और संस्कार अतीत में, पूर्व भव में, जाति और जरामरण अपर भव में, शेष आठ अंग प्रत्युत्पन्न भव में। हमारा यह विचार नहीं है कि मध्य के आठ अंग सब सत्त्वों के प्रत्युत्पन्न भव में सदा पाये जाते हैं।[1] यहां 'परिपूरिन्' आश्रय से अभिप्राय है जो सब अंगभूत अवस्थाओं से हो कर जाता है। जिनका अकालमरण होता है [यथा गर्भावस्था में] वह सत्त्व 'परिपूरिन्' नहीं हैं। इसी प्रकार रूपावचर और आरू- [६२] प्यावचर सत्त्व भी 'परिपूरिन्' नहीं हैं। यह निश्चय है कि जिस सूत्र में आठ अंग परिगणित हैं उसकी अभिसन्धि कामावचर सत्त्वों से है : महानिदानपर्यायसूत्र में उक्त है कि "हे आनन्द! यदि विज्ञान माता की कुक्षि में अवक्रमण न करे....." (दीघ, २.६३)

हम प्रतीत्यसमुत्पाद को दो भागों में विभक्त कर सकते हैं : पूर्वान्त (अतीत भव) (१-२) अपने फल के साथ (३-७); अपरान्त (अनागत भव) के हेतु (८-१०) अपरान्त (अनागत भव) (११-१२) के साथ।

प्रतीत्यसमुत्पाद की इस कल्पना में जो विविध अंग हैं हम उनका वर्णन करते हैं।

पूर्वक्लेशदशाऽविद्या संस्काराः पूर्वकर्मणः।
सन्धिस्कन्धास्तु विज्ञानं नामरूपमतः परम् ॥२१॥

विनेयजन का भी विचार करते हैं.........।अथवा सूत्र अनीतार्थ (कोश, ९.पृ. २४६ से तुलना कीजिये) हैं; शास्त्र नीतार्थ हैं। सूत्र केवल सत्त्वाख्य का विचार करते हैं; शास्त्र सत्त्व और असत्त्व दोनों का विचार करते हैं..... (नीचे पृ.६७)।

[1] विभाषा, २३, १७—कुछ कहते हैं कि "इस सूत्र की अभिसन्धि केवल कामधातु से और औपपादुक उत्पत्ति को वर्जित कर अन्य तीन प्रकार की उत्पत्ति से है और इसलिये यह अदोष है।" यह कहना आवश्यक है कि इस सूत्र की अभिसन्धि तीन धातु और चार उपपत्ति से है। यद्यपि उपपादुक जन्मकाल में सकल इन्द्रियों से समन्वागत होते हैं तथापि यह इन्द्रियाँ तीक्ष्ण नहीं होतीं। पश्चात् क्रमशः काल पाकर इन्द्रियाँ तीक्ष्ण होती हैं। जब तक वह तीक्ष्ण नहीं होतीं प्रथम क्षण विज्ञानांग है, द्वितीयादि क्षण नामरूपांग है। जब वह तीक्ष्ण होती हैं तब यह षडायतनांग है। इस प्रकार सूत्र में अपूर्ण होने का दोष नहीं है। [इसका अभिप्राय उपपादुकों से भी है जो आदि से सकलेन्द्रिय होते हैं; कोश, २.१४, कथावत्थु, १४.२]

पू-कुआंग कहते हैं : वसुबन्धु का शास्त्र विभाषा के विनिश्चयों को (भा-सा पिङ्-लिआ) प्रमाण नहीं मानता। वह विभाषा के प्रथम आचार्यों के अर्थ का अनुसरण करता है।

विभाषा, २४, ७—कामधातु में बारह अंग; नामरूप को वर्जित कर शेष ग्यारह अंग रूपधातु में; नामरूप और षडायतन को वर्जित कर शेष दस अंग आरूप्यधातु में।[किन्तु इस सिद्धान्त से जो कठिनाइयाँ उत्पन्न होती हैं उनको हम देखते हैं क्योंकि "षडायतन विज्ञानप्रत्ययवश होता है," "स्पर्श विज्ञानप्रत्ययवश होता है]" विभाषा का विनिश्चय है (अक्षरार्थः पिङ्-किआ कहती है) कि "यह कहना चाहिये कि तीन धातुओं में बारह अंग होते हैं:...।"

ए. बिना विभाषा को देखे मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि पिङ्-किआ से अर्थ उस दर्शन-समूह से है जिसके मतों को विभाषा ने उपनिबद्ध किया और जिसके सम्बन्ध में विविध आचार्यों के मतों पर अपना आलोचनात्मक विनिश्चय दिया। साएकी का कहना है कि अमुक अमुक विषय पर विभाषा विभिन्न मतों को गिनाती है। वह कहते हैं कि कोई पिङ-किआ नहीं है। दूसरों के अनुसार चार पिङ्-किआ हैं। पृ.४९, टिप्पणी ४ देखिये।

प्राक्षडायतनोत्पादात् तत्पूर्वं त्रिकसंगमात्।
स्पर्शः प्राक् सुखदुःखादिकारणज्ञानशक्तितः ॥२२॥

२१ ए. अविद्या पूर्वजन्म की क्लेश-दशा है।[1]

[६३] [अविद्या से केवला अविद्या, ३. पृ. ८४, ८८; ५. १२ अभिप्रेत नहीं है, न क्लेशसमुदाय, "सर्वक्लेश" अभिप्रेत हैं], किन्तु पूर्व जन्म की सन्तति (स्वपंचस्कन्धों के सहित) अभिप्रेत है जो क्लेशावस्था में होती है। वस्तुतः सब क्लेश अविद्या के सहचारी होते हैं और अविद्यावश उनका समुदाचार होता है। यथा राजागमन वचन से उसके अनुयात्रिकों का आगमन भी सिद्ध होता है।

२१ बी. संस्कार पूर्वजन्म की कर्मावस्था है।

पूर्व भव की सन्तति पुण्य-अपुण्यादि कर्म करती है। यह पुण्यादि कर्मावस्था संस्कार है।

२१ सी. विज्ञान प्रतिसन्धि-स्कन्ध है।

प्रतिसन्धि-क्षण या उपपत्तिभव-क्षण में कुक्षि के पाँच स्कन्ध।

२१ डी-२२ ए. इस क्षण से लेकर षडायतन की उत्पत्ति तक नामरूप है।

कुक्षि के पंच-स्कन्ध, उपपत्ति-भव से लेकर जब तक षडिन्द्रियों की अभिव्यक्ति नहीं होती। यह कहना उचित होगा : "चार आयतनों के उत्पाद के पूर्व....." [क्योंकि मन-आयतन और कायायतन का उत्पाद उपपत्ति-भव में ही, प्रतिसन्धि-क्षण में ही, होता है][1]। किन्तु

---

[1] पूर्वक्लेशदशाविद्या संस्काराः पूर्वकर्मणः। [व्या २८४.३३]
सन्धिस्कन्धास्तु विज्ञानं नामरूपमतः परम् ॥२१
प्राक् षडायतनोत्पादात् तत्पूर्वं त्रिकसंगमात्। [व्या २८५.५]
स्पर्शः प्राक् सुखदुःखादिकारणज्ञानशक्तितः ॥ २२ [व्या २८५.८]
वित्तिः प्राङ्मैथुनात् तृष्णा भोगमैथुनरागिणः। [व्या २८५.१५]
उपादानं तु भोगानां प्राप्तये परिधावतः ॥२३
स भविष्यद्भवफलं कुरुते कर्म तद्भवः। [व्या २८५.२५]
प्रतिसन्धिः पुनर्जातिर्जरामरणमाविदः ॥२४ [व्या २८५.३२]
इन लक्षणों के लिये, थियरी आव ट्वेल्व काजेज, ४१; सान सांग फ़ा सू, क्लापराथ द्वारा अनूदित, फ़ो-कुए-की, २८६—सुबन्धु ने जिस वाद का व्याख्यान किया है उसका यह बहुत कुछ अनुसरण करते हैं किन्तु विवृति की आवश्यकता है, यथा स्पर्श का यह वर्णन है : "गर्भनिष्क्रमण से लेकर तीन या चार वर्ष की अवस्था तक वह चिन्तन नहीं कर सकता और न जीवन के सुख-दुःख को समझ सकता है यद्यपि ६ मूल (= इन्द्रियाँ) स्पर्श से ६ अंकुर (= विषय, आलम्बन) के अनुरूप हैं।
विभाषा २३, १३—अविद्या क्या है?—यह कहना नहीं चाहिये कि सब अतीत क्लेश अविद्या हैं क्योंकि इस प्रकार अविद्या के स्वलक्षण की हानि होगी किन्तु यह कहना चाहिये कि यह पूर्व क्लेश की दशा [या अवस्था] है। संस्कार क्या हैं?—अतीत कर्म की अवस्था। विज्ञान क्या है? प्रतिसन्धिचित्त और वह जो उसके सहगत है। नामरूप क्या है?—प्रतिसन्धिचित्त के पश्चात् और चार रूपी इन्द्रियों की उत्पत्ति के पूर्व। [कायेन्द्रिय का लाभ उपपत्ति-भव में ही होता है] इस अन्तराल में षडायतन के पूर्ण होने के पूर्व पाँच अवस्थायें हैं : कलल, अर्बुद पेशिन्, घन, प्रशाखा—इनका समुदाय नामरूप की दशा है। षडायतन क्या है? जब चार रूपीन्द्रियों की उत्पत्ति होती है तब षडायतन परिपूर्ण होते हैं। प्रशाखा की अवस्था में चक्षुरादि इन्द्रिय स्पर्श को आश्रय देने में समर्थ नहीं हैं।

[1] कथावत्थु की अर्थकथा, १४.२; कोश, २.१४।

चक्षुरादि चार आयतनों के उत्पत्ति-काल में दो पूर्ववर्ती आयतनों का व्यवस्थापन [षट् समुदाय में] होता है।[१]

२२ बी. षडायतन, त्रिकसन्निपात या स्पर्श के पूर्व।

षडायतन पाँच स्कन्ध हैं; इन्द्रियों के प्रादुर्भाव-काल से इन्द्रिय, विषय और विज्ञान के सन्निपात-काल तक।

[६४] २२ सी–डी. सुख-दुःखादि वेदना के कारण-ज्ञान की शक्ति के उत्पन्न होने से पूर्व स्पर्श है। यावत् बालक सुख दुःखादि के कारण को परिच्छिन्न करने में समर्थ नहीं होता: "यह सुख का कारण है......" तब तक की अवस्था [जो जातावस्था में व्यवस्थापित होती है]स्पर्श कहलाती है।

वित्तिः प्राङ्मैथुनात् तृष्णा भोगमैथुनरागिणः।
उपादानं तु भोगानां प्राप्तये परिधावतः ॥२३॥

२३ ए. वेदना, मैथुन से पूर्व।

वेदना को कारिका में 'वित्ति' कहा है। यावत् मैथुन-राग का समुदाचार नहीं होता, तब तक की अवस्था वेदना है। [इस अवस्था को 'वेदना' कहते हैं क्योंकि वहाँ वेदना के कारणों का प्रतिसंवेदन होता है: अतः 'यह वेदना प्रकर्षिणी अवस्था' है] [व्या २८५.१८]

२३ बी. भोग और मैथुन की कामना करने वाले पुद्गल की अवस्था तृष्णा है। रूपादि कामगुण (३.पृ.७)और मैथुन के प्रति राग का समुदाचार होता है। यह तृष्णा की अवस्था है। इसका अन्त तब होता है जब इस राग के प्रभाव से पुद्गल भोगों की पर्येष्टि आरम्भ करता है।

२३ सी-डी. उपादान का तृष्णा से विवेचन करते हैं: यह उस पुद्गल की अवस्था है जो भोगों की पर्येष्टि में दौड़ता-धूपता है।

वह भोगों की प्राप्ति के लिये सब ओर प्रधावित होता है (५.४०) [अथवा 'उपादान' चतुर्विध क्लेश है (५.३८)। उस अवस्था को 'उपादान 'कहते हैं जिसमें इस चतुर्विध क्लेश का समुदाचार होता है]

इस प्रकार प्रधावित होकर

स भविष्यद्भवफलं कुरुते कर्म तद्भवः।
प्रतिसन्धिः पुनर्जातिर्जरामरणमाविदः ॥२४॥

२४ ए–बी. वह कर्म करता है जिसका फल अनागत-भव है: यह भव है।

[भव अर्थात्'कर्म' क्योंकि उसके कारण भव होता है, भवत्यनेन]। [व्या २८५.३१]

---

[१] चक्षुराद्यायतनोत्पत्तिकाले कायमनआयतनयोर्व्यवस्थापनात् [व्या २८५.३]
शुआन्-चाङ : "किन्तु उस काल का विचार है जब षडायतन परिपूर्ण होते हैं।"

भोगों की पर्येष्टि में कृत और उपचित कर्म पौनर्भविक है। जिस अवस्था में पुद्गल कर्म करता है वह 'भव' है।

२४सी. जाति पुनः प्रतिसन्धि है।

मरण के अनन्तर प्रतिसन्धि-काल के पाँच स्कन्ध 'जाति' हैं। प्रत्युत्पन्न भव की समीक्षा में जिस 'अंग' को 'विज्ञान' का नाम देते हैं उसे अनागत भव की समीक्षा में 'जाति' की [६५] संज्ञा मिलती है।

२४ डी. वेदनांग तक जरामरण है।

'वेदना' को यहाँ 'विद्' कहा है। 'जाति' से 'वेदना' तक जरामरण है। प्रत्युत्पन्न भव के चार अंग—नामरूप, षडायतन, स्पर्श और वेदना—अनागत-भव के सम्बन्ध में जरामरण कहलाते हैं। यह द्वादशात्मक सन्तति का बारहवाँ अंग है।

किन्तु यह कहा गया है कि प्रतीत्यसमुत्पाद चतुर्विध है: क्षणिक या क्षण का, प्राकर्षिक (: अनेक क्षणिक-प्रबन्धयुक्त या अनेक जन्मिक), साम्बन्धिक (हेतुफलसंबन्धयुक्त), आवस्थिक (बारह पंचस्कन्धिक अवस्था)।[1]

प्रतीत्यसमुत्पाद क्षणिक कैसे है?

जिस क्षण में क्लेशपर्यवस्थित पुद्गल प्राणातिपात करता है उस क्षण में १२ अंग परिपूर्ण होते हैं: १. उसका मोह अविद्या है; २. उसकी चेतना संस्कार है; ३. उसका आलम्बन-विशेष का स्पष्ट विज्ञान विज्ञान है; ४. विज्ञान-सहभू चार स्कन्ध[2] नामरूप है; ५ नामरूप में व्यवस्थित इन्द्रिय षडायतन हैं;[3] ६. षडायतन का अभिनिपात[4] स्पर्श है; ७. स्पर्श का अनुभव [६६] वेदना है, ८. राग तृष्णा है; ९. तृष्णासंप्रयुक्त पर्यवस्थान[5] उपादान हैं; १०. [वेदना या तृष्णा से] समुत्थित काय या वाक्-कर्म भव है; ११. इन सब धर्मों का उन्मज्जन, उत्पाद जाति है; १२. इनका परिपाक[6] जरा है, इनका भंग मरण है।[7]

---

[1] विभाषा, २३, ८—प्रतीत्यसमुत्पाद चार प्रकार का है: क्षणिक, सांबन्धिक, आवस्थिक, प्राकर्षिक। कोई कहता है कि यह आवस्थिक और प्राकर्षिक है; दूसरे कहते हैं कि यह क्षणिक और सांबन्धिक है।
व्याख्या का क्रम भिन्न है: ए. क्षणिकः क्षणे भवः क्षणोऽस्यास्तीति क्षणिकः।। बी. प्रकर्षेण दीव्यति चरति वा प्राकर्षिकः। प्रबन्धयुक्त इत्यर्थः। और नीचे—स एवावस्थिकः प्रकर्षयोगात् प्राकर्षिकः [व्या २८६.२]। अनेकक्षणिकत्वाद् अनेकजन्मिकत्वाच्च [व्या २८६.२२]। सी. सांबन्धिकः। हेतुफलसंबन्धयुक्त इत्यर्थः, डी. आवस्थिकः। द्वादश पञ्च-स्कन्धिका अवस्था इत्यर्थः। [व्या २८६. ३]

[2] शुआन्-चाङ संशोधन करते हैं: "तीन स्कन्ध।"

[3] नामरूपव्यवस्थितानि इन्द्रियाणि [व्या २८६.६]। हम कह सकते हैं कि इन्द्रिय आश्रयत्वेन 'नामन्' में व्यवस्थित हैं। हम कह सकते हैं कि उनकी वृत्ति नामरूप में प्रतिबद्ध है।

[4] षडायतनाभिनिपातः स्पर्शः [व्या २८६.८]—चक्षु का अभिनिपात उसकी रूप में प्रवृत्ति है।

[5] अह्री आदि पर्यवस्थान हैं, ५.४७।

[6] फलाक्षेपसामर्थ्योपघातः पूर्वक्षणापेक्षया वा [व्या २८६.१३]

[7] तत्क्षणविनाशः। भङ्गाभिमुख्यं भङ्ग इत्यपरे [व्या २८६.१४]

पुनः यह कहा है कि प्रतीत्यसमुत्पाद क्षणिक और सांबन्धिक है। प्रकरणों में यह कहा है : "प्रतीत्यसमुत्पाद क्या है ?—सब संस्कृत धर्म । प्रतीत्यसमुत्पन्न धर्म क्या हैं? सब संस्कृत धर्म।[४]"

आवस्थिक प्रतीत्यसमुत्पाद बारह पंचस्कन्धिक अवस्था हैं। तीन निरन्तर जन्मों से संबद्ध होने से यह प्राकर्षिक भी है।

इस द्वादशांगसूत्र में भगवत् का अभिप्राय इन चार में से किस प्रकार के प्रतीत्यसमुत्पाद की देशना देने का है ?

आवस्थिकः किलेष्टोऽयं प्राधान्यात्त्वङ्गकीर्तनम् ।
पूर्वापरान्तमध्येषु संमोहविनिवृत्तये ॥२५॥

२५ ए. सिद्धान्त के अनुसार आवस्थिक प्रतीत्यसमुत्पाद इष्ट है।[५]

सिद्धान्त के अनुसार केवल आवस्थिक प्रतीत्यसमुत्पाद का अवधारण करने से भगवत् बारह अंग का निर्देश करते हैं।

किन्तु यदि प्रत्येक अंग पंच-स्कन्ध का समुदायलक्षण है तो इन अविद्या आदि प्रज्ञप्तियों का क्यों व्यवहार होता है ?

२५ बी. अंगों का नाम-कीर्तन उस धर्म के नाम से होता है जिसका वहाँ प्राधान्य है।[६]

[६७] जिस अवस्था में अविद्या का प्राधान्य है वह अविद्या कहलाती है। अन्य अंगों की भी इसी प्रकार योजना होनी चाहिये। यद्यपि सब अंगों का एक ही स्वभाव है तथापि इस प्रकार विवेचन करने में कोई दोष नहीं है ।

सूत्र प्रतीत्यसमुत्पाद का लक्षण बारह अंगों की सन्तति के रूप में क्यों देता है जब कि प्रकरण कहते हैं कि "प्रतीत्यसमुत्पाद क्या है ?—सब संस्कृत धर्म ?" क्योंकि सूत्र की देशना आभिप्रायिक है जब कि अभिधर्म में लक्षणों की देशना है।[१] एक ओर प्रतीत्यसमुत्पाद आवस्थिक, प्राकर्षिक, सत्त्वाख्य है; दूसरी ओर वह क्षणिक, सांबन्धिक, सत्त्वासत्त्वाख्य है ।

सूत्र की देशना सत्त्वाख्य प्रतीत्यसमुत्पाद की ही क्यों है ?

---

[४] शुआन्-चाङ और परमार्थ इस स्थान में प्रकरण के इस उद्धरण को नहीं देते।
[व्याख्या के अनुसार "प्रकरणेषु" —व्या २८६.१५]—नीचे पृ० ६७, ७३ देखिये।

[५] आवस्थिकः किलेष्टोऽयम् ।
संघभद्रः—अभिधर्माचार्य कहते हैं कि 'अवस्थाओं' का विचार कर बुद्ध प्रतीत्यसमुत्पाद की देशना करते हैं। सौत्रान्तिक (= वसुबन्धु) इसको नहीं मानते और इसीलिये वह अपनी कारिका में 'किल' शब्द का व्यवहार करते हैं। [हम इसका अनुवाद 'सिद्धान्त के अनुसार' देते हैं।]

[६] प्राधान्यात् त्वङ्गकीर्तनम् ।

[१] साएकी मध्यम, २७, १ का उल्लेख करते हैं। सूत्र में प्रतीत्यसमुत्पाद की देशना आभिप्रायिक है, अभिधर्म में लाक्षणिक है।—ऊपर पृ० ६०, टि. १ [व्या २८६.२४]

२५ सी-डी. पूर्वान्त, अपरान्त और मध्य के प्रति संमोह की विनिवृत्ति के लिये।[1] और इसी हेतु से सूत्र त्रिकाण्ड में प्रतीत्यसमुत्पाद की देशना देता है।

पूर्वान्त का संमोह—जब कोई पूछता है कि "क्या मैं अतीत अध्व में था? क्या मैं नहीं था? कैसे और कब मैं था?"—अपरान्त का संमोह: "क्या मैं अनागत अध्व में हूंगा? ..." —मध्य का संमोह: "यह क्या है? यह कैसे है? हम कौन हैं? हम क्या होंगे?"[2]

[६८] यह त्रिविध संमोह अविद्या.... जरामरण के यथाक्रम उपदेश से विनष्ट होता है। क्योंकि सूत्र में उक्त है कि "हे भिक्षुओ! जो कोई प्रज्ञा से प्रतीत्यसमुत्पाद और प्रतीत्यसमुत्पन्न धर्मों को जानता है वह पूर्वान्त की ओर प्रतिधावित नहीं होता और यह प्रश्न नहीं करता कि क्या वह अतीत अध्व में था.....।"

दूसरों के अनुसार मध्य काण्ड के अन्तिम तीन अंगों की-तृष्णा, उपादान, भव की—शिक्षा अनागत संमोह की विनिवृत्ति के लिये है क्योंकि यह अनागत भव के हेतु हैं।[3]

यह द्वादशांग प्रतीत्यसमुत्पाद त्रिविध है—क्लेश, कर्म और वस्तु। यह द्विविध है—हेतु और फल।

क्लेशास्त्रीणि द्वयं कर्म सप्त वस्तु फलं तथा।
फलहेत्वभिसंक्षेपो द्वयोर्मध्यानुमानतः ॥२६॥

२६ ए-बी. तीन अंग क्लेश हैं, दो कर्म हैं; सात वस्तु और फल हैं।[4]

अविद्या, तृष्णा और उपादान क्लेशस्वभाव हैं; संस्कार और भव कर्मस्वभाव हैं; विज्ञान, नामरूप, षडायतन, स्पर्श, वेदना, जाति और जरामरण वस्तु हैं। इनको वस्तु इसलिये कहते हैं

---

[1] पूर्वापरान्तमध्येषु संमोहविनिवृत्तये॥ [व्या २८६.३०]

[2] संयुत्त, २.२६; मज्झिम, १.८, १११; विसुद्धिमग्ग, ५९९; संयुक्त, १२, १९; शालिस्तम्ब, पृ. ८८ [थियरी आव ट्वेल्व काजेज) मध्यमकवृत्ति, ५९३ में उद्धृत—पाठान्तर हैं जिनमें से हम तृतीय परिच्छेद के पाठ देंगे।
व्याख्या: किंस्विदिदम् इत्यात्मद्रव्यमन्वेषते। कथंस्विदिदम् इति केन प्रकारेण कया युक्त्येति। के सन्त इति के वयमिदानीं विद्यमानाः। के भविष्याम इत्येवं व्यावधारयति। [व्या २८७.२]
मध्यमकवृत्ति में शालिस्तम्ब: किं न्विदम्। कथं न्विदम्। के सन्तः। के भविष्यामः। अयं सत्त्वः कुत आगतः। स इतश्च्युतः कुत्र गमिष्यति।
मज्झिम, १.८ और विसुद्धिमग्ग, ५९९ (वारेन,, २४३): अहं नु खोऽस्मि। नोनु खोऽस्मि। किं नु खोऽस्मि कथं नु खोऽस्मि। अयं नु खो सत्तो कुतो आगतो। सो। कुहिंगामी भविस्सति [विसुद्धि का पाठ—अहं नु खोऽस्मिं.....]
यह सूत्र तृष्णाविचरितसूत्र से संबन्धित है, कोश, ७. पृ. ३६

[3] संघभद्र इस मत का प्रतिषेध करते हैं।

[4] क्लेशास्त्रीणि द्वयं कर्म सप्त वस्तु फलं तथा।
यह तीन 'वर्त्म' या वट्ट हैं—विसुद्धिमग्ग, ५८१: तिवट्टं [इदं भवचक्कं] अनवट्ठितं भमति। अन्य सब ग्रन्थों में तृतीय 'वर्त्म' का लक्षण केवल विपाक [या फल] है; थियरी आव ट्वेल्व काजेज, ३४ देखिये।

क्योंकि यह क्लेश और कर्म के आश्रय (= अधिष्ठान) हैं। जो अंग वस्तु हैं वह फल हैं। पाँच जो वस्तु नहीं हैं हेतुभूत हैं क्योंकि वह कर्म-क्लेश-स्वभाव हैं।

प्रत्युत्पन्न भव के काण्ड में हेतु और फल का व्याख्यान विस्तार से क्यों है—क्लेश के दो अंग, कर्म के दो अंग, वस्तु के पाँच अंग—

[६९] जब कि अतीत और अनागत अध्व के लिये ऐसा व्याख्यान नहीं है। अनागत अध्व में फल को संक्षिप्त किया है। उसके लिये दो अंग हैं। अतीत अध्व में हेतु को संक्षिप्त किया है। एक मुख से (अर्थात् अविद्यामुख से) क्लेश का उपदेश है।

२६ बी-सी. मध्य के अनुमान से हेतु और फल का दो भागों में अभिसंक्षेप है।[1]

प्रत्युत्पन्न भव के क्लेश, कर्म और वस्तु के निरूपण से अतीत अध्व और अनागत अध्व के हेतु-फल का सम्पूर्ण निर्देश ज्ञापित होता है। जो वर्णन निष्प्रयोजनीय है उसको वर्जित करना चाहिये।

किन्तु यह कहा जायगा कि यदि प्रतीत्यसमुत्पाद के केवल बारह अंग हैं तो संसरण की आदि कोटि होगी क्योंकि अविद्या का हेतु निर्दिष्ट नहीं है; संसरण की अन्त कोटि होगी क्योंकि जरामरण का फल निर्दिष्ट नहीं है। अतः नये अंग जोड़ना चाहिये और यह अनन्त कथा है। नहीं, क्योंकि यह गमित होता है कि भगवत् ने अविद्या के हेतु और जरामरण के फल को ज्ञापित किया है।

क्लेशात्क्लेशः क्रिया चैव ततो वस्तु ततः पुनः।
वस्तु क्लेशाश्च जायन्ते भवाङ्गानामयं नयः॥२७॥

२७. क्लेश से क्लेश और कर्म की उत्पत्ति होती है, इनसे वस्तु की, वस्तु से पुनः वस्तु और क्लेश की। भवांगों का यह नय है।[2]

क्लेश से क्लेश की उत्पत्ति है : तृष्णा से उपादान।

क्लेश से कर्म की उत्पत्ति होती है : उपादान से भव, अविद्या से संस्कार।

कर्म से वस्तु की उत्पत्ति होती है : संस्कारों से विज्ञान, भव से जाति।

वस्तु से वस्तु की उत्पत्ति होती है : विज्ञान से नामरूप, नामरूप से षडायतन.....स्पर्श से वेदना, जाति से जरामरण।

वस्तु से क्लेश की उत्पत्ति होती है : वेदना से तृष्णा।

अंगों का यह नय है। यह स्पष्ट है कि अविद्या का हेतु क्लेश या वस्तु है। यह स्पष्ट [७०] है कि जरामरण [= विज्ञान से वेदना पर्यन्त शेष वस्तु, ऊपर पृ० ६५] का फल क्लेश है। अतः

---

[1] फलहेत्वभिसंक्षेपो द्वयोर्मध्यानुमानतः॥

[2] क्लेशात् क्लेशः क्रिया चैव ततो वस्तु ततः पुनः। [व्या २८८.१८]
वस्तु क्लेशाश्च जायन्ते भवाङ्गानामयं नयः॥ [व्या २८७.३४]
शुआन् चाङ् : "भवांगों का नय केवल यही है।" संघभद्र इस 'केवल' शब्द की टीका करते हैं। उनका कहना है कि इस शब्द से यह सूचित होता है कि भवांगों की संख्या बारह तक परिमित है।

व्याख्यान सम्पूर्ण है। भगवत् 'अंगों' के इस नय को उपदर्शित करना चाहते थे यह बात सूत्र के इस अन्तिम वाक्य से सिद्ध है : "इस प्रकार केवल महान् दुःख-स्कन्ध का समुदय होता है।"[1]

किन्तु एक दूसरा निरूपण है :[2] ए. सूत्रान्तर में[3] कहा है कि अविद्या का हेतु 'अयोनिशो-मनसिकार' है और एक और सूत्र में कहा है कि अयोनिशोमनसिकार का हेतु अविद्या है।[4] अतः अविद्या निर्हेतुक नहीं है। अनवस्थादोष का परिहार होता है।

बी. किन्तु क्या आप कहेंगे कि इस प्रतीत्यसमुत्पादसूत्र में जिसका हम विचार कर रहे हैं अयोनिशोमनसिकार का उल्लेख नहीं है? निस्संदेह; किन्तु यह उपादान के अन्तर्भूत है। अतः यह इस प्रकार उक्त होता है।[5]

यह निर्देश निःसार है। अयोनिशोमनसिकार का उपादान में कैसे अन्तर्भाव है? [७१] यदि संप्रयोगतः इसका अन्तर्भाव उपादान में इष्ट है तो अविद्या और तृष्णा का भी अन्त-र्भाव प्राप्त होता है। मान लीजिये कि यह उपादान के अन्तर्भूत है। इससे यह कैसे विज्ञापित होता है कि सूत्र उपादान का निर्देश कर यह कहना चाहता है कि अयोनिशोमनस्कार अविद्या का हेतु है? दूसरे शब्दों में मैं चाहता हूँ कि अयोनिशोमनस्कार उपादान के अन्तर्भूत हो, किन्तु इससे यह नहीं विज्ञापित होता कि सूत्र को अधिकार है कि वह अविद्या के हेतुरूप से उसको अंगान्तर न कहे। वह अविद्या और तृष्णा को भी छोड़ सकता था क्योंकि तृष्णा और अविद्या भी उपादान के अन्तर्भूत हैं और इसलिये उनको पृथक् अंग निर्दिष्ट करने की आवश्यकता न थी।

अब एक दूसरे आचार्य[6] कहते हैं कि—एक सूत्र की देशना है कि अविद्या का हेतु अयोनिशोमन-

---

[1] मध्यम, ३४, ३—एवमस्य केवलस्य महतो दुःखस्कन्धस्य समुदयो भवति। [व्या २८८.१५]
टीकाकार कहते हैं : 'केवल' शब्द आत्मा और आत्मीय के अभाव को ज्ञापित करता है; 'महान्' शब्द आदि और अन्त के अभाव को सूचित करता है;......."दुःखस्कन्ध", क्योंकि यह सास्रव संस्कारों से उपचित्त है; "समुदय" क्योंकि यह हेतुप्रत्यय के संनिपात से उत्पादित है..।

[2] व्याख्या के अनुसार : "आचार्य मनोरथ का उपाध्याय स्थविर वसुबन्धु", [२८९.६] पूउ-कुआंग के अनुसार "वृद्ध वसुबन्धु एक सर्वास्तिवादी हैं जिनकी विप्रतिपत्ति है।" [वृद्ध] वसुबन्धु के उपाध्याय मनोरथ पर, वाटर्स १.२११।

[3] व्याख्या के अनुसार—सहेतुसप्रत्ययसनिदानसूत्र।
अविद्या भिक्षवः सहेतुका सप्रत्यया सनिदाना। कश्च भिक्षवोऽविद्याया हेतुः कः प्रत्ययः किं निदानम्। अविद्याया भिक्षवोऽयोनिशोमनसिकारो हेतुः....[व्याख्या का पाठ—मनस्कारो] [व्या २८८.२५]
मध्यमकवृत्ति, ४५२ में यही उद्धरण है। यह प्रतीत्यसमुत्पादसूत्र से उद्धृत किया गया है।
संयुक्त, १३, २० (साएकी की टिप्पणी)
थियरी आव ट्वेल्व काजेज, पृ. ८; अंगुत्तर, ५.११३ (अविद्या के आहार पर); नेत्तिप्पकरण, ७९ (अविज्जा अविज्जायहेतु, अयोनिसोमनसिकारो पच्चयो)।

[4] नीचे पृ. ७१, टि. ३ देखिये।

[5] 'इह' अर्थात् इस प्रतीत्यसमुत्पादसूत्र में [व्या २८९.१], द्वादशांगसूत्र (साएकी)—यथा संयुत, २.२५।

[6] सौत्रान्तिक श्रीलाभ' [व्याख्या का पाठ—'श्रीलात'—२८९.२३]

सिकार है।[२] सूत्रान्तर की देशना है कि अयोनिशोमनसिकार का हेतु अविद्या है और वहाँ यह निर्दिष्ट है कि इसका उत्पाद स्पर्शकाल में होता है : "चक्षु और रूपप्रत्ययवश एक मोहज [=अविद्या से जात] आविल मनसिकार उत्पन्न होता है।"[३] एक सूत्र में तृष्णा के प्रभव का निर्देश है : "अविद्या-संप्रयुक्त स्पर्श से संजात वेदना से तृष्णा उत्पन्न होती है।"[४]—अतः स्पर्श-काल में होने वाला अयोनिशोमनसिकार वेदना की सहवर्तिनी अविद्या का प्रत्यय है। —अतः अविद्या का अहेतुकत्व नहीं है और अंगान्तर के उपसंख्यान का कोई स्थान नहीं है। अनवस्था-प्रसंग भी नहीं है क्योंकि अयोनिशोमनसिकार जो अविद्या का हेतु है स्वयं मोहसंज्ञा से प्रज्ञप्त अविद्या से उत्पन्न होता है। [यह चक्रक है : अयोनिशोमनस्कार से अविद्या, अविद्या से अयोनिशोमनस्कार—व्या २९०.५]

आचार्य कहते हैं—"बहुत अच्छा, किन्तु इसका व्याख्यान प्रतीत्यसमुत्पादसूत्र में नहीं है; वहाँ होना चाहिये था।"

स्पष्ट शब्दों में निर्देश करने का कोई स्थान नहीं है क्योंकि युक्ति से यह सिद्ध होता है। वास्तव में अर्हत् में वेदना होती है किन्तु वह तृष्णा का प्रत्यय नहीं होती। इससे यह परिणाम [७२] निकलता है कि वेदना तभी तृष्णा का प्रत्यय होती है जब यह क्लिष्ट होती है, अविद्या से संप्रयुक्त होती है। अविपरीत स्पर्श इस क्लिष्ट वेदना का प्रत्यय नहीं होता और अविद्या से विनिर्मुक्त अर्हत् का विपरीत स्पर्श नहीं होता। अतः जिस स्पर्श को प्रतीत्यसमुत्पादसूत्र में वेदना का प्रत्यय कहा गया है जो वेदना तृष्णा का प्रत्यय है वह स्पर्श साविद्य स्पर्श है। [अतः साविद्य-स्पर्शप्रत्यया वेदना। साविद्यवेदनाप्रत्यया तृष्णा व्या २९०.१९]। अतः पूर्वोक्त युक्ति से यह सिद्ध होता है कि सूत्र के अनुसार अयोनिशोमनसिकार की उत्पत्ति स्पर्श-काल में होती है।

किन्तु आचार्य कहते हैं कि इस नियम से कि अन्य सूत्रों के अपाश्रय से युक्ति अनिवार्य अंगों के अवचन को युक्त सिद्ध करती है—यहाँ अयोनिशोमनसिकार, अविद्या और अयोनिशोम-नसिकार के अन्योन्यहेतुकत्व का प्रदर्शन कर—अतिप्रसंग प्राप्त होता है। [फिर स्पर्श, वेदना, संस्कार, जाति इन अंगों का भी अवचन प्राप्त होगा]। इस आक्षेप का[१] कि अविद्या से पूर्व और जरामरण के अनन्तर अन्य अंगों का निर्देश न करने से संसार अनादि और अनन्त न होगा यथार्थ

---

[२] ऊपर पृ० ७०, टिप्पणी ३

[३] संयुक्त, ११, ८—चक्षुः प्रतीत्य रूपाणि चोत्पद्यत आविलो मनसिकारो मोहजः—मोहज = अविद्याज [व्या २८९.२६]
मध्यमकवृत्ति, ४५२, प्रतीत्यसमुत्पादसूत्र के अनुसार : आविलो मोहजो मनसिकारो भिक्ष-वोऽविद्याया हेतुः।

[४] अविद्यासंस्पर्शजं वेदितं प्रतीत्योत्पन्ना तृष्णा इति सूत्रान्तरे निर्दिष्टम्। [व्या २८९.३०]
संयुक्त, २,४—संयुत्त, ३.९६ : अविज्जासम्फस्सजेन..........वेदयितेन फुट्ठस्स अस्सुतवतो पुथुज्जनस्स उप्पन्ना तण्हा।

[१] अचोद्यमेव त्वेतत्——[व्या २९१.६]

उत्तर यह है : अंगों का निर्देश अपरिपूर्ण नहीं है ।[१] वास्तव में सन्देह इस प्रश्न के जानने में है कि इहलोक परलोक से कैसे संबन्धित होता है, परलोक इहलोक से कैसे संबन्धित होता है।[३] सूत्र को केवल इतना ही अर्थ विवक्षित है। इस अर्थ को पूर्व ही कहा है : "पूर्वान्त, अपरान्त और मध्य के संमोह की विनिवृत्ति के लिये" (३.२५सी, पृ.६७)।

भगवद्वचन है कि "हे भिक्षुओ ! मैं तुमको प्रतीत्यसमुत्पाद और प्रतीत्यसमुत्पन्न धर्मों की देशना दूँगा।"[४] प्रतीत्यसमुत्पाद और इन धर्मों में क्या भेद है ?

अभिधर्म के अनुसार कोई भेद नहीं है। क्योंकि जैसा हमने देखा है (पृ.६६) उभय [७३] का लक्षण एक ही है : "सब संस्कृत धर्म है।"[१]

एक दोष है।—"सर्व संस्कृत धर्म" अर्थात् त्रैयध्विक धर्म । अनागत धर्म जो अनुत्पन्न हैं कैसे 'प्रतीत्यसमुत्पन्न' कहला सकते हैं ?—हम आपसे पूछते हैं कि अनागत धर्म जो 'अकृत' हैं कैसे 'संस्कृत' कहलाते हैं। क्योंकि वह आभिसंस्कारिका चेतना से चेतित हैं। आभिसंस्कारिका वह है जो "विपाक का अभिसंस्करण करती है।"[२] किन्तु यदि ऐसा है तो अनागत अनास्रव धर्म (आर्य मार्ग के धर्म) कैसे संस्कृत होंगे ? वह भी उनकी प्राप्ति के प्रति कुशल चेतना से चेतित होते हैं।[३] किन्तु निर्वाण में भी इसका प्रसंग होगा क्योंकि आर्य उसकी प्राप्ति के लिये प्रार्थी होता है।[४]

अतः हमारा कहना है कि यदि कोई अनागत धर्मों को 'प्रतीत्यसमुत्पन्न' कहता है, तो यह अतिदेश है। अनागत धर्म और अतीत तथा प्रत्युत्पन्न 'संस्कृत' धर्मों के एकजातीय होने से (तज्जातीयत्वात्) इसकी युक्तता कही जाती है। यथा यद्यपि इस समय अनागत रूप के लिये 'रूप्यते' शब्द का व्यवहार नहीं हो सकता तथापि वह 'रूप' कहलाता है क्योंकि वह रूप्यमाण रूप की जाति का है।[५]

किन्तु प्रतीत्यसमुत्पाद और प्रतीत्यसमुत्पन्न धर्मों में विशेष करने में सूत्र का क्या अभिप्राय है ?

---

[१] नापरिपूर्णो निर्देशः [व्या २९१.१३]

[३] कथं परलोकादिहलोकः संबध्यते [व्या २९१.६]

[४] संयुत्त. २, २५ : पटिच्चसमुप्पादं वो भिक्खवे देसिस्सामि पटिच्चसमुप्पन्ने च धम्मे।

[१] प्रकरण, ६, ९—त्रैयध्विकाः सर्वे संस्कृता धर्माः प्रतीत्यसमुत्पादः। त एव च प्रतीत्यसमुत्पन्नाः। [व्या २९१.१५]
ऊपर पृष्ठ ६७

[२] आभिसंस्कारिकया चेतनया चेतितत्वात् [व्या २९१.१८]—चेतना को आभिसंस्कारिका शब्द से विशेषित कर आचार्य सब चेतनाओं के स्वलक्षण को (१.१५ए) द्योतित करते हैं क्योंकि विपाक का अभिसंस्करण करने से (विपाकाभिसंस्करणात्) चेतना "आभिसंस्कारिका" है। अनागत धर्म इस चेतना से कि 'मैं देव हूँगा, मैं मनुष्य हूँगा,' 'चेतित' होते हैं अर्थात् एक प्रणिधान, एक आशय के विषय होते हैं (प्रणिहित)। इस प्रकार अनागत धर्म संस्कृत होते हैं : वह भाविनी संज्ञा से (भाविन्या संज्ञया) ऐसा नहीं कहलाते।

[३] तेऽपि चेतिताः कुशलया चेतनया प्राप्ति प्रति [व्या २९१.२४]

[४] यह कुशलधर्मच्छन्द का विषय है, ५.१६, पृ.३६, ८.२०सी.

[५] कोश, १.१३, पृ.२४।

[७४] हेतुरत्र समुत्पादः समुत्पन्नं फलं मतम्।
विद्याविपक्षो धर्मोऽन्योऽविद्याऽमित्रानृतादिवत् ॥२८॥

२८ ए-बी. समुत्पाद हेतु है, समुत्पन्न फल है।[1]

जो अंग हेतु है वह प्रतीत्यसमुत्पाद है क्योंकि उससे उत्पाद होता है (समुत्पद्यतेऽस्मात्)। जो अंग फल है वह प्रतीत्यसमुत्पन्न है क्योंकि वह उत्पन्न होता है किन्तु यह प्रतीत्यसमुत्पाद भी है क्योंकि इससे समुत्पाद होता है। सब अंगों का हेतुफलभाव है। अतः वह एक ही काल में प्रतीत्यसमुत्पाद और प्रतीत्यसमुत्पन्न हैं। ऐसा होने पर अव्यवस्थान नहीं होता क्योंकि एक अंग उस अंग के प्रति प्रतीत्यसमुत्पाद नहीं होता जिसके प्रति वह प्रतीत्यसमुत्पन्न है। यह भिन्न अंगों की अपेक्षा करते हैं, पितृपुत्रवत्—पुत्र की अपेक्षा पिता पिता है, पिता की अपेक्षा पुत्र पुत्र है; हेतुफलवत्; पारापारवत्।

किन्तु स्थविर पूर्णाश[2] कहते हैं : "जो प्रतीत्यसमुत्पाद है वह प्रतीत्यसमुत्पन्न नहीं हो सकता।[3] चार कोटि हैं : १. अनागत धर्म [जो प्रतीत्यसमुत्पाद हैं क्योंकि अनागत धर्मों के हेतु हैं, एष्य-धर्महेतु हैं [व्या २९२.८] और प्रतीत्यसमुत्पन्न नहीं हैं क्योंकि उत्पन्न नहीं हैं], २. अर्हत् के चरम धर्म [जो केवल प्रतीत्यसमुत्पन्न हैं), ३. तदन्य अतीत और प्रत्युत्पन्न धर्म [जो प्रतीत्य-समुत्पाद और प्रतीत्यसमुत्पन्न हैं], ४. असंस्कृत धर्म, [जो न प्रतीत्यसमुत्पाद हैं और न प्रतीत्य-समुत्पन्न क्योंकि उनका फल नहीं होता और वह अनुत्पत्तिमत् हैं, २.५५ डी]।

[७५] सौत्रान्तिक आलोचना करते हैं। क्या ['आवस्थिक प्रतीत्यसमुत्पाद' (पृ. ६६) से आरम्भ कर यावत् 'जो प्रतीत्यसमुत्पाद है वह प्रतीत्यसमुत्पन्न नहीं है' यह सब व्याख्यान[4]] यादृच्छिकी इष्टि हैं या सूत्रार्थ हैं? आप व्यर्थ ही कहेंगे कि सूत्र का यह अर्थ है। आप आवस्थिक प्रतीत्यसमुत्पाद का उल्लेख करते हैं जिसके बारह अंग, बारह पंच-स्कन्धिक अवस्थाएँ

---

[1] हेतुरत्र समुत्पादः समुत्पन्नः फलं मतम्।
विभाषा, ३३,११—भदन्त वसुमित्र कहते हैं: जो धर्म हेतु है वह प्रतीत्यसमुत्पाद धर्म है; जो धर्म सहेतुक है वह प्रतीत्यसमुत्पन्न धर्म है, जो धर्म उत्पत्ति है वह प्रतीत्यसमुत्पाद धर्म है ....; जो धर्म उत्पाद है ......; जो धर्म कारक(?) है .....भदन्त कहते हैं : प्रवर्तक (कोश, ४.१० देखिये) प्रतीत्यसमुत्पादधर्म है, अनुवर्तक प्रतीत्यसमुत्पन्न धर्म है।

[2] तिब्बती भाषान्तर के अनुसार स्थविर Bsam rdzogs (इन्हें शीफ़नर, तारानाथ, ४, टिप्पणी ६ सुभूति बताते हैं); शुआन्-चाङ :"आशा-पूर्ण"; परमार्थ ने संस्कृत रूप दिया है।
ऐसा प्रतीत होता है कि यह परिच्छेद विभाषा, २३, ११ से अक्षरशः लिया गया है। साएकी इसे फ़ोलिओ १६ए में उदधृत करते हैं।

[3] स्यात् प्रतीत्यसमुत्पादो न प्रतीत्यसमुत्पन्नः—

[4] व्याख्या के अनुसार। [व्या २९२.१३]

हैं : यह उस सूत्र के विरुद्ध है जहाँ यह पठित है कि "अविद्या क्या है ? पूर्वान्त का अज्ञान ...."[2] यह सूत्र नीतार्थ है (नीतार्थ = विभक्तार्थ)। आप इसको नेयार्थ नहीं कर सकते।[3]

सर्वास्तिवादिन् का उत्तर—कोई बात यह सिद्ध नहीं करती कि यह सूत्र नीतार्थ है। क्योंकि यह सूत्र निर्देशात्मक है, इससे कुछ सिद्ध नहीं होता। भगवत् यथाप्रधान निर्देश भी करते हैं।[4] यथा हस्तिपदोपमसूत्र में इस प्रश्न के उत्तर में कि 'आध्यात्मिक पृथिवी धातु क्या है' भगवत् कहते हैं 'केश, रोमादि'।[5] निश्चय ही केश, रोमादि में रूप-गन्धादि अन्य धर्म भी हैं किन्तु भगवत् का अभिप्राय प्रधान धातु से है जो पृथिवी धातु है। इसी प्रकार भगवत् यहाँ अविद्या संज्ञा से वह अवस्था ज्ञापित करते हैं जिसमें अविद्या का प्राधान्य है।

सौत्रान्तिक का उत्तर—यह दृष्टान्त कुछ सिद्ध नहीं करता। वास्तव में हस्तिपदोपमसूत्र में भगवत् केशादि को पृथिवी धातु से निर्दिष्ट नहीं करते। वह नहीं कहते : "केशादि क्या हैं?—पृथिवी धातु"। यह केशादि का अपरिपूर्ण निर्देश होगा। किन्तु वह केशादि से [७६] पृथिवी धातु का निर्देश करते हैं और उनका निर्देश सम्पूर्ण है क्योंकि केशादि का अतिक्रम कर पृथिवी धातु नहीं है। इसी प्रकार प्रतीत्यसमुत्पाद में अविद्यादि का निर्देश परिपूर्ण है; कोई सावशेष नहीं है (न सावशेषः)।

सर्वास्तिवादिन् का उत्तर—हस्तिपदोपम का निर्देश अपरिपूर्ण है। वास्तव में अश्रु, सिंघाणक आदि में पृथिवी धातु है जैसा कि एक दूसरे सूत्र से[6] ज्ञात होता है। किन्तु अश्रुगत पृथिवी धातु हस्तिपदोपम में नहीं पठित है।

सौत्रान्तिक—ऐसा हो सकता है कि हस्तिपदोपम का निर्देश अपरिपूर्ण है क्योंकि आप दिखा सकते हैं कि वहाँ क्या अवशेष है। यदि आप दिखा सकते हों कि सूत्र-निर्दिष्ट अविद्यादि में क्या अवशेष है तो आप दिखावें। 'अविद्या पंचस्कन्धिक अवस्था है' इस निर्देश में अविद्या में जात्यन्तर (पंच-स्कन्ध) का प्रक्षेप क्यों किया है? हम उसी धर्म को 'अंग' अवधारित कर सकते हैं जिसके भाव-अभाव में अन्य 'अंग' का भाव-अभाव यथासंख्य नियत है। अतः पंचस्कन्धिक अवस्था 'अंग' नहीं है। अर्हत् के (वेदनादि) पंचस्कन्ध होते हैं किन्तु उसमें वह संस्कार नहीं होते

---

[2] संयुक्त, १२, २१—पूर्वान्तेऽज्ञानं अपरान्तेऽज्ञानं मध्यान्तेऽज्ञानं बुद्धेऽज्ञानम् धर्मेऽज्ञानम् संघेऽज्ञानम्....... पृ. ९२ देखिये) [व्या २९३.२]

[3] कोशस्थान ९, अनुवाद का पृष्ठ २४७ देखिये।

[4] लोत्सव का अनुवाद: "ऐसा होता है कि देशना में सब केवल नीतार्थ नहीं होते। भगवत् ऐसे निर्देश भी करते है जो यथाप्रधान होते हैं।"—
शुआन्-चाङ "सब सूत्र नीतार्थ नहीं होते। ऐसा भी होता है कि वह यथाप्रधान हों"। परमार्थ "सब सूत्र इससे नीतार्थ नहीं होते कि वह निर्देश करते हैं....."।

शिक्षासमुच्चय, २४५; मज्झिम, १.१८५ (कतमा अज्झत्तिका पठवीधातु। यमज्झत्तं ....कक्खलं.......सेय्यथापि केसा.....), ३.२४०

लोत्सव इस सूत्रान्तर के प्रथम शब्दों को ज्ञापित करता है : सन्त्यस्मिन् काये, शिक्षासमुच्चय, २२८, मध्यमकवृत्ति, ५७, मज्झिम, ३.९०, दीघ, ३.१०४ देखिये।

जो विज्ञानांग-जनक हों अर्थात् जो पुण्योपग, अपुण्योपग, या आनिञ्ज्योपग विज्ञान का उत्पाद करें।[1] एवमादि। अतः सूत्रार्थ (पृ. ७५, टिप्पणी २) का ग्रहण यथानिर्देश है।[2]

पूर्णाश की चतुष्कोटि की प्रथम कोटि का अनागत धर्म 'प्रतीत्यसमुत्पन्न' नहीं है उस सूत्र के [७७] विरुद्ध है जिसके अनुसार जाति और जरामरण 'प्रतीत्यसमुत्पन्न' हैं : "प्रतीत्यसमुत्पन्न क्या है ? अविद्या.....जाति, जरामरण।" क्या कोई यह कहेगा कि जाति और जरामरणांग का अनागताध्व-व्यवस्थान इष्ट नहीं है ? यह प्रतीत्यसमुत्पाद की त्रिकाण्ड व्यवस्था का परित्याग है।

निकायान्तरीय[1] का मत है कि प्रतीत्यसमुत्पाद असंस्कृत है क्योंकि सूत्रवचन है कि "तथागतों का उत्पाद हो या तथागतों का उत्पाद न हो धर्मों की यह धर्मता स्थित है।" हम किस प्रकार इस वाद का निरूपण करते हैं इस पर इसकी सत्यता या अयथार्थता निर्भर करती है। यदि आप यह कहना चाहते हैं कि अविद्यादि प्रत्ययवश संस्कारादि का सदा उत्पाद होता है, अन्य प्रत्ययवश नहीं, अहेतुक नहीं और इस अर्थ में प्रतीत्यसमुत्पाद की स्थितता है, यह नित्य है, तो हमारा ऐकमत्य है। यदि आप यह कहना चाहते हैं कि प्रतीत्यसमुत्पाद नामक एक नित्य धर्म का सद्भाव है तो यह मत अग्राह्य है क्योंकि उत्पाद एक संस्कृत लक्षण (२.४५ सी) है। किन्तु आपके विकल्प में उत्पाद या प्रतीत्यसमुत्पाद एक नित्य भावान्तर है और इसलिए यह युक्त नहीं है कि वह अनित्य का, संस्कृत का लक्षण हो।[2] पुनः उत्पाद का लक्षण अभूत्वाभाव है[3] : असंस्कृत उत्पाद

---

[1] सत्यपि च पञ्चस्कन्धके संस्कारा न भवन्ति.....पुण्योपगं यावद् आनिञ्ज्योपगं विज्ञानं न भवति [व्या २९३.९]। जो विज्ञान यहाँ इष्ट है वह प्रतिसन्धि-विज्ञान है : 'उपग' का अर्थ 'तां तामुपपत्तिं गच्छति' लेना चाहिये [व्या २९३.१२]

[2] यथानिर्देश एव सूत्रार्थः। यथा संकीर्तितानाम् एवाविद्यादीनां ग्रहणमित्यर्थः। [व्या २९३.१४]

[1] निकायान्तरीयाः—व्याख्या के अनुसार आर्य महीशासक; [व्या २९४.४] विभाषा, २३, ७ के अनुसार विभज्यवादिन्; समयभेद के अनुसार, महासांघिक; यो-ग-लुं-की के अनुसार महासांघिक और महीशासक। कथावत्थु, ६.२ (११.७, २१.७); निर्वाण १९२५, पृ. १८५।
संयुक्त, १२, १९—उत्पादाद् वा तथागतानामनुत्पादाद्वा तथागतानां स्थितैवेयं (धर्माणां) धर्मता [व्या २९३.२६]; संयुत्त, २.२५; विसुद्धिमग्ग, ५१८।
इस वाक्य पर (जिसे व्याख्या शालिस्तम्बसूत्र के अनुसार उद्धृत करती है, कार्डियर, ३, ३६१) थियरी आव ट्वेल्व काजेज १११-११३ में एक टिप्पणी है।

[2] उत्पादस्य संस्कृतलक्षणत्वात्। न च नित्यं भावान्तरम् अनित्यस्य लक्षणं युज्यते। [व्या २९४.४]

[3] उत्पादश्च नामाभूत्वाभावलक्षणः (सौत्रान्तिकों का लक्षण, २.पृ.२२९)। परमार्थ इसका अनुवाद देते हैं। लोत्सव : उत्पादश्च नामोत्पत्तिः [और व्याख्या कहती है कि धर्म की उत्पत्ति तादानीतंन होती है] [व्या २९४.१३]। कास्मालोजी, पृ. १६६, पंक्ति ५ में व्याख्या का पाठ है : कोऽस्योत्पादस्य अविद्यादिभिरभिसम्बन्धो यथौदनेन पाकस्य अभिसम्बन्धः कर्तृक्रियालक्षणः। [व्या २९४.१३]

का अविद्यादि से क्या अभिसम्बन्ध हो सकता है जिससे 'अविद्यादि का प्रतीत्यसमुत्पाद' कहा [७८] जाता है? पुनः प्रतीत्यसमुत्पाद पदार्थ असंबद्ध हो जाता है।[1] जब प्रति-इत्य-समुत्पाद का अर्थ है 'प्रत्ययं प्राप्य समुद्भवः' [व्या २९४.१८], 'प्रत्यय को प्राप्त कर उत्पत्ति', तब एक धर्म नित्य और प्रतीत्यसमुत्पाद दोनों कैसे हो सकता है?

प्रतीत्यसमुत्पाद शब्द का क्या अर्थ है?[2]

'प्रति' का अर्थ है प्राप्ति। 'इ' धातु गत्यर्थक है किन्तु उपसर्ग धातु के अर्थ को विपरिणत करता है। इसलिये 'प्रति-इ' का अर्थ 'प्राप्ति' है, 'प्रतीत्य' का अर्थ 'प्राप्त कर' है; 'पद्' धातु सत्तार्थक है; सम्-उत् उपसर्गपूर्वक इसका अर्थ 'प्रादुर्भाव' है।

अतः प्रतीत्यसमुत्पाद = प्राप्त होकर प्रादुर्भाव।

यह पदार्थ अयुक्त है। वैयाकरण कहता है कि प्रतीत्यसमुत्पाद शब्द यथार्थ नहीं है।[3] वास्तव में एक ही कारक की दो क्रियाओं में से पूर्वकालिक क्रिया में क्त्वाविधि होती है स्नात्वा भुंक्ते = स्नान करके वह भोजन करता है।[4] किन्तु आप किसी ऐसे धर्म की कल्पना नहीं कर सकते जिसका उत्पाद के पूर्व अस्तित्व हो[5] और जो पूर्व प्रत्ययों के प्रति जाता है, पश्चात् उत्पन्न होता है। कोई अकर्तृक क्रिया (प्रतिगमन) नहीं होती[6]। इस चोद्य को श्लोक में उपनिबद्ध करते हैं "यदि आप कहें कि अपने उत्पाद के पूर्व यह प्रत्ययों के प्रति गमन करता है तो यह युक्त नहीं है क्योंकि यह अविद्यमान है। यदि आप कहें कि यह प्रतीत्य-क्रिया और समुत्पाद-क्रिया एक साथ करता है तो 'क्त्वा' प्रत्यय सिद्ध नहीं होता क्योंकि 'क्त्वा' प्रत्यय पूर्वकाल का विधान करता है।"[7]

वैयाकरण[8] का आक्षेप निस्सार है।[9] हम उनसे पूछते हैं कि "जो उत्पन्न होता है [७९] वह प्रत्युत्पन्न है या अनागत।" क्या आप कहेंगे कि प्रत्युत्पन्न वस्तु की उत्पत्ति होती है? यदि यह उत्पन्न नहीं है तो यह प्रत्युत्पन्न कैसे है? यदि यह उत्पन्न है तो उत्पन्न की

---

[1] पदार्थश्चासंबद्धो भवति। [व्या २९४.१८]

[2] प्रतीत्यसमुत्पाद शब्द का निर्वचन, बर्नूफ़, लोटस, ५३०, भूमिका ६२३; विसुद्धिमग्ग, ५१८, ५२१ (वारेन, १६८); आउंग रीज डेविड्स, कम्पेंडियम, २५९; मध्यमकवृत्ति, ५; थिअरी आव ट्वेल्व काजेज, ४८

[3] न युक्त एष पदार्थः

[4] पाणिनि, ३, ४, २१ के अनुसार : समानकर्तृकयोः पूर्वकाले [व्या २९४.२५]

[5] सौत्रान्तिक मत से धर्म की पूर्वसत्ता नहीं है। [व्या २९४.२६]

[6] न चाप्यकर्तृकास्ति क्रिया [व्या २९४.२६]

[7] एतद् वैयाकरणचोद्यं श्लोकेनोपनिबध्नाति आचार्यः। [व्या २९४. २७]
यदि पूर्वमुत्पादात् प्रत्येत्यसत्त्वान्न युज्यते।
सह चेत् क्त्वा न सिद्धोऽत्र पूर्वकालविधानतः॥ [व्या २९४.२९]

[8] शाब्दिक = शब्दविद् = वैयाकरण [व्या २९५.११]

[9] दो मत—यह निराकरण सौत्रान्तिक या सर्वास्तिवादिन् का है (पूउ-कुआंग)

पुनःउत्पत्ति की कल्पना में अनवस्था का प्रसंग क्यों न होगा ? क्या आप कहेंगे कि अनागत वस्तु[1] की उत्पत्ति होती है ? जो अनागत और असत् है उसका इस उत्पत्ति-क्रिया का कर्तृत्व कैसे सिद्ध होता है ? अथवा अकर्तृक क्रिया कैसे सिद्ध होती है ?"—अतः हम वैयाकरण को उत्तर देंगे कि धर्म प्रत्ययों के प्रति उसी अवस्था में गमन करता है जिस अवस्था में आपके अनुसार वह उत्पद्यमान होता है।

वैयाकरण प्रश्न करता है कि आपके मत में वह धर्म जो उत्पद्यमान होता है किस अवस्था में होता है ?—जो धर्म उत्पद्यमान होता है वह उत्पादाभिमुख अनागत धर्म है[2]। [व्या २९५.१३) जो धर्म प्रत्ययों के प्रति गमन करता है वह भी ऐसा ही है।

किन्तु शाब्दिकों का कर्ता और क्रिया का व्यवस्थान अनिष्पन्न है।[3] उनके लिये कर्ता है जो यहाँ भविता है और क्रिया है जो यहाँ भूति है। भूति का भविता से अन्यत्व नहीं इष्ट है (२, अनुवाद पृ० २३५)।—अतः "वह उत्पद्यमान है, प्रत्ययों के प्रति गमन कर उसका उत्पाद होता है" इन वाक्यों के व्यवहार में कोई छल नहीं है क्योंकि इनको सांवृत वाक्य समझते हैं। प्रतीत्यसमुत्पाद शब्द का अर्थ इस सूत्र में ज्ञापित है[4] "उसके होने पर यह होता है ; उसकी उत्पत्ति से इसकी उत्पत्ति"।[5] प्रथम वाक्य में 'प्रतीत्य' का अवधारण है, दूसरे में समुत्पाद का ।

इस प्रक्रिया को श्लोक में कहते हैं : "यदि आप मानते हैं कि यह पूर्व असत् होकर उत्पद्यमान होता है तो उसी प्रकार असत् होकर यह प्रत्ययों के प्रति गमन भी करता है । यदि आप मानते हैं कि पूर्व सत् होकर यह उत्पद्यमान [८०] होता है तो उत्पन्न होकर यह पुनः पुनः उत्पद्यमान होगा। अतः अनिष्ठा का प्रसंग होगा। अथवा हमारा भी यह पक्ष है कि इसकी उत्पत्ति के काल में पूर्व सत्ता है"[1]—"सह-भाव

---

[1] अनागत = अलब्धात्मक [व्या २९५.९]

[2] उत्पादाभिमुखोऽनागत इति। न सर्वोऽनागत उत्पद्यते किं तर्ह्युत्पादाभिमुख इत्युत्पित्सुरित्यर्थः। [व्या २९५.१३]—दो सह-क्रिया—प्रतीत्यक्रिया और समुत्पादक्रिया। [व्या २९५.२]

[3] अनिष्पन्नं चेदं शाब्दिकीयम् (शाब्दिकानाम्) कर्तुः क्रियायाश्च व्यवस्थानम्। भवितुः (कर्तृरूपकल्पिताद् अर्थात्) भूतेः (क्रियारूपकल्पितायाः) अन्यत्वादर्शनात्। तस्मादच्छलम्...........९.पृ० २८१ देखिये।

[4] परमार्थ के भावान्तर के अनुसार जो शुआन्-चाङ से अधिक विभक्त है : "प्रतीत्यसमुत्पाद के व्याख्यान के रूप में इस सूत्र का उल्लेख करना चाहिये"।

[5] नीचे पृ.८१ देखिये।

[1] असन्नुत्पद्यते यद्वत् प्रत्येत्यपि तथाथ सन्।
उत्पन्न उत्पद्यत इत्यनिष्ठा सन् पुरापि वा॥
व्याख्या—असन्नभावोऽलब्धात्मक उत्पद्यते यथा प्रत्येत्यपि तथा। असन्॥ अथ लब्धात्मक उत्पद्यते......उत्पन्नोऽपि पुनरुत्पद्यत इत्यनवस्थानादनिष्ठा प्राप्नोति [व्या २९९.२०] सांख्य कहते हैं कि सत एवोत्पादो नासतः। वैभाषिक नय से अनागत का अस्तित्व है, सौत्रान्तिक नय से जनकधर्मबीज का सद्भाव है। अतः हम कहते हैं 'सन् पुरापि वा',

को सूचित करने के लिये भी 'क्त्वा' प्रत्यय होता है : "दीप को प्राप्त होकर तम विनष्ट होता है" अथवा "जमुहाई लेकर वह सोता है।" ऐसा उसके लिये नहीं कहते जो जमुहाई लेता है, मुख संवृत करता है और पश्चात् सोता है।[२]

अन्य आचार्य प्रतीत्यसमुत्पाद शब्द का एक भिन्न अर्थ करके 'क्त्वा' सम्बन्धी दोष का परिहार करते हैं : 'प्रति' वीप्सा के अर्थ में है; 'सम्' समवाय के अर्थ में है; 'इत्य' 'गमन में साधु', 'अनवस्थायी' है; उत्पूर्वक पद् धातु का अर्थ प्रादुर्भाव है। अतः प्रतीत्यसमुत्पाद = "उस उस हेतु-सामग्रीवश विनश्वरों का समवाय में उत्पाद।"[३]

[८१] यह कल्पना प्रतीत्यसमुत्पाद के लिये युक्त है किन्तु इस सूत्र में कैसे होगा : "चक्षु और रूपप्रत्ययवश (प्रतीत्य) चक्षुर्विज्ञान उत्पद्यमान होता है।"[१]

भगवत् प्रतीत्यसमुत्पाद का निर्देश पर्यायद्वय से क्यों करते हैं : "१. उसके होने पर यह होता है; २. उसकी उत्पत्ति से यह उत्पन्न होता है?"[२]

"अथवा इसकी पूर्व सत्ता है।"
किन्तु चतुर्थ पाद को 'असन् पुरापि वा' भी पढ़ सकते हैं। अर्थात् "अनिष्ठा के परिहार के लिये आप कहेंगे कि यह असत् उत्पद्यमान होता है। यह पुनः उसी वाद को लौटना है जिसका प्रतिषेध पहली पंक्ति में हो चुका है—असन्नुत्पद्यते यद्वत्"।

[२] सहभावेऽपि च क्त्वास्ति दीपं प्राप्य तमोगतम्।
आस्यं व्यादाय शेते वा पश्चात् चेत् किं न संवृते॥ [व्या २९६.८]
व्याख्या—न ह्यसौ पूर्वं मुखं व्याददाति विदारयति पश्चाच्छेते। किं तर्हि मुखं व्याददञ्छेते स मुखं व्यादाय शेत इत्युच्यते।.........[व्या २९६.१५]

[३] यह भदन्त श्रीलाभ का व्याख्यान है (व्याख्या का पाठ 'श्रीलात' है) [व्या २९६.२२]
प्रतिर्वीप्सार्थ इति नानावाचिनाम् अधिकरणानां सर्वेषां क्रियागुणाभ्याम् इच्छा वीप्सा। तामयं प्रतिर्द्योतयति॥ इतौ गतौ साधव इत्याः। तत्र साधुरिति यत्प्रत्ययः। इतौ विनष्टौ साधवोऽनवस्थायिन इत्यर्थः॥ समुपसर्गः समवायार्थं द्योतयति॥ उत्पूर्वः पदिः प्रादुर्भावार्थो धात्वर्थपरिणामात्॥ तां तां सामग्रीं प्रति इत्यानां विनश्वराणां समवायेनोत्पादः प्रतीत्यसमुत्पादः। —कोई धर्म कभी अकेले नहीं उत्पन्न होता है, कोश, २.२२ इत्यादि। प्रत्यय का व्याख्यान देखिये, ७.पृ.३८ टि.४।

[१] संयुत्त, २.७२, ४.३३, मिलिन्द, ५६ इत्यादि

[२] इमस्मिं सति इदं होति। इमस्स उप्पादा इदमुप्पज्जति.....यदिदं अविज्जा पच्चया .....—संयुत्त, १२, २०, मज्झिम, ३.६३, महावस्तु, २.२८५, मध्यमकवृत्ति, ९, थिअरी, आव ट्वेल्व काजेज, पृ० ४९

[१] (१) वसुबन्धु प्रथम निर्देश को पसन्द करते हैं—२-४ युक्तियाँ स्थविर-शिष्य भदन्त राम की हैं। यह पू-कुआंग के अनुसार है (जो संघभद्र का अनुसरण करते हैं)। (शिष्य = ति-त्से) (२) दूसरा निर्देश स्थविर वसुवर्मा का है [व्याख्या २९७.२७]; फ़ा-पाओ के अनुसार यह भिन्न निर्देश सौत्रान्तिकों का है (किङ्-पू-इ-चे) [पाँचवाँ निर्देश भी]; पूउ-कुआंग के अनुसार "सौत्रान्तिक आचार्य जो भिन्न मत रखता है" (किङ्-पाउ-इ-चोआइ) भदन्त चे-त्साओ (वसुवर्मन्) है; संघभद्र के अनुसार, 'स्थविर तु-ताइ" [= स्थविर-पाक्षिक] है।

[२] तीर्थिकों का निर्देश।

[३] पूर्वाचार्यों का (सौत्रान्तिक) निर्देश।

१. कई कारणों से[3] : १. अवधारणार्थ। प्रथम पर्याय से यह सिद्ध होता है कि अविद्या के होने पर संस्कार होते हैं किन्तु यह सिद्ध नहीं होता कि केवल अविद्या के होने पर संस्कार होते हैं। द्वितीय पर्याय पूर्व पर्याय का अवधारण करता है : अविद्या के ही उत्पाद से संस्कारों का उत्पाद होता है; २. अंग परम्परा दिखाने के लिये : इस अंग (अविद्या) के होने पर यह (संस्कार) होता है; इस अंग (संस्कार) के उत्पाद से—दूसरे के उत्पाद से नहीं—यह अंग (विज्ञान) उत्पन्न होता है; ३. जन्म-परम्परा दिखाने के लिये : पूर्वभव के होने पर प्रत्युत्पन्न भव होता है; प्रत्युत्पन्न भव के उत्पाद से अनागत भव उत्पन्न होता है; ४. प्रत्ययभाव दिखाने के लिये जो [८२] यथायोग भिन्न है (साक्षात् पारम्पर्येण वा) [व्याख्या २९७. १८] : अविद्यादि अंगों का प्रत्ययभाव साक्षात् है —"उसके होने पर यह होता है" या पारम्पर्येण होता है —"उसके उत्पाद से यह उत्पन्न होता है।"—साक्षात्, यथा क्लिष्ट संस्कार अविद्या के समनन्तर उत्पन्न होते हैं; पारम्पर्य से, जब कुशल संस्कार (२.६२ ए) उत्पन्न होते हैं। दूसरी ओर अविद्या संस्कारों का साक्षात् प्रत्यय है और विज्ञान का पारम्पर्येण प्रत्यय है।

२. एक दूसरे व्याख्यान के अनुसार[1] प्रथम पर्याय अहेतुवाद के प्रतिषेध के लिये है। अहेतुवाद वह वाद है जिसके अनुसार हेतु के न होने पर भाव होता है (असति हेतौ भावो भवति) [व्याख्या २९७.२७]। दूसरा पर्याय नित्य हेतुवाद के प्रतिषेधार्थ है जिसके अनुसार अनुत्पत्तिमत् नित्य प्रकृति, पुरुषादिक से वस्तुओं की उत्पत्ति होती है। इस कल्पना में प्रथम पद का ग्रहण निरर्थक है क्योंकि द्वितीय पर्याय से उभयवाद का प्रतिषेध सिद्ध होता है।

३. किन्तु कुछ ऐसे तीर्थिक हैं जिनकी कल्पना है कि "[अविद्या के] आश्रयभूत आत्मा के होने पर संस्कार-विज्ञानादि होते हैं; उनका भाव होता है। अविद्या के उत्पाद से संस्कारों की उत्पत्ति होती है", एवमादि। दूसरे शब्दों में वह एक आत्मा की कल्पना करते हैं जो धर्मों के उत्तरोत्तर प्रत्ययभाव के लिये आश्रय का काम देता है। इस कल्पना का प्रतिषेध करने के लिये भगवत् निर्धारित करतेहैं : "जिसके (अविद्या के) उत्पाद से जो (संस्कार) उत्पन्न होता है उसके ही होने पर वह होता है, अन्य किसी आश्रय के होने पर नहीं।" अन्यथा प्रथम पर्याय को इस प्रकार कहेंगे : "आश्रयभूत आत्मा के होने पर और अविद्यादि के होने पर संस्कारादि होते हैं" और द्वितीय पर्याय को इस प्रकार कहेंगे : "यह सत्य है कि अविद्यादि के उत्पाद से संस्कारादि

---

[1] श्रीलाभ का निर्देश (व्याख्या) [जिन्हें संघभद्र सामान्यतः 'स्थविर' कहते हैं]; फा-पाओ: सौत्रान्तिकों का भिन्न निर्देश; पू-कुआंग "स्थविर-तोङ्-हिओ"; संघभद्र, "स्थविर-तोङ्-किआन"।

[2] व्याख्या इस परिच्छेद के लिये कहती है कि यह आचार्य का मत है—एतत् सर्वमाचार्य-मतम् [व्या २९७.२६]

[3] व्याख्या के अनुसार यह स्थविर वसुवर्मा का व्याख्यान है [व्याख्या २९७.२७] जो पू-कुआंग के चे-साओ हैं। एक वसुवर्मा नैञ्जियो १२६१ के शास्त्रकार हैं। यह ग्रन्थ चतुःसत्यशास्त्र है।

उत्पन्न होते हैं किन्तु यह तभी होता है जब आश्रयभूत आत्मा होता है।" दोनों पर्याय मिलकर इन व्याख्यानों को अयुक्त सिद्ध करते हैं: "अविद्याप्रत्ययवश संस्कार होते हैं [अर्थात्—केवल अविद्या के होने पर.....].....इस प्रकार केवल (=आत्मरहित) महान् दुःखस्कन्ध का समुदय होता है।"

४. आचार्यों[२] का मत है कि प्रथम पर्याय अप्रहाण-ज्ञापनार्थ है: "अविद्या के होने [८३] पर, अप्रहीण होने पर, संस्कार होते हैं, प्रहीण नहीं होते" और द्वितीय पर्याय उत्पत्ति-ज्ञापनार्थ है: "अविद्या के उत्पाद से संस्कार उत्पन्न होते हैं।"[१]

५. एक दूसरे मत के अनुसार[२], प्रथम पर्याय स्थिति-संदर्शनार्थ है, द्वितीय पर्याय उत्पत्ति-संदर्शनार्थ है:[३] "यावत् कारणस्रोत है तावत् कार्यस्रोत है। कारण के ही उत्पाद से कार्य उत्पन्न होता है।"

हम कहेंगे कि यहाँ उत्पाद अधिकृत है। वास्तव में भगवत् कहते हैं कि "मैं तुमको प्रतीत्यसमुत्पाद की देशना दूँगा।" यहाँ स्थिति-वचन का क्या प्रसंग है? पुनः भगवत् की देशना का भिन्न क्रम किस प्रयोजन से होगा—पूर्व स्थिति, पश्चात् उत्पत्ति?

[इन्हीं आचार्य का][४] पुनर्व्याख्यान—'उसके होने पर यह होता है' इस पर्याय का अर्थ यह है: "कार्य के होने पर हेतु का विनाश होता है।" किन्तु यह मत विचारिये कि कार्य अहेतुक है: "उसके उत्पाद से यह उत्पन्न होता है।"

किन्तु यदि ऐसा होता तो भगवत् की उक्ति इस प्रकार होती: "उसके होने पर यह नहीं होता" और वह कार्य के उत्पाद का पूर्व निर्देश करते। एक बार कार्य के उत्पन्न होने पर हम कह सकते हैं कि "कार्य के उत्पन्न होने पर हेतु और नहीं होता"।—यदि सूत्र का वह अर्थ है जो इन आचार्य को इष्ट है तो यह कैसे है कि भगवत् प्रतीत्यसमुत्पाद का निर्देश करना चाहते हैं किन्तु पहले हेतु के विनाश का निर्देश करते हैं?

अविद्याप्रत्ययवश संस्कार कैसे होते हैं? जातिप्रत्ययवश जरामरण कैसे है?[५]—हम इस प्रश्न का संक्षेप में उत्तर देते हैं।

---

[२] अर्थात् पूर्वाचार्यः आचार्या इति पूर्वाचार्याः [व्या २९८.१८]

[१] अप्रहाणज्ञापनार्थम्, उत्पत्तिज्ञापनार्थम् [व्या २९८.१९]

[२] व्याख्या के अनुसार यह श्रीलाभ का मत है। [व्या २९८.२४ 'श्रीलात']

[३] स्थित्युत्पत्तिसंदर्शन [व्या २९८.२३]

[४] पुनराह—व्याख्या के अनुसार : स एष भदन्त श्रीलाभः [व्या २९८. ३२]—साएकी की टिप्पणी : स्थविर।

[५] सूत्र कहता है : जातिप्रत्यया जरामरणशोकपरिदेवदुःखदौर्मनस्योपायासाः सम्भवन्ति (पाठभेद हैं)। [व्या २९९.२]

शोक......उपायास 'जरामरण' में संगृहीत हैं और अंगान्तर नहीं हैं। यह सत्त्वासत्त्व-संख्यात विषय के विविध परिणाम से और आत्मभाव के परिणाम से होते हैं।

हम इनका लक्षण देते : हैं शोक = दौर्मनस्यसंप्रयुक्तो वितर्कः; परिदेव = शोकसमुत्थित-

[८४] बाल या पृथग्जन यह न जान कर (अप्रजानन्) कि प्रतीत्यसमुत्पाद संस्कारमात्र[1] है अर्थात् संस्कृत धर्म हैं—[प्रज्ञा का यह अभाव राग से असंप्रयुक्त आवेणिकी अविद्या है]—आत्मदृष्टि (५.७, १२) और अस्मिमान (५.१० ए) में अभिनिविष्ट होता है। वह सुख और अदुःखासुख के लिये काय-वाक्-मन से त्रिविध कर्म आरब्ध करता है : ऐहिक सुख के लिये अपुण्य[2], आयति-सुख के लिये कामावचर पुण्य, प्रथम तीन ध्यान के सुख के लिये और ऊर्ध्व-भूमियों के (४.४६ ए) अदुःखासुख के लिये 'आनिज्य'[3] कर्म। यह कर्म अविद्याप्रत्ययवश संस्कार हैं।

विज्ञानसन्तति का अन्तराभव के साथ सम्बन्ध होने से कर्माक्षेपवश यह सन्तति अमुक अमुक [८५] अतिविप्रकृष्ट गति को भी ज्वाला के समान जाती है अर्थात् निरन्तर उत्पन्न होती जाती है। संस्कारप्रत्ययवश यह विज्ञान है : विज्ञान का यह निर्देश उपपन्न है। हम प्रतीत्यसमुत्पाद-सूत्र के इस विज्ञानांग-निर्देश से सहमत हैं : "विज्ञान क्या है?—षड् विज्ञान-काय।"[1]

विज्ञानपूर्वंगम नामरूप की उत्पत्ति इस गति में होती है। यह पञ्च-स्कन्ध है। विभंग में ऐसा निर्देश है[2] : "नाम क्या है ? चार अरूपी स्कन्ध। रूप क्या है ? यत् किञ्चित् रूप... नाम और रूप यह उभय नामरूप कहलाते हैं।"

प्रलापः; दुःख, यथा २.७ ए में; दौर्मनस्य यथा २.८बी में; उपायास = विच्छिन्नवेगं दौर्मनस्यम् अथवा दूसरों के अनुसार, शोकपरिदेवपूर्वकः श्रमः (व्याख्या)।
शालिस्तम्ब (थियरी-आफ ट्वेल्व काजेज, ८०) के लक्षण देखिये; अभिधम्मसंगह, ३६ : सोकादिवचनं पनेत्थ निस्सन्दफलनिदस्सनं; विसुद्धिमग्ग, ५०३ (उपायास सर्वव्यसन से होता है) : दूसरे हवाले, थियरी आफ़ ट्वेल्व काजेज ३१-३२
हम जानते हैं कि अजन्ता के भवचक्र में शोकादि का निदर्शन किया है, जे. प्रीजिलुस्की, जे. एएस, १९२०, २.३१३। इस लेख को देखना चाहिये।

[1] बालो हि संस्कारमात्रं [प्रतीत्यसमुत्पादं] अप्रजानन् आत्मदृष्टयस्मिमानाभिनिविष्टः ... [व्या २९९.८]। व्याख्या अप्रजानन् का अर्थ इस प्रकार करती है 'आवेणिकीमविद्यां दर्शयति। देखो पृ० ६३, ८८।

[2] आयतिसुखार्थं पुण्यम्......कामावचरं कुशलं कर्म। ऐहिकसुखार्थम् अपुण्यम् [व्या २९९.१२]

[3] आनिञ्ज्यमिति। इगिः प्रकृत्यन्तरं तस्यैवैतद्रूपम् [व्या २९९.११] एजतेरेतद्रूपमानेंज्यम् इति वा पाठः—३.१०१ बी देखिये।

[1] हमारे लिये विज्ञानांग मरणभव से लेकर उपपत्तिभव पर्यन्त सर्व विज्ञान-सन्तति है : दूसरे शब्दों में अन्तराभव के प्रतिसन्धि-चित्त से लेकर यावत् उपपत्ति-क्षण (उपपत्तिभव, गति का आदि) अन्तराभव की विज्ञान-सन्तति [व्या २९९.२१]—इस सन्तति में मनोविज्ञान और चक्षुर्विज्ञानादि पंच विज्ञानकाय हैं [व्या २९९.२३]। अतः हम विज्ञानांग-निर्देश ए से सहमत हैं : विज्ञानं कतमत्। षड् विज्ञानकायाः।
यदि विज्ञानांग गति का प्रतिसन्धि-चित्त (उपपत्ति-भव) होता तो सूत्र-वचन इस प्रकार होता : विज्ञानं कतमत्। मनोविज्ञानम्। क्योंकि "मूलच्छेद.... मनोविज्ञान में ही इष्ट है" (३.४२ ए)

[2] भाष्य—विभंग एवं निर्देशात्—व्याख्या : प्रतीत्यसमुत्पादसूत्रे नामरूपविभंग एवं

पश्चात् नामरूप की वृद्धि से काल पाकर षडिन्द्रिय की उत्पत्ति होती है : यह षडायतन है।

पश्चात् विषय-संयोग से विज्ञान की उत्पत्ति और त्रिक (विज्ञान, षडायतन और विषय) संनिपात से स्पर्श जो सुखादिसंवेदनीय है। इससे सुखादिवेदनात्रय।

इस वेदनात्रय से त्रिविध तृष्णा : कामतृष्णा या दुःख से अर्दित सत्त्व की कामावचरी सुखा वेदना के लिये तृष्णा; रूपतृष्णा या प्रथम तीन ध्यान की सुखा वेदना और चतुर्थ ध्यान [८६] की अदुःखासुखा वेदना के लिये तृष्णा; आरूप्यतृष्णा।

पश्चात् वेदना की तृष्णा से चतुर्विध उपादान : कामोपादान, दृष्ट्युपादान, शीलव्रतोपादान, आत्मवादोपादान।[1] काम पाँच कामगुण (३.३, पृ. ७) हैं।[2] दृष्टियाँ ६२ हैं जैसा ब्रह्मजालसूत्र में निर्दिष्ट है। शील दौःशील्य (४.१२२ ए) का प्रतिषेध है; व्रत कुक्कुर-गोव्रतादि हैं[3] : यथा निर्ग्रन्थ और उनका नग्नभाव, ब्राह्मणों का दण्ड-अजिन, पाशुपतों का जटा-भस्म, परिव्राजकों का त्रिदण्ड और मौण्डच, इत्यादि। इन नियमों का समादान शीलव्रतोपादान (५.७,

---

निर्देशात्। नाम कतमत्.....[व्या २९९.३२]
नामरूप के लक्षण और उसके विविध रूप पर थियरी आफ़ ट्वेल्व काजेज देखिये।
ए. विज्ञान का यह निर्देश मध्यम, २४, १, मज्झिम, १.५३ का है। परमार्थ के अनुसार हमको कहना चाहिये : "प्रतीत्यसमुत्पादसूत्र के विज्ञानविभंग के अनुसार"। इस अर्थ का समर्थन नीचे व्याख्या से होता है (पृ० ८५, टि० २ देखिये)।

[1] वसुबन्धु यहाँ उपादान का सौत्रान्तिक व्याख्यान देते हैं; वैभाषिकवाद, ५.३८—चार उपादानों पर कथावत्थु, १५, २, विभंग, १४५, नेत्तिप्पकरण, ४१, संयुत्त, २.३, दीघ, २.५८, मज्झिम, १.६६।

[2] पञ्च कामगुणा इति। काम्यन्त इति कामाः। गण्यन्त इति गुणाः (व्याख्या 'गुण्यन्त')। कामा एव गुणाः कामगुणाः।.......रूपशब्दगन्धरसस्प्रष्टव्यानि [व्या ३००.४]

[3] कुक्कुरगोव्रतादीनि। आदिशब्देन मृगव्रतादीनि गृह्यन्ते। निर्ग्रन्थादीनाम्। आदिशब्देन पाण्डरभिक्ष्वादीनां ग्रहणम्।............ब्राह्मणानां दण्डाजिनम्। पाशुपतानां जटाभस्म। परिव्राजकानां त्रिदण्ड[ ] (व्याख्या का पाठ—मौण्डचम्)। आदिशब्देन कापालिकादीनां कपालधारणादि गृह्यते। तत्समादानं शीलव्रतोपादानम्। [व्या ३००.७]
कुक्कुरादिव्रत पर मज्झिम, १.३८७, दीघ, ३.६
'पाण्डरभिक्षु' पण्डरंगपरिब्बाजकों का स्मरण दिलाता है जो ब्राह्मण और 'ब्राह्मणजातिय पासंड' के साथ बिन्दुसार से अनुग्रह पाते थे, समन्तपासादिका, ४४; श्रीमती रीज डेविड्स थेरगाथा, ९४९ के 'पण्डर [स] गोत्त' से तुलना करती हैं।
विभाषा, ११४, २: दो तीर्थिक हैं—अचेलश्रेणिक (अचेल सेनिय कुक्कुरवतिक, मज्झिम, १.३८७, नेत्तिप्पकरण, ९९ से तुलना कीजिये) और पूरण कोडिक (पुण्ण कोलियपुत्त गोवतिक)। यह दो तीर्थिक एक ही समय में संथागार में बैठे हुये लोगों के पास प्रश्न करने के लिये जाते हैं और कहते हैं कि "लोक के जितने कठिन अभ्यास हैं उनका हम दोनों अभ्यास करते हैं, अध्ययन करते हैं और उन्हें सर्वथा निष्पन्न करते हैं। इन अभ्यासों का क्या विपाक है इसे कौन यथाभूत कह सकता है? ...."—विभाषा, ४८, ४: शीलव्रतोपादान द्विविध है, आभ्यन्तरिक और बाह्य। आभ्यन्तर के पुद्गल (बौद्ध) जिनको संमोह है कि स्नान से शुद्धि होती है और बारह धुतंगों के अभ्यासमात्र से पूर्ण विशुद्धि होती है।

[८७] पृ० १८-१९) हैं। आत्मवाद आत्मभाव है, जिसके लिय वाद है कि यह आत्मा है।[1] एक दूसरे मत के अनुसार[2] आत्मवाद आत्मदृष्टि और अस्मिमान है क्योंकि इन दो के कारण आत्मा का वाद होता है : यदि आगम 'वाद' शब्द का प्रयोग करता है तो इसका कारण यह है कि आत्मा असत् है। वास्तव में यह कहा है कि "बाल, अश्रुतवान्, पृथग्जन जो प्रज्ञप्ति में अनुपतित हैं 'आत्मा' और 'आत्मीय' के अस्तित्व को मानते हैं किन्तु आत्मा और आत्मीय असत् हैं।"[3] काम, दृष्टि आदि का उपादान उनके प्रति छन्द और राग है। यथा भगवत् ने सर्व में कहा है : "उपादान क्या है ? यह छन्दराग है।"[5]

उपादानप्रत्ययवश 'उपचित' कर्म पुनर्भव का उत्पाद करता है : यह भव है। सूत्रवचन है : "हे आनन्द ! पौनर्भविक कर्म, यह भव का स्वभाव है।"[6]

[८८] भवप्रत्ययवश, विज्ञानावक्रान्ति के योग से[7], अनागत जन्म होता है। यह जाति है। यह पंचस्कन्धिका है क्योंकि यह नामरूपस्वभाव है।

---

[1] आत्मेति वादोऽस्मिन्नित्यात्मवादः [व्या ३००. १२]—आत्मभाव, आत्मवाद पाँच उपादान स्कन्ध हैं। यथा इस वचन से सिद्ध है: ये केचिच्छ्रमणा वा ब्राह्मणा वा आत्मेति समनुपश्यन्तः समनुपश्यन्ति सर्वे त इमानेव पञ्चोपादानस्कन्धान्। (अध्याय ९, अनुवाद पृ० २५३; संयुत्त,३. ४६)

[2] सौत्रान्तिक निकाय के 'विभिन्न' आचार्य (साएकी)

[3] मध्यम,११,१९—बालो भिक्षवोऽश्रुतवान् पृथग्जनः प्रज्ञप्तिमनुपतितः चक्षुषा रूपाणि दृष्ट्वा......[व्या ३००. १६] (मध्यमकवृत्ति,१३७ और टि०)
'बाल' वह है जिसमें उपपत्तिलाभिका प्रज्ञा जो पूर्वाभ्यास की वासना से निर्जात है नहीं है; 'अश्रुतवान्' वह है जिसमें आगम से उत्पन्न (आगमजा) प्रज्ञा नहीं है; 'पृथग्जन' वह है जिसमें अधिगम अर्थात् सत्याभिसमय (६. २७) से उत्पन्न प्रज्ञा नहीं है।
प्रज्ञप्तिमनुपतितः = यथा संज्ञा यथा च व्यवहारस्तथानुगतः—पालि में यह पद नहीं है।

[4] "सर्व में", मैं समझता हूँ कि यह सर्ववर्ग है। [किन्तु सब्बवग्ग, संयुत्त, ४.१५ में ऐसा कुछ नहीं है]—परमार्थ :"सब स्थानों में"।

[5] संयुक्त,२९,७; संयुत्त, ३.१०० :"क्या उपादान और उपादानस्कन्ध एक हैं? यह न उपादानस्कन्ध से अभिन्न हैं और न भिन्न। उनके लिये जो छन्दराग है वह उनके लिये उपादान है (अपि च यो तत्थ छन्दरागो तं तत्थ उपादानं)"; ३. १६७ : रूप 'उपादानिय धम्म' है [अर्थात् उपादान का विषय जिससे उपादान समुत्थित होता है]। उसके लिये छन्दराग रूप के लिये उपादान है। [इसी प्रकार अन्य स्कन्धों के लिये]; ४. ८९, इसी वचन में स्कन्धों के स्थान में षडिन्द्रिय का आदेश कर।
व्याख्या—अप्राप्तेषु विषयेषु प्रार्थना छन्दः; प्राप्तेषु रागः [व्या ३००. २०]

[6] सूत्र : पौनर्भविकं [कर्म] इदमत्र भवस्य।
व्याख्या : इदमत्र भवस्य स्वलक्षणं स्वभाव इत्यर्थः। [व्या ३००. २५]
६. ३ में उद्धृत सूत्र से तुलना कीजिये (अनुवाद पृ० १३१, टिप्पणी) : यत्किंचिद् वेदितमिदमत्र दुःखस्य।
विसुद्धि, ५७५—कम्म निर्धारित है; विभंग, १३७, चुल्लनिद्देस, ४७१

[7] विज्ञानावक्रान्तियोगेन—शुआन्-चाङ : विज्ञानसन्तान'—अवक्रान्ति—विञ्ञाण की अवक्कन्ति, संयुत्त, २. ९१।

जातिप्रत्ययवश जरामरण, यथा सूत्र में निर्दिष्ट है।[२]

इस प्रकार केवल—अर्थात् आत्मरहित—इस महान् दुःखस्कन्ध (=समूह) का समुदय होता है (समुदेति)। यह महान् है क्योंकि इसका आदि-अन्त नहीं है।

जो व्याख्यान पूर्व उक्त है कि बारह अंग बारह पंचस्कन्धिक अवस्था हैं वह वैभाषिकों का न्याय है (स एव तु वैभाषिकनयो यः पूर्वमुक्तः) [व्या ३०० . ३२]। अविद्या क्या है? अ-विद्या, जो विद्या नहीं है (या न विद्या) [व्या ३०१ . २]। यह अर्थ असम्भव है क्योंकि चक्षुरादि में भी अविद्या का प्रसंग होगा। यदि यह विद्या का अभाव (विद्याया अभावः) [व्या ३०१ . ३] है तो अविद्या द्रव्य नहीं है (४ . पृ० ५)। इसलिये यह अर्थ अयुक्त है। अविद्या प्रत्यय है। इसलिए यह द्रव्य है। अतः

२८ सी-डी. अविद्या एक अन्य धर्म है। यह विद्या का विपक्ष है, यथा अमित्र, अनृत आदि।[३]

[८९] अमित्र मित्र का विपक्ष है, अ-मित्र नहीं है अर्थात् मित्र से अन्य सब कुछ है ऐसा नहीं है, मित्र का अभाव नहीं है। ऋत या सत्य अवितथ है। अनृत सत्य-भाषण का प्रतिपक्ष है। इसी प्रकार अधर्म, अनर्थ, अकार्य धर्म, अर्थ, कार्य के प्रतिद्वन्द्व हैं।[१] यह धर्मादि के प्रतिषेधमात्र नहीं हैं और न धर्मादि के अभाव हैं।

इसी प्रकार अविद्या विद्या का प्रतिपक्ष है, धर्मान्तर है, द्रव्य है। सूत्र का उपदेश है कि अविद्या संस्कारों का प्रत्यय है। अतः सिद्ध होता है कि यह प्रतिषेधमात्र नहीं है। पुनः

संयोजनादिवचनात् कुप्रज्ञा चेन्न दर्शनात्।
दृष्टेस्तत्संप्रयुक्तत्वात् प्रज्ञोपक्लेशदेशनात् ॥२९॥

२९ ए. क्योंकि इसे संयोजनादि कहा है।[२]

सूत्र अविद्या को एक पृथक् संयोजन, बन्धन, अनुशय, आस्रव, ओघ, योग मानते हैं। अतः अविद्या अभावमात्र नहीं हो सकती। यह विद्या से अन्य सब कुछ—चक्षुरादि—नहीं हो सकती।

किन्तु 'नञ्' (अ) उपसर्ग कुत्सित के अर्थ में होता है। बुरी पत्नी, बुरे पुत्र को अकलत्र, अपुत्र कहते हैं। क्या हम यह नहीं कह सकते कि अविद्या कुत्सित विद्या अर्थात् कुत्सित प्रज्ञा है?

---

[२] **जरा कतमा। यत्तत् खालित्यं पालित्यम्.....। मरणं कतमत्। या तेषां तेषां सत्वानां तस्मात् तस्माच्च्युतिश्च्यवनम्.....[व्या ३००.२८]**
मज्झिम, १.४९, दीघ, २.३०५, विभंग, ९९, धम्मसंगणि, ६४४ से तुलना कीजिये। 'खालित्य' का समकक्ष 'खण्डिच्च' है। खण्डिच्च का अर्थ इस प्रकार करते हैं: खण्डदन्त (रीज डेविड्स-स्टीड), अंगुत्तर १.१३८ के अनुसार, विसुद्धि, ४४९।

[३] **विद्याविपक्षो धर्मोऽन्योऽविद्यामित्रानतादिवत्।**
'अविद्या' शब्द में 'नञ्' उपसर्ग का अर्थ 'विरोध' है। नञ् उपसर्गपूर्वक शब्द 'विपक्ष' 'प्रतिद्वन्द्व' सूचक होते हैं। यह प्रत्युदासमात्र का सूचक नहीं है। यह अभावमात्र का सूचक नहीं है। [व्या ३०१.५]

[१] **अन्य उदाहरण: अयुक्ति, अव्यवहार, अमनुष्य [व्या ३०१.७]। (अमनुष्य पर, ४.पृ० १२६, १६४, २०५)।**

[२] **संयोजनादिवचनात्, ५.पृ० ७३ देखिये।**

२९ बी. अविद्या कुप्रज्ञा नहीं है क्योंकि कुप्रज्ञा दर्शन है।[३] कुप्रज्ञा या क्लिष्ट प्रज्ञा निःसंदेह दृष्टि है (पांच कुदृष्टियों में से एक, ५.३)। किन्तु अविद्या निश्चय ही दृष्टि नहीं है क्योंकि अविद्या और दृष्टि दो पृथक् संयोजन हैं।[४]

[९०] [सौत्रान्तिक]—अविद्या क्लिष्ट प्रज्ञा होगी जो दृष्टिस्वभाव नहीं है [यथा राग-संप्रयुक्त प्रज्ञा]। यह असम्भव है,

२९ सी. क्योंकि दृष्टि अविद्या से संप्रयुक्त है।[१]

वास्तव में मोह जिसका लक्षण अविद्या है (अविद्यालक्षणो मोहः) [व्या ३०१.२१] क्लेशमहाभूमिकों में (२. २६ ए) पठित है। किन्तु सब क्लेशमहाभूमिक अन्योन्यसंप्रयुक्त हैं। अतः अविद्या का (मोह के नाम से) दृष्टि से (पंचविध कुदृष्टि से) संप्रयोग है जो प्रज्ञास्वभाव है। अतः अविद्या प्रज्ञा नहीं है क्योंकि दो प्रज्ञाद्रव्य का संप्रयोग नहीं हो सकता।

२९ डी. क्योंकि अविद्या का लक्षण प्रज्ञा का उपक्लेश है।[२]

सूत्रोक्त है कि "रागोपक्लिष्ट चित्त का विमोक्ष नहीं होता; अविद्या से उपक्लिष्ट प्रज्ञा की विशुद्धि नहीं होती"।[३] किन्तु प्रज्ञा प्रज्ञा से उपक्लिष्ट नहीं होती। यदि राग चित्त [९१]का उपक्लेशन है तो यह इसलिये है क्योंकि राग चित्त नहीं है। यदि अविद्या प्रज्ञा का उपक्लेश है तो यह इसलिये है क्योंकि अविद्या प्रज्ञा नहीं है।

[सौत्रान्तिक का उत्तर]—कुशल प्रज्ञा क्लिष्ट प्रज्ञा से व्यवकीर्यमाण हो सकती है जब कुशल और क्लिष्ट प्रज्ञा के क्षण एक दूसरे के अनन्तर होते हैं। यथा जब कोई कहता है कि

---

[३] कुप्रज्ञा चेन्न दर्शनात्। दर्शन पर ७.१ देखिये।

[४] हमने (ऊपर पृ० ८४ में) देखा है कि बाल "धर्मों का संस्कृत लक्षण नहीं जानते (अप्रजानन्)"। इस वाक्य से अविद्या का लक्षण आकृष्ट हो सकता है। यह दृष्टि (आत्मदृष्टि = सत्कायदृष्टि) के पूर्व होती है।—अविद्या का लक्षण, पृ० ७५, ९२-९४। दूसरी ओर अविद्या = मोह, २.२६ ए, पृ० १६१, ४.९ सी, ५.२० ए, पृ०.४१।
[सत्य यह है कि यदि अविद्या 'अज्ञान' मात्र, विद्या या सम्यक् प्रज्ञा का अभावमात्र नहीं है तो हम नहीं देखते कि कैसे यह क्लिष्ट प्रज्ञा नहीं है। यदि अविद्या धर्मों के संस्कृत लक्षण के अज्ञान से अन्य वस्तु है, यदि यह पूर्वभवादि के यथाभूत स्वभाव के अज्ञान से अन्य वस्तु है तो यह उस क्लिष्ट प्रज्ञा से व्यवकीर्ण कैसे नहीं होती जो कुदृष्टिस्वभाव (आत्मदृष्टि, आत्मपूर्वभव-दृष्टि आदि) है? और भी अधिक क्योंकि तर्कसम्मत आत्मदृष्टि के अतिरिक्त जिसकी उपपत्ति तीर्थिक करते हैं वह एक सहज 'आत्मदृष्टि' भी मानते हैं—यह द्रष्टव्य है कि तीन दृष्टियाँ मोह (मूढि), अकुशलमूलस्वभाव (५.२० ए) हैं।]

[१] दृष्टेस्तत् संप्रयुक्तत्वात्। [व्या ३०१.१९]

[२] प्रज्ञोपक्लेशदेशनात्॥

[३] संयुक्त, २६, ३०: [रागोपक्लिष्टं चित्तं न विमुच्यते] अविद्योपक्लिष्टा प्रज्ञा न विशुध्यति। [व्या ३०१.२४]
क्लिष्टचित्त के विमोक्ष पर, ६.७७ ए, अनुवाद पृ० २९९
अभिधम्म (यथा पटिसंभिदामग्ग, १.२१) सीलविसुद्धि, चित्तविसुद्धि, दिट्ठिविसुद्धि से परिचित है।

रागोपक्लिष्ट चित्त अविमुक्त है तो यह चित्त अवश्य रागपर्यवस्थित (राग-संप्रयुक्त) नहीं है किन्तु यह रागोपहत है। [राग की समुदाचारता नहीं है, (समुदाचरन्) [व्या ३०१.३१] किन्तु उसकी वासना के आधान से चित्त उपहत होता है]। जब योगी राग से व्यावृत्त होता है [अर्थात् उस वासना का निरोध कर चित्त-दौष्ठुल्य का व्यावर्तन करता है] तब चित्त विमुक्त होता है। इसी प्रकार अविद्या (कुप्रज्ञा) से क्लिष्ट प्रज्ञा शुद्ध नहीं होती : कुशल होने पर भी यह अविद्या से उपहत होती है।

वादी को उसकी परिकल्पना से कौन निवारण कर सकता है?[1] अविद्या प्रज्ञास्वभाव नहीं है।[2]

जिस वादी का मत है कि अविद्या सर्वक्लेशस्वभाव है उसका भी इसी से प्रतिषेध होता है।[3] यदि अविद्या सर्वक्लेशस्वभाव है तो संयोजनादि में इसका पृथक् [९२] वचन नहीं हो सकता। यह दृष्टि और अन्य क्लेशों से संप्रयुक्त नहीं है। आगम का यह वचन न होना चाहिये था कि "रागोपक्लिष्ट चित्त विमुक्त नहीं होता" किन्तु उसे "अविद्या से उपक्लिष्ट चित्त" कहना चाहिये था। क्या आप यह कहेंगे कि मत के विशेषणार्थ ऐसा कहा है और सूत्र का कहने का यह आशय है कि "रागलक्षणा अविद्या से उपक्लिष्ट चित्त विमुक्त नहीं होता"? इस विकल्प में आगम को इसका भी अवधारण करना चाहिये कि अविद्या का वह कौन सा प्रकार है जो प्रज्ञा की विशुद्धि में प्रतिबन्ध है। किन्तु आगम कहता है कि "अविद्या से उपक्लिष्ट प्रज्ञा शुद्ध नहीं होती।"

---

[1] को हि परिकल्पयन्तं निवर्तयति—व्याख्या : कल्पनामात्रमेतद् आगमनिरपेक्षमिति कथयति [व्या ३०१.३४]—फा-पाओ और पू-कुआंग का इसमें ऐकमत्य नहीं है कि वसुबन्धु यहाँ सौत्रान्तिक के विरुद्ध वैभाषिक पक्ष लेते हैं अथवा नहीं। दूसरे शब्दों में जब आचार्य यह कहते हैं कि वादी को कौन उसकी कल्पनाओं से रोक सकता है तो या तो वह अपना मत देते हैं या वैभाषिक वचन का उल्लेख करते हैं। व्याख्या प्रथम विकल्प को स्वीकार करती है। संघभद्र कहते हैं कि "सौत्रान्तिक का कहना है कि कुशल प्रज्ञा व्यवकीर्ण हो सकती है....."। हम जानते हैं कि वह वसुबन्धु का उल्लेख सदा 'सौत्रान्तिक' करके करते हैं। चीनी टीकाकारों का विचार है कि वसुबन्धु इस वाद का प्रतिषेध करते हैं कि कुशल और क्लिष्ट प्रज्ञा का व्यतिषंग होता है किन्तु उनका यह मत नहीं है कि अविद्या एक पृथक् धर्म है।

[2] शुआन्-चाङ : "यथा राग चित्त से भिन्न है उसी प्रकार प्रज्ञा से भिन्न अविद्या एक धर्मान्तर है। यह वाद सुष्ठु है।"

[3] भदन्त श्रीलाभ (व्या—श्रीलात) कहते हैं कि "अविद्या सर्वक्लेश की सामान्य संज्ञा है; रागादि क्लेश से व्यतिरिक्त कोई अविद्या नहीं है (अविद्येति सर्वक्लेशानामियं सामान्य-संज्ञा। न रागादिक्लेशव्यतिरिक्ताऽविद्या नामास्ति) [व्या ३०२.२]—इस सूत्र के अनुसार 'हे महाकौष्ठिल! यथाभूत नहीं जानते हैं (न प्रजानाति) इससे अविद्या कहलाती है......।" [संयुत्त, ३.१७२ : महाकोट्ठितो (या महाकोट्ठिको) ....अवोच। अविज्जा अविज्जाति आवुसो सारिपुत्त वुच्चति....] वास्तव में सब क्लेश अज्ञानस्वरूप हैं क्योंकि वह धर्मों का विपरीत ग्रहण करते हैं (विपरीतग्रहणतः)
नैञ्जियो १२७४ में यह हरिवर्मा का वाद है। साएकी के अनुसार वसुबन्धु का यहाँ हरिवर्मा से अभिप्राय है।

यदि आप अविद्या को एक पृथक् धर्म मानते हैं और प्रज्ञा का एक प्रकार नहीं मानते तो आपको उसका लक्षण बताना चाहिये।

अविद्या चतुःसत्य, त्रिरत्न, कर्म और फल का असंप्रख्यान है [संप्रख्यान, प्रज्ञा, ज्ञान, यह एक ही अर्थ है][1]

असंप्रख्यान क्या है?

यह अ-संप्रख्यान नहीं है, यह संप्रख्यान का अभाव नहीं है यथा अविद्या अ-विद्या या विद्या का अभाव नहीं है। अतः यह एक धर्मान्तर है। यह संप्रख्यान का प्रतिपक्ष है।

बहुत अच्छा, किन्तु वही दोष है जो अविद्या में है। आप अविद्या की तरह असंप्रख्यान का स्वभाव नहीं बताते।

प्रायः निर्देश स्वभावप्रभावित नहीं होते किन्तु कर्मप्रभावित होते हैं। यथा चक्षु [१.३] का निर्देश इस प्रकार करते हैं: "जो रूपप्रसाद चक्षुर्विज्ञान का आश्रय है" क्योंकि इस अप्रत्यक्ष रूप को केवल अनुमान से जानते हैं (कोश १, अनुवाद पृ० २३१) [इसी प्रकार अविद्या का स्वभाव उसके कर्म या कारित्र से जाना जाता है। यह कर्म विद्या का विपक्षत्व है। अतः यह विद्याविपक्ष धर्म है।] [व्या ३०२.२८]

भदन्त धर्मत्रात अविद्या का इन शब्दों में निर्देश करते हैं: अस्मीति सत्वमयना।[1] [व्या ३०२.३२]

'अस्मिमान' (५.१०) से भिन्न यह 'मयना' क्या है?

भदन्त उत्तर देते हैं: जो इस सूत्र में[2] उक्त है: "आत्मग्राह, यमग्राह, अस्मि-

---

[1] ऊपर ३.पृ० ७५, संयुक्त, १२, २१; १८, ३ : पूर्वान्तेऽज्ञानमपरान्ते....मध्यान्ते...... [बुद्धधर्मसंघरत्नेष्व्.........दुःखसमुदयनिरोधमार्गेष्वकुशलाकुशलाव्याकृतेष्व् .... आध्यात्मिके......बाह्येऽज्ञानम्। यत् किञ्चिद् तत्र तत्राज्ञानम् तम आवरणम्.....] —कोश, २. अनुवाद पृ० १६१ देखिये जहाँ 'अविद्या', 'अज्ञान' और 'अन्धकार' है। विभंग, ८५ : यं अञ्ञाणं अदस्सनं अनभिसमयो.....(पर्यायवाची शब्दों की लम्बी सूची में 'असंपक्खान' नहीं है)
रीज डेविड्स—स्टीड (अविज्जा) और थियरी आव ट्वेल्व काजेज ६-९ में अनेक हवाले मिलेंगे।

[1] इस शब्द का जो भी अर्थ क्यों न हो, हम चाहते हैं कि इसका पाठ तो ठीक हो। 'सत्वमन्यना' यह शोध इसका शोध नहीं है।
लोत्सव का अनुवाद = अस्मीति-सत्वम्-अयन; और सूत्र के अनुवाद में सर्वायनानाम् है [किन्तु व्याख्या में मयना, मयनानां है और धातुपाठ में 'मी गतौ' है : अतः सत्त्व-मयना]
परमार्थ में केवल = मय है।
शुआन्-चाङ = सत्त्व-आत्माश्रित-मय-ता।
पू-कुआंग : (मयता) = अहंमान
संघभद्र 'मय' का अर्थ '[गति] गमन' करते हैं; मय का भाव मयता है। [सत्त्वमयता = सत्त्वों का गमनभाव.....]।

[2] संयुक्त, ३४, १६

मान[३] में तृष्णा, दृष्टि, मयना, अभिनिवेश और अनुशय के प्रहाण और परिज्ञान से मैं निश्छाय[४] परिनिर्वाण को जानता और देखता हूँ।" [यह सूत्र प्रदर्शित करता है कि मयना—हम यहाँ एक वचन का प्रयोग करते हैं क्योंकि यह जाति-निर्देश है—अस्मिमान से भिन्न है।] [व्या ३०३.३]

[९४] माना कि एक 'मयना' है किन्तु यह आप किस कारण से परिच्छिन्न करते हैं कि यह अविद्या है?

भदन्त अपने अभिप्राय को स्पष्ट करते हैं: क्योंकि इसे कोई अन्य क्लेश नहीं कह सकते इसलिये कि तृष्णा, दृष्टि, अस्मिमान से इसका पृथक् वचन है।[१]

किन्तु क्या यह अस्मिमान से भिन्न अन्य मान नहीं हो सकता?

[मान षड्विध या सप्तविध है, ५.१०]—किन्तु इसका विचार करने में बहुत कहना पड़ेगा। इसलिये इसे यहीं रहने दें। (तस्मात् तिष्ठत्वेतत्)। [व्या ३०३.९]

नामरूप[२] में से रूप का निर्देश विस्तार से पहले हो चुका है (१.९)।

नाम त्वरूपिणः स्कन्धाः स्पर्शाः षट् सन्निपातजाः।
पञ्च प्रतिघसंस्पर्शाः षष्ठोऽधिवचनाह्वयः ॥३०॥

३० ए. नामन् अरूपी स्कन्ध हैं।[३]

वेदना, संज्ञा, संस्कार, विज्ञान यह चार अरूपी स्कन्ध 'नामन्' कहलाते हैं क्योंकि नामन् का अर्थ है 'जो झुकता है', नमतीति नाम [व्या ३०३.२०]।

अरूपी स्कन्ध नामवश, इन्द्रियवश और अर्थवश अर्थों में नमते हैं [अर्थात् प्रवृत्त होते हैं, प्रवर्तन्ते, उत्पन्न होते हैं, उत्पद्यन्ते]।[४]

'नामवश' इस पद में नाम शब्द का ग्रहण उस अर्थ में है जो लोक में प्रसिद्ध है। इसका अर्थ

---

[३] अहंकारममकारमानानुशय, संयुत्त, ३.८०, इत्यादि; अस्मिमान, अस्मीति मान, ३.१५५.

[४] तिब्बती भाषान्तर से ज्ञापित होता है कि मूल शब्द 'निश्छाय' है जो पालि के 'निच्छात' के अनुरूप है। इस शब्द पर रीज डेविड्स-स्टीड देखिये। इसके साथ प्रायः निब्बुत, सीतीभूत आदि शब्द व्यवहृत होते हैं। अंगुत्तर, ५.६५ भी देखिये।

[१] मयना पुनः सौत्रान्तिकैरविद्या प्रकारभिन्ना वर्ण्यते, मानो वा। [व्या ३०२.३३]।

[२] अथ नामरूपम् [व्या ३०३.१३]—यहाँ संस्कार और विज्ञान का निर्देश होना चाहिये; ३.३६ ए देखिये।

[३] नामत्वरूपिणः स्कन्धाः—विभाषा, १५, ५, थियरी आफ ट्वेल्व काजेज १६-१८—२.४७ देखिये।

[४] नामवश अरूपी स्कन्ध अप्रत्यक्ष अर्थों में (अप्रत्यक्षेषु अर्थेषु) प्रवृत्त होते हैं (प्रवर्तन्ते): "इस नाम का यह विषय (या अभिधेय), अर्थ है।" इंद्रियवश प्रत्यक्ष अर्थों में अरूपी स्कन्ध उत्पन्न होते हैं (उत्पद्यन्ते)। अर्थवश नामों के प्रति अरूपी स्कन्धों का प्रवर्तन होता है: "इस अर्थ का यह नाम है।"
अत्थसालिनी, ३९२, एक्स्पाजिटर, ५००-५०१ से तुलना कीजिये—नामों के प्रभव पर बुद्धघोस; विभाषा, १५, ५.

यहाँ संज्ञाकरण (२.४७ ए, पृ० २३८) है। यह समुदायप्रत्यायक है, यथा गो, अश्व [९५] आदि, या एकार्थप्रत्यायक है, यथा रूप, रस, आदि।

संज्ञाकरण का नामत्व किस कारण है?—क्योंकि संज्ञाकरण अर्थों में अरूपी स्कन्धों को नमाता है (नमयतीति नाम)।

एक दूसरे व्याख्यान के अनुसार अरूपी स्कन्धों को नामन् कहते हैं क्योंकि जब काय निक्षिप्त होता है तब यह स्कन्ध अन्य उपपत्ति की ओर नमते हैं, जाते हैं।[1]

हम षडायतन का निर्देश कर चुके हैं। (१.९)

३० बी. स्पर्श छः हैं। वह सन्निपात से उत्पन्न होते हैं।[2]

[९६] प्रथम चक्षुःसंस्पर्श है। छठा मनःसंस्पर्श है (दीघ, ३.२४३ इत्यादि)

---

[1] व्याख्या इस विषय पर एक सूत्र उद्धृत करती है। यदि हम इसकी तुलना संयुत्त, ५.३६९ के महानामसुत्त से करें तो रोचक पाठभेद मिलेंगे : मृतस्य खलु कालगतस्य ज्ञातय इमं पूतिककायमग्निना वा दहन्ति उदके वा प्लावयन्ति भूमौ वा निखनन्ति वातातपाभ्यां वा परिशोषं परिक्षयं पर्यादानं गच्छति। यत् पुनरिदम् उच्यते चित्तमिति वा मन इति वा विज्ञानमिति वा श्रद्धापरिभावितं शीलत्यागश्रुतप्रज्ञापरिभावितं तदूर्ध्वगामि भवति विशेषगाम्यायत्यां स्वर्गोपगम्। [व्या ३०३.३२]
संयुत्त में केवल पशु-पक्षी आदि से विदीर्ण और खादित काय का उल्लेख है। दीघ, २.२९५ की तरह—नारिमन, आरएच्-आर, १९१२, १.८५ देखिये।

[2] स्पर्शाः षट् सन्निपातजाः
स्पर्श पर कोश, २.२४, पृ० १५४, ३, पृ० ६५, टिप्पणी ४, ८५ देखिये; थियरी आव ट्वेल्व काजेज, २२; श्रीमती रीज डैविडस, धम्मसंगणि, के अनुवाद की भूमिका, पृ० ६३, कम्पेण्डियम, १२, १४ (awareness of the objective presentation)
मज्झिम, १.१९०; अत्थसालिनी, १०९, १४१-२; विसुद्धिमग्ग, ४६३, ५९५; मध्यमकवृत्ति, ५५४ (आवश्यक); विज्ञानकाय (इसका विवरण एशियाटिक स्टडीज, १९२५, १.३७० में है।
यहाँ कारिका सर्वास्तिवादियों के मत का निर्देश करती है : सौत्रान्तिक के अनुसार स्पर्श "त्रिकसंनिपात" है किन्तु सर्वास्तिवादिन् के अनुसार (बुद्धघोस के अनुसार भी, अत्थसालिनी, १०९) स्पर्श 'त्रिकसंनिपात' नहीं है किन्तु इस संनिपात का कार्य है, एक चैतसिक धर्म है, कोश, २.२४।
'त्रिक' चक्षु, विषय और विज्ञान का है। विज्ञान की उत्पत्ति चक्षु, और विषय (तथा समन्वाहार) से होती है, मज्झिम, १.१९०, मध्यमकवृत्ति, १.५५४—सर्वास्तिवादी का मत है कि विज्ञान (= चित्त) अर्थमात्र जानता है और चैत्त, चैतसिक [अर्थात् स्पर्श, वेदनादि] अर्थ विशेष जानते हैं।—शरबात्स्की (सेन्ट्रल कन्सेप्शन १५, १७, ५५) विज्ञान का यह व्याख्यान करते हैं " "the mind viewed as a receptive faculty, pure consciousness (यह मनोधातु है), pure sensation without any content" और स्पर्श को 'sensation', 'real sensation' बताते हैं—हमारे ग्रन्थ (कोश, २.३४, पृ० १७७, टि.५) के निर्देश के अनुसार विज्ञान उपलभ्यतारूप का ग्रहण करता है। यह सर्वप्रारम्भिक 'ज्ञान' है, (जैसा मनोविज्ञान के शास्त्रकार कहते हैं) —यह ज्ञान कि हम किसी वस्तु की उपलब्धि करते हैं। किन्तु दूसरी ओर चक्षुर्विज्ञानं नीलं

यह इन्द्रिय, विषय और विज्ञान इन तीन के संनिपात से उत्पन्न होते हैं।

हम मानते हैं कि पांच रूपीन्द्रिय, उनके विषय और उनके विज्ञानों का संनिपात हो सकता है क्योंकि यह तीन सहभू हैं। किन्तु जब मनोविज्ञान (१.१७ ए) की उत्पत्ति होती है तब मन-इन्द्रिय या मनस् (मनोधातु) निरुद्ध होता है। इस मनोविज्ञान का विषय अनागत धर्म हो सकता है। तब त्रिक का संनिपात कैसे होगा?—कहते हैं कि संनिपात होता है क्योंकि मनस् और धर्म मनोविज्ञान कार्य के कारण हैं, अथवा क्योंकि इन्द्रिय, विषय और विज्ञान का एक ही कार्य है। तीनों स्पर्श की उत्पत्ति में प्रगुण होते हैं।

स्पर्श का लक्षण क्या है? आचार्य सहमत नहीं हैं।

[९७] एक—सौत्रान्तिक—कहते हैं: स्पर्श संनिपातमात्र है। सूत्र के अनुसार: इन धर्मों की संगति, संनिपात, समवाय, स्पर्श है।[1]

अन्य—सर्वास्तिवादी—कहते हैं: स्पर्श चित्तसंप्रयुक्त धर्म (कोश, २.२४. पृ० १५४) है। यह संनिपात से अन्य है।[2] षट्षट्कसूत्र[3] के अनुसार: "(चक्षुरादि) ६ आध्यात्मिक आयतन, (रूपादि) ६ बाह्य आयतन, ६ विज्ञान, ६ स्पर्श, ६ वेदना, ६ तृष्णा हैं।"—अतः सूत्र में ६ आध्यात्मिक आयतन, ६ बाह्य आयतन और ६ विज्ञान के अतिरिक्त ६ स्पर्शकाय हैं। [अतः स्पर्श धर्मान्तर हैं क्योंकि सूत्र में पुनरुक्त नहीं है]।

सौत्रान्तिक का इस सूत्र का व्याख्यान—यदि सूत्र में पुनरुक्त नहीं है तो वेदना और तृष्णा

विजानाति [निस्सन्देह यह कहा जायगा कि चक्षुर्विज्ञान से स्पर्शादि चैत्तसहगत विज्ञान समझना चाहिये। इन चैत्तों से इसका अवश्यमेव साहचर्य होता है।]
[माउंग तिन अत्थसालिनी में स्पर्श का निर्देश पाते हैं: तिकसंनिपातसंखातस्स पन अत्तनोकारणस्स वसेन पवेदितत्ता संनिपातपच्चुपट्ठानो [फस्सो] = contact has coinciding as manifestation, because it is revealed through its own cause, known as the coinciding of three (basis [i. e. organ], object and consciousness)।
मुझे इसका अर्थ ऐसा प्रतीत होता है: "स्पर्श का प्रादुर्भाव होता है, स्पर्श संनिपातवश प्रत्युपस्थित होता है (पच्चुपट्ठाति) [अक्षरार्थ: संनिपात आसन्न कारण है—यस्य संनिपातः प्रत्युपस्थानं स संनिपातप्रत्युपस्थान इति], क्योंकि यह संनिपातसंख्यात स्वहेतुवश (और उसके अनुरूप) प्रवेदित होता है।" एक दूसरी दृष्टि से 'फस्स' वेदनापच्चुपट्ठान है [= यो वेदनायाः प्रत्युपस्थानं स वेदनाप्रत्युपस्थान इति] क्योंकि यह वेदना या सुखा वेदना का उत्पाद करता है [पच्चपट्ठापेति = उप्पादेति]

[1] य एषां धर्माणां सङ्गतिः संनिपातः समवायः स स्पर्शः।
संयुक्त, ३, ९; पालि का 'तिण्णं संगतिफस्सो' शुद्ध पाठ नहीं है यथा संयुत्त के इंडेक्स में है। किन्तु जैसा संयुत्त, ४.६८, मज्झिम, १.१११ में है: या.....इमेसं तिण्णं धम्मानं संगति संनिपातो समवायो अयं वुच्चति चक्खुसम्फस्सो—नेत्तिप्पकरण, २८: चक्खु-रूपविञ्ञाणसंनिपातलक्खणो फस्सो—थियरी आव ट्वेल्व काजेज, पृ० २०.

[2] अत्थसालिनी, १०९: न संगतिमत्तमेव फस्सो

[3] षट्षट्क धर्मपर्याय [व्या ३०४.१२], मज्झिम, ३.१८० (छछक्कसुत्त), दीघ, ३.२४३.

का षष्ठ आध्यात्मिक आयतन (मनस् का विषय) धर्मायतन से पृथग्भाव है। अतः छः स्पर्शकाय का पृथक् निर्देश यह नहीं सिद्ध करता कि स्पर्श चक्षु-रूप-विज्ञान, श्रोत्र-शब्द-विज्ञान आदि के संनिपात से धर्मान्तर है।

सर्वास्तिवादिन् का उत्तर—धर्मायतन का पृथक् निर्देश युक्त है। इसमें दोष नहीं है क्योंकि वेदना और तृष्णा के व्यतिरिक्त संज्ञा और कई अन्य धर्म धर्मायतन में संगृहीत हैं। किन्तु क्योंकि आपके वाद में स्पर्शत्रिक-(इन्द्रिय-विषय-विज्ञान) संनिपातमात्र है और क्योंकि छः इन्द्रियार्थ-विज्ञान से अन्यत्र कोई त्रिक नहीं है जिसका संनिपात हो सकता है, इसलिये छः इन्द्रियार्थ-विज्ञान के निर्देश के अनन्तर छः स्पर्शकायों का [संनिपात के अर्थ में] ग्रहण अनर्थक होता है। यद्यपि सब इन्द्रियार्थविज्ञान के कारण नहीं हैं तथापि सब विज्ञान अवश्य इन्द्रियार्थ के कार्य हैं : [९८] [अतः यदि स्पर्श द्रव्य नहीं है तो छः स्पर्शकाय के ग्रहण से पूर्व के वर्णन में कोई वृद्धि नहीं होती], क्योंकि आप यह सिद्ध नहीं कर सकते कि प्रथम दो (६ इन्द्रिय, ६ अर्थ) अविज्ञानक इन्द्रियार्थ हैं।

सौत्रान्तिक [भदन्त श्रीलाभ] (व्या ३०५.७ का पाठ 'श्रीलात' है) का उत्तर—सर्व चक्षु-रूप चक्षुर्विज्ञान का कारण नहीं है। इसी प्रकार सब चक्षुर्विज्ञान चक्षु-रूप का कार्य नहीं है।[1] अतः जिन इन्द्रिय-विषय-विज्ञान का कार्यकारणभाव है उनका (येषां कारणकार्यभावः) स्पर्शभाव से निर्देश है (स्पर्शभावेन व्यवस्थितम्) [व्या ३०५.१०]। सूत्र में इन्हें "छः स्पर्शकाय" कहा है। (पृ० १०३ देखिये)।

दूसरी ओर सर्वास्तिवादी, जिसका मत है कि स्पर्श चक्षु-रूप-विज्ञान के संनिपात से धर्मान्तर है, इस सूत्र का क्या व्याख्यान करता है : "इन तीन धर्मों की संगति, सन्निपात, समवाय स्पर्श है" ? उसका इस सूत्र का यह पाठ नहीं है[2] अथवा उसका कहना है कि कारण में कार्य का उपचार है[3]। सूत्र में निर्दिष्ट संगतिशब्द से संगति के कार्य का अर्थ लेना चाहिये।

किन्तु इस विवाद का बहुत विस्तार हो जायगा।[4]

आभिधार्मिकों का मत है कि स्पर्श एक धर्म है, द्रव्यान्तर है।

३० सी-डी. पाँच प्रतिघसंस्पर्श हैं; छठा अधिवचन है।[5]

---

[1] [४. पृ० १८ देखिये]

[2] उनका पाठ इस प्रकार है : य एषां धर्माणां संगतेः सन्निपातात् समवायात् स स्पर्शः [व्या ३०५.१३]—उनका यह पाठ नहीं है : ....संगतिः संनिपातः समवायः......

[3] कारणे कार्योपचारः [व्या ३०५.१४]—यथा बुद्धानां सुख उत्पादः (धम्मपद, १९४), विसुद्धिमग्ग, वारेन, १९४ में, मध्यमकवृत्ति, ७०

[4] यह विवाद 'अतिबहुविस्तरप्रकारविसारिणी' है [व्या ३०५.१७]।

[5] पञ्च प्रतिघसंस्पर्शाः षष्ठोऽधिवचनाह्वयः॥
स्पर्श = संस्पर्श [व्या ३०५.२२]

चक्षु:संस्पर्श, श्रोत्रसंस्पर्श आदि के आश्रय सप्रतिघ (१.२९ बी) इन्द्रिय हैं। अत: [९९] इनको प्रतिघसंस्पर्श कहते हैं। यह नाम आश्रयप्रभावित है।[१]

छठे मन:संस्पर्श को अधिवचनसंस्पर्श कहते हैं।[२] अधिवचन शब्द का क्या अर्थ है? अधिवचन नाम है।[३] किन्तु नाम मनोविज्ञानसंप्रयुक्त स्पर्श का अधिक (बाहुल्येन) आलम्बन है। वास्तव में यह कहा है कि "चक्षुर्विज्ञान से वह नील को जानता है किन्तु वह यह नहीं जानता कि यह नील है। मनोविज्ञान से वह नील को जानता है और यह भी जानता है कि 'यह' नील है।"[४]

अत: मन:संस्पर्श को अधिवचनसंस्पर्श कहते हैं। यह नाम आलम्बन-प्रभावित है।

एक दूसरे मत के अनुसार[५] इसका अवधारण करते हैं कि वचन का अवधारण कर (अधिकृत्य वचनम् = वचनमवधार्य)[६] (रूपादि) अर्थों में केवल मनोविज्ञान की प्रवृत्ति होती है। अत: मनोविज्ञान अधिवचन है। उससे संप्रयुक्त स्पर्श इसलिये अधिवचनसंस्पर्श कहलाता है। यह द्वितीय संस्पर्श संप्रयोगप्रभावित कहलाता है।

छठा स्पर्श तीन प्रकार का है:

[१००] विद्याऽविद्येतरस्पर्शा अमलक्लिष्टशेषिताः
व्यापादानुनयस्पर्शौ सुखवेद्यादयस्त्रयः ।।३१।।

३१ ए-बी. विद्या, अविद्या और इतर स्पर्श : यह यथाक्रम अमल, क्लिष्ट, इतर हैं।[१]

---

[१] 'प्रतिघ संस्पर्श' इसलिये कहलाता है क्योंकि उसका आश्रय (इन्द्रिय) सप्रतिघ है (विभाषा, १४९, ३ का प्रथम मत जिसका नैञ्जियो १२८७ और वसुबन्धु अनुसरण करते हैं), क्योंकि उसके आश्रय और आलम्बन सप्रतिघ हैं (विभाषा का दूसरा मत जिसका नैञ्जियो १२८८ और संघभद्र अनुसरण करते हैं)।

[२] अधिवचनसंफस्स, दीघ, २.६२ (वारेन, २०६, डायलाग्ज, २.५९ और थियरी आव ट्वेल्व काजेज, पृ० १९. टि० २ में अनुवाद का प्रयत्न), विभंग, ६—'अधिवचन', धम्मसंगणि, १३०६.

[३] भाष्य : अधिवचनमुच्यते नाम।—व्याख्या : अध्युच्यतेऽनेनेत्यधिवचनम्। वाङ नाम्नि प्रवर्तते नामार्थं द्योतयतीति अधिवचनं नाम। [व्या ३०५.१९]

[४] चक्षुर्विज्ञानेन नीलं विजानाति नो तु नीलमिति। मनोविज्ञानेन नीलं नीलमिति च विजानाति। [व्या ३०५.२२] [पाठभेद—चक्षुर्विज्ञानसमंगी........मनोविज्ञानसमंगी.......]—इस वचन पर जो निस्सन्देह अभिधर्म (न्यायबिन्दु-पूर्वपक्षसंक्षेप, तिब्बती विनय, १११, फ़ोलियो १०८ बी) से उद्धृत है कोश, १.१४ सी, मध्यमकवृत्ति, पृ०.७४, टि० देखिये।

[५] फ़ा-शेंग का यह मत अभिधर्महृदय (६, १८) में है, नैञ्जियो १२८८—धर्मकीर्ति, धर्मजिन (नैञ्जियो), धर्मोत्तर (ताकाकुसु) ने फ़ा-शेंग का अनुवाद किया है : पेरी, डेट आव वसुबन्धु, २५ में ध-म-स्-लि-ति है।

[६] शुआन्-चाङ का अनुवाद : जिसका वचन अधिपति [प्रत्यय] है।

[१] विद्याविद्येतरस्पर्शा अमलक्लिष्टशेषिताः। [व्या ३०६.२]
विभाषा, १४९, २—दो स्पर्श—सास्रव, अनास्रव; तीन स्पर्श—कुशल, अकुशल, अव्याकृत; चार स्पर्श—त्रैधातुक, अधातुपर्यापन्न इत्यादि। नीवरण और उसके प्रतिपक्ष (क्लेश और उसका प्रतिपक्ष) की दृष्टि से : अविद्यास्पर्श और विद्यास्पर्श; स्पर्शस्वभाव की दृष्टिसे: नैवविद्या-नाविद्यास्पर्श; सुख और दुःख की दृष्टि से : व्यापादस्पर्श और अनु-

यह विद्या से अर्थात् अनास्रवप्रज्ञा से, अविद्या से अर्थात् क्लिष्ट अज्ञान से, नैवविद्यानाविद्या से अर्थात् कुशलसास्रव प्रज्ञा से अथवा अनिवृताव्याकृत प्रज्ञा से संप्रयुक्त स्पर्श हैं।

सर्वक्लेशसंप्रयुक्त अविद्यासंस्पर्श का एक देश नित्य समुदाचारी है।[२] इसके ग्रहण से दो स्पर्श होते हैं :

३१ सी. व्यापादस्पर्श और अनुनयस्पर्श[३]

एक व्यापाद से संप्रयुक्त है, दूसरा अनुनय से।

स्पर्श त्रिविध हैं।

३१ डी. सुखवेद्यादि तीन स्पर्श।[४]

सुखवेद्य, दुःखवेद्य, असुखादुःखवेद्य ["जो सुख की वेदना में साधु है अथवा जहां सुख की वेदना होती है ......"]। इन स्पर्शों की यह संज्ञा इसलिये है क्योंकि इनका सुख, दुःख, असुखा-दुःख के लिये हितत्व है [अर्थात् सुखवेदना के लिये हित .... = सुखवेदनीय ....] [१०१] (पाणिनि, ५, १, १) अथवा क्योंकि 'वह' वेदित होता है या हो सकता है (वेद्यते तद् वेदयितुं वा शक्यम्) (पाणिनि, ३, १, १६९)।

"वह" वेदना है। जिस स्पर्श में वेद्य सुख (सुखं वेद्यम्) होता है वह स्पर्श सुखवेद्य कहलाता है। वास्तव में वहाँ एक सुखावेदना होती है।

हमने चक्षुःसंस्पर्श आदि षड्विध स्पर्श का निर्देश किया है।

> तज्जाः षड् वेदनाः पञ्च कायिकी चैतसी परा।
> पुनश्चाष्टादशविधा सा मनोपविचारतः ॥३२॥

३२ ए. छः वेदना स्पर्श से उत्पन्न होती हैं।[१]

यह चक्षुःसंस्पर्श आदि से उत्पन्न वेदना हैं।

३२ ए-बी. पाँच कायिकी वेदना हैं, एक चैतसिकी।[२]

नयस्पर्श ; संप्रयोग की दृष्टि से : सुखवेदनीय आदि स्पर्श; आश्रय की दृष्टि से : चक्षु, श्रोत्रादि का स्पर्श।

[२] अभीक्ष्णसमुदाचारिन् = नित्यसमुदाचारिन् [व्या ३०६.७]

[३] व्यापादानुनयस्पर्शौ [व्या ३०६.९]

[४] सुखवेद्यादयस्त्रयः ॥ [व्या ३०६.९] स्पर्श वेदनीय कैसे हैं इसके लिये ४.४९, अनुवाद पृ० ११३ देखिये।

सुखवेद्य का व्याख्यान इस प्रकार है : सुखस्य वेदः सुखवेदः। सुखवेदे साधुः सुखवेद्यः। सुखं वा वेद्यम् अस्मिन्निति सुखवेद्यः। [व्या ३०६.१०]

[१] तज्जाः षड् वेदनाः

वेदना का व्याख्यान १.१४, २.२४ में हो चुका है। यहाँ आचार्य वेदना के लक्षण का निर्देश नहीं करेंगे किन्तु उसके प्रकारों का।

अदुःखासुखा पर मज्झिम, १.३९७.

[२] पञ्च कायिकी चैतसी परा।

पाँच वेदनायें जो चक्षु और अन्य रूपी इन्द्रियों के संस्पर्श से उत्पन्न होती हैं और जिनका आश्रय रूपी इन्द्रिय हैं कायिकी कहलाती हैं। छठी वेदना मनःसंस्पर्श से उत्पन्न होती है: उसका आश्रय चित्त, चेतस् है। अतः यह चैतसी है।

सौत्रान्तिक का प्रश्न है कि वेदना स्पर्श से उत्तर है या उसकी सहभू है।

वैभाषिक का मत है कि वेदना और स्पर्श सहभू हैं क्योंकि वह सहभूहेतु हैं (२.५० सी)।

सौत्रान्तिक—दो सहोत्पन्न धर्म कैसे जनक और जन्य (जनित) हो सकते हैं?

वैभाषिक—क्यों न होंगे?

सौत्रान्तिक—जब दो धर्म सहोत्पन्न होते हैं तो जनक धर्म का उस जन्य धर्म में कैसे सामर्थ्य हो सकता है जो जात है?

वैभाषिक—यह साधन इस प्रतिज्ञा से विशिष्ट नहीं है कि दो सहोत्पन्न धर्म जनक [१०२] और जन्य नहीं हो सकते।

सौत्रान्तिक—अतः यदि यह साधन इष्ट नहीं है तो आपके विकल्प में दो सहोत्पन्न धर्मों का अन्योन्यजनकभाव होगा।

वैभाषिक—किन्तु यह दोष नहीं है क्योंकि हमको यह इष्ट है। हम सहभूहेतु का यह निर्देश करते हैं: ये मिथःफलाः, "जो धर्म परस्पर फल हैं वह सहभूहेतु हैं" (२.५० सी)।

सौत्रान्तिक—भले ही यह आपके सिद्धान्त को इष्ट हो। किन्तु सूत्र को यह अनिष्ट है। सूत्र वचन है: "चक्षुःसंस्पर्शप्रत्ययवश चक्षुःसंस्पर्शज वेदना उत्पन्न होती है।" सूत्र यह नहीं कहता है कि "चक्षुःसंस्पर्शजवेदनावश चक्षुःसंस्पर्श उत्पन्न होता है।"—पुनः यह प्रतिज्ञा कि "दो सहोत्पन्न धर्मों का कार्यकारणभाव होता है" अयुक्त है क्योंकि यह जनक धर्म का अतिक्रम करता है। यह प्रसिद्ध है कि जो धर्म अन्य धर्म का जनक होता है वह उस अन्य धर्म का सहभू नहीं होता। इनका काल भिन्न होता है: यथा पूर्व बीज होता है, पश्चात् अंकुर होता है; पूर्व दुग्ध होता है, पश्चात् दधि होता है; पूर्व प्रतिघात होता है, पश्चात् शब्द होता है; पूर्व मनस् होता है, पश्चात् मनोविज्ञान (१.१७) होता है।

वैभाषिक—हम इसका प्रतिषेध नहीं करते कि कभी कारण कार्य के पूर्व होता है किन्तु हमारी प्रतिज्ञा है कि कार्य और कारण सहभू हो सकते हैं: चक्षुरिन्द्रिय और रूप और चक्षुर्विज्ञान; महाभूत और भौतिक (उपादायरूप)।

सौत्रान्तिक—हम आपके दृष्टान्तों को नहीं मानते। चक्षुरिन्द्रिय और रूप चक्षुर्विज्ञान के पूर्व होते हैं; महाभूत और भौतिक जो सहभू हैं पूर्वहेतुसामग्री से सहोत्पन्न होते हैं।

वैभाषिक—स्पर्श और वेदना सहभू हैं यथा छाया और अंकुर।[1] एक दूसरे मत के अनुसार [१०३] [भदन्त श्रीलाभ]—वेदना स्पर्श के उत्तरकाल में होती है। इन्द्रिय और अर्थ पूर्व

[1] सौत्रान्तिक उत्तर नहीं देता क्योंकि २.५० सी, अनुवाद पृ०२५३ में छाया और अंकुर के अर्थ पर विचार हो चुका है।

(प्रथम क्षण) होते हैं; पश्चात् विज्ञान होता है (द्वितीय क्षण); स्पर्श इन तीन का संनिपात है : यह इन तीन का जनितजनकभाव है—इन्द्रिय और अर्थ और विज्ञान; (तृतीय क्षण में) वेदना जिसका हेतु स्पर्श है।[1]

वैभाषिक—इस वाद में विज्ञान में सर्वत्र वेदना नहीं है क्योंकि विज्ञान द्वितीय और तृतीय क्षण में होता है, वेदना केवल तृतीय में होती है। और सर्व विज्ञान स्पर्श नहीं है क्योंकि स्पर्श केवल प्रथम दो क्षणों में होता है।[2]

श्रीलाभ—यह दोष नहीं है। पूर्वस्पर्शहेतुका वेदना उत्तर स्पर्श के क्षण में होती है। अतः सर्व स्पर्श सवेदनक है।[3]

वैभाषिक—आपके अनुसार स्पर्श और वेदना के भिन्न आलम्बन होंगे किन्तु वह सहभू होंगे। रूपालम्बनपूर्वस्पर्शहेतुका वेदना शब्दालम्बनोत्तर स्पर्शकाल में होगी। यह अयुक्त है। रूपालम्बनस्पर्श से संभूत वेदना का आलम्बन रूप होना चाहिये क्योंकि वेदना का आलम्बन तत्संप्रयुक्त चित्त के आलम्बन से अन्य नहीं हो सकता [और इस रूपसंभूत चित्त का आलम्बन रूप होना चाहिये]। अतः आपका मत सदोष है।[4]

श्रीलाभ—अतः हमको कहना चाहिये कि विज्ञान सदा स्पर्श नहीं है, सदा वेदनासहगत नहीं है। रूप का जो विज्ञान शब्दालम्बनकाल में होता है वह सवेदनक है किन्तु स्पर्श नहीं है। स्पर्शभूत शब्दविज्ञान अवेदनक है।

[१०४] वैभाषिक—यह वाद सर्वत्रग धर्म या महाभूमिकों के नियम (२.२३ सी-डी) को भिन्न करता है। यह नियम व्यवस्थापित करता है कि वेदना, स्पर्श, संज्ञा आदि दस धर्म सर्वचित्त से संप्रयुक्त हैं।

श्रीलाभ—यह नियम किस प्रमाण पर आश्रित है?

वैभाषिक—शास्त्र या अभिधर्म पर।[1]

श्रीलाभ—हम सूत्र को प्रमाण मानते हैं, शास्त्र को नहीं क्योंकि भगवत् ने कहा है कि सूत्र प्रतिसरण है (सूत्रं प्रतिसरणम्)[2]। अथवा हम महाभूमिकवाद का आपसे एक भिन्न अर्थ करते हैं।

---

[1] स्पर्शादुत्तरकालं वेदनेति अपरः।..........सोऽसौ त्रयाणां संनिपातः स्पर्शः। ... वेदना तृतीये क्षणे। [व्या ३०७.१७]

[2] न सर्वत्र विज्ञाने वेदना प्राप्नोति न च सर्वं विज्ञानं स्पर्शः। [व्या ३०७.२०]

[3] नायं दोषः। पूर्वस्पर्शहेतुका ह्युत्तरत्र स्पर्शे वेदना। एवं सर्वत्र विज्ञाने वेदना प्राप्नोति सर्वं च विज्ञानं स्पर्शः। [व्या ३०७.२२]

[4] भिन्नालम्बनयोः पूर्वस्पर्शहेतुका उत्तरत्र स्पर्शे वेदनेत्ययुक्तम्। कथं हि नामान्यजातीयालम्बनस्पर्शसंभूता वेदना अन्यालम्बना भविष्यति। येन वा चित्तेन संप्रयुक्ता ततो भिन्नालम्बना। [व्या ३०७.२८]

[1] प्रकरण, २,१२।

[2] संयुक्त, ८, ४—साएकी नैनूजियो ११२१ को उद्धृत करते हैं (विनयक्षुद्रकवस्तु, सिल्वाँ लेवी, साएज अर्हत्स, पृ०, ३७) जहाँ भगवत् आनन्द को अंगुत्तर, २.१६७के चार नियमों का उपदेश देते हैं; कोश, ९, अनुवाद पृ० २४६ देखिये।

वैभाषिक—अतः महाभूमिक का क्या अर्थ है?[३]

सौत्रान्तिक—तीन भूमि हैं: १. सवितर्कसविचार: कामधातु और प्रथम ध्यान; २. अवितर्कसविचार: ध्यानान्तर; ३. अवितर्कअविचार: द्वितीयादि ध्यान (८.२३सी); अन्य तीन भूमि: कुशल, अकुशल, अव्याकृत [अर्थात् कुशल, अकुशल, अव्याकृत धर्म]; अन्य तीन भूमि: शैक्षी, अशैक्षी, नैवशैक्षीनाशैक्षी [अर्थात् शैक्ष-अशैक्ष के अनास्रव धर्म और सास्रव धर्म, २.७० सी][४]—इन सब भूमियों में (एतस्यां सर्वस्यां भूमौ)[५] [व्या ३०८.३२] जो चैत्त धर्म पाये जाते हैं उन्हें महाभूमिक कहते हैं [यह वेदना, चेतना हैं, यथा २.२४ में]; जो कुशल भूमि में ही पाये जाते हैं वह कुशलमहाभूमिक कहलाते हैं [यह श्रद्धादि हैं, यथा २.२५ में]; जो केवल क्लिष्ट भूमि में पाये जाते हैं वह क्लेशमहाभूमिक कहलाते हैं [यह [१०५] अविद्यादि हैं, यथा २.२६ में]—किन्तु यह सब धर्म महाभूमिक, कुशलमहाभूमिक, क्लेशमहाभूमिक इसलिये कहलाते हैं क्योंकि यह स्वभूमि में यथासंभव होते हैं: यह वहाँ पर्याय से होते हैं, सब युगपत् नहीं होते। यथा वेदना सब भूमियों में होती है जैसे संज्ञा, चेतना आदि भी होते हैं। इसका यह अर्थ नहीं है कि प्रत्येक चित्तावस्था में वेदनादि यह सब धर्म होते हैं।[१]

कुछ आचार्यों का मत है कि अकुशल महाभूमिक पहले पठित नहीं थे, पश्चात् अध्यारोपित किये गये हैं।[२] सूत्र में पाठ होने से यह विचार उत्पन्न हुआ।[३]

वैभाषिक—यदि वेदना स्पर्श से उत्तरकाल की है तो आपको इस सूत्र का अवधारण करना होगा: "चक्षु और रूपप्रत्ययवश चक्षुर्विज्ञान उत्पन्न होता है; त्रिक-संनिपात स्पर्श है। वेदना, संज्ञा और चेतना सहजात हैं।"[४]

---

[३] वैभाषिकों का महाभूमिकवाद २.२३ सी और आगे की कारिकाओं में व्याख्यात है (अनुवाद, पृ० १५० ; पृ० १५३, १५५ में अधिमुक्ति के स्थान में अधिमोक्ष का आदेश कीजिये)

[४] चैत्त-सम्बन्ध से असंस्कृत यहाँ नहीं कहे गये हैं।"

[५] परमार्थ का अनुवाद :"प्रथम तीन भूमियों में" ; शुआन् चाड़ :"प्रथम भूमियों में"; व्याख्या: सवितर्कसविचार भूमि में। [व्या ३०८.३२]

[१] ते पुनर्यथासम्भवम्। ये यस्यां सम्भवन्ति ते तस्यां पर्यायेण......[व्या ३०९.२]—इस वाद का व्याख्यान द्वितीय कोशस्थान, अनुवाद पृ० १६०, १७५ में है।
व्याख्या यहाँ पंचस्कन्धक [यह वसुबन्धु का ग्रन्थ है] (तिब्बती विनय, ५८)के कुछ निर्देश उद्धृत करती है। हमने उन्हें द्वितीय कोशस्थान, अनुवाद पृ० १५४ में उद्धृत किया है। (चन्द्रकीर्ति का एक पंचस्कन्धक है, तिब्बती विनय, २४]

[२] अकुशलमहाभूमिकास्तु पाठप्रसंगेन आसंज्ञिताः (व्याख्या का पाठ 'आसंहिताः') (अध्यारोपिताः पश्चात्)। पूर्वं न पठ्यन्ते स्म। [व्या ३०९.१५]
प्रकरणपाद में चैत्त चतुर्विध पठित हैं: महाभूमिक, कुशलमहाभूमिक, क्लेशमहाभूमिक, परीत्तक्लेशमहाभूमिक, द्वितीय कोशस्थान, अनुवाद पृ०१५१ और१६४ देखिये) [व्या ३०९.१८]

[३] सूत्र में अकुशल कुशल का प्रतिपक्ष है।

[४] संयुक्त, ११,२, १३, ४(कोश,९. अनुवाद पृ० .२४५ में यही सूत्र उद्धृत है)
संयुत्त, २.७२;४.३३ इत्यादि चक्खुं च पटिच्च रूपे च उप्पज्जति चक्खु-

सौत्रान्तिक—यह सूत्र कहता है कि वेदना, संज्ञा और चेतना सहोत्पन्न हैं। वह यह नहीं कहता कि वेदनादि स्पर्श-सहजात हैं : हम कहते हैं कि यह परस्पर सहजात हैं।[१] पुनः यह 'सह' [१०६] शब्द केवल युगपद्भाव ज्ञापित करने के लिये नहीं किन्तु समनन्तर अर्थ में भी प्रयुक्त होता है। यथा सूत्रवचन है कि "वह मैत्रीसहगत स्मृति-संबोध्यंग की भावना करता है।"[१] मैत्री एकान्त लौकिक, सास्रव होती है। इसका बोध्यंग से समवधान नहीं होता क्योंकि संबोध्यंग एकान्त अनास्रव हैं। अतः सूत्र केवल इतना ही असिद्ध नहीं करता कि वेदना स्पर्शसहजात है किन्तु वह यह भी सिद्ध नहीं करता कि वेदना, संज्ञा और चेतना विज्ञान (चक्षुर्विज्ञानादि) से संप्रयुक्त और उसके सहभू हैं।

सर्वास्तिवादिन्—किन्तु सूत्रोक्त है : "वेदना, संज्ञा, चेतना, विज्ञान, यह धर्म संसृष्ट हैं; यह विसंसृष्ट नहीं हैं।"[२]—'संसृष्ट' का अर्थ 'सहोत्पन्न' है। इस सूत्र से यह ज्ञात होता है कि यह विज्ञान, वेदना, संज्ञा और चेतना नहीं हैं जो सहभू नहीं हैं।

सौत्रान्तिक—किन्तु 'संसृष्ट' शब्द का क्या अभिप्राय है? इसी सूत्र में कहा है[३] : "जिसका प्रतिसंवेदन करता है (वेदयते) उसी की चेतना करता है (चेतयते); जिसकी चेतना करता है उसी की संज्ञा का उद्ग्रहण करता है (संजानाति); जिसकी संज्ञा का उद्ग्रहण करता है उसी को जानता है (विजानाति)।[४]

[१०७] दूसरे शब्दों में आलम्बन-नियम है। जिस आलम्बन का प्रतिसंवेदन करता है उसी की चेतना करता है, एवमादि। प्रश्न है कि क्या वेदना, चेतना और संज्ञा इसलिये संसृष्ट कहे

विञ्ञाणं। तिण्णं संगतिफस्सो। फस्सपच्चया वेदना। वेदनापच्चया तण्हा। अयं खो दुक्खस्स समुदयो।

हमारे सूत्र का पाठ प्रायः ऐसा हैः चक्षुः प्रतीत्य रूपाणि चोत्पद्यते चक्षुर्विज्ञानम्। त्रयाणां संनिपातः स्पर्शः। सहजाता वेदना संज्ञा चेतना।

एशिआटिक स्टडीज (BEFEO, १९२५), १.३७० में विज्ञानकाय।

[१] सहजाता इत्युच्यन्ते न स्पर्शसहजाता इति [व्या ३०९.२०],
'सहजात' का अर्थ अविशेषित है। इसलिये इसका अर्थ 'परस्परसहजात' हो सकता है।

[१] संयुक्त, २७, २५: मैत्री सहगतं स्मृतिसंबोध्यंगं भावयति।

[२] मध्यम, ५८, १२—या वेदना या च संज्ञा [या च चेतना यच्च विज्ञानम्] संसृष्टा [इमे धर्मा न विसंसृष्टाः]—साएकी उस सूत्र को उद्धृत करते हैं जिसके प्रधान पात्र महा-को-ठि-ल हैं (वही को-ठि-ल जिनको भगवत् उपदेश देते हैं कि आयु और उष्मक 'संसृष्ट' हैं, नीचे पृ० १०७, टिप्पणी २): पालिसंस्करण, मज्झिम, १. २९३ (महावेदल्लसुत्त, प्रधान पात्र महाकोट्ठित और सारिपुत्त) में 'या च चेतना' यह शब्द नहीं है।
धम्मसंगणि, ११९३ का यह वाद है कि वेदना, सञ्ञा और संखार (=चेतना) के स्कन्ध 'चित्तसंसट्ठ' हैं [अर्थात् आदि से लेकर अन्त तक चित्त से संसृष्ट हैं, अत्थसालिनी, ४९] संसृष्ट पर ७.११ डी, अनुवाद पृ० १७.

[३] तत्र हि सूत्रे उक्तम्—अर्थात् व्याख्या के अनुसार उसी सूत्र में जिसमें 'या वेदना या च संज्ञा या च चेतना ......' पठित है। [व्या ३०९.२५]

[४] हम इसका उद्धार कर सकते हैं: यद् वेदयते तदेव चेतयते। यच्चेतयते तदेव संजानाति। यत् संजानाति तदेव विजानाति—मज्झिम, १, २९३ में 'यं चेतेति.......' नहीं है।
संयुत्त, ४. ६८ से तुलना कीजिये : फुट्ठो वेदेति फुट्ठो चेतेति फुट्ठो संजानाति।

गये हैं क्योंकि उनका एक ही आलम्बन है—यह हमारा मत है—अथवा क्योंकि, जैसा आप कहते हैं, क्षण-नियम है अर्थात् जिस क्षण में प्रतिसंवेदन करता है उसी क्षण में चेतना करता है, एवमादि।

वैभाषिक[1]—'संसृष्ट' शब्द से उन धर्मों से अभिप्राय है जिनका सहभाव है। वास्तव में यह वचन है कि आयु और उष्मक सहभाव के अर्थ में संसृष्ट हैं।[2] यह इसलिये संसृष्ट नहीं हैं कि इनका सामान्य आलम्बन है, क्योंकि इनका कोई आलम्बन नहीं है। इससे क्षण-नियम सिद्ध होता है।—पुनः सूत्रवचन है कि "त्रिक-संनिपात स्पर्श है।" त्रिक-सन्निपात के बिना विज्ञान कैसे होगा? स्पर्श के बिना त्रिक-संनिपात कैसे होगा? अतः सर्व विज्ञान स्पर्शसहगत है और सर्व स्पर्श वेदनादिसहगत है। किन्तु यह विवाद हमको बहुत दूर ले जायगा। हम प्रस्तुत विषय पर वापस आते हैं।

हमने चैतसी वेदना का संक्षेप में निर्देश किया है।

३२ सी-डी. यही वेदना मनोपविचारों के कारण १८ प्रकार की है।[3]

[१०८] चैतसी वेदना के १८ प्रकार हैं क्योंकि ६ सौमनस्योपविचार, ६ दौर्मनस्योपविचार और ६ उपेक्षोपविचार (२.७) हैं: रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्प्रष्टव्य और धर्म इन ६ नियमों के भेद से ६ सौमनस्योपविचार हैं; इसी प्रकार दौर्मनस्योपविचार और उपेक्षोपविचार को जानिये।

इन १८ में कैसे विशेष करते हैं? यह प्रश्न होता है क्योंकि यदि हम उनके स्वभाव का विचार करें, उनके वेदनाभाव का विचार करें, तो तीन उपविचार होंगे: सौमनस्योपविचार, दौर्मनस्योपविचार, उपेक्षोपविचार। यदि उनके संप्रयोगभाव का विचार करें तो वह एक हैं क्योंकि सबका मनोविज्ञान से संप्रयोग है। यदि उनके विषय का विचार करें तो वह ६ हैं क्योंकि

---

[1] व्याख्या के अनुसार यह वसुबन्धु का उत्तर है: आचार्य आह। [व्या ३०९.३१]

[2] सूत्र का उल्लेख ८.३ सी, अनुवाद पृ० १३७, टिप्पणी ४ में है। यह वाक्य मज्झिम, १.२९५ में नहीं है।—आयु और उष्मन् (उष्मक) पर, कोश २, अनुवाद पृ० २१५।

[3] पुनश्चाष्टादशविधा सा मनोपविचारतः॥
पालि ग्रन्थों में ६ सोमनस्सूपविचार, दोमनस्सूपविचार, उपेक्खूपविचार हैं (दीघ, ३.२४४; मज्झिम, ३.२१६, २३९, विभंग, ३८१, आदि—अट्ठादस मनोपविचारा चक्खुना रूपं दिस्वा सोमनस्स ट्ठानियं रूपम् उपविचरति........मनसा धम्मं विञ्ञाय सोमनस्स-ट्ठानियं धम्ममुपविचरति। किन्तु उनमें और महाव्युत्पत्ति में मन-उपविचार शब्द नहीं है। संस्कृत पाठ: चक्षुषा रूपाणि दृष्ट्वा सौमनस्यस्थानीयानि रूपाण्युपविचरति.....मनसा धर्मान् विज्ञाय सौमनस्यस्थानीयान् धर्मानुपविचरति। [व्या ३१०.११]
भाष्य में व्याकरणसम्बन्धी एक व्याख्यान है जो किसी अनुवाद में नहीं पाया जाता किन्तु जिसका एक अंश व्याख्या में है: पुनः सन्धिकरणं चात्र द्रष्टव्यम्। इस पर व्याख्या कहती है: पूर्वत्रासिद्धम् (पाणिनि ८.२.१) इति सकारलोपस्यासिद्धत्वाद् गुणो न प्राप्नोति।) परिहारस्तु। ईषदर्थेऽयम् नञ् (६.३.१०५) च दृष्टव्यः। ईषत् सिद्धम् असिद्धमिति। अतः सिद्धत्वात् सकारलोपस्य गुणो भवति। सैष दाशरथी राम इति यथा। [मनस उपविचार: = मन-उपविचार = मनोपविचार] [व्या ३१०.७]।

रूप, शब्दादि विषय-षट्क उनके आलम्बन हैं। हमारा उत्तर है कि हमको तीन प्रकारसे व्यवस्थापना करनी चाहिये।[1]

प्रथम १५ उपविचारों का आलम्बन असंभिन्न हैं : रूप-सम्बन्धी मनोपविचार का आलम्बन केवल रूप है....। किन्तु तीन धर्मोपविचार—धर्मसम्बन्धी तीन उपविचार (सौमनस्यादि)—उभय प्रकार के हैं। यह रूपादि विषयपंचक व्यतिरिक्त धर्मों को आलम्बन बनाते हैं। इस अवस्था में इनका आलम्बन असंभिन्न है, अमिश्र है। यह (रूप, शब्द,.....धर्म) इन ६ धर्मों में से एक, दो, तीन,.........६ को आलम्बन बनाते हैं। इस अवस्था में इनका आलम्बन संभिन्न है।[2]

[१०९] 'मनोपविचार' शब्द का क्या अर्थ है ? चैतसी वेदना के विविध प्रकार (सौमनस्यादि) 'मनोपविचार' क्यों हैं ?

वैभाषिकों का यह कहना अयथार्थ है कि "क्योंकि सौमनस्य, दौर्मनस्य, उपेक्षा मन का आश्रय लेकर रूपादि को आलम्बन बनाते हैं (उपविचरन्ति = आलम्बन्ते)।"[1] [व्या ३१०.३०]। एक दूसरे मत के अनुसार : "क्योंकि सौमनस्य, दौर्मनस्य, उपेक्षावश मन रूपादि का पुनः विचार करता है (उपविचारयन्ति)।"[2] क्योंकि वेदनावश (सौमनस्यादि वेदना) मन का रूपादि विषयों में पुनः पुनः विचारण होता है।

आक्षेप या दोष—१. कायिकी वेदना को मनोपविचार क्यों नहीं निर्दिष्ट करते ? निस्संदेह कायिकी वेदना का आश्रय मनस् है किन्तु (चक्षुरादि) रूपीन्द्रिय भी इसका आश्रय है। यह विकल्प-विनिर्मुक्त है (जैसे चक्षुर्विज्ञानादि जिससे यह संप्रयुक्त है, १.३३, अनुवाद ६०)। यह उपविचारिका [अर्थात् संतीरिका] भी नहीं है।[3]

---

[1] जो मनोविज्ञानमात्रसंप्रयुक्त एक चैतसी वेदनात्मक द्रव्य है वह सौमनस्यादिस्वभावत्रयभेद से त्रिविध है और इनमें से प्रत्येक रूपादि विषय-षट्क के भेद से ६ प्रकार का है। अतः कुल १ × ३ × ६ = १८ हैं।

[2] भाष्य में केवल इतना है : त्रयो धर्मोपविचारा उभयथा [व्या ३१०.२५]। हम व्याख्या का अनुवाद देते हैं। इसका प्रभव विभाषा, १३९, ८ है। [जब धर्ममनोपविचार के आलम्बन ७ प्रकार के धर्म होते हैं—(चक्षु.....मन-आयतन) ६ आध्यात्मिक आयतन और बाह्य धर्मायतन—चाहे यह समुदाय में हों या समुदाय में न हों, तो आलम्बन असंभिन्न होता है। जब इसके आलम्बन यह ७ धर्म (समुदाय में या नहीं) तथा (रूपादि) १.२,.....५ बाह्य विषय होते हैं तो आलम्बन संभिन्न होता है।]......स्मृत्युपस्थानों के विषय में भी यही वाद है : कायस्मृत्युपस्थान का आलम्बन असंभिन्न है। यह केवल काय को आलम्बन बनाता है। धर्मस्मृत्युपस्थान का आलम्बन असंभिन्न या संभिन्न (मिश्र) या समस्त होता है, ६.१५ सी, अनुवाद पृ० १६२।

[1] मनः किल प्रतीत्य (= आश्रित्य) विषयानुपविचरन्ति (आलम्बन्ते) [सौमनस्यादीनि]। [व्या ३१०.२९]
'किल' शब्द सूचित करता है कि वसुबन्धु इस निर्वचन को स्वीकार नहीं करते।

[2] 'उप' शब्द का अर्थ 'पुनः पुनः' है। अतः 'वेदनावशेन मनसो विषयेषु पुनः पुनर्विचारणात्। [कदाचित् 'यो मन उपविचारयति स मनोपविचारः'] [व्या ३१०.३१-३२]

[3] विभाषा, १३९, ७ में इसका विचार हुआ है—उपविचार चैतसी वेदना के होते हैं: अतः सौमनस्य-उपविचार है, सुख-उपविचार नहीं।

२. किन्तु तृतीय ध्यान का सुख (८.९ बी) जो मन पर ही आश्रित है मनोपविचारों में गृहीत क्यों नहीं होता ?—वैभाषिक कहते हैं (अयुक्त)[४] : "क्योंकि आदित : अर्थात् कामधातु में मनोभूमिक सुख नहीं है [कामधातु का सुख केवल कायिकी वेदना है]; क्योंकि आपके सुखोपविचार का प्रतिद्वन्द्व दुःखोपविचार नहीं है।"

[११०] ३. किन्तु यदि उपविचार केवल मनोभूमिक हैं तो आपको इस सूत्र का विचार करना है: "चक्षु से रूपों को देखकर वह सौमनस्यजनक (सौमनस्यस्थानीय) रूपों का उपविचार करता है (उपविचरति)"[१]। सूत्र में चक्षुरिन्द्रिय और उपविचार का सम्बन्ध स्पष्ट है।

सर्वास्तिवादिन् उत्तर देता है : १. भगवत् का यह वचन इसलिये है क्योंकि उनकी अभिसन्धि (अभिसंदधाति) इससे है कि उपविचार पाँच विज्ञानकाय से अभिनिर्हृत होते हैं। यह उपविचार मनोभूमिक ही हैं: यथा अशुभा (विनीलकादि की भावना, ६. ९) चक्षुर्विज्ञान से अभिनिर्हृत और मनोभूमिक दोनों हैं। वास्तव में इन भावनाओं में समाहित चित्त होता है। २. पुनः सूत्रवचन है: "रूप देख कर ...."; सूत्र वचन यह नहीं है: "रूपों को देखते हुए ....।" यदि ऐसा वचन होता तो आपका आक्षेप युक्त होता। ३. विना देखे, इत्यादि रूपादि का उपविचार होता है। [यथा दूसरे से सुनकर सौमनस्य के साथ रूप का 'उपविचार' होता है]। यदि अन्यथा होता तो कामधातूपपन्न सत्त्व रूपावचर रूप, शब्द और स्प्रष्टव्य का [जिनको वह नहीं देखता] 'उपविचार' न कर सकता; रूपधातूपपन्न सत्त्व कामावचर गन्ध और रस का उपविचार न कर सकता। ४. सूत्रवचन है:"रूपों को देख कर........वह रूपों का उपविचार करता है" क्योंकि 'उपविचार' व्यक्ततर होता है जब यह प्रत्यक्षीकृत विषय को आलम्बन बनाता है। इसमें सन्देह नहीं कि रूप को देख कर कोई शब्द का [जो रूप का सहचर है] उपविचार नहीं कर सकता। वहाँ अप्रत्यक्षीकृत शब्द का 'उपविचार' होगा किन्तु सूत्र आकुलता का परिहार करने के लिये इन्द्रिय और अर्थ का यथानुकूल व्यवच्छेद करता है।[२]

आलम्बनों को सूत्र में सौमनस्यस्थानीय आदि बताया है। क्या उनका यह स्वभाव है? —नहीं। एक ही आलम्बन एक के लिये सौमनस्यस्थानीय है, दूसरे के लिये दौर्मनस्य-[१११] स्थानीय है। यह सब सन्तान को देखकर, एक ही चित्त की वासनाओं को देखकर, न कि आलम्बन को देखकर होता है (अस्ति सन्तानं नियम्य) [व्या ३११.२७]।

मनोपविचारों में कितने कामप्रतिसंयुक्त (कामावचर) हैं? किस धातु को कामावचर मनोपविचार आलम्बन बनाते हैं? अन्य दो धातुओं के लिये भी यही प्रश्न हैं।

---

[४] **विभाषा, १३९, २ में इस प्रश्न का विचार हुआ है।**

[१] **मध्यम, २२, ३—चक्षुषा रूपाणि दृष्ट्वा सौमनस्यस्थानीयानि रूपाण्युपविचरति।**

[२] **यथा तु व्यक्ततरं तथोक्तं यथानुकूलम् इन्द्रियार्थव्यवच्छेदतः। [व्या ३११.२०—व्याख्या का पाठ यथा तु अनाकुलं है]**

कामे स्वालम्बनाः सर्वे रूपी द्वादशगोचरः।
त्रयाणामुत्तरो ध्यानद्वये द्वादश कामगाः॥३३॥
स्वोऽष्टालम्बनमारूप्यो द्वयोर्ध्यानद्वये तु षट्।
कामः षण्णां चतुर्णां स्व एकस्यालम्बनं परः॥३४॥

३३ ए-सी. काममें सब मनोपविचार होते हैं ; सबका आलम्बन स्वधातु होता है ; रूपी धातु १२ का गोचर है ; ऊर्ध्व धातु तीन का गोचर है।[1]

काम में १८ मनोपविचार होते हैं। इन सबका आलम्बन कामधातु है। इनमें से १२मनो–पविचारों का रूपी धातु गोचर है। ६ गन्धरसोपविचार (सौमनस्य, दौर्मनस्य, उपेक्षा) को वर्जित करना चाहिये क्योंकि रूपधातु में गन्ध और रस का अभाव होता है (१ ३० बी)। आरूप्यधातु तीन धर्मोपविचारों का आलम्बन है , शेष १५ का नहीं, क्योंकि आरूप्यधातु में रूपादि का अभाव है (८. ३ सी)। रूपधातु के प्रथम दो ध्यानों को अन्तिम दो ध्यानों से विशिष्ट करना चाहिये।

३३ सी–३४ बी. दो ध्यानों में १२। कामधातु सबका आलम्बन है, ८ का स्वधातु, २ का आरूप्य।[2]

रूपधातु में ६ दौर्मनस्योपविचारों का अभाव है। पहले दो ध्यानों में ६ सौमनस्यो-[११२] पविचार और ६ उपेक्षोपविचार होते हैं। कामधातु इन बारह का आलम्बन है। इनमें से ८ का आलम्बन रूपधातु है: चार गन्धरसोपविचारों को वर्जित करना चाहिये। दो का आलम्बन आरूप्यधातु है: यह सौमनस्य-उपेक्षा धर्मोपविचार हैं।

३४ बी–डी. किन्तु अन्य दो ध्यानों में ६। काम ६ का आलम्बन है; स्वधातु चार का; उत्तर धातु एक का।[3]

अन्तिम दो ध्यानों में दौर्मनस्य-सौमनस्य उपविचारों का अभाव है। ६ उपेक्षा उपविचार अवशिष्ट रहते हैं जिनका आलम्बन कामधातु के रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्प्रष्टव्य और धर्म हैं, रूपधातु के रूप, शब्द, स्प्रष्टव्य और धर्म हैं और आरूप्यधातु के धर्म हैं।

आरूप्यधातु में आकाशानन्त्यायतन की सामन्तक-समापत्ति को पश्चात् की समापत्तियों से विशेषित करना चाहिये :

---

[1] **कामे स्वालम्बनाः सर्वे रूपी द्वादशगोचरः। [व्या ३११.३४, ३१२.४]**
त्रयाणाम् उत्तरः (व्या ३१२.१२)

[2] **ध्यानद्वये द्वादश कामगाः॥ स्वोऽष्टालम्बनम् आरूप्यं द्वयोः [व्या ३१२.१५]।**
भाष्य में बताया है कि कैसे 'कामग' का अर्थ 'काम को आलम्बनके रूप में ग्रहण करना' है। लोत्सव के अनुसार 'ग' शब्द का अर्थ है 'आलम्बनरूप में ग्रहण करना', यथा इस वाक्य में : यह कैसे जाता है? यह ऐसे जाता है।"—परमार्थ और शुआन्-चाङ में यह विवृति नहीं है।

[3] **ध्यानद्वये तु षट्। कामः षण्णां चतुर्णां स्व एकस्यालम्बनम् परः।।**

चत्वारोऽरूपिसामन्ते रूपगा एक ऊर्ध्वगः।
एको मौले स्वविषयः सर्वेऽष्टादश सास्रवाः ॥३५॥

३५ ए–सी. आरूप्य के सामन्तक में चार का आलम्बन रूप है, एक का आलम्बन ऊर्ध्व है। मौल आरूप्य में एक का आलम्बन स्वधातु है।[१]

कारिका के 'अरूपिसामन्त' का अर्थ आकाशानन्त्यायतन सामन्तक है (८.२२)—इस समापत्ति में चार उपविचार उत्पन्न होते हैं : चतुर्थ ध्यान के रूप, शब्द, स्प्रष्टव्य और धर्म के प्रति उपेक्षोपविचार। यह उन आचार्यों का मत है जिनका विचार है कि इस समापत्ति का चित्त व्यवच्छिन्नालम्बन होता है अर्थात् यह चित्त रूप, शब्दादि को पृथक् पृथक् आलम्बन बनाता है। अन्य आचार्यों के मत से यह चित्त परिपिण्डितालम्बन है : यह चतुर्थध्यानभूमिक स्कन्धपंचक को बिना व्यवच्छिन्न किये आलम्बन बनाता है। इन आचार्यों के मत से इस समापत्ति में केवल एक [११३] उपविचार होता है जिसका आलम्बन चतुर्थ ध्यान है। यह संमिश्रालम्बन धर्मोपविचार (ऊपर पृ० १०८) है—इसी समापत्ति में एक धर्मोपविचार है जिसका आलम्बन आरूप्यधातु है।

मौल आरूप्य में[१] केवल एक उपविचार, धर्मोपविचार, होता है जिसका आलम्बन आरूप्यधातु है। जैसा हम पीछे देखेंगे मौल आरूप्यों का अधर धातु आलम्बन नहीं होता (८. २१)।

३५ डी. सब १८ सास्रव हैं।[२]

कोई अनास्रव उपविचार नहीं है।

कामधातूपपन्न सत्त्व जिसने रूपावचर कुशलचित्त के समन्वागम का प्रतिलाभ नहीं किया है [अनागम्य में प्रतिवेध करके, ८.२२; जो इसलिये कामविरक्त और ध्यानसमापन्न नहीं है] १. कामधातुभूमिक १८ उपविचार, २. प्रथम-द्वितीय-ध्यानभूमिक ८ उपविचार (सौमनस्य के चार, उपेक्षा के चार, जिनका आलम्बन रूप, शब्द, स्प्रष्टव्य और धर्म हैं) से समन्वागत है (२.३६ बी)। सौमनस्य और उपेक्षा के उपविचार जिनके आलम्बन कामावचर गन्ध और रस हैं और जो ध्यानों में उत्पादित होते हैं अक्लिष्ट हैं [क्योंकि ध्यानलाभी कामधातु से विरक्त हैं]। अतः यह सत्त्व इन उपविचारों से समन्वागत नहीं है [क्योंकि अधरभूमि में उपपन्न केवल ऊर्ध्वभूमिक क्लिष्ट धर्मों से समन्वागत होता है]। ३. यही कामधातूपपन्न तृतीय-चतुर्थ-ध्यानभूमिक चार [उपेक्षा] उपविचारों से समन्वागत होता है [वही द्रष्टव्य हैं जो २ के लिये हैं]। ४. वह आरूप्यावचर एक क्लिष्ट उपविचार (धर्मोपविचार) से समन्वागत होता है।

जब यह सत्त्व (अनागम्य में प्रतिवेध कर) रूपावचर कुशलचित्त का लाभी होता [११४] है किन्तु वीतराग नहीं होता तब वह १. कामधातु के सब (१८) उपविचारों से, २. प्रथम-

---

[१] **चत्वारोऽरूपिसामन्ते रूपगा एक ऊर्ध्वगः।**
एको मौले स्वविषयः [व्या ३१३.४]

[१] **शुआन्-चाङ में यह अधिक है : "इसी प्रकार द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ आरूप्य की सामन्तक समापत्तियों में।"**

[२] **सर्वेऽष्टादश सास्रवाः ॥**

ध्यानभूमिक १० उपविचारों से : गन्धरसालम्बनोपविचारों को वर्जित कर चार क्लिष्ट सौमनस्य-उपविचार से और अनागम्यभूमिक ६ उपेक्षोपविचार से और ३. पूर्ववत् द्वितीय-तृतीय-चतुर्थ ध्यान-आरूप्यज से, समन्वागत होता है।

इस मार्ग से शेष का अनुगमन करना चाहिये।

ध्यानोपपन्न सत्त्व केवल एक कामावचर उपविचार से—निर्माणचित्त (७.४९ सी) से संप्रयुक्त उपेक्षाधर्मोपविचार से—समन्वागत होता है।

एक दूसरे वादी[1]—यह उपविचार का व्याख्यान वैभाषिकों का है किन्तु हम सूत्र का अर्थ एक भिन्न पर्याय से करते हैं। जो पुद्गल जिस रूपादि विषय से वीतराग होता है वह उस रूपादि आलम्बन का उपविचार नहीं करता। सब सौमनस्यादि यद्यपि सास्रव हों उपविचार नहीं हैं। यह उपविचार तब होते हैं जब यह सांक्लेशिक होते हैं[2] अर्थात् जब वहाँ सूत्र के शब्दों में "अनुनय, प्रतिघात या बिना प्रतिसंख्या के उपेक्षा होती है (अनुनीयते, उपहन्यते, अप्रतिसंख्याय उपेक्षते)"। और इन उपविचारों के प्रतिपक्षभूत (प्रतिव्यूह) ६ सतत विहारों[3] की देशना है : "चक्षु से रूपों को देख कर वह सु-मना और दुर्मना नहीं होता, वह स्मृति-संप्रजन्य से युक्त उपेक्षक होता है....।[4] हमारा अर्थ युक्त है इसके सिद्ध करने के लिये हम कहते हैं कि अर्हत् लौकिक [११५] [और इसलिये सास्रव] कुशल सौमनस्य का जिसका आलम्बन धर्म है[1] [अर्थात् धर्मायतन, १.२४ या अधिगम या आगम, ८.३९ ए] अनुभव करता है। उसी सौमनस्य का प्रतिषेध लक्षित है जो सांक्लेशिक होने से उपविचारभूत है।[2]

---

[1] व्याख्या के अनुसार वसुबन्धु [व्या ३१४.२५]; पू-कूआंग के अनुसार सौत्रान्तिक।

[2] सांक्लेशिक संक्लेशे भवः। संक्लेशानुकूलः। [व्या ३१४.३०]

[3] षट् सतता (व्याख्या का पाठ 'सातता' है) विहारा : (सततंभव = सतत, विहार = योग-विशेष) [व्या ३१४.३१]
दीघ, ३.२५० (पाठभेद : सतत, सत्थ, सस्सत), २८१, अंगुत्तर, २.१९८, ३.२७९—संगीतिपर्याय, १५, ६; विभाषा, ३६, १५ (यह नाम इसलिये है क्योंकि अर्हत् सदा इनका अभ्यास करते हैं)

[4] चक्षुषा रूपाणि दृष्ट्वा नैव सुमना भवति नानुनीयते। न दुर्मना न प्रतिहन्यते। उपेक्षको भवति नाभुजति स्मृतिमान् संप्रजानन् [= स्मृतिसंप्रयुक्तया प्रज्ञया प्रतिसमीक्षमाणः] [व्या ३१४.३३]
उपेक्षको विहरति, अत्थसालिनी, १७२।

[1] जब अर्हत् बुद्धसान्तानिक धर्मों का संमुखीभाव करता है तब उसमें कुशल सौमनस्य का उत्पाद होता है। इसका प्रतिषेध या प्रतिपक्षत्व युक्त नहीं है।

[2] अनन्तवर्मा इस वाद को स्वीकार नहीं करते। यह युक्त नहीं है क्योंकि सूत्र में अन्यथा निर्देश है। सूत्र में भगवत् यह नहीं कहते कि सांक्लेशिक सौमनस्यादि ही उपविचार होते हैं। भगवत् कहते हैं कि "हे भिक्षुओ! यह जो ६ सौमनस्योपविचार हैं इनका आश्रय लेकर दौर्मनस्योपविचार का परित्याग करो; यह जो ६ उपेक्षोपविचार हैं इनका आश्रय लेकर सौमनस्योपविचार का परित्याग करो। हे भिक्षुओ! दो उपेक्षा हैं—एकत्वसंनिश्रित और नानात्वसं-

पुनः यही सौमनस्य-दौर्मनस्य-उपेक्षा गर्धाश्रित (ग्रेधाश्रित, अभिष्वंगाश्रित) और नैष्क्रम्याश्रित भेद से ३६ शास्तृपद हैं। यह शास्तृपद इसलिये कहलाते हैं क्योंकि इस भेद की देशना शास्ता ने की है।[३]

[११६] वेदना नामक भवांग के, जिसका हमने वर्णन किया है, बहु भेद हैं।

अन्य भवांगों का यहाँ व्याख्यान नहीं है।

उक्तं च वक्ष्यते चान्यदत्र तु क्लेश इष्यते।
बीजवन्नागवन्मूलवृक्षवत्तुषवत्तथा॥३६॥

३६ ए. अन्य का या तो व्याख्यान हो चुका है या पश्चात् होगा।[१]

प्रथम कोशस्थान में विज्ञान और षडायतन का निर्देश हो चुका है (१.१६, ९); चतुर्थ कोशस्थान में संस्कार और भव का निर्देश होगा; पाँचवें में तृष्णा और उपादान का।

निश्रित। प्रथम का आश्रय ले द्वितीय का त्याग करो (य इमे षट् सौमनस्योपविचारास्तान् आश्रित्य तानधिष्ठाय य इमे षट् दौर्मनस्योपविचारास्तान् प्रजहीत....)ए।
किन्तु यशोमित्र कहते हैं कि यह सूत्र यह नहीं सिद्ध करता कि सौमनस्यादि, सांक्लेशिक हुए बिना ही, उपविचार होते हैं। गुरु सांक्लेशिक के प्रहाण के लिये लघु सांक्लेशिक का आश्रय लेते हैं, जैसा कि कहा है: "मान का संनिश्रय ले मान का प्रहाण करना चाहिये" बी। मान कभी भी व्यावदानिक नहीं होता। यहाँ नन्द का निदर्शन है [जिसने अप्सराओं की कामना से स्त्रियों के प्रति कामराग का अपगम किया]। भगवत् की यह भी देशना है कि उपेक्षोपविचार से उपेक्षोपविचार का परित्याग होता है। [व्या ३१५.१०]

[३] भाष्य: पुनस्त एव ग्रेवनैष्क्रम्याश्रितभेदेन (व्या का पाठ 'गर्ध') षट्त्रिंशच्छास्तृपदानि। तद्भेदस्य शास्त्रा गमितत्वात् [व्या ३१५.२९]—[विभाषा, १३९, ३, शास्तृपद के ५ व्याख्यान; वसुबन्धु प्रथम को स्वीकार करते हैं]—[तीन अध्व का विचार करने से १०८ उपविचार होते हैं]—मज्झिम, ३.२१७ का 'छत्तिस सत्तपदा'।
व्याख्या के अनुसार: त एवाष्टादशोपविचाराः....."यह १८ उपविचार गर्धाश्रित, नैष्क्रम्याश्रित भेद से ३६ शास्तृपद होते हैं" (व्या ३१५.२९)। यदि यह अर्थ लें तो तर्क यह सिद्ध करता है कि कुछ उपविचार कुशल हैं, कुछ अकुशल।
परमार्थ और शुआन् चाङ: पुनः वही सौमनस्यादि (तान्येव सौमनस्यादीनि)..."
'नैष्क्रम्य' का अर्थ संक्लेश या संसार-दुःख से निष्क्रम-भाव है। [व्या ३१५.३०]
ग्रेधाश्रित, नैष्क्रम्याश्रित पर कोश, २ अनुवाद पृ० १०६; ४. पृ० १६६; महाव्युत्पत्ति, २४५, ११४५, संयुत्त, ४.२३२, विभंग, ३८१, मिलिन्द, गेहनिस्सित और नेक्खम्मनिस्सित (३६ वेदना); नेत्तिप्पकरण, ८७, कैसे कुशल तृष्णा दौर्मनस्य से निष्क्रान्त होती है, 'नेक्खम्मसित'—रीज़डैविड्स-स्टीड, नेक्खम्म, गेह, गेध ('काम' और 'गृह' इन शब्दों से दूषित)।
सोमनस्स, दोमनस्स, उपेक्खा सेवितब्ब, असेवितब्ब हैं, दीघ, २.२७८
ए. मज्झिम, १.३६४, एक दूसरे सन्दर्भ में: याऽयं उपेखा नानत्ता नानत्तसिता तामभिनिवज्जेत्वा याऽयं उपेखा एकत्ता एकत्तसिता....तां एवुपेखां भावेति।
बी. नेत्तिप्पकरण, ८७ में यह वचन है: "जिस मान का आश्रय लेकर मान का प्रहाण होता है वह मान कुशल है।" इसी ग्रन्थ के अनुसार तृष्णा भी कुशल हो सकती है। नीचे टिप्पणी ३ देखिये। [हम इस तान्त्रिकवाद से परिचित हैं कि राग से राग का बहिष्कार होता है, चित्तविशुद्धिप्रकरण, जे.ए.एसबी, १८९८, पृ.१७५]

[१] उक्तं च वक्ष्यते चान्यत्।

हमने कहा है (३.२६) कि प्रतीत्यसमुत्पाद क्लेश, कर्म और वस्तु है। ३६ बी-डी. यहाँ क्लेश इष्ट है। क्लेश बीजवत्, नागवत्, मूलवत्, वृक्षवत्, तुषवत् है।[२]

बीज से अंकुर, पत्रादि उत्पन्न होते हैं। इसी प्रकार क्लेश से क्लेश, कर्म और 'वस्तु' उत्पन्न होते हैं।

जिस तडाग में नाग होते हैं वह शुष्क नहीं होता। इसी प्रकार भवसागर, जहाँ यह क्लेशभूत नाग होता है, नहीं शुष्क होता।

[११७] जिस वृक्ष का मूल नहीं काटा जाता उसमें अंकुर निकलते रहते हैं यद्यपि उसके पत्तों को पुनः पुनः तोड़ते रहते हैं। इसी प्रकार जब तक इस क्लेशभूत मूल का उपच्छेद नहीं होता तब तक गतियों की वृद्धि होती रहती है।

वृक्ष भिन्न काल में पुष्प और फल देता है। इसी प्रकार एक ही काल में यह क्लेशभूत वृक्ष क्लेश, कर्म और वस्तु नहीं प्रदान करता।

यदि बीज का तुष निकाल लिया गया हो तो समग्र बीज भी नहीं उगता। इसी प्रकार पुनर्भव की उत्पत्ति के लिये कर्म का तुषभूत क्लेश से संप्रयोग होना आवश्यक है।

तुषितंडुलवत्कर्म तथैवौषधिपुष्पवत्।
सिद्धान्नपानवद्वस्तु तस्मिन् भवचतुष्टये॥३७॥
उपपत्तिभवः क्लिष्टः सर्वक्लेशैः स्वभूमिकैः।
त्रिधान्ये त्रय आरूप्येष्वाहारस्थितिकं जगत्॥३८॥

३७ ए-बी. कर्म तुषितंडुलवत्, ओषधिवत्, पुष्पवत् है।[१]

कर्म तुषसमन्वागततंडुल के समान है। वह ओषधि के तुल्य है जो फल-विपाक होने पर नष्ट होता है। इसी प्रकार जब कर्म एक बार विपच्यमान होता है तब इसमें और विपाक नहीं होता। यह पुष्पवत् है। पुष्प फलोत्पत्ति का आसन्न कारण है। इसी प्रकार यह विपाकोत्पत्ति का आसन्न कारण है।

३७ सी. वस्तु सिद्ध अन्न और पान के तुल्य है।[२]

सिद्ध अन्न और पान सिद्ध अन्न और पान के रूप में पुनरुत्पन्न नहीं होते। उनका एकमात्र उपयोग अशन-पान में है। इसी प्रकार 'वस्तु' है जो विपाक है। विपाक से विपाकान्तर नहीं होता क्योंकि इस विकल्प में मोक्ष असम्भव हो जायगा।

स्कन्ध-सन्तान अपनी संस्कृतावस्था में केवल चार भवों का जिनका हम निर्देश कर चुके हैं

---

[२] **अत्र तु क्लेश इष्यते। बीजवत् नागवत् मूलवृक्षवत् तुषवत् तथा॥**
यही बीज-तुष की उपमा योगसूत्र के व्यासभाष्य, २.१३ में है।

[१] **तुषितण्डुलवत् कर्म तथैवौषधिपुष्पवत्।**

[२] **सिद्धान्नपानवद्वस्तु**
नवें कोशस्थान में इस प्रतिज्ञा को सिद्ध किया है, अनुवाद पृ० २९७।

(३.१० और आगे) अर्थात् अन्तराभव, उपपत्तिभव, पूर्वकालभव, मरणभव का, उत्तरोत्तर क्रम है।

[११८] ३७ डी-३८ बी. चार भवों में उपपत्ति-भव स्वभूमिक सर्व क्लेशों से सदा क्लिष्ट होता है।[1]

यह सदा क्लिष्ट होता है, यह कुशल या अव्याकृत कभी नहीं होता। जब किसी भूमि में (कामधातु, प्रथम ध्यान इत्यादि में) उपपत्ति-भव होता है तब इस भूमि के सब क्लेश[2] उसको क्लिष्ट करते हैं। आभिधार्मिक कहते हैं : "क्लेशों में एक भी क्लेश नहीं है जो प्रतिसन्धिबन्ध में चित्त को क्लिष्ट न करता हो किन्तु पुनरुपपत्ति केवल क्लेशवश होती है, 'स्वतन्त्र' पर्यवस्थानों से नहीं [ईर्ष्या, मात्सर्य, क्रोध, म्रक्ष से नहीं जो केवल अविद्या से संप्रयुक्त हैं] (५.४७)।

यद्यपि यह अवस्था—मरणावस्था—काय और चित्त से मन्दिका[3] हो तथापि यदि एक पुद्गल की किसी क्लेश में[4] अभीक्ष्ण प्रवृत्ति होती है तोपूर्वाक्षेप से यह क्लेश मरणकाल में समुदाचारी होता है।

३८ सी. अन्य भव तीन प्रकार के होते हैं।[5]

अन्तराभव, पूर्वकालभव और मरणभव कुशल, क्लिष्ट, अव्याकृत होते हैं।

क्या चार भव सब धातुओं में होते हैं?

३८ सी. आरूप्यों में तीन होते हैं।[6]

[११९] अन्तराभव को वर्जित कर—अतः कामधातु और रूपधातु में चारों भव होते हैं।

प्रतीत्यसमुत्पाद का व्याख्यान समाप्त हुआ। अब हम विचार करते हैं कि उपपन्न सत्त्व कैसे अवस्थान करते हैं (तिष्ठन्ति)।

३८ डी. जगत् की स्थिति आहार से है।[7]

---

[1] तस्मिन् भवचतुष्टये ॥
उपपत्तिभवः क्लिष्टः सर्वक्लेशैः स्वभूमिकैः।

[2] क्लेश से क्लेश और उपक्लेश इष्ट हैं, ५.४६.

[3] चित्तचैतसमुदाचाराद्यपटुत्वात् [व्या ३१६.१४]—यथा ३.४२ डी में 'उपेक्षायां च्युतोद्भवौ'।

[4] यस्तु पुद्गलो यत्र क्लेशेऽभीक्ष्णम् (= सततं) चरितः (= प्रवृत्तः) आसन्न-मरणकालस्य तस्य तदानीं स एव क्लेशः समुदाचरति पूर्वविधात् (= पूर्वाभ्यासात्) [व्या ३१६.१७] कोशस्थान ९, अनुवाद पृ० २९६–७ देखिये।

[5] त्रिधान्ये—ऐसा प्रतीत होता है कि यह सर्वथा यथार्थ नहीं है : अन्तराभव का प्रथम क्षण अवश्य क्लिष्ट होता है।

[6] त्रय आरूप्येषु—ऊपर पृ० ३२ देखिये।

[7] आहारस्थितिकं जगत् ॥
संयुक्त, १७, २९, एकोत्तर, ४१, ११.
दीघ, ३.२११ (संगीतिसुत्तन्त) : सब्बे सत्ता आहारट्ठितिका सब्बे सत्ता संखारट्ठितिका। अयं खो आवुसो तेन भगवता जानता पस्सता अरहता सम्मासंबुद्धेन एको धम्मो सम्मदक्खातो

सूत्रवचन है कि "भगवत् ने जानकर और देखकर इस एक धर्म को सम्यक् आख्यात किया है कि सब सत्त्वों की स्थिति आहार से होती है।"

चार आहार हैं—कवडीकार आहार, स्पर्श, मनःसंचेतना, विज्ञान[1]।

कवडीकार आहार औदारिक या सूक्ष्म है। अन्तराभव का (जो गन्ध का भोजन करते हैं जिससे उनका नाम गन्धर्व है, ३.३० सी) कवडीकार आहार, देवों का आहार, प्राथमकाल्पिक (३.९७ सी) मनुष्यों का आहार सूक्ष्म होता है क्योंकि यह आहार सकलभाव से शरीर में प्रवेश करता है जैसे तेल बालुका में प्रवेश करता है और निष्यन्द (मूत्रपुरीष) का अभाव होता है।[3] अथवा सूक्ष्मों का सूक्ष्म आहार होता है यथा (यूकादि) स्वेदजन्तुक, जातमात्र, बालक [गर्भस्थ] आदि का होता है।

[१२०] **कवडीकार आहारः कामे श्र्यायतनात्मकः।**
न रूपायतनं तेन स्वाक्षमुक्ताननुग्रहात् ॥३९॥

३९ ए-बी. काम में कवडीकार आहार। यह आयतन त्रयात्मक है।[1]

ऊर्ध्व धातुओं में केवल वह सत्त्व उपपन्न होते हैं जो इस आहार के प्रति वीतराग होते हैं। अतः यह आहार केवल कामधातु में होता है।

यह गन्धरसस्प्रष्टव्यात्मक है। वास्तव में गन्ध, रस और स्प्रष्टव्य को कवड में लेते हैं—अर्थात् पिण्डों में—और पश्चात् इनका अभ्यवहरण (=गिलन) करते हैं। यह द्विविध क्रिया मुख और नासिका से होती है। यह ग्रास का व्यवच्छेद करते हैं।[2]

किन्तु गन्धादि का आहारत्व कैसे है जो छाया, आतप (१.१० ए), ज्वाला, (मणि आदि की) प्रभा में पाये जाते हैं।[3] वास्तव में जो गन्धादि वहाँ पाये जाते हैं (तत्रत्य) उनका कवडीकार

—अंगुत्तर, ५.५०, ५५ में 'संखारट्ठितिक' शब्द नहीं है।—पटिसंभिदा, १.१२२. मध्यमकवृत्ति, ४० में एक दूसरा सूत्र उद्धृत है : एको धर्मः सत्त्वस्थितये यदुत चत्वार आहाराः—महावस्तु, ३.६५.
संगीतिपर्याय के प्रथम भाग (एक धर्म) का आरम्भ इस प्रकार होता है : "सब सत्त्व आहार-स्थितिक हैं।"

[2] संयुक्त, १५, ६, विभाषा, १२९, १५....लोकप्रज्ञाप्ति (बुद्धिस्ट कास्मालोजी में इसका विवरण है); महाव्युत्पत्ति, ११८; बील, कैटिना, ८८ (रोचक है)। दीघ, ३.२२८ (कबळिंकारो आहारो ओळारिको वा सुखुमो वा....) मज्झिम, १.४८, २६१, संयुत्त, २.९८; धम्मसंगणि, ७१, ६४-६, अत्थसालिनी, १५३, विसुद्धिमग्ग, ३४१, नेत्तिप्पकरण, ११४.
उदायिसूत्र देखिये, कोश, २.४४ डी, पृ० २०९, ८.३ सी, पृ० १४०.

[3] मूत्रपुरीष चातुर्महाराजों में नहीं है।

[1] कवडीकार आहारः कामे त्र्यायतनात्मकः।

[2] कवडीकृत्याभ्यवहरणात्। तत् पुनर्मुखेन नसिकया ग्रासव्यवच्छेदात् [व्या ३१६.३२]

[3] छायातपज्वालाप्रभासु कथम् आहारत्वम् [व्या ३१६. ३४]—संघातपरमाणु के द्रव्य, २.२२ : छाया रूप के क्षुद्रतम भाग में गन्ध, रस और स्प्रष्टव्य होते हैं।
परमार्थ बहुत स्पष्ट नहीं हैं : "छाया-आतप-ज्वाला-प्रभादि यह [गन्ध] कैसे आहार हैं?";

आहार और अभ्यवहरण नहीं होता। सिद्धान्त के अनुसार यह निर्देश कि 'आहार आयतनत्रयात्मक हैं' बाहुलिक है।[4] [छायादि में जो गन्ध पाये जाते हैं वह आहार नहीं हैं किन्तु समुदाय में गन्ध आहार है]। किन्तु[5] हमारा अभिप्राय है कि यद्यपि इनका अभ्यवहरण नहीं होता तथापि क्योंकि यह स्थिति और यापन का भी आहरण करते हैं (स्थितिमाहरन्ति, यापनमाहरन्ति) इसलिये यह गन्ध सूक्ष्म आहार हैं : यथा स्नानाभ्यंग (देखिये १. अनुवाद, पृ. ६९)।

[१२१] किन्तु रूपायतन (वर्ण और संस्थान) आहार क्यों नहीं है? वास्तव में उसका अभ्यवहरण कवड में होता है।

३९ सी-डी. रूपायतन आहार नहीं है क्योंकि यह न स्वेन्द्रिय पर अनुग्रह करता है, न मुक्तों पर।[1]

आहार वह है जो इन्द्रिय और तदाश्रय महाभूतों पर अनुग्रह करता है। किन्तु अभ्यवहारकाल में—जिस काल में अन्तर्मुख-प्रविष्ट आहार खाया जाता है (भुज्यते)—रूप न अपनी चक्षुरिन्द्रिय पर और न उसके आश्रयभूत महाभूतों पर अनुग्रह करता है। फिर यह अन्य इन्द्रियों पर कैसे अनुग्रह करेगा जिनका यह विषय नहीं है? निस्संदेह जब तक यह दृश्यमान होता है तब तक यह सुख-सौमनस्य उत्पन्न करता है, यह अनुग्रह करता है। किन्तु इस अवस्था में जो अनुग्रह और आहार है वह रूप नहीं है। वह सुखवेदनीय स्पर्श है जिसका आलम्बन रूप है। हमारे इस व्याख्यान का समर्थन इससे होता है कि सुमनोज्ञ रूप उन मुक्तों पर अनुग्रह नहीं करता जो उसको देखते हैं। [यदि रूप दृश्यमान होने पर आहारकृत्य करता तो यह उन पुद्गलों पर अनुग्रह करता जो कवडीकार आहार से वीतराग हैं अर्थात् जो अनागामिन् और अर्हत् हैं यथा गन्ध, रसादि अभ्यवहारकाल में इन मुक्तों पर अनुग्रह करते हैं।]

स्पर्शसंचेतनाविज्ञा आहाराः सास्रवास्त्रिषु।
मनोमयः संभवैषी गन्धर्वश्चान्तराभवः ।।४०।।
निर्वृत्तिश्चेह पुष्ट्यर्थमाश्रयाश्रितयोर्द्वयम्।
द्वयमन्यभवाक्षेपनिर्वृत्त्यर्थं यथाक्रमम् ।।४१।।

४० ए-बी. सास्रव स्पर्श, संचेतना और विज्ञा तीन धातुओं में आहार हैं।[2]

शुआन्-चाङ : "छाया-आतप-ज्वाला-शैत्य-आहार कैसे हैं?" शुआन्-चाङ : "यान्यपि तु नाभ्यवह्रियन्ते" का अनुवाद केवल 'पुनः' शब्द से करते हैं।

[4] बाहुल्येन किल एष निर्देशः। [व्या ३१७.२]

[5] व्याख्या के अनुसार वसुबन्धु अब अपना अभिप्राय (स्वाभिप्राय) द्योतित करते हैं। [व्या ३१७.५].

[1] न रूपायतनं तेन स्वाक्षमुक्ताननुग्रहात्।।
विभाषा, १३०, १—विभंग १३, अत्थि रूपं कबलिंकारो आहारो। अत्थि रूपं न कबलिंकारो आहारो। यहाँ रूपस्कन्ध इष्ट है। वसुबन्धु रूपायतन का उल्लेख करते हैं।

[2] स्पर्शसंचेतनाविज्ञा आहाराः सास्रवास्त्रिषु।
विज्ञा, यथा प्रज्ञा; इसका अर्थ विज्ञान है।

स्पर्श त्रिकसंनिपात है (३.पृ०.९६); मनःसंचेतना मानसकर्म (४.१सी) है; विज्ञान विज्ञानस्कन्ध है।[1]

[१२२] जब यह अनास्रव होते हैं तब यह आहार क्यों नहीं होते?

वैभाषिक कहते हैं : "आहार वह है जिससे भव की वृद्धि होती है। किन्तु अनास्रव धर्म ऐसे नहीं हैं क्योंकि भव का विनाश करना उनका कार्य है।" यह वाद उस सूत्र के अनुरूप है जिसका वचन है कि आहार भूतों की स्थिति और यापन के लिये और संभवैषियों के अनुग्रह के लिये होता है।[1] किन्तु अनास्रव स्पर्श, संचेतना और विज्ञान इन दो कार्यों के लिये नहीं होते।

'भूत' का अर्थ है 'उपपन्न सत्त्व'। किन्तु 'संभवैषी' शब्द का क्या अर्थ है?[2]

इससे अन्तराभव इष्ट है जिसकी प्रज्ञप्ति भगवत् पाँच संज्ञाओं से करते हैं :

४०सी-४१ ए. मनोमय, संभवैषिन्, गन्धर्व, अन्तराभव, [अभि] निर्वृत्ति।[3]

अन्तराभव को मनोमय[4] कहते हैं क्योंकि यह केवल मन से निर्जात है (मनोनिर्जातत्वात्), क्योंकि शुक्र, शोणित, कर्दम ,पुष्पादि किंचित् बाह्य का उपादान न लेकर (अनुपादाय) इसका भाव होता है।

इसे संभवैषिन् कहते हैं क्योंकि इसका स्वभाव उपपत्तिभव को जाना है।

इसे गन्धर्व कहते हैं क्योंकि यह गन्ध-भक्षण करता है।[5]

[१२३] इसे अभिनिर्वृत्ति कहते हैं क्योंकि इसकी निर्वृत्ति अर्थात् इसका जन्म उपपत्ति के अभिमुख है।[1] अभिनिर्वृत्ति अन्तराभव है यह इस सूत्र से सिद्ध होता है : "सव्याबाध काय को

कवडीकार आहार गन्धरसस्प्रष्टव्यायतनात्मक है। अतः यह स्पष्ट ही सास्रव है। किन्तु स्पर्श, मनः संचेतना और विज्ञान कभी सास्रव और कभी अनास्रव हैं। जब यह सास्रव होते हैं तभी आहार होते हैं।

[1] लोत्सव में विज्ञान शब्द का व्याख्यान नहीं है। परमार्थ इसे मनोविज्ञान कहते हैं; शुआन्-चाङ, विज्ञानस्कन्ध।

[1] व्याख्या : चत्वार आहारा भूतानां सत्त्वानां स्थितये संभवैषिणां चानुग्रहाय। कतमे चत्वारः। कवडीकाराहार औदारिकः सूक्ष्मश्चाहारः प्रथमः। स्पर्शो द्वितीयः। मनःसंचेतना तृतीयः। विज्ञानमाहारश्चतुर्थः (८.३सी. पृ० १३९-१४०).
एकोत्तर ३१,६: भूतानां स्थितये यापनायै संभवैषिणां चानुग्रहाय; विभाषा, १३०,६; संयुत्त, २.११,मज्झिम, १.२६१: चत्तारोऽमे भिक्खवे आहारा भूतानां ठितिया संभवेसीनं वा अनुग्गाहाय.....कबलिंकारो आहारो ओलारिको वा सुखुमो वा. ..... कायस्स ठितिया यापनाय, विसुद्धिमग्ग,३२ और रीज डेविड्स-स्टीड (यापना) में निर्दिष्ट स्थितये = अवस्थापनाय, अनुग्रहाय = पुनर्भवाय संभवाय (व्याख्या) अन्य ग्रन्थ।

[2] भूता उत्पन्नाः। संभवैषिणोऽन्तराभविकाः—पृ० १२४, पंक्ति ४ देखिये।

[3] मनोमयः (संभवैषी) गन्धर्वश्चान्तराभवः। [निर्वृत्तिः]

[4] मनोमय, कोश,२.४४डी,८.३सी देखिये।

[5] ऊपर पृ० ४७.

[1] शुआन्-चाङ : अभिनिर्वृत्ति (उत्पाद), क्योंकि अनागत भव के अभिमुख हो इसका किंचित् काल के लिये उत्पाद होता है।

अभिनिर्वृत्त कर (अभिनिर्वर्त्य) यह एक सदुःख लोक में उपपन्न होगा"[२] और पुनः इस सूत्र से जिसका वचन है कि "इस पुद्गल ने अभिनिर्वृत्ति-संयोजन का प्रहाण किया है किन्तु उपपत्ति-संयोजन का नहीं।"[३] चार कोटि हैं : १. कामरूप से वीतराग योगी यदि वह अनागामी है[४]। उसने अभिनिर्वृत्ति-संयोजन का प्रहाण किया है क्योंकि वह उन धातुओं में पुनरुपपन्न नहीं होगा जहाँ उपपत्ति-भव के पूर्व अन्तराभव होता है; उसने उपपत्ति-संयोजन का प्रहाण नहीं किया है क्योंकि वह आरूप्यधातु में पुनरुपपन्न होगा। २. अन्तरापरिनिर्वायिन् (३. पृ० ३९) अनागामी : अभिनिर्वृत्तिसंयोजन से बद्ध, उपपत्ति से मुक्त। [१२४] ३. अर्हत् जिसने दो प्रकार के संयोजनों का प्रहाण किया है। ४. अन्य पुद्गल जो पूर्व प्रकारों में संगृहीत नहीं हैं, जिन्होंने दो प्रकार के संयोजनों में से किसी का प्रहाण नहीं किया है।

एक दूसरे व्याख्यान के अनुसार भूत (पृ० १२२) अर्हत् हैं : 'संभवैषिन्' शब्द से वह सत्त्व प्रज्ञप्त हैं जो सतृष्ण हैं और जो इसलिये पुनरुपपन्न होंगे।

वह कौन आहार हैं जो [पुनर्भव की] स्थिति और 'अनुग्रह' इन दो कृत्यों को पूरा करते हैं?[१]

वैभाषिकों के अनुसार[२] चारों आहार इन दो कृत्यों को निष्पन्न करते हैं।[३]—क्योंकि कवडीकार आहार उनके लिये पुनर्भवसंवर्तनीय है (पुनर्भवाय संवर्तते) जो उसमें अनुरक्त हैं (तद्रागिणाम्)। यह इस सूत्रपद से ज्ञापित होता है। भगवत् का वचन है कि "चार आहार

---

[२] ....सदुःखकाय........—लोत्सव का अनुवाद = काय, आत्मभाव : चीनी अनुवादक = स्वभाव। व्याख्या : सव्याबाधं (सदुःखत्वात्) अभिनिर्वर्त्य।

[३] यह एक चतुष्कोटिक सूत्र है : अस्ति पुद्गलो यस्याभिनिर्वृत्तिसंयोजनम् प्रहीणं नोपपत्तिसंयोजनम्। अस्ति यस्योपपत्तिसंयोजनम् प्रहीणं नाभिनिर्वृत्तिसंयोजनम्। अस्ति यस्याभिनिर्वृत्तिसंयोजनम् प्रहीणं उपपत्तिसंयोजनम् च। अस्ति यस्य नाभिनिर्वृत्तिसंयोजनम् प्रहीणं नोपपत्तिसंयोजनम्।
अभिनिर्वृत्ति और उपपत्ति के भेद का विवेचन कोश, ६.३, अनुवाद पृ० १३७-१३८ में किया गया है।
रीज डेविड्स-स्टीड में अनेक सूचनायें अभिनिब्बत्त, अभिनिब्बत्ति, और अभिनिब्बत्तेति शब्दों के नीचे मिलेंगी। इनमें से एक अत्यन्त रोचक संयुत्त, ३.१५२ है (जो उपनिषत्के 'पुष्पिता वाक्' का किंचिन्मात्र स्मरण दिलाती है)।
अंगुत्तर, २.१३४ में [ओरंभागिय संयोजन के अतिरिक्त जिससे कामधातु में पुनरुपपत्ति होती है] उप्पत्ति पतिलाभिक संयोजन ('उपपत्ति' होना चाहिये) और भवपतिलाभिक संयोजन हैं। यह दूसरा संयोजन अभिधर्म का अभिनिर्वृत्तिसंयोजन है [भव = अन्तराभव : 'अन्तरापरिनिब्बायि' ने उपपत्ति-संयोजन का छेद किया है, भवसंयोजन का नहीं]

[४] "यदि वह अनागामी है" यह शब्द आवश्यक है, क्योंकि लौकिक मार्ग से दो अधर धातुओं से वैराग्य हो सकता है, किन्तु वह आत्यन्तिक नहीं है।

[१] अनुग्रह—यहाँ संभवैषिन् से अन्तराभव नहीं समझना चाहिये किन्तु द्वितीय व्याख्यान के अनुसार (ऊपर) सब सतृष्ण सत्व अभिप्रेत हैं।

[२] विभाषा, १३०, १ में चार मत हैं। वसुबन्धु शास्त्रीय मत का अनुसरण करते हैं।

[३] यह युक्त है कि चार आहार में से तीन—मनःसंचेतना जो कर्म है; विज्ञान जिसे विज्ञान बीज अवधारित करते हैं, जो कर्मपरिभावित है; स्पर्श जो कर्म-संप्रयुक्त है—अनुग्रह (पुनर्भव) के लिये हैं (अनुग्रहाय भवति)। किन्तु कवडीकार आहार कैसे संभवैषी के अनुग्रह के लिये है?

रोग-गण्ड-शल्य का मूल हैं [और रोग-गण्ड-शल्य से पुनर्भव के पंच उपादानस्कन्ध उक्त हैं]; जरा-मरण के प्रत्यय हैं [और जरा-मरण अनागत भव का जरा-मरण है, ऊपर पृ० ६५][४]।

दूसरी ओर यह प्रत्यक्ष है कि कवडीकार आहार सत्वों की इह-स्थिति के लिए है। किन्तु मनःसंचेतना में यह सामर्थ्य कैसे है?[५] ऐसा कहते हैं कि दुष्काल पड़ने पर एक पुद्गल [१२५] अन्य देश को जाना चाहता था। किन्तु वह भूख से बहुत दुर्बल हो गया था और उसके दो पुत्र अभी छोटे थे। यह अनुभव कर कि उसकी मृत्यु हो जायगी उसने एक बोरे में राख भरी; उस बोरे को भीत पर रख दिया और अपने बच्चों को यह कह कर सान्त्वना दी कि बोरे में अन्न है। दोनों बच्चे बहु काल तक इस आशा से जीवित रहे। किन्तु एक व्यक्ति आया और उसने बोरे को खोला। बच्चों ने देखा कि बोरे में राख है। उनकी आशा भंग हुई और वह मर गये।—इसी प्रकार एक दूसरी कथा है कि बनियों का जहाज समुद्र में भग्न हो गया। भूख-प्यास से जब वह अर्दित थे तब उन्होंने दूर से फेन-समुदाय को देखा और उसे समुद्रतट समझा। इससे उनकी आशा बँधी और उनको बल मिला। वह उस स्थान में रहे और उनके जीवन की अवधि बढ़ी, किन्तु जब वह वहाँ पहुँचे तो उनको ज्ञात हुआ कि यह फेन है। उनकी आशा टूट गई और वे मर गये।[१] —संगीतिपर्याय में[२] यह पठित है कि "समुद्र के बड़े जन्तु भूमि पर आकर तट पर अण्डे देते हैं, उनको वालुका में गाड़ देते हैं और पुनः समुद्र में चले जाते हैं। यदि माता अंडों की स्मृति सुरक्षित रखती है तो अण्डे नष्ट नहीं होते। अन्यथा यदि वह उन्हें भूल जाती है तो वह नष्ट हो जाते हैं।"—यह संस्करण यथार्थ नहीं हो सकता[३] क्योंकि यह असंभव है कि परचित्त आहार हो। अतः हमारा पाठ है कि "यदि अंडे माता का स्मरण करते हैं तो वह नहीं सड़ते; यदि वह माता को विस्मृत कर जाते हैं तो वह सड़ जाते हैं।"

किन्तु हम इसमें संदेह नहीं कर सकते कि सब सास्रव धर्म भव की पुष्टि नहीं करते। भगवत् की यह देशना क्यों है कि आहार चार हैं?—क्योंकि उनकी अभिसन्धि प्रधान से है :

---

[४] संयुक्त, १५, ७ : रोगस्य गण्डस्य शल्यस्य चत्वार आहारा मूलं जरामरणप्रत्ययः (?)—व्याख्या के अनुसार 'जरामरणप्रत्ययः यह शब्द इसी सूत्र के (एकोत्तर, २१, ७) एक दूसरे संस्करण में पाये जाते हैं।—विभाषा, १३०, ८—संयुत्त, ३. १८९ : रूपं रोगो ति गण्डो ति सल्लं ति . . .

[५] स्पर्श और विज्ञान भी गृहीत होते हैं यह मनः संचेतना से संप्रयुक्त हैं।

[१] यह आशामोदक या मनमोदक की लोकोक्ति का स्मरण दिलाता है (जैकब, २. ११) यह लोकोक्ति न्यायकन्दली, १३० और न्यायवार्तिक, ४३ में है (सर्वदर्शन के अनुवाद में उद्धृत है, म्यूसिआँ, १९०२, १६, २२)
Si-do-in-dzon (म्यूसेगिमे, बिब्लि, एतूद ८. १८९९), १२६ में अशन-पान की मुद्रा, चार आहार, आम्ल की वेदना जो फल-चित्त उत्पादित करती है।

[२] इस नाम का अभिधर्म-शास्त्र, नैन्जिओ, १२७६, अध्याय ८, फ़ोलिओ ८ (साएकी); विभाषा, १३०, ६

[३] कुछ टीकाकारों के अनुसार सौत्रान्तिक की उक्ति।

[१२६] ४१. आहारों में दो आश्रय और आश्रित की वृद्धि के लिए हैं, दो अन्य भव के आक्षेप और निर्वृत्ति के लिए हैं।[१]

आश्रय सेन्द्रियकाय है जो आश्रित का आश्रय है : अर्थात् चित्त-चैत्त। कबडीकार आहार काय की पुष्टि के लिए और स्पर्श चित्त की पुष्टि के लिए है।[२] यह दो आहार जो उपपन्न को जीवित रखते हैं, जो भोजन सदृश हैं, उत्पन्न सत्व की स्थिति के लिए प्रधान वस्तु हैं।

मनः संचेतना जो कर्म है पुनर्भव का आक्षेप करती है (आक्षिपति)। यह पुनर्भव इस प्रकार आक्षिप्त होकर कर्मपरिभावित[३] विज्ञान-बीज से निर्वृत्त होता है। अतः मनसंचेतना और विज्ञान दो आहार हैं जो उत्पत्ति में प्रत्यय हैं, जो मातृकल्प हैं, जो अनुत्पन्न सत्व की उत्पत्ति में प्रधान वस्तु हैं।

[१२७] क्या सब कबडीकार आहार है?[१] ऐसा कबडीकार है जो आहार नहीं है। चार कोटि हैं: १. एक कबडीकार वह है जो आहार नहीं है : जिस कबडीकार प्रत्ययवश इन्द्रियों का अपचय होता है और तदाश्रय महाभूतों का परिभेद होता है।[२] २. ऐसा आहार है जो कबडीकार नहीं है: स्पर्श, मनः संचेतना और विज्ञान। ३. एक कबडीकार है जो आहार है : जिस कबडीकार प्रत्ययवश इन्द्रियों का उपचय और महाभूतों की वृद्धि होती है।[३] ४. जो न कबडीकार है, न आहार है: शब्दादि।

---

[१] [अत्र वृद्धयर्थं आश्रया] श्रितयोर्द्वयम्।
द्वयमन्यभवाक्षेपनिर्वृत्त्यर्थं यथाक्रमम्॥
विभाषा में चार मत का व्याख्यान है :
१. विज्ञान, स्पर्श, कबडीकार : प्रत्युत्पन्न भव का पोषण करते हैं।
चेतना : अनागत भव का पोषण करती है।
२. स्पर्श, कबडीकार : प्रत्युत्पन्न भव का पोषण करते हैं।
विज्ञान, चेतना : अनागत भव का पोषण करते हैं।
३. कबडीकार : प्रत्युत्पन्न भव का पोषण करता है।
स्पर्श, विज्ञान, चेतना : अनागत भव का पोषण करते हैं।
४. पिङ्किआ : चार आहारों के दो कृत्य हैं।

[२] तेषां (चित्तचैत्तानां) पुष्टये स्पर्शः—व्याख्या : सुखवेदनीयेनानुग्रहात् यः कश्चिद् वेदनास्कन्धः संज्ञास्कन्धः सर्वः स स्पर्शं प्रतीत्येतिवचनात्।

[३] मनः संचेतनया पुनर्भवस्याक्षेपः। कर्मपरिभाविताद् विज्ञानबीजादभिनिर्वृत्तिः। परमार्थ : एवमाक्षिप्त भव कर्मपरिभावित विज्ञानबीज से उत्पन्न होता है।
शुआन् चाङ : पुनर्भव का अर्थ अनागत भव है। इस अनागत भव का आक्षेप मनः संचेतना करती है। मनः संचेतना आहार से आक्षिप्त हो पुनर्भव का उत्पाद कर्मपरिभावित विज्ञान-बीज के बल से होता है।
पु-कुआंग के अनुसार यह व्याख्यान सौत्रान्तिक निकाय का है। सर्वास्तिवादिन् 'विज्ञान-बीज' इस शब्द का व्यवहार नहीं करते।

[१] संगीतिपर्याय, १, ७—यः कश्चित् कबडीकारः सर्वः स आहारः। स्यात् कबडीकारो नाहारः स्यादाहारो न कबडीकारः। स्यादुभयम्। स्यान्नोभयमिति चातुष्कोटिकम्।

[२] यं कबडीकारं प्रतीत्येन्द्रियाणामपचयो भवति महाभूतानां च परिभेदः।

[३] यं कबडीकारं प्रतीत्येन्द्रियाणामुपचयो भवति महाभूतानां च वृद्धिः।

इसी प्रकार स्पर्शादि अन्य आहारों का यथायोग चतुष्कोटिक करना चाहिये।

क्या ऐसे स्पर्श, मनः संचेतना, विज्ञान हैं जो बिना आहार हुए इन्द्रियों का उपचय और महाभूतों की वृद्धि करते हैं?—हाँ :जो अन्यभूमिक हैं और जो अनास्रव हैं।[४]

जो परिभुक्त होने पर भोक्ता को बाधा पहुँचाता है वह भी आहार है। वैभाषिकों के अनुसार परिभुक्त वस्तु दो क्षणों में आहार-कृत्य सम्पादित करता है: १. भोजन वेला में यह क्षुत्–पिपासा को शान्त करता है; २. परिपाक होने पर यह इन्द्रियों का उपचय और महाभूतों की वृद्धि करता है (विभाषा, १३०, ७)।[५]

[१२८] इससे प्रश्नान्तर उत्पन्न होता है।

विविध गति और योनियों में कितने आहार होते हैं?—सबमें सब—यह कैसे कहते हैं कि नरक में कबडीकार आहार होता है?—क्या प्रदीप्त अयः पिण्ड और क्वथित ताम्र आहार नहीं हैं?[१]—यदि ऐसा है, यदि व्याबाध(व्याबाधाय) आहार है तो [संगीतिपर्याय, पृ० १२७ नोट १ का] चातुष्कोटिक बाधित होता है और प्रकरण ग्रन्थ (७,५) के वचन भी बाधित होते हैं। प्रकरणग्रन्थ (७,५) में कहा है:"कबडीकार आहार क्या है?—वह कबड जिनके कारण इन्द्रियों का उपचय और महाभूतों की वृद्धि और यापना होती है," एवमादि—नरक में कबडीकार आहार का अस्तित्व है, इस वाद का इन वचनों से विरोध नहीं है। वास्तव में यह वचन उपचयाहार के अभिप्राय से कहे गये हैं।[२] किन्तु भोजन के जो पदार्थ अपचय करते हैं उनको भी नरक में आहार का लक्षण प्राप्त है:[३] यह कम से कम कुछ काल के लिये क्षुत्पिपासा के प्रतिघात में समर्थ हैं। पुनः प्रादेशिक नरक में (३.५९ सी) कबडीकार आहार उसी तरह है जैसे मनुष्यों में। अत: कबडीकार आहार का अस्तित्व पाँच गतियों में है।

कबडीकार आहार के प्रसंग में हम इस सूत्र की समीक्षा करते हैं: "जो काम से विरक्त १०० बाह्यक ऋषियों को दान देता है और जो एक जम्बुषण्डगत पृथग्जन को दान देता है, इन दोनों के दान में यह दूसरा पहले की अपेक्षा महाफल का देनेवाला है"।[४] "जम्बुषण्डगत पृथग्जन" का क्या अर्थ है?

---

[४] स्यात् स्पर्शादीन् प्रतीत्येन्द्रियाणाम् उपचयो भवति महाभूतानां च वृद्धिः। न च ते आहाराः। स्यात्। अन्यभूमिकान् अनास्रवांश्च। (विभाषा, १२९, १४)
समाधिज औपचयिक रूप पर १. अनुवाद पृष्ठ ६९

[५] शुआन चाङ के अनुसार—व्याख्या : यश्चेह परिभुक्तः कबडीकारो भोक्तु-बाधामादधाति स किमाहारः। सोऽप्याहारः: आपाते भोजनवेलायाम् अनुग्रहात्।

[१] प्रदीप्तायःपिण्ड, क्वथिततात्र—उदाहरण के लिए पंचशिक्षासूत्र, फ़िअर फ्रैग्मेंट्स आफ कंजूर, २४१ देखिये। नरक, आहार पर वसुमित्र, महासांघिक, २७ वां वाद।

[२] उपचयाभिसन्धिवचनादविरोधः। व्याख्या : जो उपचय के लिए है वह मुख्य आहार है।

[३] आहारलक्षणप्राप्तत्वात्

[४] सूत्र का उद्धार हो सकता है [४.११७ देखिये]:
यश्च तिर्यग्योनिगतानां शताय दानं दद्यात्। यश्चैकस्मै दुःशीलाय मनुष्यभूताय दानं दद्यात्। अतोदानादिदं दानं महाफलतरम्॥ [यश्च दुःशीलाना मनुष्यभूतानां शताय दानं दद्यात्। यश्चैकस्मै शीलवते मनुष्यभूताय .....]॥ यश्च बाह्यकानां कामवीतरागाणां ऋषीणां शताय

[१२९] [विभाषा, १३०, १२ में तीन मत हैं]। १. प्रथम मत के अनुसार जम्बुषण्ड जम्बुद्वीप है।[1] अतः इस प्रकार अर्थ करना चाहिये : "जम्बुद्वीप के सब निवासी जो कुक्षिमान् हैं।"[2]—यह अर्थ अयुक्त है क्योंकि वचन में 'एक पृथग्जन है। यह 'सब सत्वों को' प्रज्ञप्त नहीं कर सकता। यदि ऐसा अर्थ होता तो हम नहीं समझते कि क्यों सूत्र में यह उपदिष्ट होता कि असंख्य पृथग्जनों को दिये हुए दान का फल स्वल्प संख्या में, शतमात्र ऋषियों को, दिए हुए दान से अधिक है। इसमें क्या विशेष है, क्या आश्चर्य है?[3]—२. द्वितीय मत के अनुसार यह पृथग्जन संनिकृष्ट बोधिसत्व है।[4] ३. तीसरे मत के अनुसार द्वितीय मत अयुक्त है। वास्तव में ऐसे बोधिसत्व को दिये हुए दान का अप्रमेय पुण्य है। यह पुण्य शतकोटि अर्हत् को दिये हुए दान से भी अधिक है। उपमा बहुत हीन होगी। अतः वैभाषिक कहते हैं कि यह पृथग्जन वह पुद्गल है जिसने निर्वेधभागीय कुशल मूलों का प्रतिलाभ किया है।[5]

[१३०] हमारे मत से 'जम्बुषण्डगत' पद का नैरुक्त विधि से "निर्वेधभागीय से समन्वागत" यह अर्थ नहीं है।[1] यह अन्वर्थ संज्ञा नहीं है और न यह पारिभाषिक शब्द है। लोक में यह शब्द इस अर्थ का वाचक नहीं है। सूत्र और शास्त्र भी इस अर्थ में इसका प्रयोग नहीं करते। अतः प्रस्तावित अर्थ कल्पित है।—यथार्थ में 'जम्बुषण्डगत' जिसका अर्थ है "जम्बुवृक्षमूल में निषण्ण" केवल एक बोधिसत्व हो सकता है [यथा उक्त है कि "सर्वार्थसिद्ध बोधिसत्व कृषिग्राम को देखने के लिए निकले और जम्बुवृक्षमूल में बैठकर उन्होंने प्रथम ध्यान को उत्पादित किया।"[2]]।

दानं दद्यात्। यश्चैकस्मै पृथग्जनाय जम्बुषण्डगताय दानं दद्यात्। अतोदानादिदं दानं महाफलतरम्॥ बाह्यकेभ्यो वीतरागेभ्यः स्रोतापत्तिफलप्रतिपन्नकायदानम् अप्रमेयतरम्......
दक्खिणाविभंगसुत्त (मज्झिम, ३.२५५) : तिरच्छानगते दानं दत्वा सतगुणा दक्खिणा पटिकंखितब्बा। पुथुज्जने दुस्सीले....सहस्सगुणा....। पुथुज्जने सीलवन्ते.....सतसहस्सगुणा....। बाहिरके कामेसु वीतरागे....कोटिसहस्सगुणा....। सोतापत्तिफलसच्छिकिरियाय पटिपन्ने दानं दत्वा असंखेया अप्पमेय्या दक्खिणा पटिकंखितब्बा।
क्षेत्र के अनुसार दान का महत्व, इस पर कोश, ४.११७ देखिये।

[1] भगवत् ने कहा है : याः काश्चिज्जम्बुषण्डात् स्रवन्त्यः सर्वास्ताः समुद्रनिम्नाः समुद्रप्रवणाः समुद्रप्राग्भाराः।
(अंगुत्तर, ५.२२, संयुत्त, ५.३९ से तुलना कीजिये)

[2] जम्बुषण्डगत = जम्बुद्वीपनिवासिन्
हमको स्मरण है कि जम्बुद्वीपपुरुष बुद्ध हैं (कोश, ७.३० ए-सी)।
कुक्षिमन्तः = जिनके कुक्षि हैं = जो भोजन-शक्ति से उपेत हैं; कललादि अवस्था के आरम्भ से।

[3] किं चात्र विशेषः—व्याख्या : किमत्राश्चर्यम्........

[4] संनिकृष्ट बोधिसत्व = आसन्नाभिसंबोधि

[5] पृथग्जनत्व के प्रहाण के पूर्व जो चित्तावस्था होती है = मार्ग प्रवेश = स्रोतआपत्ति फलप्रतिपन्नक ६.१७

[1] न त्वियम् अन्वर्था संज्ञा नापि परिभाषिता।

[2] कृषिग्रामकं व्यवलोकनाय निर्गतः सर्वार्थसिद्धो बोधिसत्वो जम्बुवृक्षमूले निषण्णः प्रथमं ध्यानमुत्पादितवान्।—८.२७ सी, की व्याख्या में एक दूसरा संस्करण है : बोधिसत्वो हि कर्मान्तप्रत्यवेक्षणाय [कर्मान्त = कृषिकर्म] निष्क्रान्तो जम्बुमूले प्रथमं ध्यानमुत्पादिवान्—दिव्य, ३९१ : अस्मिन् प्रदेशे जम्बूच्छायायां निषद्य....मज्झिम, १.२४६ :.....पितु सक्कस्स कम्मन्ते सीताय जम्बुच्छायाय निसिन्नो विविच्चेव कामेहि....पठमं झानं उप-

यह बोधिसत्व पृथग्जन है, यह काम से वीतराग है। अतः इनकी तुलना कामवीतराग बालक ऋषियों से हो सकती है और हम यह कह सकते हैं कि उनको दिया हुआ दान ऋषियों को दिये दान से अधिक पुण्य का देने वाला है। निस्संदेह इस बोधिसत्व को दिया दान अनन्त ऋषियों को दिये दान से विशिष्ट है। यदि सूत्रवचन है कि इसका फल सौ ऋषियों को दिये दान से अधिक है तो इसका कारण यह है कि शत शब्द का ग्रहण पूर्वाधिकार से है :[1] "जो १०० तिर्यग्योनिगत को दान देता है, जो एक दुःशील मनुष्य को दान देता है, जो १०० दुःशील मनुष्यों को दान देता है..."। हम देखते हैं कि इन उपमाओं का अनुसरण कर सूत्र जम्बुषण्डगत का और उल्लेख नहीं करता। सूत्रवचन यह नहीं है कि "स्रोतआपत्तिफलप्रतिपन्नक को दिया हुआ दान जम्बुषण्डगतों को दिये दान से अप्रमेयतर है—सूत्र का वचन ऐसा ही होता यदि जम्बुषण्डगत निर्वेधभागी होता—किन्तु ऋषि की उपमा देते हुए यह कहता है कि "स्रोतआपत्तिफलप्रतिपन्नक को दिया दान १०० बाह्यक ऋषियों को दिये दान से अप्रमेयतर है......।"

[१३१] हमने प्रतीत्यसमुत्पाद और सत्वों की स्थिति कैसे होती है इसका निर्देश किया है। हमने इसका भी निर्देश किया है कि आयुः क्षयादि से (२.४५ ए, अनुवाद २१७) मरण कैसे होता है। अब हमको यह निर्देश करना है कि मरण और उपपत्ति काल में कौन विज्ञान होता है।

छेदसधानवैराग्यहानिच्युत्युपपत्तयः।
मनोविज्ञान एवेष्टा उपेक्षायां च्युतोद्भवौ ॥४२॥

४२ ए-सी. छेद, प्रतिसंधान, वैराग्य, वैराग्यहानि, च्युति और उपपत्ति मनोविज्ञान में ही इष्ट हैं।[1]

कुशलमूलसमुच्छेद, कुशलमूलप्रतिसंधान, धातुवैराग्य, भूमि (प्रथमध्यानादि) वैराग्य, और इस वैराग्य से परिहाणि, च्युति और उपपत्ति मनोविज्ञान से ही होते हैं। अन्तराभव-प्रतिसन्धि भी उक्त रूप (उपपत्ति-रूप) की होती है। उसका उल्लेख निष्प्रयोजनीय है।[2]

सम्पज्ज.....; ललित, लेफमान, १२८ (अध्याय ११) : अवलोक्य च कृषि-कर्मान्तम्.....; महावस्तु, २.४५, २६

[1] शतग्रहणं तु पूर्वाधिकारात्। [व्या ३२० ३१]

[1] छेदसन्धानवैराग्य हानिच्युत्युपपत्तयः। [व्या ३२१, १३] मनोविज्ञान एवेष्टाः
विभाषा ६१८, ९८, १३, १९२, ८
कुशलमूलसमुच्छेद मिथ्या दृष्टि से होता है। मिथ्यादृष्टि संतीरिका होने से मानसी है। कुशलमूलप्रतिसन्धान सम्यग् दृष्टि या विचिकित्सा से होता है और यह मानसी है (४.७९-८०) मनोविज्ञान में ही वैराग्य होता है, क्योंकि वैराग्य समाहित चित्त में ही लभ्य है। वैराग्य-परिहाणि अयोनिशोमनसिकार से प्रवर्तित है। यह मनसिकार विकल्प है। इसलिए यह मनोविज्ञान है। [व्या ३२१, १४]
प्रवाहच्छेद के अनुकूल विज्ञान में च्युति होती है। अतः उस पुद्गल में जिसमें संक्षिप्त पंचेन्द्रिय का प्रचार होता है। (च्युतिः संक्षिप्तपंचेन्द्रियप्रचारस्य प्रवाहच्छेदानुकूले विज्ञाने भवति) [संक्षिप्त पर ७. अनुवाद पृष्ठ २०]। उपपत्ति उसकी होती है जो विपर्यस्तमति है (३.१५) और यह मनोविज्ञान है। [व्या ३२१, १८]

[2] अन्तराभव प्रतिसन्धिरपि उक्तरूपः—अर्थात् प्रतिसन्धिसामान्याद् अनुक्तोऽप्युक्तकल्प इति नोच्यते। [व्या ३२१, २०]

४२ डी. च्युत और उद्भव, उपेक्षा वेदना के साथ।[३]

च्युत शब्द और च्युति का एक अर्थ है। उद्भव और उपपत्ति की एकार्थता है।

च्युति और उपपत्ति के समय मनोविज्ञान उपेक्षा अर्थात् अदुःखासुखावेदना से संप्रयुक्त होता [१३२] है। यह वेदना पटु नहीं है। अन्य वेदनायें पटु हैं और इसलिए उपपत्ति और मरण विज्ञान उनसे संप्रयुक्त नहीं होता क्योंकि इस विकल्प में यह स्वयं पटु होगा।

नैकाग्राचित्तयोरेतौ निर्वात्यव्याकृतद्वये।
क्रमच्युतौ पादनाभिहृदयेषु मनश्च्युतिः॥४३॥
अधोनृसुरगाजानां मर्मच्छेदस्त्वबादिभिः।
सम्यङ मिथ्यात्वनियता आर्यानन्तर्यकारिणः॥४४॥

४३ ए. एकाग्र और अचित्तक के लिए दोनों नहीं हैं।[१]

मनोविज्ञान में [मनोविज्ञान से और मनोविज्ञान के लिये] च्युति और उपपत्ति होती हैं। किन्तु जिस पुद्गल का चित्त (= मनोविज्ञान) समाहित होता है उसके लिये च्युति नहीं है।[२] समाहित चित्त प्रथमध्यानादिभूमिक है। यह भूमि कामधातु के विसभाग है जहाँ च्युति और उपपत्ति होती हैं। दूसरी ओर यदि हम उस सत्व का विचार करें जो समापत्ति-भूमि में मृत या उपपन्न होता है तो उसका चित्त अवश्य समाहित नहीं होता क्योंकि समाहित-चित्त यत्न से निर्वृत्त होता है। यह आभिसंस्कारिक है। इसलिये यह सदा पटु है। समाहित चित्त अनुग्राहक भी है अर्थात् इसका स्वभाव स्थिति के अनुकूल है। अतः यह प्रवाहच्छेद के अनुकूल नहीं है।

अचित्तक की भी च्युति और उपपत्ति युक्त नहीं है। [विरोधसमापत्ति या असंज्ञिसमापत्ति में समापन्न पुद्गल, असंज्ञिसमापत्ति के विपाक में अवस्थित देव, २.४१ डी]। अचित्तक का घात शक्य नहीं है। जब उसका आश्रय (= सेन्द्रियकाय, ३.४१) विपरिणत (विपरिणन्तुम्) होने लगता है—शस्त्र या अग्नि से या समापत्तियों के विपाकावेध की परिसमाप्ति से—तब अवश्य ही आश्रयप्रतिबद्ध [और बीजभाव से अवस्थित] चित्त सम्मुख होकर पश्चात् च्युत होता है।[३]

---

[३] उपेक्षायां च्युतोद्भवौ।

[१] नैकाग्रचित्तयोरेतौ—कथावत्थु, १५.९; कोश, ८.१६.

[२] भाष्य में केवल इतना है : [न समाहितचित्तस्य च्युतिरुपपत्तिर्वा] विसभागभूमिकत्वाद् आभिसंस्कारिकत्वादनुग्राहकत्वाच्च। [व्या ३२१, २६]
भगवत् च्युति के लिए चतुर्थ ध्यान से व्युत्थान करते हैं, दीघ, २.१५६—नीचे पृ.१३४, नोट—२ देखिये।

[३] नाप्यचित्तकस्य। सोऽचित्तक उपक्रन्तुं (= मारयितुं) न शक्यते (शस्त्रादिभिः)। यदा चास्याश्रयो विपरिणन्तुम् आरभते (शस्त्रेणाग्निना वोपक्रमान्निरोधसमापत्तिम् असंज्ञिसमापत्ति वा समापन्नस्य असंज्ञिप्तसमापत्तेर्विपाकेऽवास्थितस्य विपाकावेध-परिसमाप्तेः) अवश्यम् अस्य तदानीं तदाश्रयप्रतिबद्धम् (= आश्रये बीजभावेनावस्थितम्) चित्तं सम्मुखीभूय प्रच्यवते। [व्या ३२१ ३३]
इसका अर्थ यह है : "चित्त का संमुखीभाव होने पर चित्त की परिहाणि (= मरण) होती है"; अथवा "इस (पुद्गल) के चित्त के सम्मुख होने पर (= समुदाचार होने पर = समुदाचर्य] इस पुद्गल की च्युति होती है"; अथवा संमुखीभूय = संमुखीभाव्य ['णि' का लोप

[१३३] अचित्तक की अवस्था उपपत्ति के भी युक्त नहीं है क्योंकि चित्तच्छेद के हेतु का वहाँ अभाव होता है, क्योंकि क्लेश के बिना उपपत्ति नहीं होती।[1]

मरण-भव कुशल, अकुशल, अव्याकृत होता है। अर्हत् का

४३ बी. निर्वाण दो अव्याकृत चित्त में होता है।[2]

अर्थात् ऐर्यापथिक चित्त में या विपाकज चित्त में। कम से कम उन आचार्यों के अनुसार जो मानते हैं कि कामधातु में एक विपाकज चित्त उपेक्षा चित्त होता है (४.४८)। किन्तु विरुद्ध मत के आचार्यों के अनुसार (४.४७) ऐर्यापथिक चित्त में निर्वाण का लाभ नहीं होता।

[१३४] अर्हत् का अन्तिम चित्त अवश्य अव्याकृत क्यों है?—क्योंकि इस प्रकार का चित्त परम अपटु[1] होने से चित्तच्छेद के अनुकूल है अर्थात् चित्त के आत्यन्तिक छेद के अनुकूल है।[2]

मरण-काल में काय के किस भाग में विज्ञान निरुद्ध होता है?—जब सकृत् मरण या च्युति

करके, यथा कहते हैं : "एक वात है जो पत्तों को उगाती है, एक वात है जो पत्तों को सुखाती है" ॥ अस्ति पर्णरुहो वातोऽस्तिपर्णशुषोऽपरः; उणादि, २, २२ की दूसरी टीका], इस अर्थ के साथ : ......"चित्त का संमुखीभाव कर के पुद्गल च्युत होता है।"
समापत्ति से अवच्छिन्न हो चित्त कैसे पुनरुपपन्न होता है, इस पर २. अनुवाद. पृष्ठ. २१२

[1] उपपत्तौ त्वयुक्तम् अचित्तकत्वम्। चित्तच्छेदहेत्वभावात् विना च क्लेशेनानुपपत्तेः।—यह व्याख्या का पाठ है। लोचाव और परमार्थ इसका समर्थन करते हैं।—शुआन्-चाङ 'हेत्वभावात्' पढ़ते हैं = "क्योंकि उपपत्ति के हेतु का अभाव है। उनका पाठ 'चित्तच्छेदहेत्वभावात्' नहीं है (इससे कठिनाई होती है)।
३.३८ में हमने देखा है कि तद्भूमिक सर्वक्लेश से उपपत्ति होती है (सर्वक्लेशैर्हि तद्भूमिकै-रुपपत्तिः प्रतिसन्धिबन्धो भवति)

[2] निर्वात्यव्याकृतद्वये। [व्या ३२२ २८]
मरण-चित्त कुशल, अकुशल या अव्याकृत होता है। चार प्रकार के अव्याकृत चित्त हैं : विपाकज ऐर्यापथिक, शैल्पस्थानिक, नैर्माणिक (२.७१ बी, अनुवाद पृष्ठ. ३२०)—अर्हत् का मरण-चित्त किस प्रकार का होता है (वह चित्त जिससे वह निर्वाण में प्रवेश करते हैं, निर्वाति] इसका अवधारण होना चाहिए।
विसुद्धि, २१२ के अनुसार अर्हत् निषद्या, शयन, चंक्रमण ऐर्यापथ में मृत होता है [अतः ऐर्यापथिक चित्त के साथ]।

[1] दुर्बलत्वात् = परमापटुत्वात्

[2] भाष्य : तद् हि चित्तच्छेदानुकूलम्—दो चित्तच्छेद हैं अप्रतिसन्धिक चित्तच्छेद—यह आत्यन्तिक छेद है, यथा जब मरण चित्त के अनन्तर अन्तराभव-चित्त नहीं होता; सप्रतिसन्धिक छेद, यथा जब मरण-चित्त का अन्तराभाव-चित्त से प्रतिसन्धान होता है। [चित्त-सन्तति जो जीवित की स्थिति के लिए है उसका छेद, पालि के अनुसार 'भवंग' का उपच्छेद]। इस अन्तिम अवस्था में चित्त कुशल और अकुशल भी हो सकता है।
म्रियमाण अर्हत् और सामान्यतः किसी म्रियमाण पुद्गल के चित्त के स्वभाव पर, कथावत्थु, २२.३ [च्युति 'पकतिचित्त' में होती है। यह कामधातु के सत्व के लिये कामावचर चित्त है]।—दो प्रकार के अर्हत् की च्युति पर, कम्पेंडियम भूमिका पृष्ठ. ७५,

(सकृच्च्युति) होती है तो कायेन्द्रिय मनस् के साथ एक क्षण में निरुद्ध होता है।

४३ सी-४४ए. क्रमच्युति में अधोग, नृग, सुरग यथासंख्य पाद, नाभि, हृदय में च्युत होता है।[३]

'अधोग' वह है जो अधःगामी है, जो अपायगामी भी है; 'नृग' वह है जो मनुष्यगामी है; 'सुरग' वह है जो देवगामी है। इन सत्वों का विज्ञान यथाक्रम पाद, नाभि, हृदय में संनिरुद्ध होता है।

[१३५] 'अज' वह है जो पुनः उत्पन्न नहीं होता। यह अर्हत् है। उसका विज्ञान भी हृदय में संनिरुद्ध होता है। एक दूसरे मत के अनुसार यह शीर्ष में संनिरुद्ध होता है।[१]

विज्ञान का निरोध काय के अमुक अमुक भाग में कैसे होता है?—क्योंकि इस भाग में कायेन्द्रिय का निरोध होता है।[२] [यह इन्द्रिय ही उसका आश्रय रह जाता है, ३.४१। इस इन्द्रिय से अरूपी और अदेशस्थ विज्ञान की वृत्ति प्रतिबद्ध है।] कायेन्द्रिय का विनाश किसी प्रदेश में होता है। कायेन्द्रिय के विनाश से विज्ञान का निरोध होता है। जीवित के अन्त भाग में कायेन्द्रिय का ईषत् ईषत् निरोध होता है। अन्त में अमुक अमुक भाग में जहाँ अन्तर्हित हो इसका अन्त होता है, इसका अस्तित्व नहीं रहता, यथा उष्ण प्रस्तर पर रखा जल क्रमशः अपचित होता है और किसी विशेष प्रदेश में अन्तर्हित हो निरुद्ध होता है।

इस प्रकार क्रमिक मृत्यु होती है। प्रायेण च्यवमान पुद्गल वेदनाओं से अर्दित होता है जो मर्म का छेद करती हैं।

४४ बी. मर्मच्छेद जलादि से होता है।[३]

---

[३] क्रमच्युतौ पादनाभिहृदयेषु मनश्च्युतिः।
अधोनृसुरगाजानाम्
सकृत् और क्रमिक इन दो प्रकार की मृत्यु पर २.१५, अनुवाद. पृष्ठ. १३३, विभाषा १९०, ३
जब मृत्यु क्रमिक होती है तब चक्षु, श्रोत्र, घ्राण और जिव्हेन्द्रिय, पुरुषेन्द्रिय-स्त्रीन्द्रिय, सुखेंद्रिय, दुःखेन्द्रिय प्रथम अन्तर्हित होते हैं। कायेन्द्रिय, जीवितेन्द्रिय, मनस् और उपेक्षेन्द्रिय शेष रह जाते हैं : इन चार इन्द्रियों का एक साथ निरोध होता है।

[१] वील, कौटिना, ४१ में महायान की एक गाथा के अनुसार भिन्न सूचनायें हैं।
अर्हत् के लिये शीर्ष, अनागत देव के लिये चक्षु, अनागत मनुष्य के लिये हृदय, अनागत प्रेत केलिये वंक्षण....। इसकी परीक्षा कर के कि कौन भाग सब से अधिक काल तक उष्ण रहता है मृत की भविष्य गति बतायी जा सकती है।
बौद्ध होने के पूर्व वंगीश ने कपाल की सफलता के साथ परीक्षा की और जान लिया कि मृत पुरुष को मनुष्यगति, देवगति या अपायगति होगी। किन्तु अर्हत् के कपाल की परीक्षा कर वह कुछ न कह सका (थेरगाथा की अर्थकथा, ३९५)
अवदानशतक, १.५ में हम देखते हैं कि उस गति के अनुसार जिसको वह भविष्यवाणी कहते हैं बुद्ध के काय के भागविशेष में किरण प्रवेश करती हैं। [पाद में, जब वह अपायगति का भविष्य कहते हैं........]

[२] कायेन्द्रियस्य तेषु निरोधात्—विज्ञान अरूपी होने से (अरूपितत्वात्) अदेशस्थ है किन्तु सेन्द्रियकाय इसका आश्रय है। [व्या ३२१, ८]

[३] मर्मच्छेदस्त्वबादिभिः।
मर्म और ४०४ रोग पर विभाषा, १९०, १३ आदि; सद्धर्मस्मृत्युपस्थान, ८, १—बोधिचर्यावतार, २.४१ (मर्मच्छेदादिवेदना)

काय के वह भाग मर्म[४] कहलाते हैं जिनके उपघात से मृत्यु अवश्य होती है।
[१३६] जब अब् धातु, तेजोधातु या वायुधातु अत्यन्त विक्षुब्ध होता है तब मर्मस्थान तीव्र वेदना से मानों तीक्ष्ण शस्त्र से छिन्न-से होते हैं (छिद्यन्त इव)। जब हम कहते हैं कि मर्मच्छेद होता है तो कहने का यह अभिप्राय नहीं है कि वह काष्ठ की तरह छिन्न होते हैं। अथवा वह छिन्न इसलिए कहलाते हैं क्योंकि वह छिन्नवत् हैं, पुनः चेष्टा नहीं कर सकते (न पुनश्चेष्टन्ते)।

पृथिवी धातु के क्षोभ से मर्मच्छेद क्यों नहीं होता?—क्योंकि दोष केवल तीन हैं अर्थात् पित्त, श्लेष्म और वात और यह यथायोग अप्-तेजो-वायुधातुप्रधान है। एक दूसरे मत के अनुसार क्योंकि भाजनलोक इन तीन धातु संवर्तनियों से विनष्ट होता है (३.१००ए) इसलिए मृत्यु भी इन तीन धातुओं से होती है।[१]

देवपुत्रों के मर्मच्छेद नहीं होता। किन्तु च्यवनधर्मी देव में पाँच पूर्वनिमित्तों का प्रादुर्भाव होता है : १. उसके वस्त्र और आभरण से अमनोज्ञ शब्द निष्क्रान्त होते हैं; २. उसके काय की प्रभा का अपचय होता है; ३. स्नान के अनन्तर जल के कण उसके शरीर में व्यासक्त होते हैं; ४. उसकी स्वाभाविक काय-लघुता के होते हुए भी उसका चित्त एक आलम्बन पर स्थिर होता है; ५. उसकी आँखों का जो निसर्ग से स्थिर हैं उन्मेष-निमेष होता है, वह क्षुब्ध होती हैं। और मृत्यु के पाँच निमित्त हैं १. वसन क्लिष्ट होते हैं; २. माल्य म्लान होते हैं. ३. कक्षों से स्वेद निकलता है. ४. काय से दुर्गन्ध निकलती है; ५. देव की अपने आसन पर धृति नहीं होती।[२]

---

[४] "एक्सपोजिटर" (पी.टी.एस), , १३२में उद्धृत पालिविवृति : मरन्ति अनेनाति यस्मिन् तालिते न जीवति तं ठानं मम्मं नाम।

[१] इत्सिङ (तकाकुसु, १३१) एक सूत्र उद्धृत करते हैं जिसमें चार दोष परिगणित हैं : "chü-lu अर्थात् वह दोष जो पृथिवी धातु के आधिक्य के कारण काय को गुरु और अकर्मण्य बनाता है" तथा श्लेष्मन् (कफ), पित्त और वात—तकाकुसु chü-lu का अनुवाद 'गुल्म' देते हैं; ध्वनिसाम्य से प्रायः यह शब्द गुरु या गौरव है। (किन्तु प्रसिद्ध चतुर्थ दोष शोणित है, जाली, ग्रुंड्रिस, ४१)—त्रिदोष पर रीजडेविड्स स्टीड मिलिन्द, ४३, १७२ और सुमंगल विलासिनी, १.१३३ का हवाला देते हैं; तकाकुसु की टीका, चुल्लवग्ग, ५.१४, १ महावग्ग, ६.१४, १

[२] देवों में मृत्यु के पूर्व निमित्त : विभाषा, ७०.१६, एकोत्तर, २६, १५, रत्नराशिसूत्र. बील, कैटिना, ९७ में एक प्रभव उद्धृत है जिसमें कुछ को वर्जित कर दोनों सूचियाँ मिला दी गई हैं। इसमें निमित्तों की पूर्ण संख्या ५ है,—शावाने, १.४२५ (नैन्जिओ,) में सात निमित्तों की सूची है : १. घाटा (गुद्दी) की प्रभा अन्तर्हित होती है; २. पुष्प म्लान होते हैं; ३. वर्ण-परिवर्तन होता है; ४. वस्त्र पर रजःकण; ५. कक्ष से स्वेद; ६. क्षीण काय; ७. वह अपने आसन पर धृतिलाभ नहीं करता।"
अन्यत्र दूसरी ही सूची मिलती है : दिव्य, १९३ : च्यवनधर्मिणो देवपुत्रस्य पंच पूर्वनिमित्तानि प्रादुर्भवन्ति [यह शब्दशः उस वाक्य से मिलता है जिसका अनुवाद लोत्साव में हमारी प्रथम सूची के उपोद्घात के रूप में दिया है] अक्लिष्टानि वासांसि क्लिश्यन्ति। अम्लानानि माल्यानि म्लायन्ति। दौर्गन्ध्यम्

[१३७] जिन सत्वों की उपपत्ति, स्थिति और च्युति होती है[1] उनको भगवत् तीन राशियों में बाँटते हैं: सम्यक्त्वनियत, मिथ्यात्वनियत, अनियत।

४४ सी-डी. आर्य और आनन्तर्यकारी नियत हैं। पहला सम्यक्त्व में और दूसरा मिथ्यात्व में नियत है।[2]

सम्यक्त्व क्या है[3]?—सूत्र के अनुसार राग, द्वेष, मोह का, सर्वक्लेश का अत्यन्त प्रहाण [अर्थात् निर्वाण]—आर्य कौन है?—जिसमें आर्यमार्ग अर्थात् अनास्रव मार्ग की उत्पत्ति हुई है। आर्य, क्योंकि वह अकुशल से "दूर गया है"[4] (आराद् यातः), क्योंकि क्लेशों से अत्यन्तिक [१३८] विसंयोग (२.५५डी, पृ० २७८) का उसको प्राप्ति-लाभ हुआ है।—आर्य सम्यक्त्व नियत कैसे है? क्योंकि वह आवश्य निर्वाण का लाभ करेगा।—किन्तु जो मोक्षभागियों का लाभ (६.२४ सी) करता है वह भी अवश्य निर्वाण का लाभी होगा। उसको सम्यक्त्व नियत क्यों नहीं मानते?—क्योंकि वह सावद्य कर सकता है जिससे वह मिथ्यात्व में नियत हो; अथवा यद्यपि वह वास्तव में सम्यक्त्व में नियत है तो भी उसकी निर्वाण-प्राप्ति में काल-नियम नहीं है जैसा कि सप्तकृत्वःपरम (६.३४ए) आदि आर्य का काल-नियम होता है।

मिथ्यात्व क्या है?—नरक, तिर्यक्, प्रेतगति। जो आनन्तर्यकारी (४.९६) है वह अवश्य नरक में पुनरुपपन्न होगा। इसलिये वह मिथ्यात्व नियत है।

अनियत वह है जो न सम्यक्त्व नियत है और न मिथ्यात्व नियत है। वह नियत होता है या अनियत रहता है यह प्रत्ययापेक्ष है, यह उसके अनागत कर्मों पर निर्भर करता है।

कायेन (?) निष्क्रामति। उभाभ्यां कक्षाभ्यां स्वेदः प्रादुर्भवति। च्यवनधर्मा देवपुत्रः स्व आसने धृतिं न लभते [यह हमारी दूसरी सूची है]।—नागार्जुन के सुहृल्लेख में यही सूची है, जे. पी. टी. एस. १८८६, १०० (जहाँ तीसरा निमित्त यह है: काय का वर्ण कुरूप होता है: इतिवुत्तक ८८३ से तुलना कीजिये)।

हम जानते हैं कि ५ निमित्त देवों को विशेषित करते हैं: संस्वेद, रज, चक्षुर्निमेष, छाया और भूमिस्पर्श का अभाव (ब्लूम फील्ड, पार्श्वनाथ, बाल्टी मोर, १९१९, पृ० ५१ के हवाले देखिये)।

दिव्य, २२२ में मान्धाता शक्र से केवल चक्षुर्निमेष में भिन्न है।

[1] शुआन-चाङ् में यह अधिक है: "जो अन्तराभवस्थ हैं।"

[2] सम्यङ् मिथ्यात्वनियता आर्यानन्तर्यकारिणः।
कोश, ४, ८० डी, अनुवाद १७७.
एकोत्तर, १३, २०, दीर्घ, १३, २० महाव्युत्पत्ति, ९५, ११
दीघ, ३, २१७ तयोरासी, मिच्छत्तनियतो रासि, सम्मत्तनियतो रासि, अनियतो रासि, पुग्गलपञ्ञत्ति, १३, केवल नियत और अनियत पुग्गल से परिचित है (पंच पुग्गला आनन्तरिका ये च मिच्छादिट्ठिका नियता, कोश, ५, अनुवाद पृ० १८, ४, पृ० २०२); किन्तु धम्मसंगणि, १०२८ में तीन राशि हैं। [जैसा कि अत्थसालिनी, ४५ और अनुवादक की टिप्पणी से ज्ञात होता है। यह व्याख्यान अभिधर्म के व्याख्यान से भिन्न है]।
अनियतों पर, नेत्तिप्पकरण, ९६, ९९ और अर्थकथा।

[3] सम्यक्त्व का निर्देश ६, २६ ए (अनुवाद पृ०, १८० टि० ४) में है।

[4] इस शब्द का यह निर्वचन आम्नाय के अनुकूल है।

हमने सत्वलोक का निर्देश किया है। अब हम भाजनलोक का निर्देश करेंगे।[1]

तत्र भाजनलोकस्य संनिवेशमुशन्त्यधः।
लक्षषोडशकोद्वेधम् असंख्यं वायुमण्डलम् ॥४५॥

४५. हम भाजनलोक का संनिवेश इस प्रकार समझते हैं। नीचे १६ लक्ष योजन उद्वेध के असंख्य वायुमण्डल हैं।[2]

[१३६] महासाहस्र लोकधातु (३.७३) के संनिवेश का हम निर्देश करेंगे। सत्वों के कर्म के आधिपत्य से (अधिपतिफल २.५८,४. ८५)) नीचे वायुमण्डल की उत्पत्ति होती है जो आकाश में प्रतिष्ठित है।[1] इसका वेधन १६ लक्ष योजन (३.८८) है; इसका परिणाह असंख्य है; यह

---

[1] सबसे प्राचीन उल्लेख दीर्घ और मध्यमागम के सूत्रों में है, विशेष कर दीर्घ, ३० में। सबसे अर्वाचीन सूत्रों में नंजियो, ५४९ (बील का हिशाई); और शास्त्रों में, नंजियो १२५७, लोक प्रज्ञाप्ति और कारण प्रज्ञाप्ति (बुधिस्ट कास्मालोजी में इनका विवरण है) और विभाषा उल्लेख करते हैं।—ऐसा प्रतीत होता है कि वसुबन्धु यहाँ इस सारे साहित्य की उद्धरणी करते हैं।—सद्धर्मस्मृत्युपस्थान (लेवी, फार द हिस्ट्री अॅव रामायन, जे ए एस. १९१८,१), दिव्य, १७, (मान्धाता की विजय, ३२ = नंजियो ६४३ आदि) हीनयान में भी हैं।—पालिग्रन्थ, लोटस, ८४२, स्प. हार्डी, लीजेंडस एंड थ्यूरीज १८८६। चीनी ग्रन्थ (दोनों यानों के), बील, १८७१ फोर लेक्चर्स, द स्केमा अॅव द यूनीवर्स इन जार्जी, अलफाबेटम टिबेटनम १७७२. गोगर्ली, सीलोन बुद्धिज्म, १९०८, भाग २, स्प० हार्डी, लीजेंडस १०४, हेस्टिंग्स एनसाइक्लोपीडिया अॅव एथिक्स एंड रेलिजन्स, कास्मागोनी एंड कास्मोलोजी (बुद्धिस्ट) ४. १२९-१३८, बी० सी० ला, हेवेन एंड हेल इन बुद्धिस्ट पर्सपेक्टिव १९२५, मैंने मैक गवर्न 'बुद्धिस्ट कास्मालोजी' (लंदन १९२३) नहीं देखी है।

[2] तत्र भाजनलोकस्य संनिवेशम् उशन्त्यधः।
लक्षषोडशकोद्वेधम् असंख्यं वायुमण्डलम्॥
उशन्ति = इच्छन्ति। किनको दृष्ट है? "वैभाषिकों को" (फु-कुआङ्) अथवा "सब निकायों को" फा-पाओ
एकमत (प्रधानतः महायान) के अनुसार वायुमण्डल के ऊपर ही स्वर्णभूमि है; अब्मण्डल के ऊपर।
शुआन-चाङ् संनिवेश को स्थितिक्रम के अर्थ में लेते हैं: "भाजनलोक का ऐसा संनिवेश है: नीचे......"। यह अर्थ युक्त है क्योंकि वायुमण्डल भाजनलोक में संगृहीत है। परमार्थ का अर्थ कदाचित् "आधार" है। लोचव का अर्थ 'स्थान' है।

[1] १.५ की व्याख्या में उद्धृत सूत्र का अनुवाद बुरनफ ने इंट्रोडक्शन ४४८ में दिया है: पृथिवी भो गौतम कुत्र प्रतिष्ठिता। पृथिवी ब्राह्मण अब्मण्डले प्रतिष्ठिता। अब्मण्डलं भो गौतम कुत्र प्रतिष्ठितम्। वायौ प्रतिष्ठितम्। वायुर्भो गौतम कुत्र प्रतिष्ठितः। आकाशे प्रतिष्ठितः। आकाशं भो गौतम कुत्र प्रतिष्ठितम्। अतिसरसि महाब्राह्मण अतिसरसि महाब्राह्मण। आकाशं ब्राह्मण अप्रतिष्ठितम् अनालम्बनम् इति विस्तरः।
दीघ, २. १०७ से तुलना कीजिये (पृथिवी कंपन पर); विंडिश, मार एंड बुद्ध ६१—अयं आनन्द महापठवी उदके पतिट्ठिता। उदकं वाते पतिट्ठितम्। वातो आकासट्ठो होति।—इस वाद को नागसेन (मिलिन्द का पाठ इस प्रकार है—वातो आकासे पतिट्ठितो) मिलिन्द को बताते हैं, ६८। वायुमण्डल के प्रभव पर, ३. ९० सी १; १०० ए-बी शुआन-चाङ १६ ए के अन्त में)। —३.९३ सी टि० में हम देखेंगे कि जब लोक विनष्ट होता है तो रूप वहीं का वहीं रहता है। यह रूप आकाशधातु होगा, १.२८.

कठिन है : यदि महानग्न[१] अपना वज्र उस पर प्रक्षिप्त करे तो वज्र दूर जायगा और वायुमण्डल की क्षति नहीं होगी।

अपामेकादशो द्वेधं सहस्राणि च विंशतिः।
अष्टलक्षोच्छ्रयं पश्चाच्छेषं भवति काञ्चनम् ॥४६॥

४६ए-बी. ११ लक्ष २० सहस्र उद्वेध का अब्मण्डल।[३]

सत्वों के कर्म के आधिपत्य से वायुमण्डल पर संचित अभ्र का पात होता है, वर्ष्यधारा का पात होता है जिसका बिन्दु रथ की ईषा के बराबर होता है।[४] इस जल का अब्मण्डल होता है। इस मण्डल का वेधन ११ लक्ष २० सहस्र योजन का होता है।

[१४०] ये जल पार्श्व से क्यों नहीं वह जाते ?[१]—कुछ कहते हैं कि सत्वों के कर्म के आधिपत्य से जल की अवस्थिति होती है। यथा अपक्व भुक्त अन्न और पीत पान पक्वाशय में नहीं गिरते। एक दूसरे मत के अनुसार वायु जल को समन्तात् आस्थित करता है यथा तण्डुल को कोष्ठ प्रकारवत् आस्थित करता है (कुसूलन्यायेन, कोष्ठन्यायेन।)

पश्चात् कर्माधिपत्य से समुत्थित वायु से क्षुब्ध होकर जल के ऊपर का भाग काञ्चनमय हो जाता है जैसे पक्व क्षीर की साढ़ी (शर) पड़ती है :[२]

४६ सी-डी. पश्चात् अब्मण्डल का उच्छ्रय ८ लाख योजन से अधिक नहीं होता। शेष कांचन हो जाता है।[३]

---

[२] शुआन-चाङ और परमार्थ इस नाम को देते हैं; लोचव का अर्थ शरच्चन्द्रदास, १०२४ के अनुसार स्पष्ट नहीं है; महाव्युत्पत्ति, २५३ देखिये; कोश ७.३१, पृ०७३, टि०४; विभाषा, ३०,९

[३] अपामेकादशोद्वेधम् सहस्राणि च विंशतिः।

[४] लोचव के अनुसार 'ईषाधारामात्रा वर्ष्यधारा' है (कास्मालोजी पृ. ३१७, नोट, विविध तिब्बती संस्करण, लोक प्रज्ञाप्ति आदि देखिये)—'ईषा' हल के दण्ड को कहते हैं; परमार्थ का अनुवाद बड़ा दण्ड, किन्तु शुआन-चाङ "गाड़ी का अक्षाग्र"—'ईषा' एक माप भी है (शुल्बसूत्र, मोनियर विलियम्स)
प्राग्वर्षा पर नीचे ३. ९० सी, संयुक्त, ३४ ७ (ऊपर पृ० १० में उद्धृत) (ईषाधार अभ्र की वर्षा); शिक्षासमुच्चय, २४७: अभ्र के ३२ पटल लोक को आच्छादित करते हैं। ईषाधार देव ५ अन्तःकल्प तक बसरते हैं। इसी प्रकार गज प्रमेह, अच्छिन्नधार और स्थूलबिन्दुक। [पितापुत्र समागम = रत्नकूट, १५, लेवी, जे ए एस १९२५, १. ३७ के अनुसार]—[बेंडल ईषाधार नामक एक नागराज का उल्लेख करते हैं, महाव्युत्पत्ति, १६८, २४]

[१] शुआन-चाङ के अनुसार—३.४७ में हम देखेंगे कि अब्मण्डल का तिर्यक् १२०३४५० योजन है। अतः यह भेरी सदृश है। यह लगभग उतना ही ऊँचा है जितना की चौड़ा है। यह प्रतिष्ठित कैसे होता है ?—विभाषा, १३३ का यह निर्देश है। इसके अनुसार अन्य वादियों का मत है कि अब्मण्डल की चौड़ाई वायु मण्डल की तरह अप्रमेय है।

[२] पक्वक्षीरशरीभावयोगेन—व्याख्या में इस समासान्त पद का विग्रह है—दीघ, ३. ८५ की उपमा देखिये: सेय्यथापि नाम पयसो तत्तस्य निब्बायमानस्य उपरि सन्तानकं होति....

[३] अष्टलक्षोच्छ्रयं पश्चाच्छेषं भवति काञ्चनम्।
शिक्षा समुच्चय, १४८ सर्वास्तिवादियों के आगम को उद्धृत करता है: कांचन मंडल पर जम्बुद्वीप, ८४००० योजनभूमि, प्रतिष्ठित है।—[कांचनमण्डल को कांचन वज्र मण्डल कहते हैं, बोधिचर्यावतार, ६. १]—कोश में ८०००० है, ३, ५० बी देखिये।

अतः अब्मण्डल के ऊपर जिसका उच्छ्रय अष्टलक्ष योजन रह गया है कांचनमयी भूमि होती है जिसका वेधन तीन लाख २० सहस्र योजन है।

तिर्यक् त्रीणि सहस्राणि सार्धं शतचतुष्टयम्।
लक्षद्वादशकं चैव जलकांचनमण्डलम्॥४७॥
समन्ततस्तु त्रिगुणं तत्र मेरुर्युगन्धरः।
ईषाधरः खदिरकः सुदर्शन गिरिस्तथा॥४८॥
अश्वकर्णो विनतको निमिंधरगिरिस्ततः।
द्वीपा बहिश्चक्रवाडः सप्त हैमाः स आयसः॥४९॥
चतूरत्नमयो मेरुर्जलेऽशीति सहस्रके।
मग्न ऊर्ध्वं जलान्मेरुर्भूयोऽशीतिसहस्रकः॥५०॥
अर्धार्ध हानिरष्टासु समोच्छ्रयघनाश्च ते।
सीताः सप्तान्तराण्येषामाद्याशीतिसहस्रिका॥५१॥
अभ्यन्तरः समुद्रोऽसौ त्रिगुणः स तु पार्श्वतः।
अर्धार्धेनापराः सीताः शेषं बाह्यो महोदधिः॥५२॥

४७ ए-४८ ए. जल और काञ्चन मण्डल तिर्यक् १२ लाख ३ हजार ४५० योजन हैं; समन्ततः इसका तिगुना है।[1]

इन दो मण्डलों का समान परिमाण है।

परिमण्डल कांचनमयी भूमि पर जो इस प्रकार अब्मण्डल पर प्रतिष्ठित है,

४८ बी-४९ सी. मेरु युगन्धर, ईषाधर, खदिरक, सुदर्शन गिरि, अश्वकर्ण, विनतक, निमिंधरगिरि हैं। उसके बाद द्वीप हैं। बाहर चक्रवाड है।[2]

---

[1] तिर्यक् त्रीणि सहस्राणि सार्धं शतचतुष्टयम्। लक्ष द्वादशकं चैव जलकांचन मंडलम्॥ समन्ततस्तु त्रिगुणम्
समन्त परिक्षिप्त का प्रमाण तिर्यक् प्रमाण का तिगुना है: सर्वस्य परिमाण्डलस्य इयं स्थितिर्यद् अस्य त्रिपक्षमानम् (त्रिगुणमेव) समन्तपरिक्षिप्तस्य प्रमाणम्।

[2] तत्र मेरुर्युगन्धरः।
ईषाधरः खदिरकः सुदर्शनगिरिस्तथा॥
अश्वकर्णो विनतको निमिंधरगिरिस्ततः।
द्वीपा बहिश्चक्रवाडः

अत्थसालिनी (पृ० २९७ आदि) की 'पौराण' गाथाओं में 'मण्डलों' के तिर्यक् का प्रमाण यही है और उसका पर्वत तथा द्वीपों का विवरण लगभग वसुबन्धु के विवरण से मिलता है। किन्तु अनेक भेद हैं जो अन्य ग्रन्थों से तुलना करने पर और भी बढ़ जाते हैं।
बुरनफ लोटस, हापकिन्स, माइथोलाजिकल एसपेक्टस ऑव ट्रीज एंड माउंटेन्स इन दी ग्रेट एपिक, जे ए ओ एस ३०. ३६६, बेबिलोनियन ओरिजिन. कारपेंटर इन मेलाँज सी० एच टाय, ७२)
नेमिजातक, ५. १४५ (जातक, ६. १२५); अत्थसालिनी, २९७; स्पेंस हार्डी, लीजेंडस ८१. रेमूसा, जर्नल द सावाँ १८३१, पृ० ६००, बील, कटेना ४५;
दिव्यावदान, २१७ में पर्वतों का वही क्रम है जो कोश में हैं।

कांचनमयी भूमि पर ९ महापर्वत प्रतिष्ठित हैं। मध्य में मेरु है। मेरु के चारों ओर अन्य ७ पर्वत चक्राकार हैं। निर्मिधर बाह्य नेमि है जो मेरु और अभ्यन्तर के ६ भिति-पर्वतों को परिक्षिप्त करता है। इस कारण इसका यह नाम है। निर्मिधर के बाहर द्वीप हैं। सब को परिक्षिप्त कर चक्रवाड है। इसे चक्रवाड इसलिए कहते हैं क्योंकि यह चतुर्द्वीपक लोक धातु को परिमण्डलित करता है और उनको चक्र का आकार देता है।[४]

[१४२] ४९ डी-५० ए. सात पर्वत सुवर्णमय हैं, अन्तिम अयोमय है, मेरु चतूरत्न मय है।[१]

युगन्धर और ६ पर्वत जो उसको समन्ततः परिक्षिप्त करते हैं सुवर्ण के हैं। चक्रवाड अयोमय है। मेरु के चार पार्श्व हैं जो उत्तर से पश्चिम यथासंख्य सुवर्ण, रूप्य, वैडूर्य और स्फटिक के हैं।— इन द्रव्यों में से प्रत्येक अपने अपने आकाश प्रदेश को अपना वर्ण प्रदान करता है।[२] मेरु का जम्बूद्वीप-पार्श्व वैडूर्यमय है। अतः हमारे लिए आकाश वैडूर्यसदृश है।

किन्तु मेरु के विविध द्रव्यों का क्या प्रभव है?—कांचनमयी भूमि पर जो जलपात हुआ है उसके गर्भ में नाना प्रकार के बीज हैं।[३] बहुविध प्रभाव के वायु से[४] वह अन्तर्हित होते हैं और भिन्न रत्नों को अवकाश देते हैं। इस प्रकार जल का रूपान्तर होता है, जल का रत्न हो जाता और भिन्न रत्नों को अवकाश देते हैं। इस प्रकार जल का रूपान्तर होता है, जल का रत्न हो जाता है। जल हेतु है, रत्न हेतु से भिन्न कार्य है। इनका युगपद्भाव नहीं है। यह सांख्यों के परिणाम[५] से भिन्न है।

परिणाम से सांख्यों का क्या अभिप्राय है?—वह मानते हैं कि एक द्रव्य (धर्मिन्) में धर्मों की उत्पत्ति और निवृत्ति होती है।—इस वाद में कहाँ अयुक्तता है?—हम यह नहीं मान सकते कि द्रव्य नित्य अवस्थित रहता है और उसमें धर्मान्तर की निवृत्ति पर धर्मान्तर का प्रादुर्भाव होता है।[६]—किन्तु सांख्यों का यह मत नहीं है कि धर्मी धर्मों से पृथक् है। उनका कहना है कि जब एक धर्म का परिणाम होता है तब यह विविध

[१४३] स्वभाव का आश्रय होता है। इस धर्म को वह धर्मी कहते हैं। दूसरे शब्दों में परिणाम द्रव्य का अन्यथा-भाव मात्र है। यह वाद भी मान्य नहीं हो सकता। क्यों?—क्योंकि

महाव्युत्पत्ति, १९४, धर्मसंग्रह, १२५, महावस्तु, २.३००, शिक्षासमुच्चय, २४६, अत्थसालिनी, २९८ और जातक, ६. १२५ का क्रम भिन्न है।

[३] ये जातक के ७ परिभण्ड पर्वत हैं।

[४] तेन चतुर्द्वीपकश्चक्रीकृतः (=चक्राकारतां गमितः)। अतएव चक्रवाड इत्युच्यते।

[१] सप्त हैमाः स आयसः = चतूरत्नमयो मेरुः

[२] लेवी, रामायण, ४५.

[३] नानाविधबीजगर्भ, अर्थात् व्याख्या के अनुसार नाना प्रकार सामर्थ्ययुक्त.

[४] बहुविध प्रभाव भिन्नैर्वायुभिः

[५] २. ३६ सी-डी, ३, १०० ए, ४, ४, पृ० २०, २२, ५. २६, पृ० ५४, ७. १३ ए, पृ०३८.

[६] न ह्यवस्थितस्य द्रव्यस्य धर्मान्तरनिवृत्तौ धर्मान्तरप्रादुर्भावः।—अर्थात् न ह्यवस्थितस्य रूपरसाद्यात्मकस्य क्षीर निवृत्तौ दधिजन्म, हम यह नहीं मान सकते कि रूप, रसादि वहीं रहते हैं किंतु दुग्ध की निवृत्ति पर दधि का प्रादुर्भाव होता है।

यह अपूर्व युक्ति है, यह स्ववचन-विरुद्ध है। आप मानते हैं कि वह (कारण) यह (कार्य) है और यह वैसा नहीं है।[1]

सुवर्ण, रूप्य, रत्न और भूमि जो इस प्रकार उत्पन्न होते हैं सन्निपतित होते हैं और कर्माधिपत्य से उत्पादित वायु से इनका समुदाय होता है। यही पर्वत और द्वीप हैं।

५० बी-५१ बी. मेरु ८०,००० योजन जल में मग्न है और ८०,००० योजन जल से ऊर्ध्व है। अन्य आठ पर्वतों में अर्ध अर्ध की हानि होती है। पर्वतों का उच्छ्राय और घन सम है।[2]

पर्वत कांचनमयी भूमि पर प्रतिष्ठित हैं और ८०,००० योजन तक जल में निमग्न हैं। मेरु इतने ही योजन जल से ऊर्ध्व है और इसलिए १ लाख ६०,००० योजन जल में मग्न और जल से उच्छ्रित है। युगन्धर ४०,०००, ईषाधर २०,००० योजन जल से उच्छ्रित है। एवमादि यावत् चक्रवाड जो ३१२½ योजन उच्छ्रित है।[3] जितना वह जल के ऊपर उच्छ्रित हैं उतना ही पर्वतों का घन है। कारिका में 'घन' शब्द का अर्थ 'चौड़ाई' है।

५१ सी-५२ सी. पर्वतों के अन्तराल में सात सीता हैं। इनमें से प्रथम ८०,००० योजन है।

[१४४]—यह आभ्यन्तर समुद्र है। बाह्य पार्श्वतः इसके ३ × ८०,००० के चार पार्श्व हैं। अन्य सीताओं की अर्ध अर्ध हानि है।—शेष बाह्य महोदधि है। यह तीन लक्ष २२ सहस्र योजन है।[1]

---

[1] तदेवेदम् न चेदं तथा। आप को पूर्वोत्तर क्षणों का (दुग्ध....दधि) अन्यथात्व इष्ट है। अतः कोई परिणाम नहीं है, एक ही वस्तु का एक अवस्था से दूसरी अवस्था में गमन नहीं है क्योंकि जिनका अन्यथात्व है उनका अन्यत्व है जैसे देवदत्त और यज्ञदत्त का।

[2] जलेऽशीतिसहस्रके।
मग्न ऊर्ध्वं जलान्मेरुर्भूयोऽशीतिसहस्रकः॥
अर्धार्धहानिरष्टासु समोच्छ्रायघनाश्च ते।
सद्धर्मस्मृत्युपस्थान में (लेवी,रामायण, ४६) यथा अत्थसालिनी (२९८) में मेरु ८४००० ऊर्ध्व है।

[3] वसुबन्धु महाचक्रवाड का उल्लेख नहीं करते, महाव्युत्पत्ति, १९४, १२, लोटस ८४२, धर्मसंग्रह, १२४, और टि०, पृ० ६५, डिक्शनरी अॅव सेंट पीटर्सबर्ग—बील ४५ के चक्रवाड का उच्छ्राय ३०० योजन है। अत्थसालिनी (२९९) में चक्रवाड ८२००० जल में मग्न है, ८२००० जल से ऊर्ध्व है।

[1] सीताः सप्तान्तराण्येषामाद्याशीति सहस्रिका॥
आभ्यन्तरः समुद्रोऽसौ त्रिगुणः स तु पार्श्वतः।
अर्धार्धेनापराः सीताः शेषं बाह्यो महोदधिः॥
लक्षत्रयं सहस्राणि विंशतिर्द्वे च
शुआन-चाङ इस संस्करण का शोध करते हैं। यह काफी कठिनाइयाँ पैदा करता है: "पर्वतों के अन्तराल में [अर्थात् मेरु, युगन्धर.....चक्रवाड के अन्तराल में] ८ समुद्र हैं। पहले सात आभ्यन्तरिक (समुद्र) हैं। पहले आयाम का ८०,००० है और चार पार्श्वों में से प्रत्येक के बाह्य परिधि का विस्तार त्रिगुण है। अन्य ६ में आधा आधा ह्रास होता जात है। ८ वाँ बाह्य (समुद्र) है और ३२१००० योजन है।"

मेरु से लेकर निमिन्धर तक पर्वतों के अन्तराल में सीता हैं।[२] इनमें अष्टांगोपेत जल भरा है : यह जल शीतल, अच्छ, लघु, स्वादु, मृदु, निष्पूतिगन्धिक है। यह जल पीने में कुक्षि या कण्ठ को बाधा नहीं पहुँचाता।[३]

मेरु और युगन्धर के अन्तराल में पहली सीता है। इसका आयाम ८०,००० योजन है। युगन्धर के तीर से बाह्य पार्श्वतः गणना कर प्रत्येक पार्श्व त्रिगुण है अर्थात् २ लाख ४० हजार योजन आयाम है।

अन्य सीताओं का आयाम आधा २ घटता जाता है : युगन्धर और ईर्षाधर के अन्तराल की दूसरी सीता का आयाम ४० हजार योजन है; इसी प्रकार यावत् सातवीं सीता जो विनतक और निमिन्धर के अन्तराल में है और जिसका आयाम १२५० योजन है। पार्श्व के परिमाण की गणना में कोई कठिनाई नहीं है।

[१४५] सात सीता आभ्यन्तरिक समुद्र हैं। शेष अर्थात् निमिन्धर और चक्रवाड के अन्तर में जो जल है वह बाह्य महोदधि है। यह लवण जल से भरा है; इसका आयाम ३ लाख ४० हजार योजन है।[१]

लक्षत्रयं सहस्राणि विंशतिर्द्वे च तत्र तु।
जम्बुद्वीपो द्विसाहस्रस्त्रिपार्श्वः शकटाकृतिः ॥५३॥

---

[२] कारिकाओं की जो अधूरी पाण्डुलिपि मिली है उसका पाठ सीता है।— 'शीतल' कहीं नहीं मिलता।—लोचव :"सात सरोवर जिनके जल में कोमल लहरें उठती हैं मानों वायु के संगीत पर नृत्य करते हैं" (शरच्चन्द्रदास)।
जातक ५४१ के नायक मेरु को समन्ततः परिक्षिप्त करने वाले सात पर्वतों को देखते हैं (सत्त परिभण्डपब्बते)। ये पर्वत सीदा नाम के महासमुद्र के अन्तर में है (सीदान्तरे, सीदामहासमुद्दस्स अन्तरे)। इस समुद्र को ऐसा इसलिए कहते हैं क्योंकि इसका जल इतना सूक्ष्म (सुखुम) है कि यह मयूर के एक पक्ष को भी वहन नहीं कर सकता : यह डूब जाता है (सीदति) (जातक, ६. १२५)—३.५७ से तुलना कीजिये।

[३] व्याख्या में अष्टांगसंग्रह का श्लोक है :
शीतलाच्छलघुस्वादुमृदु निष्पूतिगन्धिकम्।
पीतं न बाधते कुक्षिं न कण्ठं क्षिणोति तज्जलम् ॥
दिव्य, १२७, १९—सुखावती के ह्रद के जल के ८ गुण, बील, कटेना, ३७९ में; बील शुआन्-चाङ् करण्ड ह्रद (बील, शुआन-चाङ् २. १६५, १. १० भी देखिये)

[१] आचार्यों का ऐकमत्य नहीं है। हमने देखा कि अब्मण्डल और काञ्चन मण्डल का तिर्यक् १२०३४५० है। दूसरी ओर चक्रवाड नाम इसलिये है क्योंकि यह चतुर्द्वीपक लोकधातु को, समन्ततः चक्राकार में घेरा है। यदि ऊपर दी हुई संख्याओं को जोड़ें (४०००० मेरु का आधा प्रथम सीता ८००००, युगन्धर ४००००, दूसरी सीता २००००......) तो हम पाते हैं कि चक्रवाड कांचनमयी भूमि के तट पर नहीं प्रतिष्ठित है। अतः कुछ वादियों का विचार है कि बाह्य समुद्र जो निमिन्धर और चक्रवाड के अन्तराल में है ३२३२८७,५० योजन होगा (बील, पृ० ४६ में ३२२३१२ है)।—किन्तु दोष का दो तरह से परिहार हो सकता है : या तो हम यह मानें कि चक्रवाड तट पर विन्यस्त नहीं है और यह अब्मण्डल को नहीं किंतु कांचनमयी भूमि के ऊर्ध्वभाग को चकाकार घेरे है, अथवा हम यह मानें कि पर्वतों के इस वर्णन को कि "यह उच्छ्राय और घन में समान हैं" (३. ५१ बी) अक्षरशः न लेना चाहिये। पर्वतों के तट अत्यन्त छिन्न नहीं होते (अत्यन्तच्छिन्नतट)।

सार्धं त्रियोजनं त्वेकं प्राग्विदेहोर्धचन्द्रवत्।
पार्श्वत्रयं तथास्यैकं सार्धं त्रिशतयोजनम् ॥५४॥
गोदानीयः सहस्राणि सप्तसार्धानि मण्डलः।
सार्धे द्वे मध्यमस्याष्टौ चतुरस्रः कुरुः समः ॥५५॥

५३ बी-५५ डी. वहाँ जम्बुद्वीप है। इसके तीन पार्श्व २००० योजन के हैं। यह शकट की आकृति का है। एक पार्श्व ३½ योजन का है, वहाँ प्राग्विदेह है, यह अर्धचन्द्र के समान है। इसके तीन पार्श्व जम्बु के समान हैं और एक ३५० योजन है। वहाँ गोदानीय हैं। यह ७,५०० योजन है, मण्डलाकार है, तिर्यक् २,५०० है। वहाँ कुरु है। यह ८,००० है, चतुरस्र और सम है।[1]

वाह्य समुद्र में मेरु के चार पार्श्वों के अनुरूप चार द्वीप हैं।

१. जम्बुद्वीप के तीन पार्श्व २,००० योजन के हैं, एक पार्श्व ३½ योजन का है। इसलिए इसकी आकृति शकट की है।[3] मध्य में कांचनमयी भूमि पर प्रतिष्ठित वज्रासन[4] हैं जिस पर बोधिसत्व अपना आसन वज्रोपम समाधि (६.४४ डी) के साक्षात्कार के लिए लेते हैं और अर्हत् तथा बुद्ध होते हैं। कोई दूसरा प्रदेश, कोई दूसरा आश्रय बोधिसत्व की [१४६] वज्रोपमसमाधि को सहन करने में समर्थ नहीं है।

२. पूर्व विदेह की आकृति अर्धचन्द्र की है। इसके २००० योजन के तीन पार्श्व हैं। अतः इनका परिमाण वही है जो जम्बु के दीर्घ पार्श्वों का है और एक पार्श्व ३५० योजन का है।

३. गोदानीय जो मेरु के पश्चिम पार्श्व के सन्मुख है चन्द्र के समान मण्डलाकार है। यह (पार्श्वतः) सात हजार ५०० योजन है; मध्य में २५०० है।[1]

४. मेरु के उत्तर पार्श्व के सन्मुख कुरु या उत्तर कुरु है। इसकी आकृति आसन की है। यह चतुरस्र है। इसका प्रत्येक पार्श्व २००० योजन है। पार्श्वतः यह ८,००० है। यह कहने से कि कुरु 'सम' है कारिका यह सूचित करती है कि चारों पार्श्वों का परिमाण एक है।[2]

जैसा द्वीप वैसी वहाँ निवास करने वाले मनुष्यों की आकृति होती है।[3]

---

[1] तत्र तु।
जम्बुद्वीपो द्विसाहस्रस्त्रिपार्श्वः शकटाकृतिः॥
सार्धं त्रियोजनं त्वेकम् प्राग्विदेहोऽर्धचन्द्रवत्।
पार्श्वत्रयं तथास्यैकं सार्धं त्रिशतयोजनम्॥
गोदानीयः सहस्राणि सप्त सार्धानि मण्डलः।
सार्धे द्वे मध्यमस्याष्टौ चतुरस्रः कुरुः समः॥

[3] शकट की आकृति, दीघ, २. ३५२ देखिये।

[4] वज्रासन, ४. ११२ बी, अनुवाद पृ. २३१ टि०। कीओकुगा सी-यू-की, वाटरर्स, २. ११४ उद्धृत करते हैं; शरच्चन्द्रदास, ७५१ फूशे, इकानोग्रैफी २. १५-२१, बील कटेना २१.

[1] कहते हैं कि इस द्वीप में चक्षु शब्द सुनता है, श्रोत्र वर्णादि देखता है।

[2] उत्तर कुरुओं अं० (हाइपरबोरिअन्स) पर. ३. ७८, ८५, ९०, ९९ सी, ४. ४३, ८२, ९७, बील कटेना ३७. हॉस्टिग्स ३. ६८७।

[3] व्याख्या में एक रोचक सूचना है भूमिवशात् सत्वानां वैचित्र्यम् हिमवद् विन्ध्यवासिनां किरातशबराणां गौरश्यामते—भूमिवश सत्वों का वैचित्र्य होता है। हिमवत् के निवासी अर्थात् किरात गौर होते हैं। विन्ध्यवासी अर्थात् शबर कृष्ण होते हैं।—३००० द्वीपों

देहा विदेहाः कुरवः कौरवाश्चामरावराः।
अष्टौ तदन्तरद्वीपाः शाठा उत्तरमन्त्रिणः ।।५६।।

५६. ८ अन्तर द्वीप हैं : देह, विदेह, कुरु, कौरव, चामर और अवर चामर, शाठ और उत्तरमन्त्रिन् ।[४]

[१४७] इन द्वीपों के नाम वहाँ के निवासियों के नाम पर हैं। देह और विदेह पूर्व विदेह के पार्श्व में हैं। कुरु-कौरव उत्तर कुरु के पार्श्व में हैं। चामर और अवचामर जम्बुद्वीप के पार्श्व में हैं। शाठ और उत्तरमन्त्रिन् गोदानीय के पार्श्व में हैं।

इन सब द्वीपों के निवासी मनुष्य हैं। एक मत के अनुसार[१] इनमें से एक में (अर्थात् चामर में) सदा राक्षस निवास करते हैं।

इहोत्तरेण कीटाद्रिनवकाद्धिमवांस्ततः।
पञ्चाशद् विस्तृतायामं सरोऽर्वाग्गन्धमादनात् ।।५७।।

५७. यहाँ नौ कीटाद्रियों के उत्तर में हिमवत् है। उसके परे किन्तु गन्धमादन पर्वत के इस ओर ५० योजन आयाम का गम्भीर सरोवर है।[२]

इस जम्बुद्वीप में उत्तर की ओर जाकर तीन कीटाद्रि मिलते हैं (इनको कीटाद्रि इसलिए कहते हैं क्योंकि इनकी कीट की आकृति हैं)[३]; तब तीन और कीटाद्रि मिलते हैं, पुनः तीन अन्य। अन्त में हिमवत् है।

के मनुष्यों की मुखाकृति पर सेकी शूरंगम सूत्र, २ बी ११ का उल्लेख करते हैं; लेवी रामायण ४७ में सद्धर्मस्मृति भी देखिये।

देहा विदेहाः कुरवः कौरवाश्चामरावराः।
अष्टौ तदन्तरद्वीपाः शाठा उत्तरमन्त्रिणः।।
महाव्युत्पत्ति, १५४.

विभाषा, १७२, १३—अन्तर द्वीप के चारों ओर ५०० छोटे द्वीप हैं। इनमें मनुष्य या अमनुष्य निवास करते हैं या यह निर्जन हैं. . . .। आरम्भ में मनुष्य आर्यभाषा बोलते थे। बहुत बाद जब उन्होंने पान भोजन किया उनमें वैचित्र्य उत्पन्न हुआ और शाठ्य की वृद्धि से अनेक भाषायें हो गईं। ऐसे भी मनुष्य हैं जो बोलना नहीं जानते।. . . . . .

बील कैटीना ३५ में दीर्घ, संघभद्र (न्यायानुसार) आदि के अनुसार ४ महाद्वीप और ८ अन्तरद्वीपों के सम्बन्ध में अनेक सूचनायें हैं।—संघभद्र के अनुसार देह, विदेह, कुरु और कौरव निर्जन थे।

विभाषा, दूसरा मत ("नव विभाषा शास्त्र", बील कैटीना ३५)

इहोत्तरेण कीटाद्रिनवकाद्धिमवांस्ततः।
पंचाशद् वि [ ] सरोऽवग्गिन्धमादनात्।।

गन्धमादन आदि पर्वत, हापकिन्स, एपिक माइथालोजी ९.

लोचव, परमार्थ और शुआन-चाङ कीटाद्रि का अर्थ 'कृष्णपर्वत' करते हैं।—किंतु परमार्थ में एक विवृति है: "इन्हें कीटाद्रि कहते हैं (१. व्याख्या १४२) क्योंकि ये अनुन्नत समतल हैं।" व्याख्या में कीटाद्रिनवकात् की यह विवृति है: कीटाकृतीनाम् पर्वतानां नवकात्।

इसके परे, किन्तु गन्धमादन के इसी ओर अनवतप्त सरोवर है जहाँ से चार बड़ी नदियाँ गंगा, सिन्धु, वक्षु और सीता निकलती हैं।[1] यह सरोवर जो ५० योजन चौड़ा [१४८] और गम्भीर है अष्टांगोपेत जल से व्याप्त है। केवल वेही मनुष्य वहाँ जा सकते हैं जो ऋद्धियों से समन्वागत हैं।[2] इस सरोवर के निकट जम्बु वृक्ष है। हमारे द्वीप का नाम जम्बु द्वीप या तो जम्बु-वृक्ष पर है या जम्बु वृक्ष के फल पर है जिसे भी जम्बु कहते हैं।

नरक कहाँ हैं[3] और उनके परिणाम क्या हैं?

अधः सहस्रैर्विंशत्या तन्मात्रोऽवीचिरस्य हि।
तदूर्ध्वं सप्त नरकाः सर्वेऽष्टौ षोडशोत्सदाः ॥५८॥

---

[1] विभाषा, ५,६—ज्ञान प्रस्थान कहता है कि जम्बुद्वीप में ५ बड़ी नदियाँ हैं : गंगा, यमुना, सरयू (सरभू) अचिरवती, मही, (यह पालि पिटक की सूची है) : जब भदन्त कात्यायनी-पुत्र ने इस शास्त्र को व्यवस्थापित किया तब वह पूर्व में थे। यही कारण है कि उदाहरण के लिये उन्होंने उन नदियों का उल्लेख किया जिनसे पूर्व के लोग परिचित थे। किन्तु वास्तव में जम्बुद्वीप में चार बड़ी नदियाँ हैं जिनमें से प्रत्येक की चार उपनदियाँ हैं। (इस वचन में चार महानदी और १६ क्षुद्रनदियों का उल्लेख है। इसके शेष भाग का अनुवाद और उसकी टीका एस लेवी, रामायण का इतिहास पृ० १५०-१५२ में हैं]
पालि साहित्य और मिलिन्द की नदियों पर रीज डेविडस—मिलिंद, १ पृ० ११.४ और दमिएवील मिलिन्द २३० (बी ई एफ ई ओ १९२४)।
वक्षु या वंक्षु और बौद्ध तथा ब्राह्मण ग्रन्थों के चक्षु और सुचक्षु पर दे० लेवी, वही, महाव्युत्पत्ति, १६७, ८०, अ इटेल १९४, हापकिन्स, सैक्रेड रिवर्स अव इंडिया २१४
वाटर्स१.२९३ जे ए एस. १९१४, २.४०९; स्मिथ २६२–'वक्षु' अ क्सस है यह रेमूसा ने सिद्ध किया है।
सीता पर लेवी, वही पृ० १३९ (=तारीम), मिनयेव पाली ग्रामर पृ० ९ में प्लिनी ३१.२ से सीता पर टीसिअस का उद्धरण है
यारकन्द की नदी या सिरिकोल)
"सीता के उत्तर शास्त्र चम्पक देश की भाषा में, कपियों के देश की भाषा में, सुवर्ण देश की की भाषा में उपनिबद्ध है"। (मेलाँज एशियाटिक २० १७७)

[2] परमार्थ में यहाँ दो पंक्तियाँ अधिक हैं : इस सरोवर के दक्षिण तट पर २५ योजन ऊँचा एक पर्वत है; उत्तर तट पर १५ योजन ऊँचा एक पर्वत है। दोनों में नाना प्रकार के धातु हैं। गन्धमादन पर्वत के उत्तर शिखर पर नन्द नाम की एक गुहा है, यह सप्त रत्नों से विभूषित है। इसकी लम्बाई और चौड़ाई ५० योजन है। यह गजराज का निवासस्थान है। इसके परे ६ राज्य, ७ वन, ७ नदी हैं। सातवीं नदी के परे अर्धचन्द्राकार २ वन हैं। इन वनों के उत्तर १०० योजन ऊँचा जम्बु वृक्ष है....."।

[3] कर्न मैनुअल ग्रन्थ सूची में वर्णित ५८; एल० फीयर, भारतीय नरक ज ए एस, १८९२-१८९३, बी० सी० ला हेवेन एंड हेल इन बुद्धिस्ट पर्सपेक्टिव, कलकत्ता १९२५ पाली स्रोत गोगर्ली सीलोन बुद्धिज्म १९०८, भाग २; कारण्डव्यूह, संपा० सत्यव्रत सामश्रमी कलकत्ता १८७३; सुहृल्लेख, वेन्जेल जे पी टी एस १८८६; सद्धर्मस्मृत्युपस्थान, उद्धरण में शिक्षासमुच्चय और एस० लेवी, रामायण में जे प्रिजलुस्की ने अपने लेजंडद अशोक ग्रन्थ १९२४ में बौद्ध नरक के इतिहास देने का पहला प्रयास किया है।

५८. नीचे २० सहस्र योजन पर उसी परिमाण की अवीचि है। उसके ऊपर ७ नरक हैं। आठों के १६ उत्सद हैं।[3]

जम्बुद्वीप से २० सहस्र योजन नीचे अवीचि नाम का महानरक है। इसकी ऊँचाई और चौड़ाई २०,००० योजन है। अतः इसका भूमितल जम्बुद्वीप के तल से ४०,००० योजन नीचे है।[4]

इस नरक को अवीचि क्यों कहते हैं?—[5] दो निर्देश हैं:

[१४६] १. क्योंकि इस नरक में दुःख की वीचि (अन्तर) नहीं है। अन्य नरकों में दुःख निरन्तर नहीं होता यथा संजीव में पहले शरीर भग्न होते हैं यहाँ तक कि रजकण हो जाते हैं: पश्चात् शीतवायु उनको पुनर्जीवित करती है और वह सचेतन हो जाते हैं। इसीलिए उसका नाम संजीव है।

२. क्योंकि वहाँ सुखावस्था (वीचि) नहीं है।[1] अन्य नरकों में विपाकज सुखवेदना का सर्वथा अभाव होता है किन्तु निष्पन्दज (२.५६ सी) सुखावेदना होती है।

अवीचि के ऊर्ध्व, प्रतापन, तपन, महारौरव, रौरव, संघात, कालसूत्र और संजीव यह सात नरक एक दूसरे के ऊपर हैं। एक दूसरे मत के अनुसार इन सात नरकों का विन्यास उसी तल पर है जिस तल पर अवीचि अवस्थित है।

इन ८ नरकों में से प्रत्येक के १६ उत्सद हैं (पृ० १५२, देखियें)। भगवत् के इस वाक्य से यह सिद्ध होता है: "..... ये ८ नरक हैं जिनका मैंने व्याकरण किया है। ये दुरतिक्रम हैं। ये रौद्र सत्वों से आकीर्ण हैं। प्रत्येक के १६ उत्सद हैं। इनके चार प्राकार और चार द्वार हैं। ये जितने लम्बे हैं उतने ही चौड़े हैं। इनके चारों ओर लोहे का प्राकार परिक्षिप्त है।

---

[3] अधः सहस्रैविंशत्या तन्मात्रोऽवीचिरस्य हि।
तदूर्ध्वं सप्त नरकाः सर्वेऽष्टौ षोडशोत्सदाः॥

[4] पृ० १४०, टि० ३, ८४००० योजन कांचनमयी भूमि और जम्बुद्वीप तल के बीच। अवीची और अवीचि, बोधिचर्यावतार, ६.१२०, ७.७, राष्ट्रपालपरिपृच्छा, ३०। अवीचि का भूगोल— सद्धर्मस्मृति में, शिक्षासमुच्चय, ७०।

[5] अंगुत्तर, १. १५९, दीघ, ३. ७५ में एक ऐसे देश के वर्णन में जहाँ की आबादी बढ़ गई है, 'अवीचि मञ्ञे' यह वाक्य आता है।—रौद्र अवीचि जिसके चार द्वार हैं, इतिवुत्तक, ८६ और चुल्लवग्ग, ७. ४, ८—कामधातु का अधःपर्यन्त, धम्मसंगणि, १२८१—अवीचि नाम सुत्तनिपात, पृ० १२१, संयुत्त, १. १५४ में नहीं है (डेविडस कृत टिप्पणी, डायलाग्स, ३. पृ. ७३)।
अवीचिसंततिसहितम् (यह 'सदा' का निरूपण है), महानिद्देस, १८, ३४७—विसुद्धि, ४४९ में अवीचि जरा का पर्याय है (रीज़ डेविड्स पालिकोश)

[1] यह दूसरा निर्देश अमरकोश की महेश्वरकृत टीका में पाया जाता है: न विद्यते वीचिः सुखं यत्र। तिब्बती में इसके लिये दो शब्द प्रयुक्त होते हैं। एक का अर्थ है "विना अन्तर के"। (आइटेल का कहना है कि वहाँ उपायगति के सत्व निरन्तर मरते और पुनरुत्पन्न होते रहते हैं।) और दूसरे का अर्थ है "बिना पीड़ा के" जे. पी. टी. एस, १८८६,२३, किंतु उससे मिलते हुए तिब्बती शब्द का अर्थ है "बिना सुख के"।

इनकी छाजन लोहे की है। इनकी भूमि ज्वलित और तेजोयुक्त लोहे की है। ये अनेक शत योजन तक दीर्घ ज्वालाओं से व्याप्त है।

[१५०] १६ उत्सद क्या हैं?

कुकूलं कुणपं चैव क्षुरमार्गादिकं नदी।
तेषां चतुर्दिशं शीता अन्येऽष्टावर्बुदादयः॥५९॥

५९ ए-सी. इन नरकों की चार दिशाओं में कुकूल, कुणप, क्षुरमार्ग आदि नदी।[1]

---

[1] इत्येते अष्टौ निरया आख्याता दुरतिक्रमाः।
आकीर्णा रौद्रकर्मभिः प्रत्येकं षोडशोत्सदाः॥
चतुःस्कन्धा*श्चतुर्द्वारा विभक्ता भागशो मिताः†।
अयः प्राकारपर्यन्ता‡ अयसा प्रतिकुब्जिताः§॥
तेषाम् अयोमयी भूमिर्ज्वलिता तेजसा युता।
(अनेकयोजनशतैर्ज्वालाभिस्तिष्ठति) स्फुटाः θ॥

दीर्घ, १९,१९, एकोत्तर, ३६,४, संयुक्त, ४७, ४—मैंने बुद्धिस्ट कास्मालोजी में समान वाक्यों को सविस्तर उद्धृत किया है: १ अंगुत्तर, १. १४१, मज्झिम, ३. १८२ पेतवत्थु, २१, ६५, कथावत्थु, २०. ३; २ जातक, ५. २६६; ३ महावस्तु, १.९ और ३.४५४; ४. लोकप्रज्ञाप्ति (म्दों, ८९ बी और १०४ बी, सूत्र और विवृति)

* व्याख्या का पाठ: चतुःस्कन्धा इति चतुः प्राकारा इत्यर्थः। चतुः संनिवेशा इत्यपरे। अन्यत्र 'चतुः कर्णाः' (महावस्तु), चतुक्कण्णा (जातक)।
अन्यत्र 'चतुर्भागाः' (लोक प्रज्ञाप्ति के अनुसार), इस टीका के साथ: चार भाग दक्षिण आदि हैं—सेनार का यह अनुवाद है: ये चार भागों में हैं; इनके चार द्वार हैं....."।
यह चीनी अनुवादकों का अर्थ है:"चार पार्श्व और चार द्वार"।
भाष्य: प्राकार, भित्ति, ईंटों का काम।

† सब का यही पाठ है।— सेनार "ये पृथक् हैं और मित हैं, प्रत्येक का स्थान नियत है"। —मैं लोक प्रज्ञाप्ति की टीका का अनुवाद देता हूँ।

‡ अयः प्राकार परिक्षिप्ता इत्यर्थः (व्याख्या)

§ अयसोपरिष्टाच्छादितः। अयसा पिथितद्वारा इत्यपरे (व्याख्या)— से ार "लोहे की छ: वाला"।

θ स्फुटा इति व्याप्ताः (व्याख्या)।
लोक प्रज्ञाप्ति की टीका के अनुसार अवीचि दृष्ट है। पाठ इस प्रकार होगा......तिष्ठति स्फुटः।
पालि संस्करणों में भूमि अभिप्रेत है। समन्ता योजनसतं फुटा (फरित्वा, दूसरा पाठ) तिट्ठति सब्बदा।
जे० प्रिजिलुस्की ने दिव्यावदान, पृ० ३७५ में बाल पंडित सूत्र का एक अंश पाया है। इसमें उल्लिखित है कि "ज्वलित लोहे की भूमि तप्त होने पर एक ज्वाला बन जाती है बुरनफ इंट्रोडक्शन ३६६)। यही हमारे निरयों का भूमितल है।

[2] कुकूलं कुणपं चैव क्षुरमार्गादिकं नदी।
तेषां चतुर्दिशम्
नरकलोक के विकास पर प्रिजिलुस्की लीजेंड अव् अशोक, १३०, और देखिए फोअर, फै मेंट्स दु कंजुर, ५१८, हेस्टिंग्स इनसाइक्लोपीडिया ११३ (बिबिलियोग्रैफी भी देखिये)। देवदूत सुत्त में (अंगुत्तर, १.१३८, मज्झिम, ३.१७८) महानिरय के चार द्वार हैं जिनके सम-

[१५१] इन नरकों के प्रत्येक द्वार पर पाये जाते हैं :

१. कुकूल—यह एक आग की जलती हुई भट्टी है जिसमें घुटनों तक उसे डाल देते हैं। जब अपायगति का जीव अपना पैर वहाँ रखता है तो उसका चर्म, मांस और रक्त नष्ट हो जाता है। जब वह पैर ऊपर उठाता है तो उसका पुनः सम्भव होता है।[1]

२. कुणप—गूथ-कर्दम है जहाँ सूचीमुख नामक जल के प्राणी होते हैं जिनके शरीर श्वेत और सिर कृष्ण होते हैं और जो अपाय सत्वों की अस्थियों तक को छेदते हैं।[2]

३. क्षुरमार्ग या क्षुरधारमार्ग—अपाय के त्वक्, मांस और शोणित विनष्ट होते हैं जब वह अपना पैर वहाँ रखते हैं।[3]

असिपत्रवन—असिपात्र से अंग-प्रत्यंग का छेद होता है। श्याम शबल कुत्ते इनका भक्षण करते हैं।[4]

अयः शाल्मलीवन[5]—यह १६ अंगुल के कण्टकों का वन है। जब अपाय वृक्षारोहण करते हैं तब कण्टक नीचे की ओर घूम जाते हैं। जब वह वृक्ष से नीचे उतरते हैं, तब काँटे ऊपर घूम जाते हैं। अयस्तुण्ड वायस अपायों की आँखें निकाल कर उन्हें खाते हैं।

दुःख के इन तीन प्रदेशों का एक उत्सद होता है क्योंकि यह यातना के स्थान हैं।

४. चतुर्थ उत्सद वैतरणी[6] नदी है जिसका जल उबलता रहता है और जिसमें प्रज्वलित राख होती है। दोनों तीरों पर हाथ में असि, शक्ति और प्रास लिये हुए पुरुष होते हैं जो उन अपाय सत्वों को जो उससे बाहर आना चाहते हैं उसमें फिर ढकेल देते हैं। वह कभी जल में

नन्तर चार उपनिरय हैं: गूथनिरय, कुक्कुलनिरय, सिंबलिवन, असिपत्रवन। खारोदका, नदी सबके समन्ततः है। इस नदी को कम से कम एक बार वैतरणी बताया है (जातक ६.२५०; इसका उल्लेख प्रिजिलुस्की, अशोक १३२ में है)।

दीर्घ के ३० वें सूत्र में १६ उत्सद हैं जो दो चक्रवाडों के अन्तर में अवस्थित हैं। इसी प्रकार कुनाल सूत्र में (प्रिजिलुस्की, अशोक १३५,१३६)।

वसुबन्धु के अनुसार १६ उत्सद हैं। वह नदी (वैतरणी) को भी एक उत्सद मानते हैं और वनादि का एक उत्सद मानते हैं।

जातक, १. १७४ में: अट्ठपन महानिरये सोदस उस्सदनिरये; वहीं २.३ में एक पाकार-परिक्खित्तचतुद्वार नगर है जो एक उस्सद निरय है जहाँ उपाय गति के अनेक जीव कष्ट पाते हैं।

[1] कुकूल महावस्तु, १. २ का कुक्कुल है = ३० ४५५; परमार्थ: "प्रज्वलित भस्म"—शिक्षा-समुच्चय में तुलना कीजिये: पादः प्रविलीयते। उत्क्षिप्तः पुनः सम्भवति।—नंजिओ १२९७ में कुकूल की यात्रा का वर्णन है।

[2] कुणप (महावस्तु, वहीं) देवदत्तसुत्त का 'गूथनिरय' है। संयुत्त, २. २५९, पेतवत्थु, ६४ में गूथकूप है—यहाँ सूचीमुख प्राणी होते हैं (न्यट्कुटा नाम प्राणी, महाव्युत्पत्ति, २१५ २० या न्यङ्कुटा); पालि 'सूचीमुखपाण', संयुत्त, २.२५८ से तुलना कीजिये; शिक्षासमुच्चय, ६९-७९ में सद्धर्मस्मृति।

[3] महावस्तु में क्षुरमार्ग नहीं है, कारण्डव्यूह, ३८ में इसका वर्णन है।

[4] देवदूत में असिपत्रवन सिंबलिवन के समनन्तर है। महाव्युत्पत्ति, २१५ से तुलना कीजिये।

[5] देवदूत का सिंबलिवन; द्वाविंशत्यवदान में (आर टर्नर) कण्टक ८ अंगुल के हैं।

[6] वैतरणी (=खारोदका नदी) पर लेबी, रामायण हापकिन्स, सैक्रेड रिवर्स २२२. सुहल्लेखका 'बिना तीर्थ के", जे पी टी एस १८८६. २१।

[१५२] मग्न होते हैं, कभी जल के ऊपर आते हैं, कभी अनुस्रोत जाते हैं, कभी प्रतिस्रोत जाते हैं, कभी दोनों दिशाओं में तिर्यक् जाते हैं या इतस्ततः जाते हैं। वह इस प्रकार तप्त और पच्यमान होते हैं। उनकी वही दिशा होती है जो तप्त कुम्भ में प्रक्षिप्त तिल तण्डुल की होती है।

नदी परिखा के समान महानिरय को परिक्षिप्त करती है।

महानिरय के चारों द्वार पर ये उत्सद पाये जाते हैं। इसलिए स्थान भेदवश चार उत्सद के १६ होते हैं।

'उत्सद' शब्द का क्या अर्थ है?[1] इन्हें उत्सद कहते हैं क्योंकि ये अधिक यातना के स्थान हैं। नरकों में अपाय सत्वों को यातना पहुँचाते हैं, उत्सदों में अधिक यातना देते हैं। स्थविर मनोरथ के अनुसार (ऊपर पृ० ७०), ये 'उत्सद' इसलिये कहलाते हैं क्योंकि नरकावरोध के अनन्तर ये सत्व उत्सदों में पतित होते हैं।[2]

एक प्रश्न से दूसरा प्रश्न उत्पन्न होता है। यहाँ ऐसे सत्वों का उल्लेख है जो वैतरणी के तीर पर रहते हैं। क्या ये नरकपाल सत्व हैं?[3]

---

[1] परमार्थः उत्सद = उद्यान; शुआन-चाङ आधिक्य, वृद्धि। सेनार महावस्तु, १. ३७२; हार्डी, मैनुअल २७ (ओसुपत्); शिक्षा समुच्चय, ५६,६, २४८, ५।
व्याख्या: अधिकयातनास्थानत्वादुत्सदः। नरकेषु......। नरकावराधादूर्ध्वं एषु कुकूलादिषु सीदन्त्यतस्त उत्सदा इत्यपरः।
'उत्' शब्द का अर्थ 'अधिक' या 'ऊर्ध्व' है।
विभाषा, १७२, ७ में बताया है कि इन परिशिष्टों को 'उत्सद' क्यों कहते हैं। फु-कुअङ के अनुसार इसमें ३ हेतु हैं। फ-पाओ के अनुसार २: क्योंकि दुःख अत्यन्त तीव्र विविध, और अधिक हैं। उत्सदों में निवास १०००० वर्ष का है, निरय में अनियत या अनन्तकाल के लिये है। (मज्झिम, १.३३५)
पेतुवत्थु, पृ० ४६ में एक 'सतुस्सद निरय' है (इसका उल्लेख रीज डेविड्स स्टीड में है)। इसका अर्थ, जैसा दीघ, १. ८७ में किया है, 'सत्वों से व्याप्त' है।

[2] बील कैटीना ६५ में है कि उपाय सत्व अवीचि से शीत नरकों में प्रक्षिप्त होते हैं, वहाँ से तिमिराच्छन्न नरकों में, इत्यादि।

[3] विभाषा, १७२, ८—कथावत्थु, २०,३ में इस पर विवाद है।—अन्धक इस सूत्रवचन के आधार पर (जिसका पता नहीं चलता है) निरयपाल नामक सत्वों का प्रतिषेध करते हैं: यह वेस्सभू नहीं है, न प्रेतों का राजा है......, ये उनके स्वयं कर्म हैं जो उपायसत्वों को यातना पहुँचाते हैं।"—वसुबन्धु विज्ञप्तिमात्र विंशक, कारिका ४ में (म्यूजिओं, १९१२, ५३-९० में इसका अनुवाद तिब्बती भाषान्तर के आधार पर है। तिब्बती भाषा का संस्करण और अनुवाद एस लेवी का है, १९२६) दिखाते हैं कि निरयपाल, श्वान, वायस, असि प्राकार आदि का अभाव है।—किओकुगा विंशक की एक टीका से उद्धृत करते हैं: "कोई विश्वास करते हैं कि निरयपाल सत्व हैं। महा सांघिक और सम्मितियों का यह मत है। कोई मानते हैं कि वे सत्व नहीं है किन्तु कर्माभिनिर्वृत्त भूतभौतिक मात्र हैं। यह सर्वास्तिवादी आदि का मत है। दूसरों का मत है कि यद्यपि ये सत्व नहीं हैं तथापि वासना (कर्म और चित्त की वासना) से संजात होने के कारण ये चित्त के विपरिणाममात्र नहीं हैं। यह मत सौत्रान्तिकों का है।"
कर्मोत्पादित स्त्रियों से तुलना कीजिये, शिक्षासमुच्चय, ६७-७६.

[१५३] ये सत्व नहीं हैं।—तो फिर इनकी चेष्टा कैसे होती है?—विवर्तनी वायु के समान, सत्वों के कर्मवश।[1]—तो फिर धार्मिक सुभूति के इस वचन का क्या व्याख्यान है: "जो क्रोधी सत्व क्रूर कर्म और सावद्य का अनुमोदन करते हैं, जो दूसरे को दुःखी देखकर हृष्ट होते हैं, वे यमराक्षस का जन्म लेते हैं?"[2] ये यमराक्षस कहलाते हैं। ये 'नरकपाल' नहीं हैं जैसा कि आप समझते हैं और जो यातना देते हैं। वे यम के दूत हैं जो यम के अनुशासन से सत्वों को नरक स्थानों में प्रक्षिप्त करते हैं।[3]

एक दूसरे मत के अनुसार 'नरकपाल' सत्व हैं।—नरकपालों के नरककृत क्रूरकर्मों का कहाँ विपाक होता है?—इन्हीं नरकों में। जब इन्हीं नरकों में आनन्तर्यकारी (३.९७) के विपाक का अवकाश है तो इन नरकपालों के विपाक में क्या प्रतिबन्ध है?—किन्तु नरकपाल अग्नि के मध्य में होते हुए क्यों नहीं दग्ध होते?—क्योंकि कर्माधिपत्यवश अग्नि की एक अवधि होती है और अग्नि उन तक नहीं पहुँचती अथवा इसी कारण नरकपालों का [१५४] शरीर भूत-विशेष से निर्वृत्त होता है जिससे वे दग्ध नहीं होते।[1]

५९ सी-डी आठ अन्य नरक हैं: अर्बुद आदि शीत[2] नरक।

---

[1] विवर्तनीवायुवत्—यथा विवर्तनी के समय भाजनलोक की अभिनिवृत्ति के लिये वायु का ईरण होता है (चेष्टन्ते)।—जिन्हें 'नरकपाल' कहते हैं वे भूतभौतिक मात्र हैं, वे असत्वाख्य हैं, १. १० बी.

[2] धार्मिक सुभूति का उल्लेख ऊपर ३. १३ ए. में हुआ है।—यहाँ एक श्लोक उद्धृत करते हैं जिसका अन्तिम पद है: (जायन्ते) यमराक्षसाः—कदाचित् यह दशाकुशल कर्मपथनिर्देश (लेवी, जे. ए एस. १९२५, १. ३७) से उद्धृत है।
इस आचार्य और इस नाम से मिलते जुलते नाम के अन्य आचार्यों पर (सुभूति घोष) एफ० डब्ल्यू० थामस, एल्बम कर्न ४०७ लेवी, इंडियन नोट्स, जे ए एस १९२५. १. ३६. (धार्मिक सुभूति—तरानाथ के अनुसार यह अश्वघोष का एक नाम है)।

[3] देवदूतीयसूत्रोक्तेन अनुशासनेनानुशिष्टास्तान् सत्वान् नरकस्थानेषु प्रक्षिपन्ति यमराजधानी-निवासिनः......

[1] कृतावधित्वात्। भूतविशेषनिवृत्तेर्वा—परमार्थ में इतना अधिक है: वे अन्य सत्वों से भिन्न नहीं है जो नरक में उत्पन्न होते हैं। वे नरकपाल कैसे होंगे?"
नागसेन, पृ० ६७ बताते हैं कि सामान्यतः उपायसत्व अग्नि से विनष्ट क्यों नहीं होते।

[2] शीता अन्येऽष्टावर्बुदादयः॥
जे प्रिजिलुस्की, अशोक १३५ कहते हैं कि दीर्घ के ३० वें सूत्र में १० शीतनरकों का उल्लेख है (इनको दो चक्रवाडों के बीच में रक्खा है)। वे यह भी कहते हैं कि इनका उल्लेख संयुत्त १. १५२ (फीअर जे ए एस १८९२, २. २१३), अंगुत्तर, ५. १७२, सुत्तनिपात (कोकालिय सुत्त) में है: अब्बुद, निरब्बुद, अबब, अटट, अहह (या अहह, अटट), कुमुद, सोगन्धिक, उप्पल (या उप्पलक), पुण्डरीक, पदुम—८ उष्ण महानिरयों को मिलाकर कुल १८ निरय हैं, जैसा कुनालसूत्र में है (प्रिजीलुस्की, १३६)। (फीअर जे ए एस १८९२, २. २२० "शीत नरकों के नाम केवल शरीर दण्ड के वर्षों की संख्या सूचित करते हैं" ऊपर पृ०१७६ देखिये)—शावन्न, फाइव हंड्रेड एकाउंट्स, २. ३४१: अर्बुद सैकड़ों और हजारों हैं। निरयों की संख्या ३६ है।
महाव्युत्पत्ति, २१५, १-८; दिव्य, ६७, अनुवाद बुरनफ़, इंट्रोडक्शन २०१ (बुरनफ़ महापद्म की एकता फोकुएकि, पृ० २९८-९ की टिप्पणी के पुण्डरीक

इन नरकों के नाम ये हैं : अर्बुद, निरर्बुद, अटट, हहव, हुहुव, उत्पल, पद्म, महापद्म। इन नामों में से कुछ (१, २, ६, ७, ८) अपायसत्वों के काय के अनुरूप हैं : इनके काय अर्बुद, पद्मादि आकार के होते हैं . . . .। अन्य नाम उन शब्द-विकारों के अनुरूप है जो अपाय-सत्व तीव्र शीत से कष्ट पाकर करते हैं : अटट . . . . .[१]

ये शीत नरक जम्बुद्वीप के नीचे महानिरय के भूमितल पर विन्यस्त हैं।

नरकों के लिये जो जम्बुद्वीप से विशाल हैं केवल जम्बुद्वीप के नीचे कैसे स्थान है?[४]— धान्यराशि के समान द्वीप नीचे की ओर विशाल होते हैं। महोदधि [१५५] द्वीपों के चारों ओर अतट उत्खात नहीं होता। (विभाषा, १७२, ७; चुल्लवग्ग, ६, १.३)

सब सत्वों के कर्माधिपत्य से १६ नरकों की उत्पत्ति होती है (२.५६ बी, ३ ६० सी, १०१ सी, ४, ८५ ए)। एक नरक होते हैं—ये प्रादेशिक नरक हैं—जिनकी उत्पत्ति एक सत्व दो सत्व, अनेक सत्वों के कर्मों के बल से होती है। इनका वैचित्र्य महान् है। इनका स्थान नियत नहीं है : नदी, पर्वत, निर्जन वन या अन्यत्र।[१]

से दिखाते हैं।)

अथवा ८ शीत नरकों को चक्रवाडों के अन्तराल में अवस्थित १० शीत नरकों से विभिन्न बताते हैं। अनेक क्षुद्र नरकों को मिलाकर ये लोकान्तरिक नरक हैं, अ.इटेल, पृ० १०६-१०७ किओकुग इस सम्बन्ध में लियेलु :, नंजिओ, १२९७, सद्धर्मस्मृत्युपस्थान, १८,१ और विभाषा, १७२, ७ का उल्लेख करते हैं।

'लोकान्तरिका अघा अन्धकारा' पर . . . . . बुरनफ, लोटस, ६३१, ८३२, दीघ २.१२, दिव्य २०४, हार्डी लीजेंडस ११०, डाउसन-ड्रेन उपनिषद्स ३२२ देखिये।

[१] कायशब्दविकारानुरूप

[४] विभाषा, १७२,७—यहाँ कोई आक्षेप करता है: "कहते हैं कि जम्बुद्वीप उच्छ्रय में संकीर्ण और नीचे अधिक चौड़ा है। अन्य द्वीपों की आकृति इसके विपक्ष है। क्या यह युक्त है?"

[१] विभाषा, वही —जम्बुद्वीप के नीचे महानिरय हैं। जम्बुद्वीप के भूमितल पर 'प्रत्यन्तिक, (बील कैटीना ६५, से तुलना कीजिये) और प्रादेशिक नरक हैं : घाटियों में, पर्वतादि में। अन्य द्वीपों में महानिरयों का अभाव है क्योंकि वहाँ महापाप नहीं होते . . . . . . कुछ के अनुसार उत्तर कुरु में सब निरयों का अभाव है।—अपायसत्व मनुष्याकृति के होते हैं। वह पहले आर्यभाषा में भाषण करते हैं। पश्चात् दुःख से अभिभूत होकर वह एक भी ऐसा शब्द नहीं बोलते जो समझ में आये।

प्रादेशिक नरक— शुआन-चाङ का अनुवाद: एकाकी; परमार्थ: पृथक्, तिब्बती भाषान्तर: क्षणिक (प्रादेशिक चित्त, मध्यमकावतार, अनुवाद. पृ० ४२; प्रादेशि यान, शिक्षासमुच्चय, १८३, १० महाव्युत्पत्ति, ५९, ५)—'एक दिन के' तीन निरय, सद्धर्मस्मृति, लेवी, रामायण ५३ रीजडेविडसस्टीड कोष में 'पदेस' देखिये।

इसका)एक दूसरा नाम 'प्रत्येक नरक' 'पच्चेक निरय' है (सुत्तनिपात और पेतुवत्थु की अट्ठकथा। इनका दर्शन संघरक्षित ने किया, दिव्य, ३३५, ३३६, इन्ट्रोडक्शन ३२० (वे नरक जो प्रतिदिन पुनरुपपन्न होते हैं—ऐसा बुरनफ तिब्बतीभाषान्तर और इस वर्णन के अनुसार कहते हैं)। बुरनफ उद्धृत करते हैं: "भूमि तल पर, जलतीर पर और एकान्त स्थलों में जो नरकविन्यस्त हैं" (ये विभाषा (बील का अनुवाद, ५७) के

(एकाकी नरक) हैं)—मज्झिम, १. ३३७ के महानिरय का एक नाम 'पच्चत्तवेदनिय' है। शिक्षासमुच्चय, १३६ का 'प्रत्येकनरक' कल्पित विहार है। संयुत्त, २. २५४ के उपाय-प्रेत

नरकों का मूल स्थान नीचे है। तिर्यक् के तीन स्थान हैं—भूमि, जल, वायु। उनका [१५६] मूलस्थान महोदधि है। जो तिर्यक् अन्यत्र पाये जाते हैं वे अधिक हैं?[१]

प्रेतों का राजा यम कहलाता है। उसका निवास-गृह प्रेतों का मूल निवास है। यह जम्बुद्वीप से ५०० योजन नीचे है। यह ५०० योजन गहरा और चौड़ा है। जो प्रेत अन्यत्र पाये जाते हैं वे अधिक हैं। प्रेत एक दूसरे से बहुत भिन्न होते हैं : कुछ ऋद्धि प्रभाव से समन्वागत होते हैं और उनका देवों के समान अनुभाव होता है। प्रेतों के अवदान देखिये।[२]

सूर्य और चन्द्र किसमें प्रतिष्ठित हैं?—वायु में। सत्वों के कर्मों के सामूहिक बल से वे वायु उत्पादित होती हैं जो अन्तरिक्ष में चन्द्र, सूर्य और तारकों का निर्माण करती हैं[३]। यह सब नक्षत्र मेरु के चारों ओर भ्रमण करते हैं मानों जल के भँवर से आकृष्ट हुये हैं।

यहाँ से चन्द्र और सूर्य का क्या अन्तर है?

अर्धेन मेरोश्चन्द्रार्कौ पंचाशत्सैकयोजनौ।
अर्धरात्रोऽस्तगमनं मध्यान्ह उदयः सकृत्॥६०॥

६० ए. चन्द्र और सूर्य मेरु के अर्ध में हैं।[४]

चन्द्र और सूर्य की गति युगन्धर के शिखर के समतल पर होती है।

उनका परिमाण क्या है?

[१५७] ६० बी. ५० और ५१ योजन।[१]

चन्द्रबिम्ब ५० योजन का है, सूर्य का बिम्ब ५१ योजन का है।

व्यक्ति विशेष हैं। इसी प्रकार मैत्रकन्यकावदान के नायक।
जिस बोधिसत्व को अवीचि में जाना होता है वह प्रत्येक नरक में जाता है (महावस्तु १.१०३: "पृथक् कोठरी में नरक", बार्थ, जर्नल द सावाँ, पृ. २३; किन्तु २. ३५०, इस नरक में अग्नि होती है, २. ३५०)।

[१] विभाषा, १३३, १० में इस मत का उल्लेख है कि जो तिर्यक् मनुष्यों के बीच रहते हैं वे सत्व नहीं हैं; वे तिर्यक सदृश हैं, दुग्धादि देते हैं—हम देखेंगे कि लोकसंवर्तनी पर तिर्यक् संवर्तनी की परिसमाप्ति दो बार में होती है। पहले दूसरे तिर्यक् विनष्ट होते हैं। पश्चात् जो तिर्यक् मनुष्यों के साथ रहते हैं वे उनके साथ विनष्ट होते हैं। (३.१० ए)

[२] यम की नगरी ८६००० योजन पर है, हार्पकिन्स, जे ए ओ एस, ३३. १४९।
महिद्धिक पेत, पेतवत्थु, १. १०; कथावत्थु, २०.३; अवदानशतक, ४६—कोश, ३. पृ. ११ अवदानशतक का चतुर्थ दशक; सद्धर्मस्मृत्युपस्थान, अध्याय ४. (नंजिओ ६७९); बील कैटीना ६७ के प्रभव। मनुष्यचरिष्णु प्रेतों का वर्णन, लोटस, ३.—स्टीड पेतवत्थु, लाइपज़िग १९१४।
प्रेतों का विवरण, कोश, ३. ९ डी. ८३ सी.

[३] परमार्थ और शुआन-चाङ् सहमत नहीं हैं।—५ वायु सूर्य को गति देते हैं, बील कैटीना पृ. ६८.

[४] अर्धेन मेरोश्चन्द्रार्कौ

[१] पञ्चाशत् सैकयोजनौ
विसुद्धिमग्ग, ४१७-४१८ में (वारेन, ३२४, स्पेंस हार्डी, लीजेंड्स २३३) चन्द्र ४९ और सूर्य ५० योजन है।

नारकों का सब से छोटा विमान एक क्रोश परिमाण का है (३.८७ सी)। [सब से बड़ा १६ योजन का है।[२]]

सत्वों के कर्मों के आधिपत्य से सूर्य विमान के अधर और बाह्य[३] एक तैजस चक्र[४] होता है जो सूर्यकान्तात्मक है और चन्द्र विमान के लिये एक आप्य चक्र[५] होता है जो चन्द्रकान्तात्मक है। इनका कृत्य यथासम्भव चक्षु, काय, फल, पुष्प, शस्य, ओषधि का उत्पाद, स्थिति और विनाश है।

चतुर्द्वीपक में (३.७३) केवल एक सूर्य और एक चन्द्र होता है। किन्तु चार द्वीपों में सूर्य अपने कृत्य को एक ही काल में संपन्न नहीं करता।

प्रावृण्मासे द्वितीयेऽन्त्यनवम्यां वर्धते निशा।
हेमन्तानां चतुर्थे तु हीयतेऽहर्विपर्ययात् ॥६१॥
लवशो राञ्यहर्वृद्धी दक्षिणोत्तरगे रवौ।
स्वच्छाययार्कसामीप्याद् विकलेन्दुसमीक्षणम् ॥६२॥

६१ ए-बी अर्धरात्र, अस्तगमन, मध्याह्न और उदय एक ही समय में होते हैं।[६]

जब उत्तर कुरु में अर्धरात्र होता है तब सूर्य पूर्व विदेह में अस्त होता है, जम्बुद्वीप में मध्याह्न होता है, गोदानीय में सूर्योदय होता है। इसी प्रकार दूसरों में भी योजना करनी चाहिए। (दीर्घ, २२, १३)।

सूर्यगमन के वैचित्र्यवश दिन और रात बढ़ते घटते रहते हैं।

६१ सी-६२ बी. वर्षा ऋतु के दूसरे मास में द्वितीय पक्ष की नवमी से रात बढ़ती है; [१५८] हेमन्त के चतुर्थ मास के द्वितीय पक्ष की नवमी से घटती है। दिन के लिए इसका विपर्यय है। ज्यों ज्यों सूर्य दक्षिण या उत्तर की ओर जाता है त्यों त्यों रात्रि और दिन की लवशः वृद्धि होती है।[१]

भाद्रपद, शुक्लपक्ष की नवमी से रात्रि की वृद्धि होती है और फाल्गुन शुक्लपक्ष की नवमी से रात्रि का ह्रास होता है।—दिन के लिये इसका विपर्यय है : जब रातें बड़ी होती हैं तब दिन छोटे होते हैं और जब रात्रि छोटी होती हैं तब दिन बड़े होते हैं—क्रमशः दिन और रात की वृद्धि और ह्रास उसी मात्रा में होते हैं जिस मात्रा में सूर्य जम्बुद्वीप के दक्षिण या उत्तर यात्रा करता है।[२]

---

[२] तिब्बतीभाषान्तर में नहीं है।

[३] परमार्थः सूर्यचक्र अधोमुख बाह्यपर्यन्त......। विमान चक्र से भिन्न है। विमान के परिमाण पर बील कैंटीना, ६८।

[४] संस्कृत पाठः तैजस चक्र जिसका अर्थ "सूर्यकान्तात्मक" दिया है।

[५] संस्कृत पाठ निस्सन्देह 'आप्य' है अर्थात् चन्द्रकान्तात्मक।

[६] अर्धरात्रोऽस्तगमनम् मध्या (ह्न उदयः समयम)॥

[१]
प्रावृण्मासे द्वितीयोऽन्त्यनवम्यां वर्धते निशा।
हेमन्तानां चतुर्थे तु हीयतेऽहर्विपर्ययात्॥
लवशो राञ्यहर्वृद्धी दक्षिणोत्तरगे रवौ।

[२] शुआन-चाड् में इतना अधिक है, "कितनी वृद्धि होती है:—एक लव की।"—'लव' मुहूर्त का तीसवाँ अंश है, मुहूर्त दिन का तीसरा भाग है। 'लव' चार मिनट के बराबर है, विभाषा,

शुक्लपक्ष के आरम्भ में चन्द्रबिम्ब पूर्ण क्यों नहीं दिखता ?

६२ सी-डी. सूर्य के सांनिध्य से चन्द्र अपनी छाया से ढक जाता है और हम उसे विकल देखते हैं।[३]

यह प्रज्ञाप्ति की शिक्षा है : "जब चन्द्र-विमान सूर्य-विमान के सांनिध्य में आता है तब सूर्य का आतप चन्द्र-विमान पर पड़ता है। अतः ऊपर पार्श्व में छाया पड़ती है और मण्डल विकल दिखाई पड़ता है।"[४]—किन्तु पूर्वाचार्यों के अनुसार अर्थात् योगाचारों [१५६] के अनुसार उसका वाह्ययोग ऐसा है कि चन्द्र कभी पूर्ण, कभी विकल दिखाई पड़ता है।[१]

सूर्य-चन्द्र-तारक विमान के निवासी किस वर्ग के सत्व है ?—से चातुर्महाराजकायिक देव हैं[२] और केवल यही देव विमानों में निवास करते है किन्तु चातुर्महाराज कायिकों की एक विपुल संख्या स्थिर भूमि पर मेरु की परिषण्डाओं में और अन्यत्र रहती है।

परिषण्डाश्चतस्रोऽस्य दशसाहस्रिकान्तराः।
षोडशाष्टौ सहस्राणि चत्वारि द्वे च निर्गताः ॥६३॥

१३६,३।—शार्दूलकर्ण का मासपरीक्षा नामक अध्याय शुआन-चाङ के संस्करण में नहीं है (दिव्य का परिशिष्ट देखिये)।
लोकप्रज्ञाप्ति में दिन और रात का ऊर्ध्वमान सूचित है; शार्दूलकर्ण दिव्य, ६४२ से ऐकमत्य है : हेमन्तानां द्वितीये मासे रोहिण्याम् अष्टम्यां द्वादशमुहूर्तो दिवसो.......; यह सामान्य विचार हैं जैसा थीबो पृ. २६, बार्नेट, ऐंटीक्विटीज ऑव इण्डिया, १९६ से ज्ञात होता है। दिन अधिक से अधिक १५ घंटे का और कम से कम ९ घंटे का होता है।
६१ सी.-६२ में समभाव (बराबर दिन-रात) की जो तिथियाँ दी हैं उनके यह विरुद्ध है।

[३] स्वच्छायय.र्क (सांनिध्याद्धि) कलेन्दुसमीक्षणम् ॥

[४] व्याख्या: अपरपार्श्वे छाया पतन्ती विकलमण्डलं दर्शयति। तद्यथा स्तम्भे प्रदीपच्छाया पतन्ती यथा यथा स्तम्भ आसन्नो भवति तथा तथा स्तम्भः स्वच्छायया छाद्यते। दूरे हि वर्तमाने प्रदीपे परिपूर्णस्तम्भो दृश्यते। किञ्चिदासन्ने किंचित् क्षीयते। यावत् अत्यासन्ने स्तम्भो स्तम्भो नष्ट रूपो वर्तते। तद्वदेतत्।
परमार्थ: अतः सूर्य की छाया चन्द्र के अन्य भागों को छादित करती है।—शुआन-चाङ अपर पार्श्वो (पश्चिम और पूर्व) में एक छाया होती है जो चन्द्रमण्डल को ढकती है (पूर्व और पश्चिम)।

[१] वाह्ययोगः स तादृशः—व्याख्या: पुनस्तिर्यगवनामोन्नामयोगेन अधोभागश्चन्द्रमण्डलस्य क्षीयते। ऊर्ध्वं वर्धते चेति योगाचाराः।
परमार्थ: सूर्य और चन्द्र का वाह योग ऐसा है कि कभी पूरा दिखाई पड़ता है, कभी आधा। शुआन-चाङ: सूर्य और चन्द्र की गति समान नहीं हैं। वह सम्पूर्ण या आंशिक रूप में दिखाई देता है। नंजिओ ५५०, बील ६९ में चन्द्र की कलाओं का निरूपण है : १. उसके भ्रमण के कारण जिससे पिछले भाग दिखाई देते हैं; २. नीलवास देवता बीच बीच में पृथ्वी और मास (?) (चन्द्र) के अन्तराल में आ जाते हैं और चन्द्रमण्डल को आच्छादित करते हैं; ३. क्योंकि सूर्य की प्रखर किरणें (६० प्रखर किरण चन्द्रमण्डल को आच्छादित करती हैं.... इसलिये चन्द्र सूर्य के इतने समीप है कि उसका तेज कम हो जाता है......
बील नंजिओ १२९७ का भी उल्लेख करते हैं: "१९ वें अध्याय का विषय सूर्य और चन्द्र की गति है।" (नंजिओ)

[२] चातुर्महाराजकायिक का निर्वचन—चतुर्महाराजानां कायः। तत्रभवाश्चातुर्महाराजकायिका = जो चार महाराजाओं के पर्षद में संगृहीत हैं।

करोटपाणयस्तासु मालाधराः सदामदाः।
महाराजिकदेवाश्च पर्वतेष्वपि सप्तसु ॥६४॥

६३-६४. चार परिषण्डा है। इनके अन्तर १० हजार योजन हैं। यह १६, ८, ४ और दो हजार योजन निर्गत हैं। वहाँ करोटपाणि, मालाधर, सदामत्त और महाराजिक देव हैं। यह सप्त पर्वतों पर भी हैं।[१]

[१६०] पहली परिषण्डा जल से १० हजार योजन ऊर्ध्व है। दूसरी पहले से १० हजार योजन ऊर्ध्व है, एवमादि। अतः यह मेरु के अर्ध तक आक्षिप्त होते हैं।[१]—पहली परिषण्डा मेरु से १६००० योजन निर्गत है। अन्य यथाक्रम ८, ४ और २ हजार योजन निर्गत हैं।[२] पहली परिषण्डा पर करोट-पाणि[३] यक्ष रहते हैं, दूसरी पर मालाधर, तीसरी पर सदामत्त (कारिका में इन्हें 'सदामद' कहा है)[४] : यह सब देव चातुर्महाराजकायिक हैं। चौथी परिषण्डा पर चार महाराज[५] अपने पार्षदों के साथ स्वयं निवास करते हैं : यह देव चातुर्महाराजिक देव कहलाते हैं :

जैसे चातुर्महाराजकायिक मेरु पर निवास करत ह उसी प्रकार सात सुवर्ण पर्वतों पर उनके ग्राम और निगम होते हैं। यह देव महिष्ठ हैं।

मेरुमूर्ध्नि त्रयस्त्रिंशाः स चाशीति सहस्रदिक्।
विदिक्षु कूटाश्चत्वारः उषिता वज्रपाणिभिः ॥६५॥

---

[१] परिषण्डाश्चतस्रोऽस्य दशसाहस्रिकान्तराः।
षोडशाष्टौ सहस्राणि चत्वारि द्वे च निर्गताः॥
करोटपाणयस्तत्र मालाधराः सदामदाः।
महाराजिकदेवाश्च पर्वतेष्वपि सप्तसु॥

लोकप्रज्ञाप्ति के अनुसार (कास्मालोजी, एपेंडिक्स, पृ. ३०१), असुरों और सुरों के (या त्रायस्त्रिंशों के) नगर में "५ त्रयस्त्रिंश पाल, उदकनिश्रित नाग, करोटपाणि आदि हैं।"—दिव्य, २१८, जातक, १. २०४.

परिषण्डा—परमार्थ : सोपान; शुआन-चाङ सोपान-पंक्ति।—दिव्य, २१२, ८, २१७।१७, ३४४.१२ (सुमेरुपरिषण्डा, जो करोटपाणि आदि के निवासों से भिन्न हैं और हमारे परिषण्डाओं में से नहीं है)। महाव्युत्पत्ति, १९४, २१, सुमेरु पारिषण्ड, २४५, ३५८, परिषण्ड।

[१] अर्धमाक्षिप्तम् ॥ अर्धमवस्तत्वम्

[२] हम नहीं समझते कि कैसे परिषण्डा मेरु से, मेरु के पार्श्व से, निर्गत होते हैं।
यह मान कर कि परिषण्डा क्रमशः ह्रस्व मेधियां हैं जो मेरु के पार्श्वतः संनिविष्ट हैं। हम इस वाद को समझ सकते हैं कि पर्वत-शिखर के पार्श्व २००००, न कि ८०००० योजन के हैं। पहली परिषण्डा के ऊपर का पार्श्व ८०००० से ३२००० है। पश्चात् १६, ८, ४ घटाने से एक समपार्श्व काच (प्रिज्म) जिसका पार्श्व २०००० है अवशिष्ट रहता है।]
मेरु की आकृति के अनेक प्रकार हैं, अलफाबेटम टिबेटनम ४७३, बील कैटीना ३५; आइटेल हैंडबुक७३ १६४ इत्यादि

[३] बुर्नफ ६००, दिव्य, २१८, महावस्तु, १. ३० और ३९४ देखिये, मारिस, जे पी टी एस १८९३, २१ (करोटि)।

[४] सदामत्त मैत्रकन्यक के एक 'स्वर्ग-विशेष' का नाम है।

[५] धृतराष्ट्र पूर्व दिग्भाग में, विरूढक दक्षिण में, विरूपाक्ष पश्चिम में, वैश्रवण उत्तर में .

मध्ये सार्धं द्विसाहस्रपार्श्वम् अध्यर्धयोजनम्।
पुरं सुदर्शनं नाम हैमं चित्रतलं मृदु ॥६६॥
सार्धं द्विशतपार्श्वोऽत्र वैजयन्तो बहिः पुनः।
तच्चैत्ररथपारुष्यमिश्रनन्दनभूषितम् ॥६७॥
विंशत्यन्तरितान्येषां सुभूमीनि चतुर्दिशम्।
पूर्वोत्तरे पारिजातः सुधर्मा दक्षिणावरे ॥६८॥

६५-६८. मेरु शिखर पर त्रयस्त्रिंश हैं। इस शिखर के दिक् ८०,००० योजन हैं। विदिशाओं में चार कूट हैं जहाँ वज्रपाणि निवास करते हैं—मध्य में २५०० योजन के पार्श्वों वाला, १॥ योजन ऊँचा, सुदर्शन नाम का पुर है। यह पुर सुवर्ण का है, मृदु है और इसका तल चित्रित है।

[१६१] यहाँ २५० योजन पार्श्ववाला वैजयन्त है।—बाहर इसको चैत्ररथ, पारुष्य, मिश्र और नन्दन विभूषित करते हैं। इन उद्यानों से २० योजन के अन्तर पर चारों ओर सुभूमि हैं।—पूर्वोत्तर में पारिजात और दक्षिण-पश्चिम में सुधर्मा है।[१]

१. त्रायस्त्रिंश[२] मेरु के शिखर पर निवास करते हैं। इस शिखर के पार्श्व ८०००० योजन हैं। अन्य आचार्यों के अनुसार प्रत्येक पार्श्व २०००० योजन है, समन्ततः परिक्षेप ८०००० है।[३]

२. विदिशाओं में ५०० योजन के उच्छ्रित और विशाल कूट हैं जहाँ वज्रपाणि नाम के यक्ष निवास करते हैं।

३. मेरुतट के मध्य में देवराज शक्र की सुदर्शन नामक राजधानी है।[४] इसके पार्श्व २५००

---

१ मेरुमूर्ध्नित्रायस्त्रिंशाः स चाशीति सहस्रदिक्।
विदिक्षु कूटाश्चत्वार उषिता वज्रपाणिभिः ॥६५॥
मध्मे सार्धद्विसाहस्रपार्श्वमध्यर्धयोजनम्।
पुरं सुदर्शनं नाम हैमं चित्रतलं मृदु ॥६६॥
सार्धद्विशतपार्श्वोऽत्र वैजयन्तो बहिः पुनः।
तच्चैत्ररथपारुष्यमिश्रनन्दनभूषितम् ॥६७॥
विशन्त्यन्तरितान्येषां सुभूमीनि चतुर्दिशम्।
पूर्वोत्तरे पारिजातः सुधर्मा दक्षिणावरे ॥६८॥

सामान्यतः दक्षिणापर।

२ शक्रादि देव जो त्रायस्त्रिंशों के पार्षद हैं।—विभाषा, १३३, १४ वसुबन्धु इसका अनुसरण करते हैं।—दिव्य, २१९; महावस्तु, १. ३१; लोकप्रज्ञाप्ति, पत्र २८ ए-४७ बी, बुद्धिस्ट कास्मालोजी पृ. ३०१-३०६; सद्धर्मस्मृत्युपस्थान, लेवी, रामायण ४४-४७ (उद्यानों के चीनी नाम कोश के नामों से नहीं मिलते)।

३ विभाषा का पहला मत यह है कि पार्श्व २०००० योजन के हैं। दूसरा मत यह है कि पार्श्व ८०००० योजन के हैं।—व्याख्या: यदि पार्श्व २०००० योजन के हैं तो यह कैसे कहा है कि पर्वतों के उच्छ्राय और घन सम हैं? इन वादियों का यह अभिप्राय है कि मध्यभाग का अभिसन्धान कर ऐसा कहा है।—ऊपर पृ० १६०, टिप्पणी दो देखिये (मध्यभागमेवाभिसमीक्ष्यैवमुक्तम्)।

४ सुदर्शन पर दिव्य, २२०; धम्मपद, ३० की अर्थकथा (बुद्धिस्ट लीजेंडस बर्लिंगामेकृत)

योजन हैं।[5] समन्ततः यह २००० योजन है। इसका उच्छ्राय १½ योजन है।[6] यह सुवर्ण का है।

[१६२] यह एक शत धातु (वर्ण) से विभूषित है।[1] इसी प्रकार इसका तल चित्रित है। इसके तल का स्पर्श कार्पास वृक्ष के पत्र के समान मृदु है। गमन की सुगमता के लिये इसका उन्नाम, अवनाम होता रहता है।

४. नगर के मध्य में देवराज शक्र का प्रासाद है। इसका नाम वैजयन्त है। यह अपनी नाना रत्न और नाना स्थान की विधान-सम्पत्ति से अन्य सब भवनों की श्री और महिमा को सज्जित करता है।[2] इसके पार्श्व २५० योजन के हैं।

नगर के यह आभरण हैं।

५. नगर के बाहर के भूषण चार उद्यान है।[3] चैत्ररथ, पारुष्यक, मिश्रक और नन्दन। यह देवों की क्रीड़ाभूमि हैं।

६. इन उद्यानों की चार दिशाओं में[4] बीस योजन के अन्तर पर चार क्रीड़ास्थान हैं जिनकी भूमि शोभन है,[5] जो चित्तमोहक हैं और जो आपस में प्रतिस्पर्धा करते हैं।

७. कोविदार जिसे पारिजातक[6] कहते हैं त्रयस्त्रिंश देवों का काम रति के लिये प्रकर्षालय है।[7] इसके मूल ५० योजन गहरे हैं।[8] यह १०० योजन ऊँचा है। शाखा, पत्र और पलाश के साथ यह ५० योजन फैला है।

इन पुष्पों की गन्ध वात के साथ १०० योजन जाती है, प्रतिवात ५० योजन जाती है।[9] हो सकता है कि यह वात के साथ १०० योजन जाती है किन्तु यह प्रतिवात कैसे जाती है?—एक मत के अनुसार यह प्रतिवात ५० योजन तक जाती है क्योंकि यह गन्ध [१६३] वृक्ष [जो वास्तव में ५० योजन है] का अतिक्रम नहीं करती।[1] [किन्तु यह व्याख्यान युक्त नहीं है क्योंकि] वचन है कि यह प्रतिवात है।—अतः हम कहते हैं कि गन्ध प्रतिवात नहीं जाती। वह जहाँ उत्पन्न होती है वहीं उसका ध्वंस होता है। किन्तु इस गन्ध का यह विशेष गुण है कि यद्यपि यह दिव्य

---

[5] दैर्घ्येणार्धतृतीये योजनशते पार्श्वम्।

[6] शुआन-चाङ् : इसके सुवर्ण प्राकारों का उच्छ्राय १½ योजन है।

[1] धातुशतेन = रंगशतेन

[2] नानारत्नस्थानविधानसंपदा सर्वान्यभावनाश्रीमहिमनिह्लेषण

[3] चार उद्यानों पर—महाव्युत्पत्ति, १९६, १-४; दिव्य, १९४-१९५ (म्रियमाण देव का विलाप), महावस्तु, १.३२—जैनों के चार उद्यान, एस बी ई ४५, पृ. २८८.

[4] चतुर्दिशम् : चतस्रो दिशोऽस्येति चतुर्दिशम् क्रियाविशेषणम्।—भागुरि के मत से दिक् शब्द अकारान्त होता है। (व्याख्या)। अतः दो रूप हैं—'दिश' और 'दिशा'।

[5] कारिका का 'सुभूमीनि': शोभना भूमय एषामिति सुभूमीनि क्रीडास्थानानि।

[6] पारिजातक (दिव्य, २१९, इत्यादि) जातक, १. २०२, अत्थसालिनी, २९८, विसुद्धिमग्ग, २० (पोराणों का मत) का 'पारिच्छत्तक' है।

[7] कामरतिप्रकर्षालयः = कामरति विशेषस्थानम्

[8] परमार्थ और शुआन्-चाङ् —पाँच योजन

[9] पंचाशद् योजनानि प्रतिवातं गन्धो वाति। योजनशतम् अनुवातम्

[1] वृक्षानतिक्रमम् संधायोक्तम्

मन्द मारुत से प्रतिबध्यमान हो तथापि यह एक अपूर्व सदृश गन्ध-सन्तान उत्पन्न करती है। सदा गन्ध मन्दतरतम होती जाती है और सर्वथा समुच्छिन्न होती है। इस कारण तथा विप्रकृष्ट अध्व में नहीं फैलती।[२]

क्या गन्ध-सन्तान का आश्रय गन्धात्मक महाभूतमात्र हैं? अथवा क्या वायु अधिवासित होती है? [यथा जब तिल पुष्प-गन्ध से अधिवासित होता है तब गन्धान्तर की उत्पत्ति होती है जो पुष्प-गन्ध से अन्य है।]—आचार्यों का मत इस पर स्थिर नहीं है।

किन्तु भगवत् ने कहा है[३] : "पुष्प-गन्ध प्रतिवात नहीं जाता। न चन्दन, न अगर, न मल्लिका श्रीगन्ध प्रतिवात जाता है। किन्तु सत्पुरुषों का गन्ध प्रतिवात जाता है। सत्पुरुष सब दिशाओं में जाता है।" गन्ध प्रतिवात जाती है। इस वाद का श्लोक से विरोध है। इसका परिहार कैसे किया जाय? इस श्लोक की अभिसन्धि सत्व लोक के गन्धों से है। यह स्पष्ट है कि वहाँ की गन्ध प्रतिवात नहीं जाती।

महीशासकों का पाठ इस प्रकार है[४] : "[पारिजातक पुष्प की] गन्ध अनुवात १०० योजन जाती है। जब वायु नहीं होती तब ५० योजन जाती है।"

८. पूर्वोत्तर में सुधर्मा[५] नाम की देवसभा है जहाँ देव सत्वों के कृत्य-अकृत्य का संप्रधारण करते हैं।

त्रयस्त्रिंश देवों के भाजन का यह संनिवेश है।

तत ऊर्ध्वं विमानेषु देवाः कामभुजस्तु षट्।
द्वन्द्वालिंगनपाण्याप्तिहसितेक्षणमैथुनाः ॥६९॥

६९ ए-बी. इससे ऊर्ध्व देव विमानों में रहते हैं।[१]

त्रयस्त्रिंश देवों से ऊर्ध्व जो देव हैं वह विमानों में निवास करते हैं। यह देव याम, तुषित, निर्माणरति, परनिर्मितवशवर्तिन् तथा रूपावचर देव अर्थात् ब्रह्मकायिकों से आरम्भ कर १६ प्रकार के देव हैं। कुल २२ प्रकार के देव हैं जो भाजनलोक में हैं और वहाँ नियत स्थानों में

---

[२] न तथा विप्रकृष्टम् अध्वानं प्रसर्पति।

[३] संयुक्त, २८,३१, एकोत्तर, १३,१७, उदानवर्ग, ६.१४, धम्मपद, ५४, अंगुत्तर १.२२६, जातक, ३. २९१ न पुष्पगन्धः प्रतिवातमेति।

[४] हुबोन् तो = पठन्ति— शुआन-चाङ् 'महीशासकों के सूत्र में पठित है...."।

[५] सुधर्मा पर दिव्य, २२०, अंगुत्तर, १.२२६, विभाषा, १३३, १५: पक्ष की अष्टमी, चतुर्दशी और पूर्णिमा-अमावस्या को देवसभा होती है। वह दव और मनुष्यों का संप्रधारण करते हैं, असुरों पर शासन करते हैं, इत्यादि......। इसी प्रकार नंजिओ, ५५०— श.वान फाइव हंड्रेड एकाउंट्स १. २६— जे. प्रिजिलुस्की. जे ए एस- २. १५७—दीघ २. २०७, महावस्तु, ३.१९८ पर।

[१] तत ऊर्ध्वं विमानेषु देवाः— विमान या तो बहुत बड़े चबूतरे हैं या व्यक्तियों के रहने के प्रासाद हैं। पृ० १५७. १६९, ३ १०१ सी.

निवास करते हैं। [अन्य बहुत से देव हैं यथा क्रीडा प्रमोषक,[३] प्रहासक आदि। इनका इस ग्रन्थ में उल्लेख नहीं है। यहाँ संक्षेप में कहा है।]

६९ बी-डी. ६ देव कामभुक् हैं। इनका मैथुन द्वन्द्व, आलिंगन, पाणि-स्पर्श, हास और ईक्षण से होता है।[४]

चातुर्महाराजकायिक, त्रायस्त्रिंश, याम, तुषित, निर्माणरति और परनिर्मितवशवर्तिन् कामधातु के देव हैं। ऊर्ध्व देव कामावचर नहीं हैं।

चातुर्महाराजकायिक और त्रायस्त्रिंश स्थिर भूमि पर निवास करते हैं। अतः इनका मैथुन मनुष्यों के समान द्वन्द्व-समापत्ति से होता है। किन्तु क्योंकि इनके शुक्र नहीं होता इसलिये यह वायु निर्गत कर परिदाह-विगम करते हैं। याम आलिंगन से, तुषित पाणिग्रहण से, निर्माणरति हास से, परनिर्मितवशवर्तिन् ईक्षण से परिदाह-विगम करते हैं। यह प्रज्ञाप्ति का वाद है।[५]

[१६५] वैभाषिकों के अनुसार (विभाषा, ११३, ए) प्रज्ञाप्ति के यह शब्द, आलिंगन, पाणिस्पर्श आदि, मैथुन के प्रकार को नहीं सूचित करते —क्योंकि इन सब देवों की द्वन्द्व-समापत्ति होती है—किन्तु काल-परिमाण को सूचित करते हैं।[१] विषयों के अधिकाधिक अभिप्रेत होने से जितना तीव्र-तीव्रतर राग होता है उतना ही (अल्पतर) मैथुनकाल होता है।

जिस देव या देवी के घुटनों पर देव शिशु या देवी शिशु प्रादुर्भूत होता है या होती हैं, वह उनका पुत्र या दुहिता होता है सब देव 'उपपादुक' (३.८ सी) हैं।

---

[२] महाव्युत्पत्ति, १६५ आदि के भौम और आन्तरिक्षवासिन् (?)
वसुवन्धु यहाँ असुरों का वर्णन (३.४ देखिये) नहीं करते जिनका उल्लेख लोकप्रज्ञाप्ति में है (बुद्धिस्ट कास्मालोजी में इसका अनुवाद है)। वह मार (जिस पर बील कंटीना, ९३ देखिये, शावान फाइव हंड्रेड एकाउंटस १. १२५ = परनिर्मितवशवर्तिन् का राजा, हूबर, सूत्रालंकार, ११०) और महेश्वर (बील ९४) की भी उपेक्षा करते हैं।

[३] पालि: खिड्डापदोसिक

[४] का भुजस्तु षट्। द्वन्द्वालिगनपाण्याप्ति हसितेक्षण मैथुनाः॥

[५] लोकप्रज्ञाप्ति, अध्याय ६ (बुद्धिस्ट कास्मालोजी पृ० ३००) "यथा जम्बु में अब्रह्मचर्य, मैथुनधर्म, द्वन्द्वसमापत्ति है, उसी प्रकार अन्य द्वीपों में और देवों में यावत् त्रायस्त्रिंशदेव भी है; यामों में आलिंगन से परिदाह विगम होता है......।"
पुनः लोकप्रज्ञाप्ति: "यथा जम्बु में स्त्रियों का मासिक धर्म होता है, वह गर्भवती होती हैं, पुत्र प्रसव करती हैं उसी प्रकार अन्य द्वीपों में भी। चातुर्महाराजकायिकों में शिशु देव या देवी के उत्संग में या स्कन्ध पर प्रादुर्भूत होता है.....

[१] कालपरिमाणं तु प्रज्ञाप्तावुक्तम्—व्याख्या: "जितने काल तक द्वन्द्व, आलिंगन, पाणिस्पर्श, हास, ईक्षण होता है उतने काल तक यामादि भूमि सम्बन्धी निवासी देवों की (चातुर्महाराजिक और त्रायस्त्रिंश) द्वन्द्व-समापत्ति होती है।
भाष्य पर व्याख्या प्रकाश डालती है: यावद् यावत् परतरेण परतरेण विषयाणां तीव्रतरत्वाद् रागोऽपि तीव्रतरस्तावत् तावन्मैथुनकाल इत्यभिप्रायः।
विभाषा, ११३, ८......कुछ का कहना है कि ऊर्ध्व देव ज्यों ज्यों वैराग्य के संनिकृष्ट होते हैं, उनका परिदाह मन्द होता जाता है किन्तु प्रत्येक् मैथुन में परिदाह के विगम के लिये द्वन्द्व-समापत्ति आवश्यक है।

पंचवर्षोपमो यावद्दशवर्षोपमः शिशुः।
सम्भवत्येषु सम्पूर्णाः सवस्त्राश्चैव रूपिणः ।।७०।।

७० सी-डी. इन देवों में नवजात शिशु पाँच वर्ष से दस वर्ष के बालक या बालिका के सदृश होता है।[२]

५ से १० वर्ष तक, देवों के प्रकार के अनुसार। देवों के बालक तेजी से बढ़ते हैं।

७० सी-डी. रूपधातु के देव सम्पूर्ण और सवस्त्र होते हैं।[३]

रूपधातु के देवों की पूर्ण वृद्धि जन्म से ही होती है। वह सवस्त्र उपपन्न होते हैं।

सब देव आर्य भाषा में बोलते हैं।[४]

[१६६] कामधातु में,

कामोपपत्तयस्तिस्रः कामदेवाः समानुषाः।
सुखोपपत्तयस्तिस्रो नवत्रिध्यान भूमयः ।।७१।।

७१ एबी. तीन उपपत्ति या कामोपपत्ति : काम के देव मनुष्यों के सहित।[१]

१. ऐसे सत्व हैं जिनके परिभोग के लिए काम गुण विद्यमान होते हैं। वह इन कामगुणों का परिभोग करते हैं। यह मनुष्य और कतिपय देव हैं—अर्थात् पहले चार देव-निकाय।

२. ऐसे सत्व हैं जिनके कामगुण आत्मनिर्मित होते हैं। यह इन आत्मनिर्मित कामगुणों का परिभोग करते हैं। यह निर्माण रति हैं।

३. ऐसे सत्व हैं जिनके कामगुण परनिर्मित होते हैं और जो इन परनिर्मित कामगुणों का परिभोग करते हैं। यह परनिर्मितवशवर्ती हैं।[२]

पहले उन कामगुणों का परिभोग करते हैं जो उनके सम्मुख होते हैं। दूसरे अपनी इच्छा से निर्मित कामगुणों का परिभोग करते हैं। तीसरे आत्मनिर्मित या यथेच्छया परनिर्मित कामगुणों का परिभोग करते हैं।[३]—यह तीन कामोपपत्ति ।

---

[२] पञ्चवर्षोपमो यावद् दशवर्षोपमः शिशुः।
संभवत्येषु

[३] सम्पूर्णाः सवस्त्राश्चैव रूपिणः।।
ऊपर पृष्ठ ४५ देखिये।

[४] शुआन-चाङ में यह अधिक है : अर्थात् वह मध्यदेश ('मध्य-इन-तु') की भाषा में बोलते हैं,— बील, कैटीना ९१.

[१] कामोपपत्तयस्तिस्रः कामदेवाः समानुषाः।
संगीति पर्याय, ५,८, विभाषा, १७३, ४; दीघ, ३. २१८; इति वुत्तक, ९४

[२] रीज डेविडस का अनुवाद: "दूसरे के वशवर्ती"।
दीघ, १. २१६ में एक संतुषित देव हैं जो तुषितों के राजा हैं, एक सुनिमित्त हैं जो निम्मानरतियों के राजा हैं, एक वसवत्ति हैं जो परनिम्मितवसवत्तियों के राजा हैं। ऊपर महाब्रह्मा हैं जो ब्रह्मकायिकों के राजा हैं।
सुमंगलविलासिनी, १. १२१, मान्धाता मनुष्यों के कामगुणों से समन्वागत हैं; परनिर्मितदेवों के कामगुणों से ।

[३] दो पाठ हैं: यथेच्छात्मपरनिर्मित-परिभोगित्वात् और यथेच्छपरनिर्मितपरिभोगित्वात्।

रूपधातु में,

७१ सी-डी. तीन सुखोपपत्ति हैं : तीन ध्यानों की ६ भूमियाँ।[४]

[१६७[प्रथम तीन ध्यान की ९ भूमियाँ तीन सुखोपपत्ति हैं। पहले तीन ध्यानों के देव विवेकज, सुख, समाधिज (विचार और वितर्क के विगमन से) प्रीति सुख और निःप्रीतिक सुख (सौमनस्य के विगम से) के साथ दीर्घकाल तक सुख विहार करते हैं (सुखं विहरन्ति)। यह उपपत्तियाँ दुःख के अभाववश, काल-परिमाण वश सुखोपपत्ति हैं।

ध्यानान्तर में प्रीतिसुख का अभाव होता है। क्या यह सुखोपपत्ति है ? यह विचारणीय है।[१]

चातुर्महाराजकों से लेकर रूपधातु के सबसे ऊर्ध्व देवों के २२ देवस्थान कितनी ऊँचाई पर अवस्थित हैं ?—योजनों में इस उच्छ्राय की गणना करना सरल नहीं है किन्तु

स्थानात्स्थानादधो यावत् तावदूर्ध्वं ततस्ततः।
नोर्ध्वदर्शनमस्त्येषामन्यत्रर्द्धिपराश्रयात् ॥७२॥

७२ ए-बी. एक स्थान से जितना नीचे जाना होता है उतना ही ऊर्ध्व स्थान की ओर ऊपर जाना होता है।[२]

दूसरे शब्दों में जितना एक स्थान जम्बुद्वीप के ऊपर है उतना ही वह ऊर्ध्व [१६८] स्थान के नीचे है। यथा चातुर्महाराजकायिकों का चतुर्थ गृह जो चातुर्महाराजिकों का निवासस्थान है यहाँ से ४०,००० योजन ऊपर है। जितना अन्तर उस स्थान से यहाँ तक उतरने में है उतनाही अन्तर इस स्थान से त्रायस्त्रिंशों के स्थान [मेरु शिखर, यहाँ से ८०,००० योजन] तक अवरोहण करने में है। जितने योजन का अन्तर त्रायस्त्रिंशों से यहाँ का है उतने ही योजनों का अन्तर त्रायस्त्रिंशों में यामों तक है। एवमादि : जम्बुद्वीप से जितने योजन ऊपर सुदर्शन है उतने ही योजन सुदर्शनों से ऊपर अकनिष्ठ हैं।

---

[४] सुखोपपत्तयस्त्रिस्रो नव त्रिध्यानभूमयः॥—२. ४५. पृ. २२१ देखिये।
ध्यानों के सुख पर ८. ९
दीघ, ३. २१८ भिन्न है, कम से कम संस्करण में।

[१] सुखोपपत्तित्वं विचार्यम्—सुख का वहाँ अभाव है क्योंकि ध्यानान्तर की वेदना उपेक्षा वेदना है, ८. २३। अतः यह 'सुखोपपत्ति' नहीं है। यह ध्यान कुशल विपाक है, यह सुखकल्प है। अतः यह सुखोपपत्ति है।–किन्तु क्या उस अवस्था में चतुर्थ ध्यान में भी सुखोपपत्ति का प्रसंग होगा ?—नहीं, क्योंकि उस भूमि में सुख का अभाव है।—अतः इसका विचार होना चाहिये (विचार्यम्, संप्रधार्यम्)।

[२] स्थानात् स्थानादधो यावत् तावदूर्ध्वं ततस्ततः।
बील, कैटीना, ८२ में गणना के अन्य प्रकार हैं। [विभाषा से उद्धृत, यहाँ दी हुई संख्याओं से उसकी संख्यायें बहुत भिन्न हैं : स्थानों का अन्तर १००००योजन हैं। इन्-पेन्- सूत्र में यही वाद है। अभिधर्म में : "ब्रह्मलोक से प्रक्षिप्त १०० हस्त के पत्थर के गिरने के लिये एक वर्ष, अकनिष्ठ से प्रक्षिप्त एक पर्वत के गिरने के लिये ६५५३५ वर्ष।" ज्ञान प्रस्थान में : "रूपावचर प्रथम भूमि से प्रक्षिप्त १० हस्त के पत्थर गिरने में १८३८३ वर्ष।"]
इसी प्रकार मिलिन्द, ८२ के अनुसार एक पत्थर के ब्रह्मलोक से गिरने में चार मास लगते हैं क्योंकि एक दिन में ८४००० योजन होता है।
सूत्रालंकार हूबर १२७, त्रायस्त्रिंश लोक ३०००३३६ ली पर है।

अकनिष्ठों के ऊपर और स्थान नहीं हैं। इसीलिए क्योंकि उनका स्थान अन्य स्थानों से ऊर्ध्व है, उससे कोई स्थान ऊर्ध्व नहीं है, वह अकनिष्ठ कहलाता है।[1] एक दूसरे मत के अनुसार इस स्थान को अघ-निष्ठ कहते हैं क्योंकि अघ का अर्थ 'संघात रूप' है और यह स्थान इस रूप की निष्ठा है।[2]

क्या अधः स्थान में उपपन्न सत्व ऊर्ध्व विमान में आ सकते हैं और ऊर्ध्वोपपन्न को देख सकते हैं ?

७२ सी-डी. ऋद्धि या पराश्रय के बिना देवों को ऊर्ध्व दर्शन नहीं होता।[3]

जब त्रायस्त्रिंश ऋद्धि से समन्वागत होते हैं या जब वह ऋद्धिमान् का अथवा याम देव का आश्रय पाते जाते हैं तब वह यामों में जा सकते हैं। एवमादि।[4]

[१६६] अधः स्थान में उपपन्न अधः स्थान में आये हुए ऊर्ध्वोपपन्न का दर्शन कर सकता है यदि यह सत्व ऊर्ध्वभूमिक, ऊर्ध्वधातुक नहीं है[1] यथा [ऊर्ध्व धातु या ऊर्ध्व भूमि] के स्प्रष्टव्य का संवेदन नहीं हो सकता क्योंकि यह [अधो भूमि की इन्द्रिय का] विषय नहीं है।[2]—इसीलिए वह सत्व जो ऊर्ध्व धातु या ऊर्ध्वभूमि के हैं अपने शरीर से अवतरण नहीं करते, किन्तु उस भूमि के ऋद्धिमय शरीर से अवतरण करते हैं जहाँ वह उतरना चाहते हैं (दीघ, २.२१०)।—एक दूसरे निकाय के अनुसार[3] यदि ऊर्ध्वोपपन्न की इच्छा हो तो अधोभूमिक सत्व उसे उसी प्रकार देखते हैं जैसे वह अपनी भूमि के सत्वों को देखते हैं।

याम और अन्य देवों के स्थान का परिमाण क्या है ?

एक मत के अनुसार कामावचर चार ऊर्ध्व देवनिकायों के स्थानों का परिणाम वही है जो मेरु-शिखर का है। दूसरों के अनुसार ऊर्ध्व स्थान अधःस्थान का द्विगुण है।—दूसरों के अनुसार प्रथम ध्यान का परिमाण चतुर्द्वीपिक के परिमाण के बराबर है। द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ ध्यान

---

[1] व्याख्या: तदुत्कृष्टतरभूम्यन्तराभावान्नैते कनिष्ठा इत्यकनिष्ठाः।

[2] महाव्युत्पत्ति, १६१, ५-६ में दो आख्या हैं: अकनिष्ठ और अघनिष्ठ देव। ऐसा प्रतीत होता है कि अघनिष्ठ बोधिसत्वभूमि की हस्तलिखित पोथी का पाठ है, वोगीहारा देखिये।—अघ पर कोश, १. २८ ए, अनुवाद, पृ० ५० और रीज़ डेविड्स-और स्टीड के हवाले। रीज़ डेविड्स और स्टीड में 'कनिट्ठ' शब्द के नीचे देखिये: "अकनिट्ठभवन में अकनिट्ठ, जातक, ३. ४८७, धम्मपद—अट्ठकथा, अकनिट्ठगामिन्, संयुत्त, श्लोक २३७."। विभंग ४२५ से उद्धृत कर सकते हैं (अकनिट्ठदेव); धम्मसंगणि, १२८३ (रूपधातु की इयत्ता), दीघ, २. ५२, ३. २३७ आदि

[3] नोर्ध्वदर्शनम् अस्त्येषाम् अन्यत्र ऋद्धिपराश्रयात्॥

[4] ऋद्ध्या वा त्रायस्त्रिशा यामान् गच्छेयुर्यदि ऋद्धिमता नीयेरन् देवेन वा तत्रत्येन।

[1] आगतं तूर्ध्वोपपन्नं पश्येदिति समान भूमिकं नोर्ध्वभूमिकम्

चातुर्महाराजिक और त्रायस्त्रिश समानभूमिक हैं (क्योंकि दोनों मेरु के निवासी हैं)। यामादि चार शेष कामावचर देव-निकाय भिन्न भूमियों के हैं। रूपधातु में चार ध्यान हैं; यही चार भूमियाँ हैं। प्रथमध्यानोपन्न देव द्वितीयध्यानोपपन्न को नहीं देखता।

[2] यथा स्प्रष्टव्यम् (अविषयत्वान्न स्पृश्यते)—यह उदाहरणमात्र है। हम यह भी कह सकते हैं "यथा शब्द नहीं सुना जाता......"।

[3] तदिच्छयेहत्यम् इव पश्येदिति निकायान्तरीयाः—महासांघिक जो संघभद्र का खण्डन करते हैं।

का परिणाम यथाक्रम चूड़िक, मध्यम और महासाहस्र के परिमाण के बराबर है। दूसरों के अनुसार प्रथम, द्वितीय और तृतीय ध्यान का परिमाण यथाक्रम चूड़िक, मध्यम और महासाहस्र के परिमाण के बराबर है। चतुर्थ ध्यान अपरिमाण है।[४]

[७०] चूड़िक, साहस्र, द्विसाहस्र, त्रिसाहस्र क्या है?

> चतुर्द्वीपकचन्द्रार्कमेरुकामदिवौकसाम्।
> ब्रह्मलोकसहस्रं च साहस्रश्चूडिको मतः ॥७३॥
> तत्सहस्रं द्विसाहस्रो लोकधातुस्तु मध्यमः।
> तत्सहस्रं त्रिसाहस्रः समसंवर्तसम्भवः ॥७४॥

७३-७४. एक सहस्र चतुर्द्वीपक, चन्द्र, सूर्य, मेरु, कामदेवों के स्थान और ब्रह्मलोक चूड़िकसाहस्र कहलाता है। १००० चूड़िकसाहस्र का द्विसाहस्र होता है। यह मध्यम लोकधातु है। एक साहस्र द्विसाहस्र का त्रिसाहस्र होता है।—लोकधातु का संवर्त और संभव समकाल का होता है।

एक चूड़िकसाहस्र लोकधातु में १००० जम्बुद्वीप, पूर्वविदेह, अवरगोदानीय, उत्तरकुरु, चन्द्र, सूर्य, चातुर्महाराजकायिक और अन्य कामदेवों के स्थान और ब्रह्मलोक होते हैं।—इस प्रकार के १००० लोकधातु का द्विसाहस्र होता है। यह मध्यम लोकधातु है।—इस प्रकार के १००० लोकधातु का त्रिसाहस्रमहासाहस्र लोकधातु होता है।

संवर्त और विवर्त का काल समान है।[२] कारिका में 'संभव' शब्द विवर्त के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

जैसे भाजनों के परिमाण भिन्न हैं उसी प्रकार वहाँ के निवासियों के परिमाण भिन्न हैं।

---

[४] चतुर्थं त्वपरिमाणमिति तारकावद् अतलप्रतिबुद्धविमानत्वाद् अपरिमाणत्वसम्भव इत्यभिप्रायः—३. १०१ सी. देखिये।

[१]
> चतुर्द्वीपकचन्द्रार्कमेरुकामदिवौकसाम्।
> ब्रह्मलोकसहस्रं च साहस्रश्चूडिको मतः॥
> तत्सहस्रं द्विसाहस्रो लोकधातुस्तु मध्यमः।
> तत्सहस्रं त्रिसाहस्रः समसंवर्तसम्भवः॥

अंगुत्तर, १.२२७, चुल्लनिद्देस, २३५, २ बी. (सहस्सी चूलनिका लोकधातु); दीर्घ, १८, का उल्लेख बील, कॅटीना १०२ में है। बील कई सूत्र उद्धृत करते हैं—
महाव्युत्पत्ति, १५३ और १५,१५—ऐसा प्रतीत होता है कि महाव्युत्पत्ति में साहस्रचूड़िक एक शब्द है। वास्तव में एकलोक को 'साहस्र' कहते हैं क्योंकि इसमें १००० चतुर्द्वीप (चातुर्द्वीपिक लोकधातु) हैं और इसे चूडिक कहते हैं क्योंकि यह महासाहस्र का चूड़ा (चूडाभूतत्वात्) है।—(निस्सन्देह यह क्षुल्ल, क्षुद्र = चुल्ल, चूल है)

[२] ३. ९३ ए-बी. में इसका व्याख्यान करेंगे (व्याख्या)—यह अर्थ अधिक उपयुक्त होगा :"[एक समूह के लोकधातुओं का) विवर्त और संवर्त एक ही काल में होता है।"
'विवर्त' का अर्थ है 'विविधवर्तन' अथवा 'विविधा वर्तन्तेऽस्मिन्निति'—संवर्त = संवर्तन अथवा 'संवर्तन्तेऽस्मिन्निति' : यह वह काल है जिसमें सत्व ऊर्ध्वध्यानों में एक साथ जाते हैं (संवर्तन्ते = संगच्छन्ति), पृ. १८१ टिप्पणी ३ देखिये।

जाम्बुद्वीपाः प्रमाणेन चतुःसार्धत्रिहस्तकाः।
द्विगुणोत्तरवृद्धया तु पूर्वगोदोत्तराह्वयाः ॥७५॥
पादवृद्धया तनुर्यावत् सार्धक्रोशो दिवौकसाम्।
कामिनां रूपिणां त्वादौ योजनार्धं ततः परम् ॥७६॥
अर्धार्धवृद्धिरूर्ध्वं तु परीत्ताभेभ्य आश्रयः।
द्विगुण द्विगुणो हित्वाऽनभ्रकेभ्यस्त्रि योजनम् ॥७७॥

७५-७७. जम्बुद्वीप के निवासियों के शरीर का प्रमाण चार या साढ़े तीन हाथ है। जो पूर्व, गोद और उत्तर कहलाते हैं उनके शरीर का प्रमाण उत्तरोत्तर द्विगुण है।—कामदेवों के शरीर की पादवृद्धि होती है यहाँ तक कि वह १।। क्रोश का होता है। रूपावचर देवों का शरीर आरंभ में अर्द्धयोजन का होता है, पश्चात् इसकी अर्धार्धवृद्धि होती है। परीत्ताभों से ऊर्ध्व आश्रय द्विगुण होता जाता है। अनभ्रकों की संख्या से तीन योजन घटाते हैं।[1]

जम्बूद्वीप के मनुष्यों के शरीर का प्रमाण सामान्यतः ३।। हस्त होता है। कोई चार हस्त के भी होते हैं। पूर्वविदेहक, अवरगोदानीयक, औत्तरकौरव का शरीर प्रमाण यथासंख्य ८, १६, ३२ हस्त होता है।

चातुर्महाराजकायिकों का शरीर क्रोश का चतुर्थभागमात्र होता है (३.८८ ए)। अन्य कामदेवों के शरीर की उत्तरोत्तर पादवृद्धि होती है: त्रायस्त्रिंश, अर्धक्रोश; याम, क्रोश का ¾ अंश, तुषित, एक क्रोश, निर्माणरति, १¼ क्रोश, परनिर्मितवशवर्तिन्, १।। क्रोश।

रूपधातु के पहले देव ब्रह्मकायिक के शरीर का प्रमाण अर्धयोजन है, ब्रह्म-पुरोहितों का एक योजन, महाब्रह्मों का १।। योजन और परीत्ताभों का २ योजन है।

परीत्ताभों से ऊर्ध्व प्रमाण द्विगुण होता जाता है: अप्रमाणाभों का चार, आभास्वरों का आठ और इसी प्रकार यावत् शुभकृत्स्नों का ६४ योजन। अनभ्रकों के लिये इस संख्या का द्विगुण करते हैं किन्तु उसमें से तीन योजन घटाते हैं। अतः इनके शरीर का प्रमाण १२५ योजन होता है। इसी प्रकार संख्या द्विगुण करते जाते हैं। पुण्यप्रसवों की संख्या २५० योजन होती है यावत् अकनिष्ठ जिनका शरीर-प्रमाण १६ हज़ार योजन है।

इसी प्रकार सत्वों की आयु भिन्न है। मनुष्यों के सम्बन्ध में:

सहस्रमायुः कुरुषु द्वयोरर्धार्धवर्जितम्।
इहानियतमन्ते तु दशाब्दानादितोऽमितम् ॥७८॥

---

[1] जाम्बुद्वीपाः प्रमाणेन चतुःसार्धत्रिहस्तकाः।
द्विगुणोत्तरवृद्धया तु पूर्वगोदोत्तराह्वयाः ॥७५॥
पादवृद्धया तनुर्यावत् सार्धक्रोशो दिवौकसाम्।
कामिनां रूपिणां त्वादौ योजनार्धं ततः परम् ॥७६॥
अर्धार्धवृद्धिरूर्ध्वं तु परीत्ताभेभ्य आश्रयः।
द्विगुणद्विगुणो हित्वाऽनभ्रकेभ्यस्त्रियोजनम् ॥७७॥

७८. कुरुओं में आयु १००० वर्ष की है। दो द्वीपों में: अर्धार्धन्यून हैं। वहाँ अनियत है किन्तु अन्त में दशाब्द और आदि में अमित है।[1]

गोदानीय के मनुष्यों की आयु उत्तरकुरु के मनुष्यों की आयु की आधी है, अतः ५०० वर्ष की है। पूर्वविदेह के मनुष्यों की आयु २५० वर्ष की है।

जम्बुद्वीप में आयु का प्रमाण नियत नहीं है। कभी दीर्घ और कभी अल्प होता है।[2] कल्प के अन्त में (३. ९८ ए) जब अधिक से अधिक ह्रास होता है यह १० वत्सर की होती है और प्राथमकल्पिक (३. ९१ ए) मनुष्यों की आयु अमित होती है: सहस्त्रादि में उसका मान नहीं हो सकता।

कामदेवों का आयु-प्रमाण उनके अहोरात्र के प्रमाण से लिया जाता है।

नृणां वर्षाणि पंचाशदहोरात्रो दिवौकसाम्।
कामेऽवराणां तेनायुः पंचवर्षशतानि तु ॥७९॥
द्विगुणोत्तरमूर्ध्वानामुभयं रूपिणां पुनः।
नास्त्यहोरात्रमायुस्तु कल्पैः स्वाश्रयसंमितैः ॥८०॥
आरूप्ये विंशतिः कल्पसहस्त्राण्यधिकाधिकम्।
महाकल्पः परीत्ताभात् प्रभृत्यर्धमधस्ततः ॥८१॥

७९ ए-८० बी० मनुष्यों के ५० वर्ष का काम के अवर देवों का एक अहोरात्र होता है और इन देवों की आयु ५०० वर्ष की है। ऊर्ध्व देवों का अहोरात्र और आयु द्विगुण होता जाता है।[3]

मनुष्यों के ५० वर्ष चातुर्महाराजकायिकों के एक अहोरात्र के बराबर होते हैं और इनकी आयु ३० दिन का मास और १२ मास का वर्ष ऐसे ५०० वर्ष की होती है।[4] त्रायस्त्रिंशों का एक अहोरात्र १०० मानव वर्षों का होता है। उनकी आयु १००० वर्ष की होती है। यामों का एक अहोरात्र २०० मानव वर्ष का होता है। उनकी आयु २००० वर्ष की होती है। एवमादि।

[१७३] किन्तु यह आक्षेप किया जायगा कि युगन्धर से ऊर्ध्व सूर्य और चन्द्र नहीं होते। फिर कैसे देवों के अहोरात्र नियत है और कैसे देवों को प्रकाश मिलता है?—इनके अहोरात्र का व्यव-

---

[1] सहस्त्रमायुः कुरुषु द्वयोरार्धार्धवर्जितम्।
इहानियतमन्ते तु दशाब्दानादितोऽमितम्॥
एक आयुष्पर्यन्तसूत्र है, सोमा-फोर पृ. २७८ २६, २१७.

[2] विभंग, ४२२: मनुस्सानं कित्तकमायुप्पमाणम्। वस्ससतप्पं वा भिय्यो वा।—
पिटक के वाक्य के अनुसार: यो चिरं जीवति सो वस्सतम्......

[3] नृणां वर्षाणि पंचाशदहोरात्रौ दिवौकसाम्।
कामोऽवराणां तेनायुः पंच वर्ष शतानि तु॥
द्विगुणोत्तरमूर्ध्वानामुभयम्।
यह एक सूत्र पर आश्रित है जो अंगुत्तर, ४. २५६-७ (उपसथ की प्रशंसा), विभंग, ४२२ के बहुत समीप है। कस्मालोंजो, ३०१ में लोकप्रज्ञाप्ति

[4] ३६० दिन का वर्ष 'मध्यकाल' का वर्ष है, थीबो, आस्ट्रानोमी, १८९९, पृ० २८—नीचे ३. ९०

स्थान कुमुदपद्मवत् पुष्पों के विकास और संकोच से, पक्षियों के कूजन और अकूजन से, मिद्धापगम और मिद्धोपगम से होता है।[१] दूसरी ओर देव स्वयं प्रभास्वर होते हैं।

रूपधातु और आरूप्यधातु के देवों के सम्बन्ध में :

८० बी-८१ डी. रूपावचर देवों का अहोरात्र नहीं होता। उनकी आयु की गणना कल्पों में होती है और कल्पसंख्या स्वाश्रय प्रमाण से नियत की जाती है।—आरूप्य में २०००० कल्पों की आयु होती है। यह उतनी ही अधिकाधिक होती जाती हैं।—परीत्ताभ से ऊर्ध्व यह कल्प महाकल्प हो जाते हैं, उससे अधः अर्ध।[२]

[१७४] जिन रूपावचर देवों का शरीर-प्रमाण अर्ध-योजन है अर्थात् जो ब्रह्मकायिक हैं उनकी आयु अर्धकल्प की है। इसी प्रकार यावत् अकनिष्ठ जिनका शरीर-प्रमाण १६००० योजन है और जिनकी आयु १६००० कल्प है।

आकाशानन्त्यायतन में आयु २०००० कल्प की होती है। विज्ञानानन्त्यायतन में ४००००, आकिंचन्यायतन में ६००००, नैवसंज्ञानासंज्ञायतन या भवाग्र में ८००००।

किन्तु कौन कल्प इष्ट है ? अन्तरकल्प, संवर्तकल्प, विवर्तकल्प या महाकल्प (३. ८९ डी) ?

परीत्ताभों से आरम्भ कर (द्वितीय ध्यान के अधर देव) और उनको सम्मिलित कर महाकल्प अभिप्रेत है। उससे नीचे (ब्रह्मपारिषद्य, ब्रह्मपुरोहित, महाब्रह्म) महाकल्प का अर्ध इष्ट है। वास्तव में ३० अन्तरकल्पों में लोक का विवर्त होता है (महाब्रह्मा आरम्भ से ही होते हैं। पश्चात् २० अन्तर-कल्प तक लोक की अवस्थिति होती है। पश्चात् २० अन्तरकल्पों में लोक का संवर्त होता है (महाब्रह्मा अन्त में अन्तर्हित होते हैं)। अतः महाब्रह्मा की आयु ६० अन्तर-

---

[१] यथेह कुमुदान्यहनि संकुचन्ति रात्रौ विकसन्ति। पद्मानि तु विपर्ययेण। तथा तत्र केषाञ्चिदेव पुष्पाणां संकोचादहनि च विकासादहोरात्रव्यवस्थानम्
शकुनीनां च कूजनात्। अकूजनाद् रात्रिः कूजनात् प्रभातम्। विपर्ययेण वा यथाशकुनजाति। मिद्धापगमोपगमाच्च
वसुबन्धु के मूलस्रोत के बहुत समीप दिव्य, २७९ है : कथं रात्रिर्ज्ञायते दिवसो वा। देवपुष्पाणां संकोचविकासान् मणीनां ज्वलनाज्वलनाच्छकुनीनां च कूजनाकूजनात्।

[२] रूपिणां पुनः।
नास्त्यहोरात्रमायुस्तु कल्पैः स्वाश्रयसम्मितैः ॥८०॥
आरूप्ये विंशतिः कल्पसहस्राण्यधिकाधिकम्।
महाकल्पः परीत्ताभात् प्रभृत्यर्धमधस्ततः ॥८१॥

बील, कैटीना, ८३ में कोश का वाद।

अंगुत्तर, १. २६७ : प्रथम तीन आरूप्य देवों की आयु २००००, ४००००, ६०००० कल्प की है। चतुर्थ आरूप्य का उल्लेख नहीं है।

विभंग, ४२४ : ब्रह्मपारिसज्ज, $\frac{1}{3}$ (या $\frac{1}{4}$) कप्प की आयु, ब्रह्मपुरोहित, , महाब्रह्म, १; परीत्ताभ, २; अप्पमाणाभ, ४......। तृतीय ध्यान के ऊर्ध्व देव सुभकिण्हों की आयु ६४ कप्प की है। चतुर्थ ध्यान के ६ विभाग हैं अर्थात् वेहप्फलों के साथ असञ्ञसत्त, ५०० कप्प और पाँच प्रकार के शुद्धावासिक, १०००, २०००, ४०००, ८००० और १६००० कप्प (अकनिट्ठ) आरूप्य, यथा कोश में।

'ब्रह्मकायिकों का आयुः प्रमाण एक कप्प है' इस वाक्य में आये हुये 'कप्प' का अर्थ बुद्धघोस 'कप्प का भाग' लेते हैं, कथावत्थु, ११. ५ की अर्थकथा।

कल्पों की होती है : इन ६० का १।। कल्प होता है क्योंकि महाकल्प के अर्ध को (४० अन्तरकल्प) एक कल्प मानते हैं।

अपायगतियों में आयु-प्रमाण क्या है? हम क्रम से पहले ६ उष्ण नरक, अन्त्य दो उष्ण, नरक, तिर्यक्, प्रेत और शीतनरक का विचार करेंगे।

कामदेवायुषा तुल्या अहोरात्रा यथाक्रमम्।
संजीवादिषु षट्स्वायुस्तैस्तेषां कामदेववत् ॥८२॥

८२. संजीवादि ६ नरकों में अहोरात्र कामदेवों के आयुःप्रमाण के तुल्य है। अहोरात्र के इस प्रमाण के साथ उनकी आयु वही है जो कामदेवों की है।[1]

संजीव, कालसूत्र, संघात, रौरव, महारौरव, तपन—इन ६ नरकों का अहोरात्र यथाक्रम चातुर्महाराजकायिक आदि कामदेवों की आयु के तुल्य है।

[१७५] संजीव के अपायसत्व का आयुः प्रमाण चातुर्महाराजकायिकों के समान १२ मास के संवत्सर और ३० अहोरात्र के मास का ५०० वर्ष है। किन्तु इन अहोरात्रों में से प्रत्येक का प्रमाण चातुर्महाराजकायिक का सम्पूर्ण आयुः प्रमाण है। यही योग कालसूत्र के अपाय और त्रायस्त्रिंशों में है, तपन के अपाय और परनिर्मितवशवर्तियों में है।

अर्धं प्रतापनेऽवीचावन्तः कल्पं परं पुनः।
कल्पं तिरश्चां प्रेतानां मासाहशतपंचकम् ॥८३॥

८३ ए-बी. प्रतापन में अर्ध अन्तरकल्प की आयु है; अवीचि में एक अन्तरकल्प की आयु है।[1]

प्रतापन में आयु का प्रमाण अर्ध अन्तर कल्प है; अवीचि में एक अन्तर कल्प है।[2]

८३ बी-डी. तिर्यक् की आयु अधिक से अधिक एक कल्प की है। प्रेतों की आयु ५०० वर्ष की है किन्तु उनके अहोरात्र का प्रमाण एक मास है।[3]

जो तिर्यक् दीर्घतमकाल तक अवस्थान करते हैं वह एक अन्तरकल्प तक रहते हैं। यह नन्द, उपनन्द, अस्वतर आदि महानागराज हैं।—भगवत् ने कहा है : "हे भिक्षुओं! ८ महानागराज हैं जो एक कल्प तक अवस्थान करते हैं जो धरणी का धारण करते हैं......।"[4]

---

[1] **कामदेवायुषा तुल्या अहोरात्रा यथाक्रमम्।**
संजीवादिषु षट्स्वायुस्तैस्तेषां कामदेववत् ॥

[1] **अर्धं प्रतापनेऽवीचावन्तःकल्पम्**

[2] **पालिग्रन्थ का (इतिवुत्तक, पृ. ११, अंगुत्तर आदि) ४. ९९ सी. पृ. २०७, एन. २ में उल्लेख है।**

[3] **पुनः पुनः।**
कल्पं तिर्यश्चाम् प्रेतानां मासाहशतपंचकम् ॥

[4] **व्याख्या में सूत्र उद्धृत है: अष्टाविमे भिक्षवो नागा महानागा कल्पस्था धरणिधराः। अप्रत्युद्धार्याः सुपर्णिनः पक्षिराजस्य देवासुरमपि संग्रामम् अनुभवन्तः। कतमे। तद्यथा नन्दो नागराजः उपनन्दो......अश्वतरो......मुचिलिन्दो......मनस्वी......धृतराष्ट्रो.... महाकालो......एलापत्रो नागराजः।—लोकप्रज्ञाप्ति ३. १, में (मनस्विन् के स्थान में**

प्रेतों के अहोरात्र का प्रमाण मनुष्यों का एक मास है। वह इस प्रमाण के अहोरात्रों के ५०० वर्ष तक जीवित रहते हैं।

वाहाद् वर्षशतेनैकतिलोद्धारक्षयायुषः।
अर्बुदा विंशतिगुणप्रतिवृद्धायुषः परे॥८४॥

८४. अर्बुदों की आयु का काल उतना है जितने काल में एक दिन वाह से वर्ष शत में एक [१७६] तिल लेने से उसका क्षय होता है। दूसरों के लिए प्रतिवृद्धि २० गुनी होती है।[1]

भगवत् ने शीत नरकों के आयुः प्रमाण को केवल उपमाओं से निर्दिष्ट किया है: "हे भिक्षुओं! यदि ८० खारि[2] का एक मागधक तिलवाह चूडिकाबद्ध हो[3] और यदि कोई इसमें से एक तिल १०० वर्ष में ले तो यह वाह रिक्त हो जायगा किन्तु अर्बुद में उपपन्न सत्वों के आयु का क्षय न होगा। मेरा ऐसा कथन है। और हे भिक्षुओं! ऐसे २० अर्बुद हैं। हे भिक्षुओ! इनका एक निरर्बुद होता है....."। (पृ. १४५, एन. २ देखिए)

क्या सब सत्व जिनका आयुः प्रमाण बताया गया है इस प्रमाण तक जीवित रहते हैं?

कुरुवर्ज्योऽन्तरा मृत्युः परमाण्वक्षरक्षणाः।
रूपनामाध्वपर्यन्ताः परमाणुरणुस्तथा॥८५॥
लोहाप्छशाविगोच्छिद्र रजोलिक्षा तदुद्भवाः।
यवस्तथांगुलीपर्व ज्ञेयं सप्तगुणोत्तरम्॥८६॥
चतुर्विंशतिरंगुल्यो हस्तो हस्तचतुष्टयम्।
धनुः पञ्चशतान्येषां क्रोशोऽरण्यं च तन्मतम्॥८७॥
तऽष्टौ योजनमित्याहुर्विंशतक्षणशतं पुनः।
तत्क्षणस्ते पुनः षष्टिर्लवस्त्रिंशद्गुणोत्तराः॥८८॥

तेजस्विन् है) यह सूची दी है, बुद्धिस्ट कास्मालोजी, पृ० पी. २९८—डि विसेर कहते हैं कि यह सूची दीर्घ में (१६ नाग जो गरुड़ से दूर भागते हैं) सद्धर्मपुण्डरीक में (आठ: नन्द, उपनन्द, सागर......मनस्विन्......) नहीं है।

बील ४१९ में उल्लिखित सूत्र: महाव्युत्पत्ति, १६७, १४, ५१, ६६, ५८, ४४—मुचिलिन्द, महावग्ग, १. ३—पालि में कोई उल्लेख उन नागों का नहीं है जो शेष के तुल्य पृथ्वी का वहन करते हैं।—ऊपर पृ. ३१.

[1] वाहाद् वर्षशतेनैकतिलोद्धरक्षयायुषः।
अर्बुदा विंशतिगुण प्रतिवृद्धयायुषः परे॥

सुत्तनिपात, पृ. १२६, संयुत्त, १. १५२, अंगुत्तर, ५. १७३, सेय्यथापि भिक्खु वीसतिखारिको कोसलको तिलवाहो। ततो पुरिसो वस्ससतस्स न वस्ससतस्स अच्चयेन.....। सुत्तनिपात, ६७७ में है कि 'पंडितों' ने पदुम नरक के लिये तिलवाह की गणना की है और यह संख्या ५१२ ००००००००० है (फौजबोल)।

[2] लोचव के अनुसार; परमार्थ और शुआन-चाङ में पालि के तुल्य 'विंशतिखारिक' है।

तिब्बती र्द्जन् = व.ह; खल् = खारि; वाह के प्रमाण पर, बारनेट, ऐंटीक्विटीज, २०८, गणितसारसंग्रह (मद्रास १९१२), ५—दूसरी ओर तिलवाह = तिलशकट (रीज-डेविडस)

[3] चोटीतक भरा = चूड़िकाबद्ध (० अवबद्ध, महाव्युत्पत्ति, २४४, ९२)

त्रयो मुहूर्ताहोरात्रमासा द्वादशमासकः।
संवत्सरः सोनरात्रः कल्पो बहुविधः स्मृतः ॥८९॥
संवर्तकल्पो नरकासंभवाद् भाजनक्षयः।
विवर्तकल्पः प्राग्वायो र्यावन्नारकसम्भवः ॥९०॥
अन्तःकल्पोऽमिताद्यावद्दशवर्शायुषस्ततः।
उत्कर्षा अपकर्षाश्च कल्पा अष्टादशापरे॥९१॥
उत्कर्ष एकस्तेऽशीति सहस्राद् यावदायुषः।
इतिलोको विवृत्तोऽयं कल्पांस्तिष्ठति विंशतिम्॥९२॥
विवर्ततेऽथ संवर्त आस्ते संवर्तते समम्।
तेऽह्यशीतिर्महाकल्पस्तदसंख्यत्रयोद्भवम्॥९३॥
बुद्धत्वमपकर्षे तु शताद् यावत्तदुद्भवः।
द्वयोः प्रत्येकबुद्धानां खड्गः कल्पशतान्वयः॥९४॥

८५ ए. कुरुओं को वर्जित कर अन्तरामृत्यु होती है।[1]

उत्तर कुरु के मनुष्यों की आयु नियत है। वह १००० वर्ष अवश्य जीवित रहते हैं। उनका आयुः प्रमाण पूरा होता है।[2] अन्यत्र सब जगह अन्तरामृत्यु होती है।—कुछ पुद्गल अन्तरामृत्यु से नित्य सुरक्षित होते हैं यथा वह बोधिसत्व जो तुषित लोक में हैं और एकजातिबद्ध हैं, चरमभविक [जिस अर्हत्व के लाभ के पूर्व बीच में कालक्रिया [१७७] न होगी][3], जिसके सम्बन्ध में भगवत् ने व्याकरण किया है, जिन दूत,[4] श्रद्धानुसारी और धर्मानुसारी (६.२९ ए-बी) [जो श्रद्धादियुक्त और दृष्टिप्राप्त हुए बिना कालक्रिया नहीं करेंगे], वह स्त्री जिसके गर्भ में बोधिसत्व या चक्रवर्ती है, इत्यादि।[5]

हमने स्थान और शरीर के प्रमाण का निर्देश योजनों में और आयु के प्रमाण का निर्देश वर्षों में किया है किन्तु हमने योजन और वर्ष का निर्देश नहीं किया है। इनका निर्देश केवल नाम से हो सकता है। अतः नामादि का पर्यन्त बताना चाहिए।

८५ बी-सी. परमाणु अक्षर और क्षण यथाक्रम रूप नाम और अध्व के पर्यन्त है।[6]

---

[1] कुरुवर्ज्योऽन्तरामृत्युः
अन्तरामृत्यु = अन्तरेण कालक्रिया = अकालमरण—२. ४५ अनुवाद. पृ. २१८ देखिये—वसुमित्र का ग्रन्थ निकायों पर।

[2] उत्तरकुरु के मनुष्यों की अकालमृत्यु नहीं होती क्योंकि वह नहीं कहते कि "यह आत्मीय है" (लोकप्रज्ञाप्ति)।

[3] दिव्य, १७४, १: अस्थानमनवकाशो यच्चरमभविकः सत्वोऽसंप्राप्ते विशेषाधिगमे सोऽन्तरा कालं कुर्यात्।

[4] जिनोद्दिष्ट, जिनदूत, २. अनुवाद . पृ. २२० तथा टिप्पणी देखिये।

[5] निरोध-असंज्ञि, समापत्ति और मैत्री आदि समापत्ति में समापन्न की तब तक कालक्रिया नहीं होती जबतक कि वह समाधि से व्युत्थान नहीं करते।

[6] परमाण्वक्षरक्षणाः। रूपनामाध्वपर्यन्ताः
परमाणु 'अणु' से भिन्न है; २. २२ देखिये।—'नामन्' पर २.४७—काल, अध्वन् पर ४. २७ ए,

परमाणु रूप का पर्यन्त है। इसी प्रकार अन्तर नाम का पर्यन्त है यथा गो। क्षण[५] अध्वन् का पयन्त है।

क्षण का प्रमाण क्या है?—प्रत्ययों के विद्यमान होने पर जो काल एक धर्म की उत्पत्ति में लगता है वह क्षण है; अथवा गतिमान् धर्म को एक परमाणु से दूसरे परमाणु को जाने में जो काल लगता है वह क्षण है।[६]

[१७८] वैभाषिकों के अनुसार एक बलवान् पुरुष की अच्छटा (उगलियों की चटखार) में ६५ क्षण व्यतीत होते हैं।[१]

८५ डी-८८ ए. परमाणु, अणु, लोहरजस्, अब्रजस्, शशरजस्, अविरजस्, गोरजस्, छिद्ररजस्, लिक्षा, लिक्षा का उद्भव, यव और अंगुलिपर्व—इनमें से प्रत्येक पूर्व का सप्तगुना है। २४ अंगुलि का एक हस्त, चार हस्त का एक धनुष्, ५०० धनुष् का एक

योगसूत्र, ३. ५२ पर भोजराज: क्षण काल का सबसे छोटा विभाग है। इसका और विभाग नहीं हो सकता।—षड्दर्शन, पृ. २८.

[६] यह दो लक्षण सौत्रान्तिकों के हैं। २. ४६ ए, अनुवाद, पृ०. २३२ में वैभाषिकों के लक्षण का उल्लेख है: कार्यपरिसमाप्तिलक्षण एष नः क्षणः—अत्थसालिनी, पृ. ६० (नीचे) में उल्लेख है कि एक रूप के स्थितिकाल में १६ चित्त उत्पन्न और निरुद्ध होते हैं।
दूसरा लक्षण जैनों के 'समय' (यह उनका 'क्षण' है) का स्मरण दिलाता है (तत्वाधिग, ४. १५ (एस० सी० विद्याभूषण' जे ए एस १९१०, १. १६१) जैकोबी का अनुवाद जे अलमाँद औरिएंट जर्मन सोसायटी भाग ४०, १९०६): परमसूक्ष्म क्रियस्य सर्वजघन्यगतिपरिणतस्य परमाणोः स्वावगाहनक्षेत्रव्यतिक्रम कालः समय इति।— याकोबी के अनुसार: "समय वह काल है जिसे परमाणु, जिसकी क्रिया अत्यन्त सूक्ष्म है और जिसकी गति सर्वजघन्य है, स्वावगाहन में व्यतिक्रान्त करता है।" एक आवलिका के लिए 'असंख्येय' समय चाहिये; एक प्राण के लिये 'संख्येय' (७प्राण = १ स्तोक, ७ स्तोक = १ लव, ३८$\frac{1}{2}$ लव = नालिका (= घटी) २ नालिका = १ मुहूर्त) गणितसार संग्रह, १. ३२ से तुलना कीजिये (महावीराचार्य का गणित का ग्रन्थ। एस० रंगाचार्य, मद्रास १९१२ ने इसका अनुवाद और प्रकाशन किया है।)

अणुरण्वन्तरं काले व्यतिक्रामति यावति।
स कालः समयोऽसंख्यैः समयैरावलिर्भवेत्॥

जितने काल में एक (गतिमान्) अणु दूसरे अणु का व्यतिक्रम करता है (उसका समनन्तर होता है) वह 'समय' है; असंख्य समयों की एक 'आवलि' होती है।

मध्यकवृत्ति, ५४७ में उद्धृत: बलवत्पुरुषाच्छटामात्रेण पञ्चषष्टिः क्षणा अतिक्रमन्तीति पाठात्—महाव्युत्पत्ति, २५३, १०, अच्छटासंघातमात्र; दिव्य, १४२; पालि, अच्छरा। विभाषा, १३६, में क्षण पर पाँच मत हैं। (पहले चार मतों में क्षण का प्रमाण अधिकाधिक न्यून होता जाता है: वसुबन्धु यहाँ दूसरे का उल्लेख करते हैं (सेकी की टिप्पणी)। पाँचवाँ मत सुष्ठु है (किन्तु सेकी में इसका उल्लेख नहीं है)। पहले चार में केवल क्षण का प्रमाण औदारिक रूप से है। भगवत् ने क्षण का यथार्थ प्रमाण नहीं कहा है......क्योंकि कोई सत्व उसे नहीं जान सकता।)—संयुक्त हृदय (?), २०, ३. रोचक है।

कोश—इतने अन्तर पर अरण्य होना चाहिए—८ कोश का एक योजन होता है।[२]

[१७९] अतः ७ परमाणु = १ अणु, ७ अणु = १ लोहरजस्

अविरजस् = एड़करजस्

छिद्ररजस् = वातायनच्छिद्ररजस्

"लिक्षा से जिसका उद्भव होता है" वह यूक है।

आचार्य यह नहीं कहते कि तीन अंगुलिपर्वों की एक अंगुलि होती है क्योंकि यह सुविज्ञात है।[१]

अरण्य को ग्राम से १ क्रोश पर होना चाहिये।[२]

८८ बी-८९ सी. २० शत क्षण का एक तत्क्षण होता है; ६० तत्क्षणों का एक लव होता है, मुहूर्त, अहोरात्र और मास, पूर्व पूर्व के तीस गुना होते हैं; संवत्सर ऊनरात्रों के साथ १२ मास का होता है।[३]

---

२ परमाणुरणुस्तथा॥

लोहाप्छशाविगोछिद्ररजोलिक्षातदुद्भवः।

यवस्तथांगुलीपर्व ज्ञेयं सप्तगुणोत्तरम्॥

चतुर्विंशतिरंगुल्यो हस्तो हस्तचतुष्टयम्।

धनुः पञ्च शतान्येषां क्रोशोऽरण्यश्च......॥

तेष्टौ योजनमित्याहुः

"हस्तलिखित पोथी"— रण्यश्च तत् सतम्—

यह महाव्युत्पत्ति, २५१ की सूची (वातायनच्छिद्ररजस् और यूक = लिक्षोद्भव के साथ) हैं। धनुस् = दण्ड; हस्त = अभिधर्म वचन काल का पुरुषहस्त लेना चाहिये जिससे चतुर्द्वीप निवासियों के परिमाण का व्यवस्थान होता है।

शार्दूलकर्ण की सूची (दिव्य, ६४५ जहाँ पाठ भिन्न है) कुछ विवरणों में भिन्न है। ललित, १४९ में अणु और वातायनरजस् के बीच त्रुटि है; यूक के स्थान में सर्षप है।—अन्य बौद्धग्रन्थ, लोकप्रज्ञाप्ति, पत्रा १२ ए (कास्मालोजी, पृ०, २६२); वाटर्स, १. १४१ (विभाषा, १३६); सद्धर्मस्मृति, लेवी, रामायण १५३, कल्पद्रुम (कलकत्ता. १९०८), १.—गणित-सारसंग्रह, ३; वराहमिहिर (अलबरूनी, १. १६२ में); फ्लीट, जे आर ए एस १९१२, २२९, १९१३, १५३, हार्पाकिन्स, जे ए ओ एस ३३, १५०; बार्नेट ऐंटीक्विटीज

पालि अर्थ कथाओं में लिक्खा = ३६ रत्तरेणु, $\frac{1}{7}$ ऊका।

१ सि-यु-कि २. मे यह त्यक्त है।

२ आइटल (पृ.९८) कहते हैं कि श्मशान के योगी को ग्राम में एक कोस के भीतर न आना चाहिये।

३ विंशत्क्षणशतं पुनः।

तत्क्षणस्ते पुनः षष्टिर्लवस्त्रिंशद्गुणोत्तराः॥

त्रयो मुहूर्ताहोरात्रमासा द्वादशमासकः।

संवत्सरः सोनरात्रः

लोकप्रज्ञाप्ति, पत्रा ५५ बी. कास्मालोजी, ३०९ के अनुसार सि-यु-कि २. में (वाटर्स १. १४३, बील १. ७१ जूलिएँ १.६१; डिक्शनरी न्यूमेरिक में रेलीजंस एमिनेंट्स, १५२ में उद्धृत 'वक्षण' के स्थान में 'तत्क्षण' होना चाहिये) यह विचार उल्लिखित हैं। महाव्युत्पत्ति, २५३ के प्रभाव का मतभेद।

दिव्य, ६४३–६४४ में क्षण और तत्क्षण का क्रम-विपर्यय है।

क्षण पर ऊपर पृ० १७७,

[१८०] मुहूर्त में तीस लव होते हैं। तीस मुहूर्त का एक अहोरात्र होता है। रात्रि दिन से कभी बड़ी, कभी छोटी, कभी समान होती है।

हेमन्त, ग्रीष्म, वर्षा के चार चार महीने होते हैं[1] : इस प्रकार १२ मास होते हैं जिनका (ऊनरात्रों के साथ) एक संवत्सर होता है। ऊनरात्र वह ६ दिन हैं जिनका [चान्द्रमास की गणना के लिये) संवत्सर में निपात होता है। इस पर एक श्लोक है : "हेमन्त, ग्रीष्म और वर्षा की ऋतु के जब १।। मास व्यतीत होते हैं तब शेष अर्धमास में से विद्वान् एक ऊनरात्र का निपात करते हैं।[2]

हमने संवत्सर का निर्देश किया है। अब कल्प का व्याख्यान करना है।

[१८१] ८९ डी-९३ सी. कल्प बहुत प्रकार का है : ए. संवर्तकल्प : जिस समय नारकों की उत्पत्ति बन्द हो जाती है भाजन का क्षय होता है; बी. विवर्तकल्प : प्राग्वायु से लेकर उस क्षण तक जब नारकों की उत्पत्ति होती है; सी : अन्तःकल्पः पहले वह कल्प जिसमें आयु अमित से क्षीण होकर १० वर्ष की होती है, अन्य १८ उत्कर्ष और अपकर्ष के कल्प, एक उत्कर्ष का कल्प जिसमें

दिव्य में तत्क्षण का यह लक्षण दिया है : तद्यथा स्त्रिया नाति दीर्घं नातिह्रस्वकर्तिन्याः सूत्रोद्याम एवंदीर्घस्तत्क्षणः; किओकुग प्रज्ञाप्ति को उद्धृत करते हैं: "जब मध्य आयु की एक स्त्री सूत कातती है तो जितने समय में एक, न बड़ा, न छोटा, धागा निकलता है वह तत्क्षण का प्रमाण है। (लुइ वान हेइ की टिप्पणी के अनुसार)

[1] प्रवचन में तीन ऋतु हैं, ६ नहीं हैं जैसा लोक में प्रसिद्ध है। शिशिर शीत है। इसलिये उसे हेमन्त कहते हैं। वसन्त उष्ण है। इसलिये उसे ग्रीष्म कहते हैं। शरद् में भी वृष्टि होती है। इसलिये उसे वर्षा कहते हैं" (व्याख्या)।—(काठियावाड़ में तीन ऋतु हैं, अलबरूनी १. ३५७)—सब बौद्धों के लिये हेमन्त पहली ऋतु है (व्याख्या) (बुर्नफ इंट्रोडक्सन ५६९)—बौद्ध ऋतुओं के लिये इत्सिंग तकाकुसु १०१, २१९, २२०, सि-यु-कि अध्याय २, वाटर्स, १ १४४—थीबो आस्ट्रानोमी ......पृ०. ११.

[2] इस श्लोक के अंश व्याख्या में मिले हैं:

हेमन्तग्रीष्मवर्षाणामध्यर्धमासि निर्गते।
शेषेऽर्धमासि विद्वद्भिरूनरात्रो निपात्यते ।। ए

'विद्वान्' बौद्ध हैं जो प्रत्येक ऋतु के चौथे और आठवें पक्ष में एकदिन का त्याग करते हैं। इसे ऊनरात्र या क्षपाह कहते हैं। (थीबो, आस्ट्रानोमी १८९९, २६. बार्नेट, ऐंटीक्विटिज १९५)। इस प्रकार भिक्षु चातुर्दशिक पोषध करते हैं; पूर्णिमा अमावास्या को नहीं: चातुर्दशिकोऽत्र भिक्षुभिः पोषधः क्रियते।

लौकिक गणना से एक मास ३० अहोरात्र का होता है। चान्द्रमास २९ अहोरात्र, १२ घंटा, ४४ मिनट का होता है। पोषध चान्द्रगणना के अनुसार हाता है। अतः प्रति दो मास में एक ऊनरात्र का निपात होता है। अतः ८ पक्ष की प्रत्येक चान्द्र ऋतु में १५+१५+१५ १५+१५+१५+१५+१४ दिन होंगे।

चान्द्र संवत्सर में ६ अहोरात्र अधिक होने से लौकिक संवत्सर होता है। प्रति दो वर्ष और सात महीने में एक अधिमास अधिक होता है जिसमें सूर्य (३६६ दिन) के बराबर हो जावें (अलबरूनी, २ २१).

मातंग सूत्र देखना चाहिये, नंजिओ ६५४, दिव्य, ६५७ में इसका विवरण है, शार्दूलकर्ण का भाग (मासपरीक्षा) जो कावेल-नील ने छोड़ दिया है।

ए. निपात्यते = त्यज्यते

आयु की वृद्धि ८०,००० वर्ष तक होती है।—एक बार विवृत्त होने पर यह लोक २० अन्तःकल्प तक अवस्थान करता है। विवर्त, संवृत्त की स्थिति और संवर्त का समप्रमाण है। ८० अन्तःकल्पों का एक महाकल्प होता है।[1]

८९ डी. कल्प बहुविध हैं।[2]

अन्तरकल्प, संवर्त कल्प[3], निवर्तकल्प, महाकल्प।

(१८२) ९० ए-बी. संवर्तकल्प, नारक की अनुत्पत्ति से भाजन के विनाश तक।

नरक में जब सत्वों की उपपत्ति बन्द हो जाती है उस काल से लेकर भाजन लोक के विनाश तक का काल संवर्तकल्प कहलाता है।

'संवर्त' दो प्रकार का है : गति संवर्तनी, धातु संवर्तनी। इसके पुनः दो प्रकार हैं : सत्त्व-संवर्तनी, भाजनसंवर्तनी।

१. जिस काल में नरकोत्पत्ति नहीं होती—किन्तु नारकसत्त्वों की मृत्यु होती रहती है—उस काल में २० अन्तरकल्प जिसमें यह लोक विवृत्त रहता है निष्ठित होते हैं और संवर्तकल्प का आरम्भ होता है (प्रतिपन्न, आरब्ध)।

---

[1]
कल्पो बहुविधः स्मृतः॥
संवर्तकल्पो नरकासंभवाद् भाजनक्षयः।
विवर्तकल्पः प्राग्वायोर्यावन् नारकसम्भवः॥
अन्तःकल्पोऽमिताद् यावद् दशवर्षायुषस्ततः।
उत्कर्षा अपकर्षाश्च कल्पा अष्टादशापरे॥
उत्कर्ष एकस्तेऽशीति सहस्राद् यावदायुषः।
इति लोको विवृत्तोऽयम् कल्पांस्तिष्ठति विंशतिम्॥
विवर्तते च संवृत्त आस्ते संवर्तते समम्।
तेह्यशीतिर्महाकल्पः

अन्तरकल्प, अन्तःकल्प का सामान्यतः अनुवाद 'इंटरमीडियरी कल्प' कहते हैं किन्तु रेमूसा का कहना है कि इससे अर्थ नहीं स्पष्ट होता (मेलांग १०३, टिप्पणी)—अन्तरकल्प या अन्तःकल्प कदाचित् वह कल्प हैं जो महाकल्प के भीतर होते हैं। रेमूसा का अनुवाद 'क्षुद्र कल्प' यद्यपि अक्षरार्थ नहीं है तथापि कम से कम सुविधाजनक है।

[2] फ्लीट ने जे आर ए एस १९११, ४७९ में कल्प और युगों का अच्छा विचार किया है। फ्लीट अशोक के वाक्यों को उद्धृत करते हैं : आव कपं, आव संवटकपा—बुद्धघोस के अनुसार मक्खलि ६४ वें स्थान में ६२ अन्तरकप्प मानते हैं, सुमंगल, १. १६२ (दीघ, १. ५४)—जैनों के कल्प, यथा एस बी ई २२.
संवर्त आदि चार कल्प जो ९०-९३ में वर्णित हैं (महा) 'कप्प' के चार 'असंखेय्य' हैं, अंगुत्तर २.१४२.

[3] हम संवर्त, संवर्तिनी का अनुवाद 'डिसएप्पीयरेंस' करेंगे। जब हम भाजनसंवर्तनी का उल्लेख करते हैं तब इस शब्द का यही अर्थ होता है। यदा भाजनानि संवर्तन्ते विनश्यन्तीत्यर्थः "जब भाजनों का संवर्तन होता है अर्थात् जब वह विनष्ट होते हैं।"—किन्तु गति संवर्तनी आदि पदों में संवर्त का अर्थ "एकस्थ होना" है। जब नारक, तिर्यक् आदि देवगति के एक देश में एकस्थ होते हैं (संवर्तन्ते, एकस्थी भवन्ति) तब गति संवर्तनी होती है। सत्त्व संवर्तनी तब होती है जब सत्व किसी ध्यान लोक में (रूपधातु में) एकस्थ होते हैं।

जब नरक में एक भी सत्व अवशिष्ट नहीं होता तब नारकसंवर्तनी की परिसमाप्ति होती है। इतनी मात्रा में यह लोक संवृत्त होता है।[1] यदि इस धातु के किसी सत्व के नियत नरक-वेदनीय कर्म हैं तो इन कर्मों के आधिपत्य से वह अन्य लोकधातु के नरक में प्रक्षिप्त होता है जो अभी संवृत्त नहीं हो रहा है। (स लोकधात्वन्तरनरकेषु क्षिप्यते)[2]

२. इसी प्रकार तिर्यक् संवर्तनी और प्रेतसंवर्तनी की योजना होनी चाहिये। जो तिर्यक् महोदधि में निवास करते हैं वह पहले विनष्ट होते हैं। जो मनुष्य सहचरिष्णु हैं वह मनुष्यों के साथ नष्ट होते हैं।[3]

[१८३] ३. जंम्बुद्वीप के मनुष्यों में वशिता के विना एक पुद्गल धर्मताप्रतिसन्धिक[4] प्रथम ध्यान में समापन्न होता है। इस ध्यान से व्युत्थान कर वह प्रीतिवचन कहता है : "वैराग्य से उत्पन्न प्रीति-सुख आनन्ददायक है ! वैराग्य से उत्पन्न प्रीति-सुख शान्त है !" इन शब्दों को सुनकर अन्य पुद्गल भी ध्यान समापन्न होते हैं और अपनी मृत्यु पर ब्रह्मलोक में प्रवेश करते हैं।—जब इस निरन्तर क्रम से जम्बुद्वीप में एक भी सत्व अवशिष्ट नहीं होता तब जम्बुद्वीप के मनुष्यों का संवर्तन समाप्त होता है।

इसी प्रकार पूर्व-विदेह और अवरगोदानीय के निवासियों की संवर्तनी की योजना होनी चाहिये। उत्तरकुरु के निवासी कामवैराग्य में समर्थ नहीं हैं और इसलिए ध्यान-समापन्न नहीं हो सकते। वह भी पुनरुपपन्न होते हैं किन्तु ब्रह्मा के लोक में नहीं, कामावचर देवों में।

जब वहाँ एक भी सत्व अवशिष्ट नहीं होता तब मनुष्य-संवर्तनी की परिसमाप्ति होती है और उतनी मात्रा में लोक संवृत्त होता है।

४. कामावचर देवों की भी ऐसी ही योजना है। तब चातुर्महाराजकायिकों से लेकर परनिर्मितवशवर्तिन् पर्यन्त देव ध्यान-समापन्न होते हैं और ब्रह्मा के लोक में पुनरुपपन्न होते हैं। इस प्रकार उत्तरोत्तर इनकी संवर्तनी होती है। जब एक भी कामावचर देव अवशिष्ट नहीं होता तब कामधातु की संवर्तनी परिसमाप्त होती है।

५. तब धर्मतावश ब्रह्मा के लोक का एक देव द्वितीय ध्यान में समापन्न होता है। इस ध्यान से व्युत्थान कर उसका यह उद्‌गार होता है : "समाधिज प्रीति-सुख आनन्ददायक है।

---

[1] इयतायं लोकः संवृत्तो भवति नारकसंवर्तनिया।

[2] एकोत्तर, ३४, ५; बील, कैटीना, ११३– स्प० हार्डी, मैनुएल, ४७२ कहते हैं कि कल्पान्त में पंच आनन्तर्यकारी (४. ९६) नरक से निष्क्रान्त होते हैं किन्तु विचि-कित्सक (दीघ, १. ५५, संयुत्त, ३. २०७ का पुद्‌गल) अन्य लोकधातु के नरक में पतित होता है (४. ९९ सी. देखिये)।

[3] जिसका नियत तिर्यक् वेदनीय कर्म है वह अन्य लोकधातु में पुनरुपपन्न होगा।—शुआन-चाङ "जो तिर्यक् मनुष्य–देव सहचरिष्णु हैं उनकी संवर्तनी मनुष्य और देवों के साथ होती है।" दिव्यलोक के तिर्यक, कथावत्थु, २०, ४
मनुष्य सहचरिष्णव इति मनुष्यसहचरणशीला गोमहिषादयः।

[4] वह धर्मता प्रतिलम्भिक प्रथम ध्यान का लाभ करता है—धर्मता का अर्थ इस प्रकार है: कुशल धर्मों का उस समय का परिणाम विशेष (कुशलानां धर्माणां तदानीं परिणाम विशेषः) ८. ३८ में इस वस्तु का विचार किया गया है।

समाधिज प्रीति-सुख शान्त हैं !" इन शब्दों को सुनकर ब्रह्मलोक के अन्य देव द्वितीय ध्यान में प्रवेश करते हैं और मृत होने पर आभास्वरों के [१८४] लोक में पुनरुपपन्न होते हैं—जब ब्रह्मा के लोक में एक भी सत्त्व अवशिष्ट नहीं होता तो सत्त्व-संवर्तनी निष्ठित होती है और उतनी मात्रा में लोक संवृत्त होता है।

६. तब भाजनलोक के आक्षेपक कर्म के परिक्षीण होने पर[1] लोकशून्यतावश सात सूर्यों[2] का (३.२०६ देखिये) उत्तरोत्तर प्रादुर्भाव होता है और चतुर्द्वीप से लेकर मेरुपर्यन्त इस लोक का सर्वथा दाह होता है। इस प्रकार इस लोक को दग्ध कर वायु से प्रेरित अर्चिब्राह्मविमान को जलाती जाती है।[3]—यह समझ लेना चाहिये कि जो अर्चि इन विमानों को दग्ध करती है वह रूपधातु की अर्चि है : कामधातु के विसभाग अपक्षाल रूपधातु में समर्थ नहीं होते। किन्तु ऐसा कहते हैं कि अर्चि इस लोक से जाकर ब्रह्मा के लोक को दग्ध करती है क्योंकि उस कामावचर अर्चि से संबद्ध रूपावचर अर्चि संभूत होती है।

इसी प्रकार अप् संवर्तनी और वायु संवर्तनी को जो तेजः संवर्तनी के सदृश है किन्तु उससे अधिक ऊँचे फैले हैं यथासम्भव जानना चाहिये।[4]

[१८५] जब नरकोत्पत्ति बन्द हो जाती है उस समय से लेकर भाजन के विनाश तक का काल संवर्त-कल्प कहलाता है।

---

[1] तदाक्षेपके कर्मणि परिक्षीणे

[2] मध्यम, २, ९; एकोत्तर, ३४, ५; महापरिनिर्वाण (नंजिओ ,११३) २२, ३३ युगन्धर पर्वत से एक ही समय में सात सूर्य उदय होते हैं; विभाषा, १३३, ७: चार मत हैं: १. सूर्य युगन्धर (?) के पीछे हैं; २. एक सूर्य सात में विभक्त होता है; ३. एक सूर्य की सप्तगुण शक्ति होती है; ४. सात सूर्य जो पहले भूमि के तले छिपे थे पीछे सत्त्वों के कर्मवश प्रकट होते हैं।
सप्तसूर्यव्याकरण (ऊपर पृ० २०) का उल्लेख लोकप्रज्ञाप्ति,एम्दो ६२, पत्र ६६ (कास्मालोजी, ३१४) में है; शिक्षासमुच्चय, २४७ में पितापुत्र समागम (=रत्नकूट, १६); ११६९, ३१, २–पालि, मिनिएव की ग्रन्थसूची; वसिल्की ९ ३२३ अंगुत्तर ४. ३०० विसुद्धि (४१६) (वारेन ३२१) में सत्तसुरियुग्गमन। अलबरूनी, १. ३२६; हेस्टिंग्स एजेज ऑव द वर्ल्ड; हापकिन्स, एपिक माइथालोजी १९१५, ८४. ९९. ग्रेट एपिक ७४७५ डिक्शनरी ऑव सेंट पीटर्सबर्ग 'संवर्त' शब्द देखिये।
इस वाद का प्रभव मेसोपोटेमिया में है (?), कारपेंटर, स्टडीज इन द हिस्ट्री ऑव रेलिजन ७९.

[3] तस्मादेव च (प्रज्वलिताद् वायुना आवृतम्) ब्राह्मं विमानं निर्दहदर्चिः परैति। तच्च तद्भूमिकमेवार्चिः। न हि विसभागा अपक्षालाः क्रमन्ते। तत्सम्बद्धसम्भूतत्वाद् (तस्मादेवेत्युक्तम्)। ऊपर पृ० २० देखिये।

[4] नीचे १०० सी.—शून्य भाजन में सहज अब्धातु उत्पन्न होता है जो भाजनलोक को लवण के समान विलुप्त करता है। यह कामावचर अब्धातु प्रथमध्यानभूमिक अब्धातु को बांधता है(संबध्नाति)। वह द्वितीयध्यान भूमिक को बाँधता है। यह अब्धातु त्रिभूमिक (कामधातु और दो ध्यान) होते हुये भी अपने अपने भाजन के साथ अन्तर्हित होता है।
वायु संवर्तनी: वायु प्रथम तीन ध्यान के भाजनों को पांशुराशि की तरह विकीर्ण करती है (विकिरति, विध्वंसयति)।
शेष पर पृ. १८७. टिप्पणी. ४ देखिये।

९० सी-डी. प्राग्वायु से लेकर नरकोत्पत्ति तक का काल विवर्तकल्प है।

प्राग्वायु से लेकर नरकोत्पत्ति तक का काल।

हमने देखा है कि किस प्रकार लोकसंवर्तनी होती है। संवर्तनी के अनन्तर दीर्घ काल तक लोक विनष्ट रहता है, २० अन्तरकल्प तक विनष्ट रहता है। जहाँ पहले लोक था वहाँ अब केवल आकाश है।

१. जब आक्षेपक कर्मवश अनागत भाजनलोक के प्रथम निमित्त प्रादुर्भूत होते हैं, जब आकाश में मन्द मन्द वायु का स्पन्दन होता है उस समय से उस २० अन्तरकल्प की परिसमाप्ति कहना चाहिये जिसमें लोक संवृत्त था (संवृत्तोऽस्थात्) और उस २० अन्तरकल्प का आरम्भ कहना चाहिये जिस काल में लोक की विवर्तमान अवस्था होती है।[1]

वायु की वृद्धि होती जाती है और अन्त में उसका वायु मण्डल बन जाता है। पश्चात् यथोक्त क्रम और विधान से सर्व भाजन की उत्पत्ति होती है : वायुमण्डल अब्मण्डल, कांचनमयी पृथिवी, सुमेरु आदि। सदा ब्राह्मविमान प्रथम उत्पन्न होता है और तदनन्तर सब विमान यावत् यामीय विमान संभूत होते हैं। इसके अनन्तर ही वायुमण्डल आदि होते हैं।[2]

अतः भाजन विवृत्त होता है और भाजन-विवर्तनी से इतनी मात्रा में लोक विवृत्त होता है।

२. तदनन्तर आभास्वर से च्युत एक सत्व शून्य ब्राह्मविमान में शून्य उपपन्न होता है। अन्य सत्त्व एक दूसरे के अनन्तर आभास्वर से च्युत हो ब्रह्मपुरोहित, [१८६] ब्रह्मकायिक, परनिर्मितवशवर्तिन् तथा अन्य कामावचर देवों के लोक में उत्पन्न होते हैं; उत्तरकुरु, गोदानीय, विदेह, जम्बुद्वीप में; प्रेत और तिर्यक् में; नरक में। स्थिति यह है कि जो सत्व पश्चात् संवृत्त होते हैं वह पूर्व विवृत्त होते हैं।

जब नरक में सत्त्व की उत्पत्ति होती है तब २० अन्तरकल्पों का विवर्त कल्पनिष्ठित होता है और विवृत्तावस्था का प्रारम्भ होता है।

[विवर्त कल्प का प्रथम अन्तरकल्प भाजन, ब्राह्मविमान आदि की निवृत्ति में अतिक्रान्त होता है]। इस कल्प के अवशिष्ट १९ अन्तरकल्पों में नरक सत्व के प्रादुर्भाव तक मनुष्यों की आयु अपरिमित होती है।

९१ ए-बी. एक अन्तरकल्प जिसमें अपरिमित से आयु का ह्रास होकर १० वर्ष की आयु हो जाती है।

विवर्तकल्प के अन्त में मनुष्यों की अपरिमित आयु होती है।

जब विवर्तन की परिसमाप्ति होती है तब उनकी आयु का ह्रास होने लगता है यहाँ तक कि १० वर्ष से अधिक आयु का सत्व नहीं होता (३. ९८ सी-डी)। जिस काल में यह ह्रास होता है वह विवृत्तावस्था का पहला अन्तरकल्प है।[1]

९१ बी-डी. पश्चात् १८ कल्प उत्कर्ष और अपकर्ष के होते हैं।

---

[1] ३. ४५ पर किओकुग विभाषा, १३३. १२ का उल्लेख करते हैं।

[2] नीचे दिये नियम के अनुसार: यत् पश्चात् संवर्तते तत पूर्व विवर्तते।

[1] सोऽसौ विवृत्तानां तिष्ठतां प्रथमोऽन्तरकल्पः।

१० वर्ष की आयु से वृद्धि होते होते ८०,००० वर्ष की आयु होती है। पश्चात् आयु का ह्रास होता है और वह घट कर १० वर्ष की हो जाती है। जिस काल में यह उत्कर्ष और अपकर्ष होता है वह दूसरा अन्तरकल्प है ।

इस कल्प के अनन्तर १७ ऐसे अन्य कल्प होते हैं।

९२ सी. एक उत्कर्ष का।

२० वाँ अन्तरकल्प केवल उत्कर्ष का है, अपकर्ष का नहीं; मनुष्यों की [१८७] आयु की वृद्धि १० वर्ष से ८०,००० वर्ष तक होती है।

यह उत्कर्ष बढ़ते बढ़ते कहाँ तक जाते हैं?

९२ ए-बी. यह ८०,००० वर्ष की आयु तक जाते हैं।[1]

इससे आगे नहीं। १८ कल्पों के उत्कर्ष और अपकर्ष के लिए जो काल चाहिये वह प्रथम कल्प के अपकर्ष-काल और अन्त्य कल्प के उत्कर्ष काल के बराबर है।[2]

९२ सी-डी. इस प्रकार लोक २० कल्प तक विवृत्त रहता है।

इस प्रकार गणना कर २० कल्प तक लोक विवृत्त रहता है। इस स्थितिकाल का जो प्रमाण होता है,

९३ ए-बी. उतने ही कालतक लोकका विवर्त-संवर्त होता है और लोक संवृत्तावस्था में रहता है।

विवर्त, संवर्त, संवृत्तावस्था के बीस बीस कल्प होते हैं। इन तीन कालों में आयुः प्रमाण के उत्कर्ष-अपकर्ष की अवस्था नहीं होती किन्तु इसका प्रमाण वही होता है जो उस काल का होता है जिसमें लोक विवृत्तावस्था में रहता है।

भाजनलोक की विवृत्ति एक अन्तरकल्प में होती है। यह १९ में व्याप्त होता है, यह १९ में शून्य होता है। यह एक अन्तरकल्प में विनष्ट होता है।

२० अन्तर कल्पों का चतुर्गुण ८० होता है :

९३ सी. इन ८० अन्तरकल्पों का एक महाकल्प होता है।[3]

कल्प क्या है?—कल्प पंच स्कन्ध-स्वभाव है।[4]

---

[1] दूसरे ग्रन्थों के अनुसार ८४०००

[2] महायान के अनुसार उत्कर्ष और अपकर्ष के २० कल्प हैं।

[3] ते ह्यशीतिर्महाकल्पः

[4] पञ्चस्कन्धस्वभावः कल्पः—१.७ में इसका निर्देश हुआ है कि स्कन्ध अध्व हैं। कल्प क्या है?—विभाषा, १३५, १४: कुछ कहते हैं कि यह रूपायतनादि स्वभाव है, अहोरात्रादि स्कन्धों के उत्पाद-व्यय हैं। क्योंकि कल्प अहोरात्राद्यात्मक है इसलिये इसका भी वही स्वभाव है। किन्तु कल्प त्रैधातुक अध्व है। इसलिये यह पंच या चतुःस्कन्धात्मक है।—हुइ हुएइ: "कामधातु (और रूपधातु) का सम्प्रधारण करने पर यह चतुःस्कन्धात्मक है। 'शून्य' कल्प ("जिस काल में लोक संवृत्त रहता है") द्विस्कन्धात्मक है (अर्थात जैसा विवृत्ति में कहा है, संस्कारस्कन्ध और रूपस्कन्ध (क्योंकि आकाश रूप है)) क्योंकि अहोरात्रादि का अस्तित्व स्कन्धों से व्यतिरिक्त नहीं है।"—कोश की एक टीका में यह कहा है कि महायान के अनुसार काल एक विप्रयुक्त संस्कार है। (१०० धर्मों की सूची का ९० वाँ संस्कृत, विज्ञप्तिमात्र, म्यूजिओं १९०६, १७८-१९४, आर. किमूरा, ओरिजिनल एंड डेवेलप्ड डाक्ट्रिन्स, १९२० पृ० ५५

[१८८] कहा जाता है कि बुद्धत्व की प्राप्ति ३ असंख्येय कल्प की चर्या से होती है। चार प्रकार के कल्पों में से कौन कल्प अभिप्रेत है?

९३ डी-९४ ए. बुद्धत्व का उद्भव इन (कल्पों) के असंख्य त्रय से[1], इन व्याख्यात महाकल्पों से, होता है।

[१८९] किन्तु यह आक्षेप होगा कि असंख्य (= असंख्येय) उसे कहते हैं जिसकी संख्या न हो सके। फिर तीन असंख्येय' की बात कैसे हो सकती है?

ऐसा न समझना चाहिये क्योंकि एक मुक्तक[1] सूत्र में यह कहा है कि संख्या के ६० स्थान हैं (ग्नस् ग्झन् = स्थानान्तर)।—यह ६० स्थान क्या हैं?[2]

---

[1] तदसंख्यत्रयोद्भवम्। बुद्धत्वम्
१ असंख्येय (१० का ५९ वाँ घन) महाकल्पों का काल असंख्येय कल्प कहलाता है।
[असंख्य = असंख्येय—संख्यानेनासंख्येया असंख्या इति]
शुआन-चाङ् "तीन असंख्येय कल्प की गणना के लिये चार प्रकार के उक्त कल्पों में से किसको गुणा करना चाहिये?—महाकल्पों को १०,१००,१००० और इसी प्रकार गुणा करते जाना चाहिये यावत् गुणा का फल 'तीन असंख्येयकल्प' हो।—जो 'असंख्येय कहलाता है वह तीन कैसे होता है?—'असंख्येय' शब्द का अर्थ यह नहीं है कि इसका संख्यान नहीं हो सकता। एक विमुक्तक सूत्र कहता है कि (असंख्येय' ६० संख्याओं में से एक है।—यह ६० संख्या क्या है?—यथा इस सूत्र में कहा है: "एक और दो नहीं......"। २ शाक्य मुनि की चर्या का प्रथम असंख्येय पूर्व शाक्यमुनि (महावस्तु १.१) के अधीन आरम्भ होता है और रत्नशिखिन् के अधीन समाप्त होता है।—इस असंख्येय में ७५००० बुद्धों का प्रादुर्भाव होता है (कोश, ४. ११०;
न्यूमरिकल डिक्शनरी इन रेलिजस एमिनेंट्स में ७५००० के स्थान में ५००० पाठ है।
द्वितीय असंख्येय की निष्ठा दीपंकर से होती है।—बुद्ध: ७६०००.
तृतीय असंख्येय की निष्ठा विपश्यिन् से होती है।—बुद्ध: ७७०००
इसके अनन्तर ९१ महाकल्प हैं (१०० के स्थान में: जैसा कोश, ४. ११२ ए में व्याख्यात है) सात 'ऐतिहासिक' बुद्धों में पहला विपश्यिन है (सप्तबुद्धस्तोत्र में इनका स्तवन है)। तदनन्तर शिखिन् विश्वभुज्, क्रकुत्सन्द, कोनाकमुनि, काश्यप और शाक्यमुनि हैं (हवाले, ६४ में)
३ पालि ग्रन्थों में (चरियापिटक, १. १, १,) बोधिसत्व की चर्या चार 'असंख्येय' और शत-सहस्र 'कप्प' की है। पीछे के ग्रन्थों में यथा सारसंग्रह में बोधिसत्व की चर्या ४, ८ या १६ असंख्येय और शतसहस्र 'कप्प' की है।

[1] मुक्तकसूत्र अर्थात एक सूत्र जो आगम के अन्तर्गत नहीं है: न चतुरागमान्तर्गतमित्यर्थः।—अन्यत्र मुक्तकसूत्र अप्रामाणिक सूत्र को कहते हैं।
परमार्थ का अनुवाद: = उच्छेप; शुआन-चाङ किअइ-थुओ = (वि) मुक्तक

[2] हमारी सूची महाव्युत्पत्ति, २४९ की है (जो वे.गीहारा के अनुसार कोश का उद्धरण है)—महाव्युत्पत्ति की पोथियों में १४ और १५ वें स्थान प्रसुत, महाप्रसुत हैं किन्तु चीनी संस्करणों में प्रयुत, महाप्रयुत हैं। तिब्बती में प्रकीर्ण या प्रसृत है। ३६ वें, ३७ वें स्थान समाप्तः, महासमाप्तः के लिये वे गीहारा समाप्तम् महासमाप्तम् प्रस्तावित करते हैं।
हमारी सूची में, जैसा वसुबन्धु ने नीचे पृ. १९० में कहा है, ५२ आख्या हैं: मध्य की आठ संख्या विस्मृत हो गई हैं: अष्टकं मध्याद् विस्मृतम्.....पृ. १९०, टि० १ देखिये।
महासंख्याओं पर अलफाबेटम टिबटनम; शींफनर, मेलाँ, अ.जिआतिक ६२९, रेमूसा, मेलांग पं.स्थूम, ६७; बील, कैटीना १२२;
अन्य ग्रन्थ और गणनाओं के लिये हेस्टिंग्स, एजेज ऑव द वर्ल्ड १८८ बी देखिये।

[१६०] एक, न कि दो, प्रथम स्थान है, एक का दस गुना दूसरा स्थान है, १० × १० (या १००) तीसरा स्थान है, १०० × १० (या हजार) चौथा स्थान है......, एवमादि, प्रत्येक आख्या पूर्व की दस गुनी है : प्रभेद (१००००), लक्ष (१०००००) अतिलक्ष, कोटि, मध्य, अयुत, महायुत, नयुत, महानयुत, प्रयुत, महाप्रयुत, कंकर, महाकंकर, बिम्बर, महाबिम्बर, अक्षोभ्य, महाक्षोभ्य, विवाह, महाविवाह, उत्संग, महोत्संग, वाहन, महावाहन, टिटिभ, महा-टिटिभ, हेतु, महाहेतु, करभ, महाकरभ, इन्द्र, महेन्द्र, समाप्त (या समाप्तम्), महासमाप्त (०समाप्तम्), गति, महागति, निम्बर-रजस्, महानिम्बराजस्, मुद्रा, महामुद्रा, बल, महाबल, संज्ञा, महासंज्ञा, विभूत, महाविभूत, बलाक्ष, महाबलाक्ष, असंख्य।

इस सूची के ८ स्थान नष्ट हो गये हैं।[1]

महाव्युत्पत्ति में चार प्रकार की गणनायें बतायी हैं, २४६-२४९१, यह बुद्धावतंसक, प्रज्ञापारमिताशास्त्र, स्कन्धव्यूह, ललित, अभिधर्म, से ली गई है; पश्चात लौकिक गणना (१ से १००) है। रेमूस ने बुद्धावतंसक का उल्लेख किया है। इसकी शिक्षा है कि "श्रेष्ठ पद्धति में संख्याओं को अपने से ही गुणा करते हैं" : असंख्य से आरम्भ कर इस प्रकार १० स्थान की गणना होती है: असंख्य, असंख्य^2, असंख्य^4...... (मैं समझता हूँ कि तिब्बती भाषान्तर (कंजुर, ३६, पत्रा ३६) के अनुसार कोटि (१००००००००) से इसी प्रकार उत्तरोत्तर वृद्धि करना चाहिये: कोटि, कोटि^{2} कोटि^{4}, एवं यावत अनभिलाप्य-अनभिलाप्य-परिवर्त निर्देश जो इस सूची का १२२ वाँ स्थान है)। "इन संख्याओं से निश्चय ही और अधिक अयुक्त क्या हो सकता है...? हम यह सोचनेके लिये विवश हैं कि बौद्ध कभी-कभी या तो अनन्तकाल और अनन्त देश के ध्यान में अपनी कल्पना को आश्रय देने के लिये इन बड़ी बड़ी संख्याओं का उपयोग करते हैं या इस परिकल्प को प्रायः औदारिक चित्त देने के लिये उपयोग करते हैं जो चित्त इस कल्पना में समर्थ नहीं है। (   )

ब्राह्मणों की भी बृहत संख्यायें हैं। ब्रह्मा, नारायण, रुद्र, ईश्वर, सदाशिव, शक्ति की आयु में उत्तरोत्तर वृद्धि होती है। शक्ति की आयु १०, ७८२, ४४९, ९७८, ७५८, ५२३, ७८१, १२० + २७ शून्य कल्प है। यह आयु शिव की आयु के एक दिन की एक त्रुटिमा है। शिव की आयु कल्पों में ३७, २६४, १४७, १२६, ५८९, ४५८, १८७, ५५०, ७२० + ३० शून्य है। इस पर अलाबेरूनी (१. ३६३) कहते हैं: "यदि यह स्वप्न देखने वाले गणित के अध्ययन में अधिक कृतश्रम होते तो वह ऐसी कल्पित संख्याओं का आविष्कार न करते। ईश्वर इसकी फिक्र रखता है कि वृक्ष स्वर्ग तक न बढ़ जावें।"

[1] अष्टकं मध्याद विस्मृतम्।—व्याख्या : अष्टौ स्थानानि क्वापि प्रदेशे प्रमुषितत्वान्न पठितानि। तेना द्वापंचाशत् स्थानानि भवन्ति। षष्ट्या च संख्यास्थानैर्भवितव्यम्। तान्यष्टकानि स्वयं कानिचिन् नामानि कृत्वा पठितव्यानि येन षष्टिः संख्यास्थानानि परिपूर्णानि भवेयुः।—विभाषा, १७०, ४० में यही वाद है।

यशोमित्र के अनुसार १, १०, १००, १०००......इस संख्या का ६० वाँ स्थान असंख्य है। ६० संख्या-स्थान की पूर्ति के लिये कोई नाम देकर आठ रिक्त स्थानों को भरना चाहिये। इन आठ संख्याओं का स्थान नियत नहीं है।

महाव्युत्पत्ति, २४९ के संस्कर्ता ने इस प्रकार नहीं समझा है। वह ५३-६० स्थान पर अप्रमाणम् अप्रमेयम......अनभिलाप्यम् देते हैं।

शरच्चन्द्रदास हमारी सूची को कोश, १-५२ से लिया बताते हैं: "इस संख्या तक संस्कृत शब्द पाये जाते हैं। ५३ से ६० तक संस्कृत नाम नहीं हैं; विनष्ट मूल शब्दों के स्थान में तिब्बती में नये नाम दिये गये हैं।' इन नये नामों का (जिसका अनुवाद मंत्र, महामंत्र, कारण, महाकारण,......है) महाव्युत्पत्ति के ५३-६० से कोई सम्बन्ध नहीं है।

महाकल्प को ६० वें स्थान तक यदि उत्तरोत्तर गुणा करते जावें तो १ असंख्येय होता है।[२] [१९१] यदि इसको दुहरावें तो दूसरा असंख्येय होता है, तीसरा असंख्येय होता है। असंख्येय नाम इस पर नहीं है कि इसका संख्याओं में संख्यान नहीं हो सकता।

किन्तु इसका क्या कारण है कि जब बोधिसत्व एक बार सम्यक् संबोधि के प्रतिलाभ के लिये प्रणिधान करते हैं तो भी उसकी प्राप्ति में इतना समय लगाते हैं?—क्योंकि सम्यक् संबोधि का लाभ अत्यन्त दुष्कर है, ज्ञान और पुण्य के महासंभार की आवश्यकता है, तीन असंख्येय कल्पों में असंख्य वीर कर्म करने होते हैं।—यदि यह बोधि मोक्ष-लाभ का एकमात्र उपाय होती तो हम समझ सकते कि बोधिसत्व क्यों इस दुष्प्राप्य बोधि का अन्वेषण करते हैं। किन्तु ऐसा नहीं है। अतः इस अप्रमेय श्रम के उठाने की क्या आवश्यकता है?—परार्थ के लिये, क्योंकि वह दूसरों का दुःखसागर से उद्धार करने का अपने में सामर्थ्य चाहते हैं। —किन्तु परार्थ में वह क्या अपना स्वार्थ देखते हैं?—परार्थ उनका स्वार्थ है क्योंकि वह उनको अभिमत है।—इसमें कौन विश्वास करेगा?—सत्य यह है कि जो पुद्गल करुणा से शून्य हैं और जो केवल अपना ही विचार करते हैं उनके लिए बोधिसत्वों की परार्थ चिन्ता में विश्वास करना दुष्कर है किन्तु करुणाशील पुद्गल सुगमता से इसमें विश्वास करते हैं। क्या हम नहीं देखते कि कुछ पुद्गल ऐसे होते हैं जिनमें नियत रूप से करुणा का अभाव होता है और जो दूसरे के दुःख में तब भी सुख का अनुभव करते हैं जब उससे उनका कोई लाभ नहीं होता? (तत्व संग्रह, ८७२ से तुलना कीजिये)। इसी प्रकार यह मानना होगा कि बोधिसत्व नियत रूप से करुणाशील हैं और वह स्वार्थ-साधन के बिना ही परहित करने में सुख का अनुभव करते हैं। क्या हम नहीं देखते कि कुछ पुद्गल स्वसान्तानिक संस्कारो के यथार्थ स्वभाव के अज्ञान-वश अभ्यास-बल से इन धर्मों में अनुरक्त होते हैं यद्यपि वह धर्म सर्वथा आत्मशून्य हैं और इस आत्म-स्नेह के कारण सहस्रों दुःख भोगते हैं? इसी प्रकार मानना होगा कि बोधिसत्व अभ्यासवश स्वसान्तानिक संस्कारों से विरक्त हैं। वह इन धर्मों को आत्म-आत्मीय रूप से ग्रहण नहीं करते। वह दूसरों के लिये करुणा-लक्षणा अपेक्षा की वृद्धि करते हैं और इस अपेक्षा के कारण सहस्रों दुःख उद्वहन करने के लिए प्रस्तुत रहते हैं।

[१९२] दो शब्दों में एक प्रकार के सत्व होते हैं जो अपनी उपेक्षा करते हैं और दूसरों के सुख में सुखी और दुःख में दुःखी होते हैं।[१] उनके लिये परहित-साधन स्वहित-साधन है। श्लोक में वर्णित है कि "हीन उन उन उपायों से स्वसन्ततिगत सुख की प्रार्थना करता है। मध्य दुःख-निवृत्ति चाहता है, सुख नहीं चाहता क्योंकि सुख दुःखास्पद है। श्रेष्ठ स्वसन्ततिगत दुःख से दूसरों का सुख और उनके दुःख की अत्यन्त निवृत्ति चाहता है क्योंकि वह दूसरों के दुःख से दुःखी होता है।"[२]

---

[२] यह परमार्थ के अनुसार है।

[१] एकोत्तर, ४, १, परिनिर्वाण ३, २४, नंजिओ ११७७, ८, ५ (किओकुग) में वह मत व्यक्त है।—बोधिसत्व की परार्थचर्या, कोश, ४. ३ ए—क्षुद्रशील के पुद्गल बोधिसत्व में प्रतिपन्न नहीं हो सकते, ७. ३४—बोधिसत्व दूसरों को कैसे आत्मवत् समझता है, बोधि-चर्यावतार, ८.

[२] हम श्लोक का उद्धार कर सकते हैं:

किस काल म बुद्धों का प्रादुर्भाव होता है?

९४ए-बी. अपकर्ष-काल में जब तक कि आयु वर्षशत-पर्यन्त रहती है, वह प्रादुर्भूत होते हैं।"[1] [१९३] बुद्धों का उत्पाद आयु के अपकर्ष-काल में होता है जब आयु: प्रमाण का ह्रास ८०००० से १०० वर्ष तक होता है।

वह उत्कर्ष-काल में क्यों नहीं प्रादुर्भूत होते?—क्योंकि उस समय मनुष्यों का संसार से उद्वेग, त्रास और जुगुप्सा दुष्कर है।

उनका उत्पाद उस समय क्यों नहीं होता जब आयु का १०० वर्ष से १० वर्ष तक उत्तरोत्तर

[हीनः प्रार्थयते स्वसन्ततिगतं तैस्तैरुपायैः सुखम्]
मध्यो दुःखनिवृत्तिमेव न सुखं दुःखास्पदं तद्यतः।
श्रेष्ठः प्रार्थयते स्वसन्ततिगतैर्दुःखैः परेषां सुखम्
दुःखात्यन्तनिवृत्ति..........तद्दुखैः स दुःखी (यतः)॥

यह भी अर्थ हो सकता है: दूसरे के लिये श्रेष्ठ कामना, आभ्युदयिक और नैःश्रेयसिक (= निर्वाण, दुःखनिरोध) और अपने लिये दुःख निरोध अर्थात् बुद्धत्व चाहता है क्योंकि यह परहित क्रिया का उपाय है।
किओकुग के अनुसार प्रज्ञापारमिताशास्त्र, २९, १८ संयुक्त के उन श्लोकों को उद्धृत करता है जिनमें यही वाद व्याख्यात है।
दीघ, ३. २३३, अंगुत्तर, २. ९५ के चार प्रकार से तुलना कीजिये।

[1] अपकर्षे तु शताद् यावत् तदुद्भवः।
पालिग्रन्थों का भिन्नवाद है, यथा सार-संग्रह।
अन्त्यबुद्धों के प्रादुर्भाव के काल पर ऐकमत्य नहीं है; विभाषा, १३५, १८ दीर्घागम आदि। (रेमूसः, मेलांग पोस्थूम की टिप्पणियाँ)
दीर्घ के अनुसार हमारे महाकल्प के नवें अन्तरकल्प में चार बुद्ध हुये: ककुच्छद (वह काल जब आयु ४०००० वर्ष की थी), कनकमुनि (३०००० की आयु), काश्यप (२०००० की आयु), शाक्यमुनि (१०० वर्ष की आयु) (दीघ, २. ३, अशोकावदान, अवदानशतक आदि में यही संख्या है); अन्यत्र ६००००, ४००००, २०००० और १००।
दूसरे कहते हैं: पहले पाँच अन्तरकल्पों में बुद्ध नहीं होते; ककुच्छन्द छठे में, कनकमुनि, सातवें में काश्यप आठवें में, शाक्यमुनि नवें में, मैत्रेय दसवें में। वर्तमान भद्रकल्प के अन्य बुद्ध अन्य अन्तरकल्पों में होते हैं।
महायान के अनुसार हम अपने महाकल्प के प्रथम अन्तरकल्प में हैं: अपकर्ष-काल में चार बुद्ध; उत्कर्ष काल में एक बुद्ध (मैत्रेय)।—वास्तव में नंजिओ २०४ की टीका में (मैं य का ऊर्ध्व उत्पाद): "शाक्य मुनि का अपकर्ष-काल में और मैय का उत्कर्ष-काल में क्योंप्रादुर्भाव होता है? उनके प्रणिधान के कारण......।"
प्रज्ञापारमिताशार, ४, १९, ३२—कहते हैं कि जब मनुष्य की आयु ८४०००, ७००००, ६००००, ५००००, ४००००, ३००००, २००००, १०० वर्ष की होती है, तब बुद्धों का उत्पाद होता है.....। किन्तु बुद्धों की करुणा शाश्वत है। उनका धर्म अच्छी औषधि के तुल्य आकालिक है। देवों की आयु १०००+१०००० वर्ष से अधिक होती है और वह महासुख का भोग करते हैं (किन्तु वह विनेय हैं)। अतः मनुष्य तो और भी विनेय हैं। इसलिये जब आयु ८०००० वर्ष से अधिक की हो तब बुद्धों का प्रादुर्भाव होना चाहिये।

अपकर्ष होता है ?—क्योंकि उस समय ५ कषाय (आयु कषाय, कल्पकषाय, क्लेशकषाय दृष्टि कषाय, सत्त्व कषाय)[1] अभ्यधिक (अभ्युत्सद) होते हैं।[2]

अपकर्ष के अन्तिम काल में (अपकर्षस्य अधस्तात्) आयु की दृग्भूत, प्रत्यवर हो जाती है। कलुषित होने से उसे 'पाप' कहते हैं। इसी प्रकार अन्य कषायों को जानिये।

[१९४] पहले दो कषाय यथाक्रम जीवित और उपकरण को विपन्न करते हैं (जीवित विपत्ति, उपकरण विपत्ति)[1]। अनन्तर के दो कषायों से कुशलपक्ष की विपत्ति होती है। क्लेश कषाय कामसुखलीनता (कामसुखल्लिका) के अनुयोग से विपन्न करता है। दृष्टिकषाय आत्म-क्लमथ के अनुयोग से विपन्न करता है। अथवा गृहीपक्ष में क्लेशकषाय से और प्रव्रजितपक्ष में दृष्टिकषाय से कुशलपक्ष की विपत्ति होती है।[2] सत्त्वकषाय से शारीरिक और मानसिक विपत्ति होती है : आकृति, शोभा, आरोग्य, बल, बुद्धि, स्मृति, वीर्य और प्रणिधि की विपत्ति होती है।

किस काल में प्रत्येक बुद्धों का प्रादुर्भाव होता है ?

९४ सी. प्रत्येक बुद्ध दो काल में।[1]

वह आयु के उत्कर्ष काल और अपकर्ष-काल में होते हैं। वास्तव में प्रत्येक बुद्ध दो प्रकार के हैं : एक वर्गचारी हैं (जो उत्कर्ष-काल में भी होते हैं), दूसरे खंग विषाण कल्प हैं।[1]

---

[1] कषायों का क्रम ग्रन्थ के अनुसार भिन्न है; महाव्युत्पत्ति, १२४ और न्यूमरिकल डिक्शनरी (फाइव हन्ड्रेड एकाउन्ट्स १. १७ रोचक है) : आयुः, दृष्टि, क्लेश, सत्व, कल्प; धर्मसंग्रह, ९१, क्लेश, दृष्टि, सत्व, आयु, कल्प; बोधिसत्व-भूमि, १. १७, आयु, सत्व, क्लेश, दृष्टि, कल्प; करुणा पुण्डरीक,
३, आयु, कल्प, सत्व, दृष्टि, क्लेश; सद्धर्म पुण्डरीक, ४३, कल्प, सत्व, क्लेश, दृष्टि, आयु। [उस समय जो बुद्ध प्रादुर्भूत होते हैं वह तीन यानों की देशना करते हैं।]
तीन कषाय, कोश, ४. ५९.
कल्पकषाय पर, ३. ९०, पृ. २०७, टि०।

[2] जब आयु १०० वर्ष की होती है तो पाँच कषाय उत्सद होते हैं किन्तु अभ्युत्सद नहीं होते जैसा कि होता है जब आयु वर्ष-शत से कम होती है।

[1] 'उपकरण' धान्यपुष्पफलौषधादीनि हैं। उनके रस, वीर्य, विपाक और प्रभाव का अल्प होना उनकी विपत्ति है अथवा फलादि का सर्वथा अभाव होता है। कोश, ४. ८५ए, पृ. १८७ देखिये।

[2] द्वाभ्यां कुशलपक्षविपत्तिः कामसुखल्लिकात्मक्लमथानुयोगाधिकारात्।—व्याख्या— कामसुखल्लिका।।कामसुखमेव कामसुखलीनता वा। कामतृष्णा वा यया कामसुखेसज्यते। —आत्मक्लमथ = आत्मोपताप; आत्मपीडा—अनुयोग = अनुषेवण (दीघ, ३. ११३).

[1] द्वयोः प्रत्येकबुद्धानाम्
'प्रत्येकबुद्धों' का यह नाम इसलिए है क्योंकि फल-लाभ के पूर्व वह शिक्षा प्राप्त नहीं करते और क्योंकि फल-लाभ के पश्चात वह शिक्षा नहीं देते।

[1] वासिलीव ,२७६ :"वैभाषिकों के परिचित प्रकारों के आर्यों में सौत्रान्तिक दो प्रकार के प्रत्येक जोड़ते हैं।"
वर्गचारिन्, महाव्युत्पत्ति,४५, नामसंगीति, ६. १० की टीका में। (मूल में केवल खड्ग प्रत्येक नायक का उल्लेख है)।
खड्गविषाणकल्पः सुत्तनिपात, तृतीयसुत्त, विसुद्धिमग्ग, २३४ (महेसी) आदि; महावस्तु, १. ३५७ (उसका निर्वाण), शिक्षासमुच्चय, १९४ (खड्गसम), दिव्य, २९४,५८२, श्रावक

[१९५] ए. पहले श्रावकपूर्वी हैं [जो बुद्धशासन में स्रोतापत्तिफल या सकृदागामि श्रावक फल का लाभ करते हैं]।—एक दूसरे मत के अनुसार यह पृथग्जन भी होते हैं जिन्होंने श्रावकयान में[1] निर्वेधभागीयों (६.२०) का साक्षात्कार किया है। यह चरमभव में स्वयं मार्ग का अधिगम करते हैं। इस पक्ष के वादी पूर्वकथा[2] से एक युक्ति देते हैं। पूर्वकथा में पठित है : "५०० तापसों ने एक पर्वत पर कष्टतप किया। एक वानर ने जो प्रत्येक बुद्धों के साथ रह चुका था उनके सम्मुख प्रत्येक बुद्धों के ईर्यापथ का संदर्शन किया। यह तापस उस वानर का अनुकरण करते हैं। कहते हैं कि वह प्रत्येक बुद्ध की बोधि का लाभ करते हैं।" इन वादियों का कहना है कि वह स्पष्ट है कि यह तापस आर्य न थे, श्रावक न थे क्योंकि यदि उनकी शीलव्रतपरामर्श दृष्टि (५.पृ. १८) प्रहीण होती और वह किसी श्रावक-फल का लाभ किये होते तो वह कष्टतप न करते।[3]

सी. 'खड्गविषाणकल्प' प्रत्येकबुद्ध असंसृष्ट विहारी हैं।

९४ डी. खड्गविषाणकल्प कल्पशत के कारण।[4]

[१९६] खड्ग १०० महाकल्प तक बोधिसंभार के लिये [अर्थात् शील, समाधि और प्रज्ञा के लिये] प्रयोग करता है। वह श्रुत या आगम के बिना अकेले बोधि का लाभ करता है (६.६७)। यह प्रत्येक बुद्ध है क्योंकि वह अपना मोक्ष स्वयं साधित करता है और दूसरों को धर्म की देशना नहीं देता।

वह दूसरों की धर्म-देशना का प्रयत्न क्यों नहीं करता ? वह अवश्य ही धर्म-देशना में समर्थ है। वह प्रतिसंवित् प्राप्त है (७.३७ बी)। (यदि वह प्रतिसंविन् प्राप्त न हो) तो वह (अपने प्रणिधि-ज्ञान से, ७.३७ ए) पूर्वबुद्धों के अनुशासन का अनुसारण कर धर्म की देशना कर सकता है। वह करुणा शून्य नहीं है क्योंकि वह सत्वों पर अनुग्रह करने के लिये ऋद्धि का आविष्कार कर सकता है।[5] यह भी नहीं कह सकते कि जिस काल में वह अवस्थान करता है उस काल के

पूर्विन्, यथा प्रेतपूर्विन् आदि, अवदानशतक, १:२५९.
वर्गचारिन् सद्धर्मकाल में स्रोतापत्तिफल या सकृदागामिफल उत्पादित करते हैं। पश्चात् बुद्धशासन के अन्तर्हित होने पर वह स्वयं अर्हत्व का अधिगम करते हैं। क्योंकि उन्होंने पूर्व-बुद्ध के उत्पाद-काल में संवेग का अनुभव किया है वह पुनः संवेजनीय नहीं है। अतः वर्गचारिन् की उत्पत्ति उत्कर्ष में भी होती है।

[1] हम ६. २३० और पृ. १७५ में देखेंगे कि किस काल में योगी एक यान से दूसरे यान में जा सकता है।

[2] पूर्वकथा, यह चीनी नामके के आधार पर अनुमान है। परमार्थ: (पूर्वचर्यासूत्र)। विभाषा, ४६, १८, बालपंडित,अध्याय १३. और अशोकराजसूत्र का उल्लेख करते हैं। यह कथा वास्तव में दिव्य, ३४९ में वर्णित है। जैसा कि प्रिज़िलुस्की लेजेंड अफ अशोक ३१० (जे. ए. एस् १९१४, २, ५२०,) से पता चलता है, यह अशोकसूत्र से उद्धृत है।

[3] न चार्याः सन्तः कष्टानि तपांसि तप्येरन्।

[4] (खड्गः) कल्पशतान्वयः ॥—अन्वय = बोधि हेतु, अतः "खड्ग के लिए कल्पशत बोधि हेतु है।" व्याख्या: यथा खड्गविषाणा अद्वितीया भवन्ति एवं ते गृहस्थप्रव्रजितैरन्यैश्च प्रत्येक बुद्धैर-संसृष्टविहारिण इति खड्गविषाणकल्पा इत्युच्यन्ते।
विभाषा, ३०, १३, एक समय में दो प्रत्येक नहीं होते।

[5] ऋद्धेराविष्करणात्, यथा महावस्तु,३. २७.

सत्व अभव्य होते हैं।[२] क्योंकि उस काल में—आयु के अपकर्ष-काल में—लौकिक वीतराग विद्यमान होते हैं।[३] फिर धर्म-देशना के न करने में क्या हेतु है?

(असंसर्ग के) पूर्वाभ्यासवश उसकी रुचि अल्पोत्सुकता में होती है; और दूसरों को गम्भीर धर्म का ग्रहण कराने में उसको उत्साह नहीं होता (न उत्सहते)। इस व्यापार में उसको गण बनाना होगा और स्रोत का अनुसरण करने वाले समूह का प्रतिस्रोत परिकर्षण का प्रसंग होगा। यह उसके लिये दुष्कर है क्योंकि उसको समाधि में आक्षेप का भय है और यह संसर्ग-भीरु है।[५] (६.७० ए.)

चक्रवर्तिसमुत्पत्तिर्नाधोऽशीतिसहस्रकात्।
सुवर्णरूप्यताम्रायश्चक्रिणस्तेऽधरक्रमात्।।९५।।
एक द्वित्रिचतुर्द्वीपा न च द्वौ सह बुद्धवत्।
प्रत्युद्यान स्वयंयान कलहास्त्रजितोऽवधाः।।९६।।

९५-९६. जब आयु ८०,००० वर्ष से कम की होती है तब चक्रवर्ती की उत्पत्ति नहीं होती। वह सुवर्ण-चक्री, रूप्यचक्री, ताम्रचक्री और अयश्चक्री होते हैं। अधरक्रम [१९२] से वह एक, दो, तीन, चार द्वीप का शासन करते हैं। वह दो एक साथ कभी नहीं होते जैसे दो बुद्ध एक साथ नहीं होते। वह प्रत्युद्यान, स्वयं-यान, कलह, असि से विजयी होते हैं किन्तु किसी का वध नहीं करते।[१]

१. जिस काल में मनुष्यों की आयु अनन्त होती है उस काल से लेकर उस काल तक जब आयु ८०,००० वर्ष की होती है, चक्रवर्तियों की उत्पत्ति होती है। उस समय उनकी उत्पत्ति नहीं होती जब आयु इससे अल्प होती है क्योंकि तब भाजनलोक उनकी कीर्ति और अभ्युदय के अयुक्त नहीं होता।

उन्हें चक्रवर्ती कहते हैं क्योंकि उनका स्वभाव राज्य करने का है।[२]

---

[२] नापि सत्वानामभव्यत्वात्

[३] यस्माद्धि लौकिकवीतरागास्तदानीं संविद्यन्ते—लोकोत्तरवीतराग की सम्भावना क्यों न होगी?—कोशस्थान ५–६ की भूमिका, ९ देखिये।

[४] धर्मदेशनाया अकरणे कस्तर्हि हेतुः?

[५] संघभद्र, ५८बी, ३ पहले अन्य हेतु देते हैं जो ही उनके मत से सुष्ठु हैं। उनकी विशेषयुक्ति यह है:"खड्ग वैशारद्य से समन्वागत नहीं होता। जो पुद्गल आत्मवाद में अभिनिविष्ट हैं उनको वह नैरात्म्य की देशना देना चाहता है, किन्तु उसका चित्त भीरु है।"

[१] चक्रवर्तिसमुत्पत्तिर्नाधोऽशीतिसहस्रकात्।
सुवर्णरूप्यताम्रायश्चक्रिणस्तेऽधरक्रमात्
एकद्वित्रिचतुर्द्वीपा न च ते सह बुद्धवत्।
प्रत्यु [उद्यानस्वयंयानकलहास्] इजितोऽवधाः।।

पोथी का पाठ अस्पष्ट है, कलोथास्तिजितो, कदाचित् अस्त्रजितो? नीचे पृ. २०२, टि० १ देखिये।

[२] राज्यचक्रवर्तनशीलाः??— शुआन् चाङ्: यह राजा चक्रप्रवर्तन से सब पर राज्य करते हैं। अतः चक्रवर्तिन् कहलाते हैं। सुमंगल, १, २४९ में निर्वचन है।

२. वह चार प्रकार के होते हैं :[1] सुवर्णचक्रवर्तिन्, रूप्यचक्रवर्तिन्, ताम्रचक्रवर्तिन्, अयश्चक्रवर्तिन्, यथा उनका चक्र सुवर्ण, रूप्य, ताम्र या लोहे का होता है। प्रथम उत्तम है, दूसरा उपोत्तम (?) है, तीसरा मध्य है, चौथा अधर है।—जिस चक्रवर्ती का चक्र लोहे का होता है वह एक द्वीप पर राज्य करता है, जिसका चक्र ताम्र का है वह दो द्वीपों पर राज्य करता है। एवमादि।

[१९८] यह प्रज्ञाप्ति का निर्देश है।[1] वास्तव में अपने प्राधान्य के कारण सूत्र में केवल सुवर्ण चक्रवर्ती उक्त है। "जब राजवंश का कोई अभिषिक्त नृपति उपवास के दिन, पक्ष के १५ वें दिन अभिषेक कर और उपवास के व्रतों का समादान कर अपने मंत्रियों के साथ अपने राज-प्रासाद के अलन्द का आरोहण करता है, और पूर्व में उसके सहस्ररश्मियुक्त, नेमि समन्वागत, नाभिसमन्वागत, सर्व प्रकार से परिपूर्ण, मनोरम, अकर्मारकृत, सुवर्णमय[2] चक्ररत्न प्रादुर्भूत होता है तो यह राजा चक्रवर्ती राजा होता है।"[3]

३. दो चक्रवर्ती एक ही समय में उत्पन्न नहीं होते यथा दो बुद्ध नहीं उत्पन्न होते। सूत्र-वचन है कि "वर्तमान काल में, अनागत अध्व में, यह अस्थान है, यह अनवकाश है कि लोकमें दो तथागत-अर्हत्-सम्यक् सम्बुद्ध युगपत् हों। एक पूर्व होता है, दूसरा पश्चात् होता है। यही नियम है कि एक समय में एक ही होता है। जो तथागतों का नियम है, वही चक्रवर्तियों का है।"[4]

---

[1] फू-कुए-कि, १३४—दीर्घ में केवल सुवर्ण चक्रवर्ती का उल्लेख है किन्तु किउ-दो-लन् (=कोश) में चार प्रकार हैं :१. अयश्चक्र: जम्बुद्वीप, २००००वर्ष की आयु; २. ताम्रचक्र: जम्बु और विदेह, ४००००, ३. रूप्यचक्र जम्बु, विदेह, गोदानीय, ६००००; ४. सुवर्णचक्र: चार द्वीप, ८००००।
जिस काल में चक्रवर्तियों की उत्पत्ति होती है उस काल पर दीर्घ ३, १७, १८, १९, संयुक्त, २७, १२, नंजिओ, ४३२.
सुवर्णचक्रवर्तिन्, लाइफ अव् शुआन चाङ, ७०, चतुर्भागचक्रवर्तिन्, दिव्य, ३६८ के नीचे (चीनी संस्करण का अर्थ: एक द्वीप का राजा, प्रिज़िलुस्की अशोक) चतुर्द्वीपेश्वर, शिक्षा-समुच्चय, १७५—पीछे के पालिग्रन्थों में, चक्रवालचक्कवत्तिन्, चातुरन्त, दीप,पदेस-, चक्कवत्तिन् (रीज डेविड्स)। चक्रवर्तिन् पर टिप्पणियाँ, कोश, २. पृ० २२० ४. ७७बी–सी, ७.५३सी, बोधिसत्वभूमि, पत्र। १२५बी–१२६ए) चातुर्द्वीपक, जम्बुद्वीपेश्वर) मैत्रेयसमिति, ८६, २३७, २४६, जहाँ लायमन एक 'द्विद्वीप' (दो द्वीपों का चक्रवर्ती) की कल्पना करते हैं = 'दिवीप' या 'दुवीप' दिलीप (ब्राह्मण ग्रंथों का) और दुजीप, जातक, ५४३, १२९, का हो सकता है।

[1] एष प्राज्ञप्तिकः—यह प्रज्ञाप्ति शास्त्र का निर्देश है कि चार प्रकार के चक्रवर्तिन् हैं। —कारण प्रज्ञाप्ति, अध्याय २ देखिये (इसका विवरण बुद्धिष्ट कास्मालोजी, ३२९ में है) (अभिधर्म लिटरेचर तकाकुसु, ११७)

[2] (=अकर्मारकृत, जैसा ललित, १४ में पाठ है)— शुआन-चाङ् और परमार्थः "मानों कुशल कर्मकारों से कृत" १—(किन्तु फू-कुए-कि, १३३ : स्वर्गलोक के कर्मकारों की कृति) (लायमन, मैत्रेयसमिति, ८६)।

[3] दीर्घ, १८, १९, संयुक्त, २७, ११, एकोत्तर, ३३, १०, विभाषा, ६०, ९—इस वचन का पालि संस्करण दीघ, २.१७२ में है। यस्स रञ्ञो खत्तियस्स...... —कारणप्रज्ञाप्ति, अध्याय २ में उद्धृत। इसका विवरण कस्मालोजी, ३२८ में है।

[4] मध्यम, १८, १६, १७, १९, धर्मस्कन्ध, ९, १४, अंगुत्तर १.२७, दीघ, ३.११४, मज्झिम,

यहाँ एक प्रश्न है। 'लोक में' इस पद का क्या अर्थ है? क्या इसका अर्थ "त्रिसाहस्र-महासाहस्र लोकधातु में (३.७४)" है? क्या इसका अर्थ "सर्वलोकधातु में" है?[५]

[१९९] एक मत के अनुसार बुद्ध अन्यत्र (अर्थात् दो महालोकधातु में युगपत्)[१] नहीं होते।—इसलिए कि दो बुद्धों का युगपत् भाव भगवत् के प्रभाव में अन्तराय होगा। एक भगवत् सर्वत्र प्रयुक्त होते हैं। जहाँ एक भगवत् सत्वों को विनीत करने में प्रयुक्त नहीं हैं वहाँ अन्य भगवत् प्रयुक्त नहीं होते। पुनः सूत्र में पठित है: "शारिपुत्र, यदि कोई तुमसे प्रश्न करे कि क्या इस समय कोई भिक्षु या ब्राह्मण ऐसा है जो सम्यक् संबोधि के विषय में श्रमण गौतम का समसम[२] है तो तुम क्या उत्तर दोगे?—हे भदन्त! यदि मुझसे कोई यह प्रश्न पूछे तो मैं कहूँगा कि इस समय कोई आश्रय, भिक्षु या ब्राह्मण नहीं है जो भगवत् का समसम हो। और मैं ऐसा उत्तर क्यों दूँगा? क्योंकि मैंने भगवत् से सुना है और उनसे प्रतिगृहीत किया है (श्रुतं सम्मुखात् प्रतिगृहीतम्) कि यह असम्भव है कि वर्तमान-काल में—और अनागत अध्व में लोक में दो भगवत्-अर्हत्-सम्यक् संबुद्ध युगपत् हों और उनमें से एक पूर्व और दूसरा पश्चात् न हो।"[३]

दोष—फिर भगवत् जो ब्रह्मसूत्र[४] में कहते हैं उसका कैसे अर्थ करना चाहिये: "मैं अपना ऐश्वर्य (?) यावत् त्रिसाहस्रमहासाहस्रलोकधातु में प्रयुक्त करता हूँ?"—इस वचन का अक्षरार्थ नहीं लेना चाहिये। [२००] बुद्ध बिना अभिसंस्कार के (= अनभिसंस्कारेण = अनाभोगेन) इस पर्यन्त तक लोकधातु का दर्शन करते हैं। जब उनकी इच्छा होती है तब उनका दर्शन सर्वत्र अपर्यन्त होता है।[१]

३.६५, मिलिन्द, २३६.
अस्थानमनवकाशो यदपूर्वाचरमौ द्वौ तथागतौ.....लोक उत्पद्येयाताम्—व्याख्या: अस्थानम्: वर्तमानकालापेक्षया—अनवकाशः अनागतकालापेक्षया।
पालि संस्करण: एकिस्सा लोकधातुया द्वे अरहन्तो.....अपुब्बम् अचरिमम् उप्पज्जेयुम्-

[५] शुआनचाङ् भिन्न अर्थ करते हैं: "वहाँ केवल एक होता है" इसका क्या अर्थ है? क्या एक त्रिसाहस्रमहासाहस्रलोकधातु अभिप्रेत है?

[१] कि अं.कुग की टिप्पणी—सर्वास्तिवादियों का कहना है कि दस दिशाओं के लोकधातुओं में एक ही बुद्ध का उत्पाद होता है। सौत्रान्तिक और महायानिक कहते हैं कि दस दिशाओं के लोकधातुओं में अनेक बुद्धों का प्रादुर्भाव होता है।—कथावत्थु, २१, ६, वसुमित्र के ग्रन्थ आदि देखिये (महासांघिक, लोकोत्तरवादिन्)
संघभद्र, ५८ बी—सूत्र में कोई विशेष व्यवस्थापित नहीं है। कोई सूत्र नहीं कहता कि 'केवल इस लोक में', 'केवल एक लोकधातु में।" यह कैसे व्यवस्थापित होता है कि सूत्र का अभिप्राय केवल एक त्रिसाहस्रमहासाहस्र से है, सर्वलोकधातु से नहीं है? पुनः सूत्र (ब्रह्मराजसूत्र) कहता है कि "क्या कोई भिक्षु गौतम का समसम है.....?"

[२] समसम इति वीप्सा। अथवा समैः सर्वसत्वेषु बुद्धैर्भगवद्भिः सम इति—बुद्धों के बराबर जो सब सत्वों के लिये समान हैं।

[३] दीर्घ, १२, २२, दीघ, ३.११३।

[४] तिब्बती = ब्रह्मसूत्र; परमार्थ और शुआन-चाङ्
ब्रह्मराजसूत्र (= मध्यम, १९, ४)—यह वाक्य सुगमता के साथ ब्रह्मनिमन्तणिक में स्थान पा सकता था, मज्झिम, १.३२९।

[१] कोश, ६.५५ ए देखिये।—विभाषा, १५०, ११—इसी प्रकार भगवत् को 'प्रकृत्या' ९१

अन्य निकायों के अनुसार[1] बुद्ध युगपत् होते हैं किन्तु एकत्र नहीं होते, भिन्न लोकधातुओं में होते हैं।—उनकी युक्तियाँ यह हैं। हम देखते हैं कि बहु-आश्रय एक ही काल में [बोधि के] संभार के लिये यत्नशील होते हैं। अवश्य ही एक काल में एकत्र (= एक ही लोकधातु में) कई बुद्धों का उत्पाद उपयुक्त नहीं हैं किन्तु दूसरी ओर कई बुद्धोंके युगपत् उत्पाद में कोई बाधा भी नहीं है। अतः वह भिन्न लोकधातुओं में उत्पन्न होते हैं।[3] लोकधातु अनन्त हैं। यदि भगवत् एक समग्र कल्पपर्यन्त जीवित रहें तो भी वह अनन्त लोकधातुओं में विचर नहीं सकते जैसे यहाँ विचरते हैं। अतः यदि उनकी पुरुषायुष्य हो (पुरुषायुष्यं विहर) तो और भी असम्भव है। प्रश्न होगा कि भगवत् का यह कार्य क्या है? वह देखते हैं कि उस पुद्गलकी वह इन्द्रिय जो उत्पन्न नहीं है और जो सकल नहीं है (श्रद्धादि)—उस पुद्गल वश उस स्थान में और उन उन काला-वस्थाओं में, उस दोष के अन्तर्हित होने से और उस प्रत्यय (अंग = प्रत्यय) के सम्मुखीभाव से, उस योग से (तेन योगेन) उत्पन्न हो और सकल हो।

दोष—किन्तु हमने वह सूत्र उद्धृत किया है : "लोक में दो तथागतों का उत्पाद बिना एक के पूर्व और एक के पश्चात् हुए, असम्भव है।"

परिहार—यह विचार करने का स्थान है कि इस वचन का अभिप्राय एक लोकधातु से, चातुर्द्वीपक त्रिसाहस्र-महासाहस्रलोकधातु से है अथवा सर्वलोकधातु से है। हमारा कहना है कि चक्रवर्तियों के उत्पाद का नियम भी उन्हीं शब्दो में दिया गया है जिन शब्दों में तथागतों के उत्पाद का नियम है। क्या कोई इसका [२०१] प्रतिषेध करेगा कि चक्रवर्तियों का युगपत् उत्पाद हो सकता है? यदि आप इसका प्रतिषेध नहीं करते तो यह भी क्यों नहीं स्वीकार करते कि बुद्ध जो पुण्य के मूलाधार हैं भिन्न लोकधातुओं में युगपत् उत्पन्न होते हैं[1] इसमें क्या दोष है कि अप्रमेय बुद्धों का अप्रमेय लोक-धातुओं में उत्पाद हो? और इस प्रकार असंख्य जन अभ्युदय और नैःश्रेयस का लाभ करेंगे।

दोष—किन्तु यह कहा जायगा कि इस तरह आपको मानना होगा कि दो तथागतों का युगपत् उत्पाद एक लोक धातु में हो सकता है।

उत्तर—नहीं। वस्तुतः १. एक ही लोकधातु में उनका सहोत्पाद निष्प्रयोजनीय होगा; २. बोधिसत्व का प्रणिधान यह है कि "मैं बुद्ध होऊँ, मैं अपरिणायक अन्ध लोक का एक परिणायक होऊँ, अरक्षितों का रक्षक होऊँ"; ३. एक बुद्ध के प्रति गौरव अधिक होता है; ४. सद्धर्म का अनुसरण करने के लिये अधिक त्वरा और उद्योग होता है : पुद्गल जानते हैं कि कृत्स्न जगत में

कल्प की स्मृति होती है (४.पृ.२२५)।—भगवत् के 'खेत' त्रय के व्याख्यान—विसुद्धि, ४१४ : जातिक्खेत्त, १०००० चक्कवाल जिनका कम्पन उनके उत्पाद पर होता है; आणक्खेत्त : एक कोटि और १००००० चक्कवाल जहाँ उनके परित्तों (रक्षा के वाक्य) का शासन है; विसयक्खेत्त : अनन्त क्षेत्र जो उनके ज्ञान का गोचर है।

[1] निकायान्तरीया इति महासांघिकप्रभृतयः
परमार्थ बहुवाद के व्याख्यान को यहीं समाप्त करते हैं।

[1] संघभद्र इस युक्ति का प्रतिषेध करते हैं। चक्रवर्तियों के साथ तुलना करने से कुछ सिद्ध नहीं होता। उनका प्रभाव चार द्वीपों में सीमित है। बुद्धों के विनीत करने का सामर्थ्य अनन्त है क्योंकि सर्वलोकधातु उनके ज्ञान का गोचर है।

एक ही बुद्ध हैं, उनका उत्पाद ी कदाचित् होता है और बुद्ध के परिनिर्वृत होने पर या यहाँ से अन्यत्र चारिका करने पर वह बिना परिणायक के होंगे।[२] [२०२] अपने सुवर्ण, रूप्यादि चक्र से चक्रवर्ती भूमि पर विजय पाते हैं। उनके चक्र के अनुसार उनकी विजय भिन्न होती है।[१]

सुवर्णचक्री चक्रवर्तिन् प्रत्युद्यान से विजयी होता है। कोट्टराज[२] उसके समीप अनुगमन करते हैं और कहते हैं : "देवाधिदेव ऋद्ध, स्फीत, सुभिक्ष, बहुजन और मतिमान् मनुष्यों से[३] आकीर्ण जनपदों पर शासन करने की कृपा करें! हम आपके आज्ञानुवर्ती हैं।"

रूप्यचक्री उनके समीप स्वयं जाता है (स्वयंयान)। तब वह अधीनता स्वीकार करते हैं।

ताम्रचक्री उनके समीप जाता है। वह युद्ध की तैयारी करते हैं। तब वह वशवर्ती होते हैं।

---

[२] यह सब तर्क बोधिसत्वभूमि, पत्रा ३९ में है।
तत्र प्रभूतैरेव कल्पैरेकत्योऽपि बुद्धस्य प्रादुर्भावो न भवति। एकस्मिन्नेव च कल्पे प्रभूतानां बुद्धानां प्रादुर्भावो भवति। तेषु च तेषु.... दिक्ष्वप्रमेयासंख्येयेषु लोकधातुष्वप्रमेयाणाम् एव बुद्धानामुत्पादो वेदितव्यः। तत् कस्य हतोः। सन्ति दशसु दिक्ष्वप्रमेयासंख्येया बोधिसत्वा ये तुल्यकालकृतप्रणिधानास्तुल्यसंभारसमुदागताश्च। यस्मिन्नेव दिवसे पक्षे मासे संवत्सर एकेन बोधिसत्वेन बोधिचित्तं प्रणिहितं तस्मिन्नेव दिवसे.......सर्वैः। यथा चैक उत्सहितो घटितो व्यायच्छितश्च तथा सर्वे। तथा हि ध्रियन्तेऽस्मिन्नेव लोकधातावनेकानि बोधिसत्वशतानि यानि तुल्यकालकृतप्रणिधानानि तुल्यदानानि तुल्यशीलानि तुल्यक्षान्तीनि तुल्यवीर्याणि तुल्यसमाधीनि तुल्यप्रज्ञानि प्रागेव दशसु दिक्ष्वनन्तापर्यन्तेषु लोकधातुषु। बुद्धक्षेत्राण्यपि त्रिसाहस्रमहासाहस्राण्यप्रमेयासंख्येयानिदशसु दिक्षु संविद्यन्ते। न च तुल्यसंभारसमुदागतयो-र्द्वयोस्तावद् बोधिसत्वयोरेकस्मिन् लोकधातौ बुद्धक्षेत्रे युगपदुत्पत्त्यवकाशोऽस्ति प्रागेवाप्र-मेयासंख्येयानाम्। न च पुनस्तुल्यसंभाराणां क्रमेणानुपरिपाटिकया उत्पादो युज्यते। तस्माद् दशसु दिक्ष्वप्रमेया संख्येयेषु यथापरिशोधितेषु तथागतशून्येषु ते तुल्यसंभारा बोधिसत्वा अन्योऽन्येषु बुद्धक्षेत्रेषूत्पद्यन्त इति वेदितव्यम्॥ तदनेन पर्यायेण बहुलोकधातुषु बुद्धबाहुल्यम् एव युज्यते न चैकस्मिन् बुद्धक्षेत्रे द्वयोस्तथागतयोर्युगपदुत्पादो भवति। तत् कस्य हेतोः। दीर्घरात्रं खलु बोधिसत्वैरेवम् प्रणिधानम् अनुबृंहितं भवति यथाहमेकोऽपरिणायके लोके परिणायकः स्यां सत्वानां विनेता सर्वदुःखेभ्यो विमोचयिता .....॥ पुनश्च शक्त एकस्तथागतस्त्रिसाहस्रमहासाहस्र एकस्मिन् बुद्धक्षेत्रे सर्वबुद्धकार्यं कर्तुम्। अतो द्वितीयस्य तथागतस्य व्यर्थ एव उत्पाद... (एकस्य च तथागतस्य) लोक उत्पादात् सत्वानां स्वार्थ-करणप्रसिद्धिः प्रचुरतरा भवति प्रदक्षिणतरा। तत् कस्य हेतोः। तेषामेवं भवति अयमेव कृत्स्ने जगत्येकस्तथागतो न द्वितीयः। अस्मिन् जनपदचारिकां वा विप्रक्रान्ते परिनिर्वृते वा नास्ति स कश्चि....यस्यास्माभिरन्तिके ब्रह्मचर्यं चरितव्यम् स्याद् धर्मो वा श्रोतव्य इति विदित्वाभित्वरन्ते घनतरेण च्छन्दव्यायामेन ब्रह्मचर्यवासाय सद्धर्मश्रवणाय च। बुद्धबहुत्वं तु ते उपलभ्य नाभित्वरेरन्नेवम् एषामेकस्य बुद्धस्योत्पादात् स्वकार्थकार्यप्रसिद्धिः प्रचुरतरा भवति प्रदक्षिणतरा च।

[१] महाव्युत्पत्ति, १८१, स्वयंयानम्, प्रत्युद्यानम्, कलहजितः, शस्त्रजितः [प्रत्युद्यान्, स्वयंयान, कलहजित्....पढ़िये]
[पाठभेदः अस्त्रजितः]

[२] कोट्टराजन्, महाव्युत्पत्ति, १८६, ८—संयुत्त, ४.४४ : ये केचि कुट्टराजानो सब्बेते रञ्ञो चक्कवत्तिस्स अनुयन्ता (?) भवन्ति।

[३] ऋद्ध स्फीत सुभिक्ष आकीर्ण बहुजनमनुष्य (महाव्युत्पत्ति, २४५, १०, ११, १३, १४)—व्याख्या : जनाः प्राकृतमनुष्याः। मनुष्यास्तु मतिमन्तः; जे ए-एस् १९१३, १.६०२

अयश्चक्री उनके समीप जाता है। वह शस्त्र उठाते हैं (शस्त्राण्यावहन्ति = उत्क्षिपन्ति)[४]। तब वह वशवर्ती होते हैं।

किसी अवस्था में चक्रवर्ती वेध नहीं करते।

[२०३] ५. चक्रवर्ती सत्वों को १० कुशल कर्मपथोंमें प्रवेश कराते हैं (४.६६ बी)।[१] मृत्यु के पश्चात् वह देवों में पुनरुपपन्न होते हैं।

६. सूत्रवचन है : "जब लोक में चक्रवर्तियों का उत्पाद होता है तब सप्तरत्न भी उत्पन्न होते हैं : चक्ररत्न, गजरत्न, अश्वरत्न, कोषरत्न, स्त्रीरत्न, गृहपतिरत्न, परिणायक-रत्न।"[२] क्या यह मानना चाहिये कि इन रत्नों में से जो सत्व हैं, यथा गजरत्न आदि, वह दूसरे के कर्म से उत्पन्न होते हैं?—नहीं। एक सत्व ऐसे कर्म उपचित करता है जिसका विपाक चक्रवर्ती से सम्बद्ध जन्म है, जिसका विपाक गजरत्नादि भाव है। चक्रवर्ती के उत्पन्न होने पर उसके निज के कर्म इस सत्व को उत्पादित करते हैं।

७. चक्रवर्ती और अन्य पुद्गलों में और भी भेद हैं। विशेष कर यह भेद है कि बुद्ध के समान इनमें भी महापुरुषों के ३२ लक्षण होते हैं।[३] किन्तु बुद्ध के लक्षण इसमें अधिक हैं कि वह देशस्थतर[४], उत्तमतर और सम्पूर्णतर होते हैं।

क्या प्राथमकल्पिक पुद्गलों में राजा होते थे?—नहीं।

आलस्यात् सन्निधिं कृत्वा साग्रहैः क्षेत्रपो भृतः।
ततः कर्मपथाधिक्यादपह्रासे दशायुषः॥९८॥

९८. आरम्भ में सत्व रूपावचर देवों के सदृश थे। पश्चात् शनैः शनैः रसरागवश [२०४] और आलस्यवश उन्होंने संग्रह किया और अपना अपना भाग लिया और एक क्षेत्रप को उसकी भृति दी।[१]

---

[४] आवहन्ति = उत्क्षिपन्ति।

[१] दीघ, २, १७३, शिक्षासमुच्चय, १७५।

[२] मध्यम, ११, १, एकोत्तर, ३३, ११, संयुक्त, २७, १२—मज्झिम, ३, १७२, संयुत्त, ५ ९९; दीघ, ३.५९ से तुलना कीजिये।
ललित, १४-१८, महावस्तु, १.१०८—दीघ, २.१७२, मज्झिम, ३.१७२, महाबोधिवंस, ६६ (लायमन के अनुसार, मैत्रेयसमिति, ८६)
व्याख्या : गृहपतिरत्नं कोशाध्यक्षजातीयः। परिणायकरत्नं बलाध्यक्षजातीय :—गृहपति के दिव्य चक्षु होता है,७.पृ.१२२

[३] विभाषा, १७७ में लक्षण (६.१०८, ११० ए) परिगणित हैं; पार्श्व इसकी समीक्षा करत हैं कि लक्षणों की संख्या ३२ क्यों है, कम या अधिक क्यों नहीं है।
रीजडेविड्स—स्टीड में एक अच्छी पालि पुस्तक-सची दी है।

[४] देशस्थतर—परमार्थ का अनुवाद "दाहिने ओर अधिक"। वह टीका करते हैं : "जो झुका नहीं है।" व्याख्या का पाठ पढ़ा नहीं जाता : देशस्थतराणीति। अत्रस्थानानि (?)।

[१] प्रागसन् रूपिवत् सत्त्वा रसरागात् ततः शनैः।
आलस्यात् संग्रहं कृत्वा भागाद ( ) : क्षेत्रपो भृतः
[व्याख्या की विवृति के अनुसार संग्रह : सन्निधिकार : संग्रहः —तिब्बती भाषान्तर क अनुसार "भागादैः"]
काठमांडू की पोथियों के पाठ निश्चित नहीं हैं : रसरागात् तज्जः शनैः। आलस्यम्यानवद्-

प्राथमकल्पिक पुद्गल[२] रूपावचर सत्वों के सदृश थे। सूत्र में उक्त है कि ऐसे रूपी मनोरम सत्व हैं जो सर्व अंग प्रत्यंग से उपेत हैं, जो अविकल्प और अहीनेन्द्रिय हैं, जो शुभ, वर्णस्थायी, स्वयंप्रभ, आकाशचारी, प्रीतिभक्ष और दीर्घायु हैं।"[३] [२०५] किन्तु पृथिवी-रस उत्पन्न हुआ। उसका स्वादु रस मधु के समान था (मधु-स्वादुरस)। एक सत्व ने जो प्रकृति का लोभी था इस रस के गन्ध का प्रतिसंवेदन किया। उसने रसास्वाद किया और उसका पान किया। पश्चात् अन्य सत्वों ने भी ऐसा ही किया। यह कबड़ीकार आहार (३ . ३९) का आरम्भ था। इस आहार वश शरीर स्थूल और गुरु हो गये और उनकी प्रभा जाती रही। इससे अन्धकार हुआ। किन्तु तब सूर्य और चन्द्र का प्रादुर्भाव हुआ।

सत्वों के इस रसराग के कारण पृथिवी रस शनैः शनैः अन्तर्हित हो गया। तब पृथिवी-पर्पटक[१] का प्रादुर्भाव हुआ और सत्वों में उसके प्रति राग उत्पन्न हुआ। यह पर्पटक विलुप्त हो गया और

कत्वात् मागादः क्षत्रपो भृतः = एक रक्षक जो भागभृत् है।
तिब्बती : उन (पुद्गलों) ने, जिन्होंने अपना भाग लिया और जिन्होंने रसराग-वश और आलस्यवश संग्रह किया एक क्षेत्रप को भृति दी।"
परमार्थ : शनैः शनैः रसरागवश और आलस्यवश सत्व संग्रह करते हैं, धन से क्षेत्रप को सन्तुष्ट करते हैं (पाठभेद : उसको भृति देते हैं)—शुआन-चाङ् "संग्रह और स्तेय के प्रादुर्भाव के कराण [चोर को] पकड़ने के लिए वह क्षेत्रप को भृति देते हैं।"

[२] बौद्धों के सृष्टि-आरम्भ पर संक्षिप्त पुस्तक सूची।
ए अग्गञ्ञसुत्त, दीघ, ३.८४ और १.१७ (डायलाग १.१०५, ३.९ तथा २५, बुद्धघोष के अनुसार 'अग्गञ्ञ' शब्द का अर्थ; फ्रांके, २७३)—विसुद्धिमग्ग, ४१७ (वारेन, ३२४, हार्डी, मैनुएल, ६३)।
बी कंजूर, विनय ३।४२१-४३०, ५।११५-१६६, शीफनर द्वारा अनुवादित, ६ जून १८५१, मेलाँग आजियातिक, १।३९५ (इसका उल्लेख जार्जी अल्फाबेटुम टिबेटनुम्, १८८, पैलास, सापलुंगन ऊबर डीमंगोलिशन फोल्केर शाफ्टेन, २२.२८, कोवालेस्की, बुधिस्टिशेन कास्मालार्जी, कासान विश्वविद्यालय का मेमाअर, १८३७, १।१२२, और स्सनङ ससेत्सना, श्मिट कृत) एवं राकहिल, लाइफ १।
लोकप्रज्ञाप्ति, ११. (कास्मालोजी, ३१८ में इसका विवरण है) जिसमें वासिष्ठ—भारद्वाज व्याकरण का उल्लेख है (दीघ, ३.८० से तुलना कीजिए)
अभिनिष्क्रमण सूत्र, कंजुर, म्दो, २८, १६१, सोमा ने जे ए एस बी. १८३३, ३८५ में इसका अनुवाद दिया और रास ने जे ए एस बी, १९११ में इसका पुनः प्रकाशन किया
सी महावस्तु, १.३३८ तथा नोट्स ६१५.
डी बील, कैटीना १०९, फ़ोर लेक्चर्स, १५१ (दीर्घ, मध्यम, आदि के अनुसार)

[३] दीर्घ, २३, ४ (दीर्घ, १.१७, ३४ से तुलना कीजिये)
व्याख्या : दृश्यरूपत्वाद् रूपिणः। उपपादुकत्वान्मनोमयाः। हस्तपादतदंगुल्याद्यु पेतत्वात् सर्वाङ्गप्रत्यङ्गोपेताः। समग्रेन्द्रियत्वाद् अविकलाः काणविभ्रान्ताद्यभावादहीनेन्द्रियाः। दर्शनीयसंस्थानत्वाच्छुभाः। रमणीयवर्णत्वाद् वर्णस्थायिनः। आदित्यादिप्रभानपेक्षत्वात् स्वयंप्रभाः। कर्मर्द्धिसंयोगेनाकाशचरत्वाद् विहायसंगमाः। कवडीकाराहारानपेक्षत्वात् प्रीतिभक्षाः प्रीत्याहारा इति पर्यायौ। तथा दीर्घायुषो दीर्घमध्वानम् तिष्ठन्तीति।
६.५३ सी में 'कर्मर्द्धि' का व्याख्यान है। वहाँ इसे 'कर्मजा ऋद्धि' कहा है।

[१] पृथिवीपर्पटक, महाव्युत्पत्ति, २२३, २१२ : शुआन्-चाङ् : भूमि-पर्पटिका-अपूप; परमार्थ : भूमि-पर्पटिका-आकाश—महावस्तु १, ६१६, सेनार की टिप्पणी (पोथियों में पर्यंटक, पर्पंतक); कोष : पर्यट ।

वनलता का प्रादुर्भाव हुआ और सत्व उसमें अनुरक्त हुए। लता अन्तर्हित हुई और तब आकृष्ट, अनुप्तशालि उत्पन्न हुआ। यह शालि औदरिक आहार था। इससे मूत्र-पुरीष हुआ। अतः सत्वों के पायु और उपस्थ, पुरुषेन्द्रिय और स्त्रीन्द्रिय उत्पन्न हुए तथा उनकी भिन्न आकृतियाँ हुईं। भिन्न व्यंजन के सत्व अपने पूर्व अभ्यासवश ग्राहभूत अयोनिशोमनसिकार से ग्रसित हुए (अयोनिशो-मनसिकारग्राहग्रासगत)। उनमें कामसुख की तीव्र इच्छा उत्पन्न हुई और उन्होंने मैथुन कर्म किया। इस क्षण से कामावचर सत्व कामग्रह से आविष्ट हुए।

प्रातराश के लिये प्रातः शालि काटते थे, अपराह्ण भोजन के लिए सायं काटते थे। आलसी स्वभाव के एक सत्व ने संग्रह किया। दूसरों ने उसका अनुकरण किया। संग्रह से 'आत्मीय बुद्धि उत्पन्न हुई, स्वामित्व की बुद्धि उत्पन्न हुई। बार बार काटे जाने पर शालि की वृद्धि रुक गई।

तब उन्होंने क्षेत्रों को बाँटा। एक क्षेत्र पर एक का स्वामित्व हुआ। किसी ने दूसरे के अर्थ को छीन लिया। यह स्तेय का आरम्भ है। [२०६] स्तेय को रोकने के लिये वह सन्निपतित हुये और एक मनुष्य-विशेष को क्षेत्रों की रक्षा के लिये छठा भाग दिया। इस मनुष्य को क्षेत्रप का नाम दिया और क्योंकि वह क्षेत्रप था इसलिए उसकी क्षत्रिय की आख्या हुई। क्योंकि वह महाजन-सम्मत था, क्योंकि वह अपनी प्रजा का रञ्जन करता था, वह महासम्मत राजा हो गया।[1] राजवंश का इसी प्रकार आरम्भ होता है।[2]

जिन्होंने गृहपति के जीवन का परित्याग किया उन्होंने ब्राह्मण की संज्ञा पाई।

पश्चात् किसी राजा के शासन में बहुत चोर और डाकू थे। राजा ने उनको शस्त्र से दण्डित किया। दूसरों ने कहा : "हमने यह कर्म नहीं किये हैं।" इस प्रकार मृषावाद का आरम्भ हुआ।

९८ सी-डी. पश्चात् कर्म-पथ की अधिकता से आयु का अपह्रास हुआ, यहाँ तक कि १० वर्ष की आयु हो गई।[3] इस क्षण से प्राणातिपात आदि अकुशल कर्म-पथ का आधिक्य हुआ और मनुष्यों की आयु उत्तरोत्तर अल्प होती गई। अन्त में यह १० वर्ष की हो गई।

---

[1] अत्थसालिनी, ३९२.

[2] महासम्मत की जो सन्तान चक्रवर्ती हुई उसकी सूची लोकप्रज्ञाप्ति में, एक सूची अभिधर्म के अनुसार है और एक विनय के अनुसार है, कास्मालाजी, ३२०, ३२२) : महाव्युत्पत्ति, १८०; शावान फाइव हन्ड्रेड एकाउंट्स १. ३२४, ३३०;
महावस्तु, १. ३४८; जातक, ३. ४५४; सुमंगल, १. २५८; जे आर ए एस १९१४, ४१४; गाइगर द ट्रान्सलेशन ऑव् महावंस का परिशिष्ट

[3] ततः कर्मपथाधिक्यादपह्रासे दशायुषः॥

हुइ-हुएइ कहते हैं : "इस शास्त्र में इसका व्याख्यान नहीं है कि कितने वर्षों के अनन्तर आयु का अपकर्ष या उत्कर्ष एक २ वर्ष करके होता है। आम्नाय यह है कि हर काल में एक एक वर्ष कर के आयु का ह्रास या वृद्धि होती है। रेमूसा, मेलांग पोस्थम १०३ में इसका व्याख्यान है किन्तु उनकी गणना मुझे अशुद्ध प्रतीत होती है : १६८००००० के स्थान में १६७९८००० पढ़िये]। महायान अपकर्ष के इस वाद को स्वीकार नहीं करता किन्तु उसका विचार है कि उत्कर्ष-काल में पुत्र की आयु पिता की आयु से द्विगुण होती है।"—चक्कवत्तिसीहनाद में (दीघ, ३. ६८) ८०००० वर्ष के पुदगलों के पुत्रों की आयु ४०००० वर्ष की होती है; इनके पुत्रों की आयु २०००० वर्ष की; पश्चात् १००००, ५०००, २५०० या २०००, १०००, ५००, २५० या २००, १००, १० वर्ष—कास्मालोजी ३१४.

अतः दो धर्म, रसराग और आलस्य, इस दीर्घकालीन ह्रास के कारण हैं। [२०७] अन्तरकल्प का निर्याण (= परिसमाप्ति) होता है जब आयु दस वर्ष की होती है। तब क्या होता है?

कल्पस्य शस्त्ररोगाभ्यां दुर्भिक्षेण च निर्गमः।
दिवसान् सप्तमासांश्च वर्षाणि च यथाक्रमम् ॥९९॥

९९. शस्त्र, रोग और दुर्भिक्ष से जो यथाक्रम सात दिन और सात मास और सात वर्ष अवस्थान करते हैं कल्प का निर्याण होता है।[1]

कल्प के अन्त में तीन ईतियाँ होती हैं।[2]

१. कल्पनिर्याणकाल में जब कि आयु दस वर्ष की हो जाती है पुद्गल अधर्मरागरक्त, विषमलोभाभिभूत और मिथ्याधर्मपरीत हो जाते हैं।—उनमें व्यापाद उत्पन्न होता है। उस समय से वह एक दूसरे को उसी तरह देखते हैं जैसे एक व्याध मृग्य को देखता है (मगसञ्ञा)। उनमें द्वेष का भाव उत्पन्न होता है। जो कुछ उनके हाथ में आता है, चाहे वह काष्ठ-खण्ड हो, या विष का पौधा, उसे वह तीक्ष्ण शस्त्र की तरह प्रयुक्त करते हैं और एक दूसरे की हिंसा करते हैं।

२. कल्पनिर्याणकाल में जब कि आयु १० वर्ष की हो जाती है पुद्गल अधर्मरागरक्त [२०८] विषमलोभाभिभूत और मिथ्या धर्मपरीत होते हैं।—इन दोषों के कारण अमनुष्य (पिशाचादि) ईतियाँ उत्सृष्ट करते हैं। इनसे असाध्य व्याधि प्रादुर्भूत होती हैं जिनसे मनुष्यों की मृत्यु होती है।

३. कल्पनिर्याणकाल में.....देव नहीं बरसता। इससे तीन दुर्भिक्ष, चंचु, श्वेतास्थि, शलाकावृत्ति होते हैं। चंचु कोष का दुर्भिक्ष है, श्वेतास्थि श्वेतास्थियों का दुर्भिक्ष है, शलाका वृत्ति वह दुर्भिक्ष है जिसमें जीवन-यापन शलाका पर होता है।[1]

---

[1] कल्पस्य शस्त्ररोगाभ्यां दुर्भिक्षेण च निर्गमः। दिवसान् सप्तमासांश्च वर्षाणि च यथाक्रमम्॥ वसुबन्धु विभाषा, १३४, ३ का अनुसरण करते हैं।
न्यूमरल डिक्शनरी और उसकी टीका से जो व्याख्यान मिलते हैं उनके अनुसार (फाइव हन्ड्रेड एकाउंट्स १.१६)
कहते हैं कि जब आयु ३० वर्ष की होती है तब दुर्भिक्ष होता है,—जब आयु २० वर्ष की होती है तब रोग होता है, जब १० वर्ष की होती है तब शस्त्रघात होता है। यह कल्प कषाय है।
व्याख्या: कल्प के तीन निर्याण हैं। शस्त्र, रोग, दुर्भिक्ष। क्या कल्प के अन्त में जब आयु १० वर्ष की होती है(दशवर्षायुः कल्प) यह तीन निर्याण क्रम से होते हैं? अथवा एक एक कल्प के अन्त में क्रम से एक एक निर्याण होता है? वादियों में मतभेद है। हमको द्वितीय पक्ष इष्ट है [यह नंजिओ, १२९७ का मत है। किओकुग ने इसका उल्लेख किया है]

[2] अंगुत्तर, १.१५९—"मैंने पूर्व ब्राह्मणों का कहा हुआ सुना है ....कि लोक की जनसंख्या बहुत बढ़ गई थी, जैसे अवीचि(?)की। अब ऐसा क्यों है कि मनुष्यों का विनाश और ह्रास होता है? ग्राम उजाड़ क्यों हो जाते हैं....?—हे ब्राह्मण! आजकल के पुद्गल अधम्म-रागरत्त, विसमलोभाभिभूत, मिच्छाधम्मपरेत हैं। वह तीक्ष्ण शस्त्र लेकर एक दूसरे का वध करते हैं....। वर्षा नहीं होती, दुर्भिक्ष पड़ता है....(....मिच्छाधम्मपरेतानं [मनुस्सानं] यक्खा वा अमनुस्से ओसज्जन्ति.....'वा' की सम्भावना नहीं है। एक दूसरा पाठ 'वाले' है)"।—दीघ, ३.७० चक्कवत्तिसीहनाद में यह अन्तिम भावविद्या की कल्पना की कोटि में आता है। (दुर्भिक्ष और रोग का उल्लेख नहीं है; केवल 'सत्यन्तर कप्प' है)।

[1] पालिग्रन्थ—अंगुत्तर, १.१६०.दुब्भिक्खं होति दुस्सस्सं सेतट्ठिकं सलाकवुत्तं तेन बहू मनुस्सा कालं करोन्ति।—संयुत्त, ५.३२३: भगवत् महाभिक्षु संघ के साथ एक देश में

कोष का दुर्भिक्ष दो कारणों से होता है—जो आजकल 'समुद्गक' है, वह उस काल में 'चंच' कहलाता है और चंचु तथा चंच एक ही वस्तु हैं।[२] बुभुक्षा और दुर्बलता [२०६] से अभिभूत पुद्गल संग्रह कर के मर जाते हैं और अनागत सत्वों के उपयोग के लिये चंचुओं में बीज रखते हैं। इसीलिये इस दुर्भिक्ष को चंचु कहते हैं।

श्वेतास्थि दुर्भिक्ष दो कारणों से होता है। काय शुष्क और कठिन होता है। अतः पुद्गल मृतप्राय होता है, अस्थियाँ श्वेत हो जाती हैं। लोग इन श्वेत अस्थियों को एकत्र करते हैं और उनका क्वाथ कर के पीते हैं।[१]

शलाका वृत्ति दुर्भिक्ष दो कारणों से होता है—गृह के प्राणी शलाका की सूचना के अनुसार भोजन करते हैं : "आज गृहपति की बारी है, कल गृहपत्नी की बारी है . . .।" और इन शलाकाओं से बिलों से धान्य निकालते हैं; बहुत से जल में उसका क्वाथ करते हैं और उसे पीते हैं।[२]

प्रवचन की देशना है कि जिन पुद्गलों ने एक अहोरात्र के लिये प्राणातिपात-विरति का समादान लिया है या एक आमलक फल अथवा आहार का एक कबड़ संघ को दान में दिया है वह शस्त्र, रोग, दुर्भिक्ष काल में इहलोक में उत्पन्न नहीं होंगे।

४. इन तीन कालों की अवधि क्या है ?—प्राणातिपात की सात दिन की अवधि है, रोग की अवधि ७ मास और ७ दिन है, दुर्भिक्ष की अवधि ७ वर्ष, ७ मास और ७ दिन है। कारिका का 'च' शब्द सूचित करता है कि इन तीन अवधियों को जोड़ना चाहिये।

चारिका करते हैं जब वहाँ दुर्भिक्ष होता है। दुब्भिक्खे द्वीहितिके सेतट्ठिके सलाका वुत्ते-- सुत्तविभंग (विनय, ओल्डेनबर्ग ३.६, १५, ८७) : ऐसे देश में दुब्भिक्खा होति द्वीहितिका सेतट्ठिका सलाकावुत्ता न सुकरा उञ्छेन पग्गहेन यापेतुम्; समन्तपासादिका, १.१७५ (जहाँ बुद्धघोस के कई निर्देश हैं; कुछ वसुबन्धु के व्याख्यान से सहमत हैं)। बुद्ध घोस एक दूसरा पाठ देते हैं—सेतट्टिका। यह शालि का एक रोग है। अंगुत्तर ४.२६९ में यह पठित है : स्त्रियाँ संघ के लिये रोग होंगी जैसे ईख का रोग 'मंजेट्ठिका' (मंजिट्ठा से) है, जैसे 'सेतट्टिका' (एक प्रकार का पाला) शालि का रोग है।— रीज डेविड्स स्टीड में 'द्वीहितिक, दुहितिक' का विचार किया गया है (संयुत्त, ४.१९५)

[२] ए. तिब्बती : (आज और कल : आजकल) (समुद्गक) (चंचु)—परमार्थ और शुआन्-चङ समुद्गल (क) का अनुवाद देते हैं : संग्रह करना, सन्निपतित करना— शुआन् चाङ का अनुवाद स्वच्छन्द है; परमार्थ में अक्षरार्थ मालूम पड़ता है। आजकल इस काल में, इसे 'चन्' (जूलिएँ १८१०)— च (जूलिएँ) १८०१) कहते हैं। पुनः लिएन चे (गन्धी की दूकान, कुवायर, १९०४, पी. १९७) 'चन्-च' कहल ता है। [महाव्युत्पत्ति, २३३ (बरतनों की सूची में एः ६. समुद्ग, २५ चंच है (ब्-त्से (चंच का अर्थ कोश में "ऋद्धि प्रयोग के लिये चित्र" दिया है। शरच्चन्द्रदास (देमॊदिन्स, आदि। बी दिव्यावदान, १३१ (मेंढक का अवदान, दुल्व् ३, ओषधि वर्ग से उद्धृत, लेवी एलीमेंट् अॅव्दफर्मेशन अॅव् दिव्य, तुङ्-प ओ १९०७, ११ ई०) द्वादशवर्षिका अनावृष्टिर्व्याकृता। त्रिविधं दुर्भिक्षं भविष्यति चंचु श्वेतास्थि शल कावृत्ति च। तत्र चंचु उच्यते समुद्गकं। तस्मिन् मनुष्या बीजानि प्रक्षिप्य अनागतसत्वापेक्षया स्थापयन्ति मृतानामनेन ते बीजका [र्] यं करिष्यन्ति। इदं समुद्गकं बध्वा चंचु उच्यते........ यह दूसरा व्याख्यान दिव्य के व्याख्यान के कुछ समीप है।

[२] दिव्य : बिलेभ्यो धान्यगुडकानि शलाकयाकृष्य बहूदकस्थाल्यां क्वाथयित्वा पिबन्ति।

विदेह द्वीप और गोदानीय द्वीप में यह तीन निर्याण नहीं होते : किन्तु जब जम्बुद्वीप शस्त्र, रोग और दुर्भिक्ष से अभिभूत होता है तब व्यापाद, दुर्वर्ण, दुर्बलता, बुभुक्षा और पिपासा का वहाँ उद्रेक होता है।

हमने अग्नि-संवर्तनी का वर्णन किया है और कहा है कि अन्य संवर्तनियाँ समान प्रकार से होती हैं।

संवर्तन्यः पुनस्तिस्रो भवन्त्यग्न्यम्बुवायुभिः।
ध्यानत्रयं द्वितीयादि शीर्षं तासां यथाक्रमम्॥१००॥
तदपक्षालसाधर्म्यान्न चतुर्थेऽस्त्यनिंजनात्।
न नित्यं सह सत्वेन तद्विमानोदयव्ययात्॥१०१॥

१०० ए-बी. तीन सवर्तनी हैं : अग्नि से, जल से, वायु से।[३]

[२१०] जब सत्व किसी ध्यान लोक में सन्निपतित हो (संवर्त) अधर भाजनों से अन्तर्हित होते हैं तो संवर्तनी होती है : अग्नि-संवर्तनी सप्तसूर्यों से, जलसंवर्तनी वर्षावश, वायु-संवर्तनी वायु धातु के क्षोभ से। इन संवर्तनियों का यह प्रभाव होता है कि विनष्ट भाजन का एक भी परमाणु अवशिष्ट नहीं रहता।

(यहाँ अवयविन् और अवयव, गुणिन् और गुण का प्रश्न है, ३.४९ डी)

कणभुक् प्रभृति तीर्थकार कहते हैं कि परमाणु नित्य हैं—और इसलिए जब लोक धातु का नाश होता है तब यह अवशिष्ट रहते हैं। वास्तव में इन वादियों का कहना है कि यदि अन्यथा होता तो स्थूल शरीर की उत्पत्ति अहेतुक होती।

बौद्ध—किन्तु हमने निर्देश किया है (३.५० ए) कि अपूर्व लोकधातु का बीज वायु है। यह वायु आधिपत्य-विशेष से युक्त होती है। इन विशेषों का प्रभव सत्वों के कर्म से होता है। और इस वायु का निमित्त अवशिष्ट रूपावचर वायु[१] है। पुनः महीशासकों के सूत्र में उक्त है कि वायु लोकान्तर में बीजों को आहृत करती है।[२]

---

[३] संवर्तन्य : पुनः तिस्रो भवन्त्यग्न्यम्बुवायुभिः।
दीर्घ, २१.१; विभाषा (१३३, ८) में इसका विचार है कि सूर्य, जल, वायु की उत्पत्ति कहाँ से होती है (जो सूर्य लोक के आदि में निर्वृत्त होते हैं ? जो सूर्य सत्वों के कर्म से कल्पान्त में निर्वृत्त होते हैं ?)। विभाषा इसकी परीक्षा करती है कि पदार्थों का क्या होता है : क्या परिणाम है (३.४९ डी) ? क्या यह अग्नि-जल में परिवर्तित होता है ?—ऊपर पृ १८४, टि. २

[१] [उसी प्रकार जैसे लोक के अन्त में काम धातु की अर्चि रूपावचर अर्चि को समुत्थित करती है। ऊपर पृ० १८४]

[२] बीजानि आह्रियन्ते—किअं कुग सेकी यहाँ दीर्घ, २२, १३ का उल्लेख करते हैं जहाँ पाँच ीजों का वर्णन है। इसी प्रकार व्याख्या : पंच बीजजातानि मूलबीजं फलु-बीजं बीजबीजम् अग्रबीजं स्कन्धबीजम्।
दीघ, १.५, ३.४४, ४७ : सुमंगलविलासिनी, १.८१ आदि रीज डेविड्स और स्टीड 'बीज' देखिये) : मूल, खन्ध, फलु, अग्ग, बीजबीज, स्टाइन फैग्मेंट्स जेआरएएस १९१३, ५७४, राकहिल रीव्यू ऑव रेलिजस हिस्ट्री, ९, १६८।

वैशेषिक—यद्यपि बीजों का आहरण होता हो तथापि हमको बीज अंकुरादि से अंकुर, काण्डादि की स्थूलभावों की उत्पत्ति इष्ट नहीं है (क्योंकि बीज अंकुरादि केवल निमित्त कारण हैं, समवायि कारण नहीं हैं)[1]; हम कहते हैं कि अंकुरादि अपने अवयवों से उत्पन्न होते हैं और वह अवयवपर्याय से अपने अवयवों से उत्पन्न होते हैं। एवम् यावत् अत्यन्त क्षुद्र भाग परमाणुओं से उत्पन्न होते हैं।

[२११] बौद्ध—अतः अंकुर के प्रति बीज का क्या सामर्थ्य है?

वैशेषिक—इसके अन्यत्र कि यह अंकुर के परमाणुओं का उपसर्पण करता है बीज का अंकुर के जनन में किञ्चित् भी सामर्थ्य नहीं है। वास्तव में यह असम्भव है कि एक द्रव्य की उत्पत्ति एक विजातीय द्रव्य से हो : यदि ऐसा जनन सम्भव होता तो जनन का कोई नियम न होता। (तन्तु से कट की उत्पत्ति होती)।

बौद्ध—नहीं। विजातीय से विजातीय की उत्पत्ति होती है किन्तु यह अनियम नहीं होगा। यथा शब्द, पाकज आदि की उत्पत्ति होती है। (विजातीय अभिघात से शब्द की उत्पत्ति होती है, किन्तु यत्किञ्चित् विजातीय से नहीं होता)। सब पदार्थों का शक्ति-नियम है।

वैशेषिक—आपका उदाहरण कुछ सिद्ध नहीं करता। हमको इष्ट है कि जिसे हम गुण धर्म कहते हैं (शब्दादि) वह या तो स्वजातीय से उत्पन्न होता है अथवा विजातीय (संयोगादि) से उत्पन्न होता है किन्तु द्रव्यधर्म का ऐसा नहीं है। वह स्वजातीय से उत्पन्न होता है।[2] इस प्रकार वीरण के काण्डों से—और दूसरे काण्डों से या सूत्र से नहीं, कट की उत्पत्ति होती है और केवल कार्पास के तन्तु से पट की उत्पत्ति होती है।

बौद्ध—आपका दृष्टान्त कुछ सिद्ध नहीं करता क्योंकि वह स्वयं व्यवस्थापित नहीं है। आप कहते हैं कि एक पदार्थ की उत्पत्ति स्वजातीय से होती है यथा कट की उत्पत्ति वीरण के काण्डों से होती है। किन्तु कट वीरण ही हैं जो तथा संनिविष्ट हैं और कट-संज्ञा का प्राप्त करते हैं। पट तथा-संनिविष्ट तन्तु हैं। यथा पिपीलिका की पंक्ति पिपीलिका मात्र है।

वैशेषिक—आप यह कैसे व्यवस्थापित करते हैं कि पट तन्तु से द्रव्यान्तर नहीं है?

बौद्ध—जब एक तन्तु का (चक्षु या काय) इद्रिय से संयोग होता है तो पट की उपलब्धि नहीं होती। यदि (एक एक तन्तु से अभिनिर्वृत्त) पट विद्यमान होता तो [२१२] उसकी उपलब्धि में कौन प्रतिबन्ध होता?—आप कहेंगे कि एक-एक तन्तु में अकृत्स्नवृत्ति से पट का सद्भाव नहीं है। पट यह कहने के तुल्य है कि पट तन्त्वात्मक पटपभागों का समूहमात्र है क्योंकि आप यह कैसे सिद्ध करेंगे कि पटभाग तन्तुओं से अन्य है? —आप कहेंगे कि एक-एक

---

[1] निमित्तकारण, समवायिकारण, उइ, वैशेषिक फिलासोफी १३६, १३९, १४१, १४६।

[2] गुण [धर्म] और द्रव्य [धर्म] का लक्षण वैशेषिक सूत्र, १.१.१५-१६ में है; उइ वैशेषिक फिलासोफ़ी पृ.१२२ देखिये—कोश, ११.पृ.२९०

[3] त एव हि ते तथा संनिविष्टास्तां संज्ञां लभन्ते पिपीलिकादिपंक्तिवत्॥ कथं गम्यते॥ एकतन्तु संयोगे पटस्यानुपलम्भात्। को हि तदा सत उपलब्धौ प्रतिबन्धः। अकृत्स्नवृत्तौ पटस्य कल्प्यमानायां समूहमात्रं पटः प्राप्नोति। कश्च तन्तुभ्यो ऽन्यः पटभागः।

तन्तु में पट का कृत्स्नवृत्ति से सद्भाव है किन्तु उसकी उपलब्धि एक एक तन्तु में इसलिए नहीं होती क्योंकि पट की उपलब्धि इन्द्रिय और पट के ऐसे संयोग की अपेक्षा करती है जिसमें पट के अनेक आश्रयों का ग्रहण हो। इस पक्ष में दशामात्र के गृह्यमाण होने पर पट की उपलब्धि होनी चाहिए।—आप कहेंगे कि यदि दशामात्र के गृह्यमाण होने से पटोपलब्धि नहीं होती तो इसका कारण यह है कि उस समय पट के मध्यभाग आदि का इन्द्रिय से संप्रयोग नहीं होता। इसका यह अर्थ है कि पट का दर्शन कभी नहीं होगा क्योंकि मध्य और परभाग जो पट के आरम्भक हैं, उन सब का इन्द्रिय से एक साथ सान्निकर्ष नहीं होता।[२]—आप कहेंगे कि उनका क्रम-संनिकर्ष होता है। यह इस कहने के बराबर है कि 'सर्व' (पट द्रव्य) (अवयविन्) की उपलब्धि नहीं होती। इसका यह अर्थ है कि पट-बुद्धि या कट-बुद्धि पट या कट के अवयवों में ही होती है। अलातचक्रवत्,[३] यथा अलात के शीघ्र संचार से चक्रबुद्धि होती है। —पुनः पट तन्तु से द्रव्यान्तर नहीं हो सकता क्योंकि द्रव्यान्तर होने के विकल्प में जब तन्तु रूप, जाति और क्रिया में भिन्न होते हैं तब पट का रूपादि असम्भव होगा। यदि आप कहें कि इसका चित्ररूप है तो इसका यह अर्थ होगा कि विजातीय विजातीय [२१३] आरम्भक होता है। पुनः इस कल्पना में कि पार्श्वान्तर अविचित्र है, उसके ग्रहण से पट का दर्शन होगा। अथवा चित्र रूप का दर्शन होगा किन्तु क्या आपको यह कहने का साहस है कि भिन्न क्रिया के तन्तुओं से निर्मित पट की भिन्न क्रिया होती है? एक द्रव्य की विचित्र क्रिया हो यह अविचित्र है।[१] पुनः अग्निप्रभात्मक अवयविन् का सम्प्रधारण कीजिये : आदि मध्य और अन्त में इसके ताप और प्रकाश में भेद होता है, इसके रूप और स्पर्श की उपपत्ति नहीं हो सकती।[२]

(वैशेषिक—किन्तु यदि अवयवी पट अवयवों से व्यतिरिक्त नहीं है, यदि अतीन्द्रिय परमाणु एक ऐन्द्रियक औदारिक काय के परमाणुओं से अर्थान्तर के आरम्भक नहीं हैं तो कृत्स्न जगत् अप्रत्यक्ष होगा किन्तु गो आदि को हम प्रत्यक्ष देखते हैं।)

बौद्ध—हमारे मत से अतीन्द्रिय परमाणुओं का समस्त होने पर प्रत्यक्ष होता है :[३] यथा आप वैशेषिक समस्त परमाणुओं का ही कार्यारम्भकत्व मानते हैं, यथा चक्षुर्विज्ञान के उत्पाद में चक्षुरादि समस्त का कारणत्व है, यथा तैमिरिक पुरुष को विकीर्ण केशों के समूह की उपलब्धि होती है किन्तु एक-एक केश की नहीं होती, उनके लिए परमाणुवत् एक केश अतीन्द्रिय है।

[अवयवी अवयव से अर्थान्तर है इसका प्रतिषेध कर आचार्य इस वाद का निराकरण करते हैं कि गुणी गुण से अन्य द्रव्य है।]

---

२ अनेकाश्रयसंयोगापेक्षायां दशामात्रे संहते पट उपलभ्येत। न वाक दाचिदुपलभ्येत मध्यपरभागानाम् इन्द्रियेणासंनिकर्षात्।

३ क्रमसंनिकर्षेच [अवयवानाम्] चक्षुःस्पर्शनयोर् [नावयविबुद्धिः स्यात्। क्रमेण अवयविबुद्धेर्] अवयवेषु तद्बुद्धिः। अलातचक्रवत्।

१ भिन्नरूपजातिक्रियेषु च तन्तुषु पटस्य रूपाद्यसम्भवात् (भिन्नक्रियेषु = ऊर्ध्वाधोगमनभेदात्)। चित्रम् अस्य रूपादीति विजातीयारम्भोऽपि स्यात्। अविचित्रे च पार्श्वान्तरे पटस्यादर्शनम् चित्ररूपदर्शनं वा। क्रियापि चित्रेत्यतिचित्रम्।

२ तापप्रकाशभेदे चाग्निप्रभाया आदिमध्यान्तेषु रूपस्पर्शौ नोपपद्येते।

३ परमाण्वतीन्द्रि त्वेऽपि समस्तानां प्रत्यक्षत्वम्। यथा कार्यारम्भकत्वम्........

बौद्ध—परमाणु से रूपादि का ग्रहण होता है। अतः धातुसंवर्तनी के समय रूपादि के विनाश से परमाणु का विनाश सिद्ध है।

[२१४] वैशेषिक—परमाणु द्रव्य है। द्रव्य रूपादि से अन्य है।[१] परमाणु-विनाश के विना रूप का विनाश हो सकता है।

बौद्ध—द्रव्य और उसके गुणों का अन्यत्व अयुक्त है[२] क्योंकि कोई यह परिच्छेद नहीं करता कि "यह पृथिवी-अप्-तेज हैं और यह रूप रस आदि पृथिवी के गुण हैं।"—और आपकी यह प्रतिज्ञा है कि पृथिवी आदि द्रव्य चक्षु और स्पर्श से ग्राह्य हैं। [अतः आप यह नहीं कह सकते कि उनका निर्धारण अतीन्द्रिय होने से नहीं होता]।—पुनः जब ऊर्ण, कार्पास, अहिःफेन, गुग्गुल दग्ध होते हैं तब क्षार में ऊर्णादि बुद्धि नहीं होती, अतः रूपादि में यह बुद्धि होती है, न कि अर्थान्तरभूत द्रव्य में जिसका गुण रूप है।[३]—आप कहेंगे कि यदि आम मृद्घट का अग्नि से सम्बन्ध होता है तब भी हम कहते हैं कि यह वही घट है और इसलिए घट रूप से द्रव्यान्तर है और यद्यपि उसका रूप बदलता है तथापि घट वही है, उसका अवस्थान वैसा ही रहता है। किन्तु वास्तव में यदि पाकज की उत्पत्ति में आम घट का परिज्ञान होता है तो इसका कारण यह है कि उसका संस्थान समान रहता है : यथा पिपीलिका की पंक्ति का परिज्ञान होता है। वास्तव में यदि चिन्ह पूर्व न देखें हों तो घट का किसको परिज्ञान होगा?[४]

हम इन बालोचित वादों के विचार को यहाँ स्थगित करते हैं।

संवर्तनी का ऊर्ध्व पर्यन्त क्या है?

१०० सी-१०१ डी. द्वितीयादि ध्यानत्रय संवर्तनियों के यथाक्रम शीर्ष हैं—संवर्तनी और प्रथम तीन ध्यान के अपक्षाल का साधर्म्य होने से। चतुर्थ ध्यान अनिंजित [२१५] है। इससे उसमें संवर्तनी नहीं है। ऐसा नहीं है कि यह नित्य है क्योंकि उसके विमानों का उसके सत्वों के सहित उदय-व्यय होता है।[१]

१. द्वितीय ध्यान अग्नि-संवर्तनी की सीमा है। इसके जो अधः है वह सब दग्ध हो जाता है। तृतीय ध्यान जल-संवर्तनी की सीमा है। इसके जो अधः है वह सब विलीन हो जाता है। चतुर्थ ध्यान वायु-संवर्तनी की सीमा है। इसके जो अधः है वह सब विकीर्ण हो जाता है। संवर्तनी की परिसमाप्ति पर जो अवशिष्ट रहता है उसे 'संवर्तनी-शीर्ष कहते हैं।

---

[१] द्रव्यं हि परमाणुः। अन्यच्च रूपादिभ्यो द्रव्यम्।—वैशेषिकसूत्र, २. १. १: पृथिवी रूपरसगन्धस्पर्शवती है,—९. पृ. २८८ देखिये।

[२] अयुक्तमस्यान्यत्वम्

[३] पैलुकों का मत है कि ऊर्णादि अवयविद्रव्य दग्ध नहीं होते। प्राक्तन गुणों की निवृत्ति होती है। पाकज नये गुणों की उत्पत्ति होती है किन्तु द्रव्य जो गुणों के आश्रय हैं तदवस्थ होते हैं। (व्याख्या)
न्याय बिन्दु, कलकत्ता, १८८९, पृ. ८६ में कणाद का एक शिष्य 'पैलुक' है।
न्यायवार्तिकतात्पर्य, ३५५ में (३, १, ४, पर) एक 'पैलुकंठ है'।

[४] पाकजोत्पत्तौ घटपरिज्ञानं संस्थानसामान्यात्। पंक्तिवत्। चिह्नमपश्यतोऽपरिज्ञानात्।

[१] ध्यानत्रयं द्वितीयादि शीर्षं तासां यथाक्रमम्॥
तदपक्षालसाधर्म्यान्न चतुर्थेऽस्त्यनिंजनात्।
न नित्यं सह सत्त्वेन तद्विमानोदयव्ययात्॥

अतः प्रथम ध्यान लोक अग्नि से विनष्ट होता है। वास्तव म प्रथम ध्यान का अपक्षाल वितर्क विचार है। यह चित्त को दग्ध करते हैं और इसीलिये अग्नि के सदृश हैं।—द्वितीय ध्यान जल से विनष्ट होता है। वास्तव में इसका अपक्षाल प्रीति है। यह प्रीति प्रश्रब्धि-योग से आश्रय को मृदु बनाती है। अतः यह उदक-कल्प है। इसीलिए सूत्र की शिक्षा है कि कृत्स्न काय-काठिन्य के अपगम से दुःखेन्द्रिय का निरोध होता है।[२]—तृतीय ध्यान वायु से नष्ट होता है। वास्तव में आश्वास-प्रश्वास जो वायु हैं, इसके अपक्षाल हैं।

एक ध्यान के बाह्य अपक्षाल (अर्थात् निर्याण जो ध्यानलोक का संवर्तन करते हैं) उसी प्रकार के हैं जिस प्रकार के आध्यात्मिक अपक्षाल हैं जो इस ध्यान में समापन्न पुद्गल को प्रभावित करते हैं (८.पृ.१२६ देखिये)।[३]

[२१६] २. तेजो धातु-संवर्तनी आदि के समान पृथिवी-धातु-संवर्तनी क्यों नहीं है?—जिसे भाजन कहते हैं वह पृथिवी है। अतः वह अग्नि, जल और वायु से प्रतिपक्षित होती है पृथिवी से नहीं।

३. चतुर्थ ध्यान विनाशशील नहीं है क्योंकि यह अनिंजन है। बुद्ध-वचन है कि यह ध्यान आध्यात्मिक अपक्षालों से रहित है और आनेज्य है।[१] अतः बाह्य अपक्षाल का उस पर प्रभाव नहीं पड़ता और इसलिये वह विनाशशील नहीं है।

एक दूसरे मत के अनुसार चतुर्थ ध्यान का अविनाश शुद्धावासकायिक देवों के बल से होता है जिनका यह निवास है। यह देव आरूप्यों में प्रवेश करने में असमर्थ हैं और न अन्यत्र (अधर भूमि में) ही जा सकते हैं।[२]

किन्तु चतुर्थ ध्यान का भाजन नित्य नहीं है। वास्तव में यह एक 'भूमि' नहीं है। तारकों के समान यह विविध निवासों में विभक्त है। विविध विमानों का जो सत्वों के निवास हैं सत्वों के साथ उदय-व्यय होता है। (विभाषा, १३४, १),

---

[२] सा च प्रश्रब्धियोगेनाश्रयमृदुकरणादपकल्पा। अतएव च कृत्स्नस्य कायकाठिन्यस्यापगमाद् दुःखेन्द्रियनिरोध उक्तः।—मध्यम, ५८ के अनुसार—८.पृ. १५०, १५६ देखिये।

[३] ८.११ में हम देखेंगे कि अपक्षाल हैं और प्रथम तीन ध्यान से—इञ्जित हैं। (४.४६ भी देखिय)।
अंगुत्तर, इलो० १३५: प्रथम ध्यान का कंटक 'सद्द' है; द्वितीय का 'वितक्क विचार' हैं, तृतीय का 'प्रीति' है; चतुर्थ का 'अस्सास-पस्सास' हैं।—कण्टक वह है जो ध्यान को नष्ट करता है, जो ध्यान के प्रतिकूल है (कथावत्थु, २.५), यथा स्त्रीचित्त ब्रह्मचर्यवास का कण्टक है। इसके विपर्यय अपक्षाल एक दोष, एक विपत्ति या एक अभाव है जिसकी ध्यान को नितान्त आवश्यकता है।
चीनी भाषान्तर = विपत्ति, विपत्ति-नीवरण, महाव्युत्पत्ति २४५, ६६४ में दोष, अभाव (सासाकी के संस्मरण की टिप्पणियाँ देखिये: अपक्षाल, अपक्षल, अपक्षण, अपचार), शिक्षासमुच्चय, १४५ और बोधिसत्वभूमि (वोगिहारा)।

[१] आनेज्यमिति। एजृ कम्पन इत्यस्य (धातुपाठ, १.२५३) धातोरेतद् रूपम् आनेज्यमिति। यदा त्वानिञ्ज्यमिति पाठस्तदा इगेः (हस्तलिखित पोथियों में, 'तदा इज्यें', 'इगेः'? धातुपाठ १.१६२ के अनुसार) प्रकृत्यन्तरस्यैतद् रूपं द्रष्टव्यम्।—४.पृ. १०७, ६.२४ ए, ८.१०१बी देखिये।

[२] परमार्थ में यह अधिक है: वह इस भूमि में निर्वाण का लाभ करते हैं।

तीन संवर्तनियों का क्रम क्या है ?

सप्ताग्निनाद्भिरेकैवं गतेऽद्भिः सप्तके पुनः ।
तेजसा सप्तकः पश्चाद्वायुसंवर्तनी ततः १०२ ॥

१०२. अग्नि से सात, जल से एक और जब इस प्रकार सात जल संवर्तनी हो जाती हैं तब सात तेजः संवर्तनी होती हैं और तत्पश्चात् वायु संवर्तनी होती है।[1]

[२१७] सात तेजः संवर्तनी जब समनन्तर सात बार होती हैं तब अप्-संवर्तनी होती है। आठवें तेजः संवर्तनीसप्तक के अनन्तर वायु संवर्तनी होती है।—वास्तव में यथा ध्यानसमापत्ति-विशेष से वहाँ आत्मभाव का लाभ करने वाले देवों का स्थिति-विशेष होता है, उसी प्रकार भाजनों का भी स्थिति-विशेष होता है।—इस प्रकार ५६ तेजः संवर्तनी, ७ जल संवर्तनी और एक वायु-संवर्तनी होती हैं। अतः प्रज्ञाप्ति[2] का यह वाक्य कि शुभ-कृत्स्न देवों का आयुः प्रमाण ६४ कल्प है सूक्त है। (३.८० बी)।

---

[1] सप्ताग्निनाद्भिरेकैवं गतेऽद्भिः सप्तके पुनः ।
तेजसा सप्तकः पश्चाद् वायुसंवर्तनी ततः ॥
विसुद्धिमग्ग, ४२१ में यही वाद और यही वाक्य प्रयुक्त है : एवं विनस्सन्तोऽपि च [लोको] निरन्तरमेव सत्त वारे अग्गिना विनस्सति.....वातो परिपुण्णचतुसट्ठिकप्पायुके सुभकिण्हे विद्धंसेन्तो लोकं विनासेति।

[2] तस्माद् यदुक्तं प्रज्ञाप्तिभाष्यम् (?) तत् सूक्तं भवति। — हस्तलिखित प्रतियां. प्रज्ञाप्तिप्रभाव्यम् : किन्तु अन्यत्र यह है : प्रज्ञाप्तिभाष्यं कथं तर्हि नीयते (४. अनुवाद. पृ. १७१) शुआन्-चाङ् प्रज्ञाप्तिवाद नामक ग्रंथ। परमार्थ : फेन-पिए-लि-चे-लुन्।

५